प्रकाशक
स्वामी गम्भीरानन्द
अध्यक्ष अद्वैत आश्रम
मायावती अल्मोड़ा हिमालय

तृतीय संस्करण
5M3C—१९६१

मूल्य छः रुपये

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग भारत

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ

कर्मयोग

स्वामी विवेकानन्द

कर्म का चरित्र पर प्रभाव

कर्म शब्द 'कृ' धातु से निकला है, 'कृ' धातु का अर्थ है करना। जो कुछ किया जाता है, वही कर्म है। इस शब्द का पारिभाषिक अर्थ 'कर्मफल' भी होता है। दार्शनिक दृष्टि से इसका अर्थ कभी कभी वे फल होते हैं, जिनका कारण हमारे पूर्व कर्म रहते हैं। परन्तु कर्मयोग मे 'कर्म' शब्द से हमारा आशय केवल 'कार्य' ही है। मानव जाति का चरम लक्ष्य ज्ञानलाभ है। प्राच्य दर्शनशास्त्र हमारे सम्मुख एकमात्र यही लक्ष्य रखता है। मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य सुख नही, वरन् ज्ञान है। सुख और आनन्द विनाशशील हैं। अत सुख को चरम लक्ष्य मान लेना भूल है, ससार मे सब दु खो का मूल यही है कि मनुष्य मूर्खतावश सुख को ही अपना आदर्श समझ लेता है। पर कुछ समय के बाद मनुष्य को यह बोध होता है कि जिसकी ओर वह जा रहा है, वह सुख नही, वरन् ज्ञान है, तथा सुख और दु ख, दोनो ही महान् शिक्षक हैं, और जितनी शिक्षा उसे शुभ से मिलती है, उतनी ही अशुभ से भी। सुख और दु ख आत्मा के सम्मुख होकर जाने मे उसके ऊपर अनेक प्रकार के चित्र अकित कर जाते हैं। और इन सस्कारो की समष्टि के फल को ही मानव का 'चरित्र' कहा जाता है। यदि तुम किसी मनुष्य का चरित्र देखो, तो प्रतीत होगा कि वास्तव मे वह उसकी मानसिक प्रवृत्तियो एव मानसिक झुकाव की समष्टि ही है। तुम यह भी देखोगे कि उसके चरित्र-गठन मे सुख और दु ख, दोनो ही समान रूप से उपादानस्वरूप हैं। चरित्र को एक विशिष्ट ढाँचे मे ढालने मे शुभ और अशुभ, दोनो का समान अश रहता है, और कभी कभी तो दु ख सुख से भी बडा शिक्षक हो जाता है। यदि हम ससार के महापुरुषो के चरित्र का अध्ययन करें, तो मैं कह सकता हूँ कि अधिकाश दृष्टातो मे हम यही देखेंगे कि सुख की अपेक्षा दु ख ने, तथा सम्पत्ति की अपेक्षा दारिद्रय ने ही उन्हे अधिक शिक्षा दी है एव प्रशसा की अपेक्षा आघातो ने ही उनकी अन्त स्थ अग्नि को अधिक प्रस्फुरित किया है।

अब, यह ज्ञान मनुष्य मे अन्तर्निहित है। कोई भी ज्ञान बाहर से नही आता, सब अन्दर ही है। हम जो कहते है कि मनुष्य 'जानता' है, उसे ठीक ठीक मनोवैज्ञानिक भाषा मे व्यक्त करने पर हमे कहना चाहिए कि वह 'आविष्कार करता' है। मनुष्य जो कुछ 'सीखता' है, वह वास्तव मे 'आविष्कार करना' ही है।

'आविष्कार' का अर्थ है—मनुष्य का अपनी अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा के ऊपर से आवरण को हटा लेना। हम कहते हैं कि न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का आविष्कार किया। तो क्या वह आविष्कार कहीं एक कोने में बैठा हुआ न्यूटन की प्रतीक्षा कर रहा था? वह उसके मन में ही था। समय आया और उसने उसे ढूंढ़ निकाला। संसार ने जो कुछ ज्ञान लाभ किया है, वह मन से ही निकला है। विश्व का असीम पुस्तकालय तुम्हारे मन में ही विद्यमान है। बाह्य जगत् तो तुम्हें अपने मन के अध्ययन मे लगाने के लिए उद्दीपक तथा अवसर मात्र है, परन्तु सारे समय तुम्हारे अध्ययन का विषय तुम्हारा मन ही रहता है। सेब के गिरने ने न्यूटन को उद्दीपक प्रदान किया और उसने अपने मन का अध्ययन किया। उसने अपने मन में पूर्व से स्थित विचार शृंखला की कड़ियों को एक बार फिर से विन्यस्त किया तथा उनमें एक नयी कड़ी का आविष्कार किया। उसीको हम गुरुत्वाकर्षण का नियम कहते हैं। यह न तो सेब में था और न पृथ्वी के केन्द्र में स्थित किसी अन्य वस्तु में। अतएव समस्त ज्ञान, चाहे वह व्यावहारिक हो अथवा पारमार्थिक, मनुष्य के मन मे ही निहित है। बहुधा यह प्रकाशित न होकर ढका रहता है, और जब आवरण धीरे धीरे हटता जाता है, तो हम कहते हैं कि 'हमें ज्ञान हो रहा है'। ज्यों ज्यों इस आविष्करण की क्रिया बढ़ती जाती है, त्यों त्यों हमारे ज्ञान की वृद्धि होती जाती है। जिस मनुष्य पर से यह आवरण उठता जा रहा है, वह अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक ज्ञानी है, और जिस मनुष्य पर यह आवरण तह पर तह पड़ा है, वह अज्ञानी है। जिस मनुष्य पर से यह आवरण बिल्कुल चला जाता है, वह सर्वज्ञ पुरुष कहलाता है। अतीत में कितने ही सर्वज्ञ हो चुके हैं और मेरा विश्वास है कि अब भी बहुत से होंगे तथा आगामी युगों में भी ऐसे असंख्य पुरुष जन्म लेंगे। जिस प्रकार एक चकमक पत्थर के टुकड़े में अग्नि निहित रहती है, उसी प्रकार मनुष्य के मन में ज्ञान रहता है। उद्दीपक कर्षण का कार्य करके उसको प्रकाशित कर देता है। ठीक ऐसा ही हमारा समस्त भावनाओं और कार्यों के सम्बन्ध में भी है। यदि हम शान्त होकर स्वयं का अध्ययन करें, तो प्रतीत होगा कि हमारा हँसना-रोना, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, हमारी शुभ कामनाएँ एवं शाप, स्तुति और निन्दा ये सब हमारे मन के ऊपर अनेक घात-प्रतिघातों के फल-स्वरूप उत्पन्न हुए हैं। और हम जो कुछ हैं, इसीके फल हैं। ये सब घात-प्रतिघात मिलकर 'कर्म' कहलाते हैं। आत्मा की आभ्यान्तरिक अग्नि तथा उसकी अपनी शक्ति एवं ज्ञान को बाहर प्रकट करने के लिए जो मानसिक अथवा भौतिक घात उस पर पहुँचाये जाते हैं, वे ही कर्म हैं। यहाँ कर्म शब्द का उपयोग व्यापक रूप मे किया गया है। इस प्रकार, हम सब प्रतिक्षण ही कर्म करते रहते हैं। मैं तुमसे

बातचीत कर रहा हूँ—यह कर्म है, तुम सुन रहे हो—यह भी कर्म है, हमारा साँस लेना, चलना आदि भी कर्म हैं, जो कुछ हम करते हैं, वह शारीरिक हो अथवा मानसिक, सब कर्म ही है, और हमारे ऊपर वह अपने चिह्न अंकित कर जाता है।

कुछ कार्य ऐसे भी होते हैं, जो अनेक छोटे छोटे कर्मों की समष्टि जैसे होते हैं। उदाहरणार्थ, यदि हम समुद्र के किनारे खडे हो और लहरो को किनारे से टकराते हुए सुनें, तो ऐसा मालूम होता है कि एक वडी भारी आवाज़ हो रही है। परन्तु हम जानते हैं कि एक वडी लहर असख्यात छोटी छोटी लहरो से बनी है। और यद्यपि प्रत्येक छोटी लहर अपना शब्द करती है, परन्तु फिर भी वह हमे सुन नही पडता। पर ज्यो ही ये सब शब्द आपस मे मिलकर एक हो जाते हैं, त्यो ही हमे बडी आवाज़ सुनायी देती है। इसी प्रकार हृदय की प्रत्येक धडकन कार्य है। कई कार्य ऐसे होते हैं, जिनका हम अनुभव करते है, वे हमे इन्द्रियग्राह्य हो जाते हैं, पर वे अनेक छोटे छोटे कार्यों की समष्टि होते हैं। यदि तुम सचमुच किसी मनुष्य के चरित्र को जाँचना चाहते हो, तो उसके बडे कार्यों पर से उसकी जाँच मत करो। हर एक मूर्ख किसी विशेष अवसर पर बहादुर वन सकता है। मनुष्य के अत्यन्त साधारण कार्यों की जाँच करो, और असल मे वे ही ऐसी वातें हैं, जिनसे तुम्हे एक महान् पुरुष के वास्तविक चरित्र का पता लग सकता है। आकस्मिक अवसर तो छोटे से छोटे मनुष्य को भी किसी न किसी प्रकार का बडप्पन दे देते हैं। परन्तु वास्तव मे महान् तो वही है, जिसका चरित्र सदैव और सव अवस्थाओ मे महान् तथा एकसम रहता है।

मनुष्य का जिन शक्तियो के साथ सपर्क होता है, उन सवमे कर्म की शक्ति सबसे अधिक प्रवल होती है, जो मनुष्य के चरित्र पर प्रभाव डालती है। मनुष्य एक प्रकार का केन्द्र जैसा है, वह ससार की समस्त शक्तियो को अपनी ओर खीचता है, तथा इस केन्द्र मे उन सवको सयुक्त कर उन्हे फिर एक बडी तरग के रूप मे बाहर भेजता है। यह केन्द्र ही 'वास्तविक' मानव है—सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ, और यह समस्त विश्व को अपनी ओर खीच रहा है। शुभ-अशुभ, सुख-दु ख सव उसकी ओर दौडे जा रहे है, और उससे लिपटे जा रहे हैं। और वह उन सवमे से प्रवृत्ति की उस प्रवल धारा को वनाता है, जिसे चरित्र कहते हैं, और उसे वाहर प्रेषित करता है। जिस प्रकार किसी चीज़ को अपनी ओर खीच लेने की उसमे शक्ति है, उसी प्रकार उसे वाहर भेजने की भी शक्ति उसमे है।

ससार मे हम जो सव कार्य-कलाप देखते हैं, मानव-समाज मे जो सव गति हो रही है, हमारे चारो ओर जो कुछ हो रहा है, वह सव मन की ही अभिव्यक्ति

है—मनुष्य की इच्छा-शक्ति का ही प्रकाश है। ऊँचे यंत्र नगर, जहाज युद्धपोत आदि सभी मनुष्य की इच्छा-शक्ति के विकास मात्र हैं। मनुष्य की यह इच्छा शक्ति चरित्र से उत्पन्न होती है और वह चरित्र कर्मों से गठित होता है। अतएव जैसा कर्म होता है इच्छा-शक्ति की अभिव्यक्ति भी वैसी ही होती है। संसार म प्रबल इच्छा-शक्तिसम्पन्न जितने महापुरुष हुए हैं वे सभी धुरन्धर कर्मी दिग्गज आत्मा थे। उनकी इच्छा-शक्ति ऐसी जबरदस्त थी कि वे संसार को भी उलट पुलट सकते थे। और यह शक्ति उन्हें युग-युगान्तर तक निरन्तर कर्म करते रहने से प्राप्त हुई थी। एक बुद्ध या ईसा मसीह की सी प्रबल इच्छा-शक्ति एक जन्म में प्राप्त नहीं की जा सकती क्योंकि हमें ज्ञात है कि उनके पिता कौन थ। हम नहीं कह सकते कि उनके पिता के मुँह से मनुष्य-जाति के कल्याण के लिए शायद कभी एक शब्द भी निकला हो। जोसेफ (ईसा मसीह के पिता) के समान तो लाखों और करोड़ों बढ़ई हो गये और आज भी हैं बुद्ध के पिता के सदृश लाखों छोटे छोटे राजा हो चुके हैं। अतः यदि यह बात केवल आनुवंशिक संक्रमण के ही कारण हुई हो तो इसकी व्याख्या कैसे कर सकते हो कि इस छोटे से राजा ने जिसकी आज्ञा का पालन शायद उसके स्वयं के नौकर भी नहीं करते थे एक ऐसा पुत्र उत्पन्न किया जिसकी उपासना लगभग आधा संसार करता है? इसी प्रकार, उस बढ़ई तथा संसार में लाखों लोगों द्वारा ईश्वर के समान पूजे जानेवाले उसके पुत्र के बीच जो अन्तर है, उसकी क्या व्याख्या हो सकती है? आनुवंशिक सिद्धान्त के द्वारा तो इसका स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। बुद्ध और ईसा इस संसार में जिस महाशक्ति का संचार कर गये वह कहाँ से आया? इतनी शक्ति का संचय कैसे हुआ? अवश्य ही वह युग-युगान्तरों से उस स्थान में रही होगी और क्रमशः बढ़ते बढ़ते अन्त में बुद्ध तथा ईसा के रूप में उसका विस्फोट समाज पर हुआ और तब से वह आज तक प्रवाहित हो रही है।

यह सब कर्म द्वारा ही निर्धारित होता है। यह सनातन नियम है कि जब तक कोई मनुष्य किसी वस्तु का उपार्जन न करे, तब तक वह उसे प्राप्त नहीं हो सकती। सम्भव है कभी कभी हम इस बात को न मानें परन्तु आगे चलकर हमें इसका दृढ़ विश्वास हो जाता है। एक मनुष्य चाहे समस्त जीवन भर धनी होने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक करता रहे, हजारों मनुष्यों को धोखा दे परन्तु अन्त में वह देखता है कि वह सम्पत्तिशाली होने का अधिकारी नहीं था तब जीवन उसके लिए दुःखमय और कंटकित बन जाता है। हम अपने भौतिक सुखों के लिए भिन्न भिन्न चीजों को भले ही इकट्ठा करते जायें परन्तु जिसका उपार्जन हम करते हैं, वही हमारा होता है। एक मूर्ख संसार भर की सारी पुस्तकें

मोल लेकर भले ही अपने पुस्तकालय मे रख ले, परन्तु वह केवल उन्हीको पढ सकेगा, जिनको पढने का वह अधिकारी होगा, और यह अधिकार कर्म द्वारा ही प्राप्त होता है। हम किसके अधिकारी हैं, हम अपने भीतर क्या क्या ग्रहण कर सकते हैं, इस सबका निर्णय कर्म द्वारा ही होता है। अपनी वर्तमान अवस्था के ज़िम्मेदार हमी हैं, और जो कुछ हम होना चाहे, उसकी शक्ति भी हमीमे है। यदि हमारी वर्तमान अवस्था हमारे ही पूर्व कर्मों का फल है, तो यह निश्चित है कि जो कुछ हम भविष्य मे होना चाहते हैं, वह हमारे वर्तमान कर्मों द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है। अतएव यह जान लेना आवश्यक है कि कर्म किस प्रकार किये जायें। सम्भव है, तुम कहो, "कर्म करने की शैली जानने से क्या लाभ ? ससार मे प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी प्रकार से तो काम करता ही रहता है।" परन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शक्तियो का निरर्थक क्षय भी कोई चीज़ होती है। गीता का कथन है, 'कर्मयोग का अर्थ है—कुशलता से अर्थात् वैज्ञानिक प्रणाली से कर्म करना।' कर्मानुष्ठान की विधि ठीक ठीक जानने से मनुष्य को श्रेष्ठतम फल प्राप्त हो सकता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि समस्त कर्मों का उद्देश्य है, मन के भीतर पहले से ही स्थित शक्ति को प्रकट कर देना—आत्मा को जाग्रत कर देना। प्रत्येक मनुष्य के भीतर शक्ति और पूर्ण ज्ञान विद्यमान है। भिन्न भिन्न कर्म इन महान् शक्तियो को जाग्रत करने तथा बाहर प्रकट कर देने के लिए आघात सदृश हैं।

मनुष्य विविध प्रेरणाओ से कार्य किया करता है, क्योंकि विना प्रेरणा या हेतु के कार्य नही हो सकता। कुछ लोग यश चाहते हैं, और वे यश के लिए काम करते हैं। दूसरे पैसा चाहते हैं, और वे पैसे के लिए काम करते हैं। फिर कोई अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं, और वे अधिकार के लिए काम करते हैं। कुछ और स्वर्ग पाना चाहते हैं, और वे उसीके लिए प्रयत्न करते हैं। फिर कुछ लोग मरने के वाद अपना नाम छोड जाने के इच्छुक होते हैं, जैसे चीन देश मे। वहाँ मृत्यु के वाद ही उसे उपाधि दी जाती है, विचार करके देखने पर यह प्रथा हमारे यहाँ की अपेक्षा अच्छी ही कही जा सकती है। वहाँ जव कोई विशेष श्रेष्ठ कार्य करता है, तो उसके दिवगत पिता या पितामह को एक अभिजात उपाधि प्रदान कर दी जाती है। कुछ लोग इसीके निमित्त काम करते हैं। इस्लाम धर्म के कुछ सम्प्रदायो के अनुयायी इस वात के लिए आजन्म काम करते रहते हैं कि मृत्यु के वाद उनका एक वडा मकवरा वने। मैं कुछ ऐसे सम्प्रदायो को जानता हूँ, जिनमे वच्चे के पैदा होते ही उसके लिए एक मकवरा वना दिया जाता है, और यही उन लोगो के अनुसार मनुष्य का सवसे महत्त्वपूर्ण काम होता है। जिसका

मकबरा जितना बड़ा और सुन्दर होता है वह उतना ही अधिक सुखी समझा जाता है। कुछ लोग प्रायश्चित्त के रूप में कर्म किया करते हैं अर्थात् अपने जीवन भर अनेक प्रकार के दुष्ट कर्म कर चुकने के बाद एक मन्दिर बनवा देते हैं अथवा पुरोहितों को कुछ धन दे देते हैं, जिससे वे उनको खरीदकर प्रसन्न कर लें और उनसे स्वर्ग का टिकट खरीद लें। वे सोचते हैं कि इस पुण्य से रास्ता साफ़ हो गया अब हम अपने पापों के बावजूद निर्विघ्न चले जायँगे। कार्य की विविध प्रेरणाओं में से कुछ ये हैं।

कार्य के निमित्त ही कार्य। प्रत्येक देश में कुछ ऐसे नर-रत्न होते हैं जो केवल कर्म के लिए ही कर्म करते हैं। वे नाम-यश अथवा स्वर्ग की भी परवाह नहीं करते। वे केवल इसलिए कर्म करते हैं कि उससे कुछ कल्याण होगा कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो और भी उच्चतर उद्देश्य लेकर गरीबों के प्रति भलाई तथा मनुष्य-जाति की सहायता करने के लिए अग्रसर होते हैं क्योंकि वे शुभ में विश्वास करते हैं और उससे प्रेम करते हैं। नाम तथा यश के लिए किया गया कार्य बहुधा शीघ्र फलित नहीं होता। ये चीज़ें हमें उस समय प्राप्त होती हैं, जब हम वृद्ध हो जाते हैं और जिन्दगी की आखिरी घड़ियाँ गिनते रहते हैं। यदि कोई मनुष्य निःस्वार्थ भाव से कार्य करे तो क्या उसे कोई फलप्राप्ति नहीं होती? असल में तभी तो उसे सर्वोच्च फल की प्राप्ति होती है। और सच पूछा जाय तो निःस्वार्थता अधिक फलदायी होती है केवल लोगों में इसका अभ्यास करने का धैर्य नहीं होता। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी यह अधिक लाभदायक है। प्रेम सत्य तथा निःस्वार्थता नैतिकतासम्बन्धी आलंकारिक वर्णन मात्र नहीं हैं वरन् शक्ति की महान् अभिव्यक्ति होने के कारण वे हमारे सर्वोच्च आदर्श हैं पहली बात यह है कि यदि कोई मनुष्य पाँच दिन अथवा क्यों पाँच मिनट भी बिना भविष्य का चिन्तन किये बिना स्वर्ग नरक या अन्य किसीके सम्बन्ध में सोचे निःस्वार्थता से काम कर सकता है तो उसमें एक महान् आत्मा बन सकने की क्षमता है। यद्यपि इसे कार्यरूप म परिणत करना कठिन है, फिर भी अपने हृदय के अन्तस्तल से हम इसका महत्त्व समझते हैं और जानते हैं कि इससे क्या मंगल होता है। यह प्रचण्ड निग्रह शक्ति की महत्तम अभिव्यक्ति है। अन्य सब बहिर्मुखी कर्मों की अपेक्षा यह आत्म-निग्रह शक्ति की कहीं बड़ी अभिव्यक्ति है। एक चार घोड़ोंवाली गाड़ी पहाड़ी के उतार पर बड़ी आसानी से बिना रोके आ सकती है अथवा सईस घोड़ों को रोक सकता है। किन्तु अधिक शक्ति की अभिव्यक्ति घोड़ों को छोड़ देने में है अथवा उन्हें रोकने में? एक तोप का गोला हवा में काफ़ी दूर तक चला जाता है और फिर गिर पड़ता है। परन्तु दूसरा दीवार से टकराकर रुक जाने

से उतनी दूर नही जा सकता, पर उस टकराने से विपुल ताप की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार, मन की सारी बहिर्मुखी गति किसी स्वार्थपूर्ण उद्देश्य की ओर दौडती रहने से छिन्न-भिन्न होकर बिखर जाती है, वह फिर तुम्हारे पास शक्ति लौटाकर नही लाती। परन्तु यदि उसका सयम किया जाय, तो उससे शक्ति की वृद्धि होती है। इस आत्मसयम से महान् इच्छा-शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, वह बुद्ध या ईसा जैसे चरित्र का निर्माण करता है। मूर्खों को इस रहस्य का पता नहीं रहता, परन्तु फिर भी वे मनुष्य-जाति पर शासन करने के इच्छुक रहते हैं। एक मूर्ख भी यदि कर्म करे और प्रतीक्षा करे, तो समस्त ससार पर शासन कर सकता है। यदि वह कुछ वर्ष तक प्रतीक्षा करे तथा अपने इस मूर्खता-जन्य जगत्-शासन के भाव को सयत कर ले, तो इस भाव के समूल नष्ट होते ही वह ससार मे एक शक्ति बन जायगा। परन्तु जिस प्रकार कुछ पशु अपने से दो-चार कदम आगे कुछ नही देख सकते, इसी प्रकार हममे से अधिकाश लोग दो-चार वर्ष के आगे भविष्य नही देख सकते। हमारा ससार मानो एक क्षुद्र परिधि सा होता है, हम बस उसीमे आबद्ध रहते हैं। उसके परे देखने का धैर्य हममे नही रहता और इसीलिए हम दुष्ट और अनैतिक हो जाते हैं। यह हमारी कमजोरी है—शक्तिहीनता है।

अत्यन्त निम्नतम कर्मों को भी तिरस्कार की दृष्टि से नही देखना चाहिए। जो मनुष्य कोई श्रेष्ठ आदर्श नही जानता, उसे स्वार्थदृष्टि से ही—नाम-यश के लिए ही—काम करने दो। परन्तु प्रत्येक मनुष्य को उच्चतर ध्येयो की ओर बढने तथा उन्हे समझने का यत्न करते रहना चाहिए। 'हमे कर्म करने का ही अधिकार है, कर्मफल मे हमारा कोई अधिकार नही।'[1] कर्मफलो को एक ओर रहने दो, उनकी चिन्ता हमे क्यो हो? यदि तुम किसी मनुष्य की सहायता करना चाहते हो, तो इस बात की कभी चिन्ता न करो कि उसका व्यवहार तुम्हारे प्रति कैसा होना चाहिए। यदि तुम एक श्रेष्ठ एव उत्तम कार्य करना चाहते हो, तो यह सोचने का कष्ट मत करो कि उसका फल क्या होगा।

अब कर्म के इस आदर्श के सम्बन्ध में एक कठिन प्रश्न उठता है। कर्मयोगी के लिए सतत कर्मशीलता आवश्यक है, हमे सदैव कर्म करते रहना चाहिए। बिना कार्य के हम एक क्षण भी नही रह सकते। तो विश्राम के विषय मे क्या कहा जा सकता है? यहाँ इस जीवन-सग्राम का एक पक्ष है कर्म, जिसके तीव्र भँवर मे फँसे हम लोग चक्कर काट रहे हैं। दूसरा पक्ष है शान्ति का—निवृत्तिमुखी

---

१ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन॥गीता॥ २। ४७॥

स्थान का। चारों ओर सब शान्त पूर्ण है, किसी प्रकार का कोलाहल और दिखावा नहीं केवल प्रकृति अपने प्राणियों पुष्पों और पर्वतों के साथ विद्यमान है। पर इन दोनों में कोई भी पूर्ण आदर्श चित्र नहीं है। यदि किसी एकान्तवासी व्यक्ति को संसार के चक्र में घसीट लाया जाय तो वह उससे उसी प्रकार ध्वस्त हो जायगा जिस प्रकार समुद्र की गहराई में रहनेवाली एक विशेष प्रकार की मछली पानी की सतह पर लाये जाते ही टुकड़े टुकड़े हो जाती है क्योंकि सतह पर पानी का वह दबाव नहीं है, जिसके कारण वह जीवित रहती थी। इसी प्रकार एक ऐसा मनुष्य जो सांसारिक तथा सामाजिक जीवन के कोलाहल का अभ्यस्त रहा है यदि किसी नीरव स्थान में ले जाया जाय तो क्या वह आराम से रह सकेगा? कदापि नहीं। उसे क्लेश होगा और सम्भव है उसका मस्तिष्क ही फिर जाय। आदर्श पुरुष तो वे हैं जो परम शान्ति एवं निस्तब्धता के बीच भी तीव्र कर्म का तथा प्रबल कर्मशीलता के बीच भी मरुस्थल की शान्ति एवं निस्तब्धता का अनुभव करते हैं। उन्होंने संयम का रहस्य जान लिया है—अपने ऊपर विजय प्राप्त कर चुके हैं। किसी बड़े शहर की भरी हुई सड़कों के बीच से जाने पर भी उनका मन उसी प्रकार शान्त रहता है मानो वे किसी निःशब्द गुफा में हों और फिर भी उनका मन सारे समय कर्म में तीव्र रूप से लगा रहता है। यही कर्मयोग का आदर्श है और यदि तुमने यह प्राप्त कर लिया है तो तुम्हें वास्तव में कर्म का रहस्य ज्ञात हो गया।

परन्तु हमें आरम्भ से ही आरम्भ करना पड़ेगा जो कार्य हमारे सामने आयें उन्हें हम हाथ में लें और शनैः शनैः हम अपने को प्रतिदिन निःस्वार्थ बनाने का प्रयत्न करें। हमें कर्म करते रहना चाहिए तथा यह पता लगाना चाहिए कि उस कार्य के पीछे हमारी प्रेरक शक्ति क्या है। ऐसा होने पर हम देखेंगे कि आरम्भिक वर्षों में प्रायः हमारे सभी कार्यों का हेतु स्वार्थपूर्ण रहता है। किन्तु धीरे धीरे यह स्वार्थपरायणता अध्यवसाय से नष्ट हो जायगी और अन्त में वह समय आ जायगा जब हम वास्तव में स्वार्थ से रहित होकर कार्य करने के योग्य हो सकेंगे। हम सभी यह आशा कर सकते हैं कि जीवन-पथ में संघर्ष करते करते किसी न किसी दिन वह समय अवश्य ही आयेगा जब हम पूर्ण रूप से निःस्वार्थ बन जायँगे और ज्यों ही हम उस अवस्था को प्राप्त कर लेंगे हमारी समस्त शक्तियाँ केन्द्रीभूत हो जायँगी तथा हमारा आभ्यन्तरिक ज्ञान प्रकट हो जायगा।

'हरेक अपने क्षेत्र में महान् है'

साख्य मत के अनुसार प्रकृति—सत्त्व, रज तथा तम—इन तीन शक्तियो से निर्मित है। भौतिक जगत् मे इन तीन शक्तियो की अभिव्यक्ति साम्यावस्था, क्रियाशीलता तथा जडता के रूप मे दिखायी पडती है। तम की अभिव्यक्ति अन्धकार अथवा कर्मशून्यता के रूप मे होती है, रज की कर्मशीलता अर्थात् आकर्षण एव विकर्षण के रूप मे, और सत्त्व इन दोनो की साम्यावस्था है।

प्रत्येक व्यक्ति मे ये तीन शक्तियाँ होती हैं। कभी कभी तमोगुण प्रवल होता है, तव हम सुस्त हो जाते हैं, हिल-डुल तक नही सकते और कुछ विशिष्ट भावनाओ अथवा जडता से ही आबद्ध होकर निष्क्रिय हो जाते हैं। फिर कभी कभी कर्मशीलता का प्राबल्य होता है, और कभी कभी इन दोनो के सामजस्य सत्त्व की प्रवलता होती है। फिर, भिन्न भिन्न मनुष्यो मे इन गुणो मे से कोई एक सवसे प्रवल होता है। एक मनुष्य मे निष्क्रियता, सुस्ती और आलस्य के गुण प्रबल रहते हैं, दूसरे मे क्रियाशीलता, उत्साह एव शक्ति के, और तीसरे मे हम शान्ति, मृदुता एव माधुर्य का भाव देखते हैं, जो पूर्वोक्त दोनो गुणो अर्थात् सक्रियता एव निष्क्रियता का सामजस्य होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि मे—पशुओ, वृक्षो और मनुष्यो मे—हमे इन विभिन्न शक्तियो का, न्यूनाधिक मात्रा मे, वैशिष्ट्यपूर्ण अभिव्यक्ति दिखायी देती है।

कर्मयोग का सम्वन्ध मुख्यत इन तीन शक्तियो से है। उनके स्वरूप के विषय मे तथा उनका उपयोग कैसे करना चाहिए, यह वतलाकर कर्मयोग हमे अपना कार्य अच्छी तरह से करने की शिक्षा देता है। मानव-समाज एक श्रेणीवद्ध सगठन है। हम सभी जानते हैं कि सदाचार तथा कर्तव्य किसे कहते हैं, परन्तु फिर भी हम देखते हैं कि भिन्न भिन्न देशो मे सदाचार के सम्वन्ध मे अलग अलग धारणाएँ हैं। एक देश मे जो वात सदाचार मानी जाती है, दूसरे देश मे वही नितान्त दुराचार समझी जा सकती है। उदाहरणार्थ, एक देश मे चचेरे भाई-वहिन आपस मे विवाह कर सकते है, परन्तु दूसरे देश मे यही वात अत्यन्त अनैतिक मानी जाती है। किसी देश मे लोग अपनी साली से विवाह कर सकते हैं, परन्तु यही वात दूसरे देश मे अनैतिक समझी जाती है। फिर कही कही लोग एक ही वार विवाह कर सकते हैं और कही कही कई वार, इत्यादि इत्यादि। इसी प्रकार, सदाचार की अन्यान्य

बातों के सम्बन्ध में भी विभिन्न देशों के मानदण्ड बहुत भिन्न होते हैं। फिर भी हमारी यह धारणा है कि सदाचार का एक सार्वभौमिक मानदंड अवश्य है।

यही बात कर्तव्य के विषय में भी है। भिन्न भिन्न जातियों में कर्तव्य की धारणा भिन्न होती है। किसी देश में यदि कोई व्यक्ति कुछ विशिष्ट कार्य नहीं करता तो लोग उस पर दोषारोपण करते हैं परन्तु अन्य किसी देश में यदि वह व्यक्ति वही कार्य करता है, तो वहाँ के लोग कहते हैं कि उसने ठीक नहीं किया। फिर भी हम जानते हैं कि कर्तव्य का एक सार्वभौमिक आदर्श अवश्य है। इसी प्रकार, समाज का एक वर्ग सोचता है कि कुछ विशिष्ट बातें ही कर्तव्य हैं परन्तु दूसरे वर्ग का विचार बिल्कुल विपरीत होता है और वह उन कामों को करना पातक समझेगा। अब हमारे सम्मुख दो मार्ग खुले हैं। एक अज्ञानी का जो सोचता है कि सत्य का मार्ग केवल एक ही है तथा शेष सब असत्य हैं और दूसरा ज्ञानी का जो यह मानता है कि हमारी मानसिक दशा तथा परिस्थिति के अनुसार कर्तव्य तथा सदाचार भिन्न भिन्न हो सकते हैं। अतएव जानने योग्य प्रधान बात यह है कि कर्तव्य तथा सदाचार के विभिन्न स्तर होते हैं और जीवन की एक अवस्था के एक परिस्थिति के कर्तव्य दूसरी परिस्थिति के कर्तव्य नहीं हो सकते।

उदाहरणार्थ सब महापुरुषों का उपदेश है कि 'अशुभ का प्रतिरोध न करो' अप्रतिरोध ही सर्वोच्च नैतिक आदर्श है। हम जानते हैं कि यदि हममें कुछ लोग इस सूत्र को पूर्णतः चरितार्थ करने लगें तो समाज का सारा संगठन ही छिन्न-भिन्न हो जायगा। दुष्ट लोग हमारी जान और माल पर हाथ मारने और मनमानी करने लगेंगे। यदि इस प्रकार का 'अप्रतिरोध-धर्म' एक दिन भी आचरण में लाया जाय तो बड़ी गड़बड़ी मच जायगी। परन्तु फिर भी अपने हृदय के अन्तस्तल से हम 'अशुभ का प्रतिरोध न करो' उपदेश की सत्यता अनुभव करते रहते हैं। हमें यह सर्वोच्च आदर्श प्रतीत होता है परन्तु केवल इसी मत का प्रचार करना अधिकांश मानवता की भर्त्सना करना होगा। इतना ही नहीं बल्कि इसके द्वारा मनुष्यों को सदा यही अनुभव होने लगेगा कि वे अन्याय ही कर रहे हैं। उनके हृदय में प्रत्येक कार्य के बारे में संकल्प-विकल्प सा होने लगेगा उनका मन दुर्बल हो जायगा तथा अन्य किसी दुर्गुण की अपेक्षा वह सतत आत्म-धिक्कार उनमें अधिक दुर्गुणों को उत्पन्न कर देगा। जो व्यक्ति अपने प्रति घृणा करने लगा है उसके पतन का द्वार खुल चुका है और यही बात राष्ट्र के सम्बन्ध में भी सत्य है।

हमारा पहला कर्तव्य यह है कि अपने प्रति घृणा न करें क्योंकि आगे बढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम स्वयं में विश्वास रखें और फिर ईश्वर में।

जिसे स्वय मे विश्वास नहो, उसे ईश्वर मे कभी भी विश्वास नही हो सकता। अत-एव हमारे लिए जो एकमात्र रास्ता रह जाता है, वह यह कि हम समझ लें कि कर्तव्य तथा सदाचार की धारणा विभिन्न परिस्थितियो के अनुसार वदलती रहती है। यह वात नही कि जो मनुष्य अशुभ का प्रतिरोव कर रहा है, वह कुछ ऐसा करता है, जो सदा और स्वभावत अन्यायपूर्ण है, वरन् जिस भिन्न परिस्थिति मे वह है, उसमे अशुभ का प्रतिरोध करना ही उसका कर्तव्य हो सकता है।

सम्भव है, भगवद्गीता का द्वितीय अध्याय पढकर तुम पाश्चात्य देशवालो मे से वहुतो को आश्चर्य हुआ हो, क्योकि वहाँ शत्रुओ के मित्र एव सवधी होने के कारण अर्जुन के उनसे युद्ध करने से अस्वीकार करने तथा अप्रतिरोव को प्रेम का सर्वोच्च आदर्श मानने पर श्री कृष्ण ने अर्जुन को कपटी तथा डरपोक कहा है। इस महान् सत्य को हम सवको अवगत कर लेना चाहिए कि सभी विषयो मे दोनो चरम अवस्थाएँ एक सदृश होती हैं। चरम 'अस्ति' और चरम 'नास्ति', दोनो सदैव एक समान होते है। उदाहरणार्थ, प्रकाश का स्पन्दन यदि अत्यन्त मद होता है, तो हम उसे नही देख सकते, और इसी प्रकार जव वह अत्यन्त तीव्र होता है, तव भी हम उसे देखने मे असमर्थ होते हैं। 'ध्वनि' के सम्वन्ध मे भी ठीक ऐसा ही है। न तो उसके तार-स्वर के वहुत निम्न होने पर हम उसे सुन सकते हैं और न उसके बहुत उच्च होने पर। इसी प्रकार का भेद 'प्रतिरोध' तथा 'अप्रतिरोध' मे है। एक मनुष्य इसलिए प्रतिरोघ नही करता कि वह कमजोर है, सुस्त है, असमर्थ है, दूसरी ओर एक दूसरा मनुष्य है, जो यह जानता है कि यदि वह चाहे, तो ज़बर्दस्त प्रतिरोध कर सकता है, परन्तु फिर भी वह केवल अप्रतिरोध ही नही करता, वरन् अपने शत्रुओ के प्रति शुभ कामनाएँ भी प्रकट करता है। अत वह मनुष्य जो दुर्वलता के कारण प्रतिरोध नही करता, पापग्रस्त होता है और इसलिए अप्रतिरोध से कोई लाभ नही उठा सकता, परन्तु दूसरा मनुष्य यदि प्रति-रोध करे, तो वह भी पाप का भागी होता है। बुद्ध ने जो अपना राजवैभव तथा सिहासन छोड दिया, उसे हम सच्चा त्याग कह सकते हैं, परन्तु एक भिखारी के सम्वन्ध मे त्याग का कोई प्रश्न ही नही उठता, क्योकि उसके पास तो त्याग करने को कुछ है ही नही। अतएव जव हम 'अप्रतिरोध' तथा 'आदर्श प्रेम' की वात करते हैं, तव यह विशेष रूप से ध्यान रखना आवश्यक है कि हम किस विषय की ओर लक्ष्य कर रहे हैं। हमे पहले यह अच्छी तरह सोच लेना चाहिए कि हममे प्रतिरोध की शक्ति है भी या नही। तब फिर शक्तिशाली होते हुए भी यदि हम प्रतिरोध न करें, तो वास्तव मे हम एक महान् कार्य करते हैं, परन्तु यदि हम प्रतिरोध कर ही न सकते हों, और फिर भी भ्रमवश यही सोचते रहें कि हम उच्च प्रेम की प्रेरणा

से ही यह कार्य कर रहे हैं तो यह पहले के ठीक विपरीत ही होगा। अपने विपक्ष में शक्तिशाली सेना को खड़ी देखकर अर्जुन कायर हो गया उसके 'प्रेम' ने उसे अपने देश तथा राजा के प्रति अपना कर्तव्य को विस्मृत करा दिया। इसीलिए तो भगवान् श्री कृष्ण ने उससे कहा कि तू ढोंगी है 'एक ज्ञानी के सदृश तू बातें तो करता है परन्तु तेरे कर्म कायरों जैसे हैं। इसलिए तू उठ, खड़ा हो और युद्ध कर।

यह है कर्मयोग का केन्द्रीय भाव। कर्मयोगी वही है जो समझता है कि सर्वोच्च आदर्श 'अप्रतिरोध' है, जो जानता है कि यह अप्रतिरोध ही मनुष्य की अपनी शक्ति की उच्चतम अभिव्यक्ति है और जो यह भी जानता है कि जिसे हम 'अन्याय का प्रतिरोध' कहते हैं वह इस अप्रतिरोध की उच्चतम शक्ति की प्राप्ति के मार्ग में केवल एक सीढ़ी मात्र है। इस सर्वोच्च आदर्श को प्राप्त करने के पहले अन्याय का प्रतिकार करना मनुष्य का कर्तव्य है। पहले वह कार्य करे, युद्ध करे यथाशक्ति प्रतिद्वन्द्विता करे। जब उसमें प्रतिरोध की शक्ति आ जायगी तभी अप्रतिरोध' उसके लिए एक गुणस्वरूप होगा।

अपने देश में एक बार एक व्यक्ति के साथ मेरी मुलाकात हुई। मैं पहले से ही जानता था कि वह आलसी और बुद्धिहीन है। न वह कुछ जानता था और न उसे कुछ जानने की स्पृहा थी वह पशुवत् अपना जीवन व्यतीत करता था। उसने मुझसे प्रश्न किया "भगवान् की प्राप्ति के लिए मुझे क्या करना चाहिए? मैं किस प्रकार मुक्त हो सकूँगा? मैंने उससे पूछा 'क्या तुम झूठ बोल सकते हो? उसने उत्तर दिया नहीं। मैंने कहा "तब तुम पहले झूठ बोलना सीखो। पशुवत् अथवा काष्ठ के सदृश जड़वत् जीवन यापन करने की अपेक्षा झूठ बोलना कहीं अच्छा है। तुम अकर्मण्य हो। निश्चय ही तुम उस सर्वोच्च निष्क्रिय अवस्था तक पहुँचे नहीं जो सब कर्मों से परे और परम शान्तिपूर्ण होती है। और तो और, तुम इतने जड़भावापन्न हो कि एक बुरा कार्य करने की भी तुममें शक्ति नहीं। अवश्य इतने तामसिक पुरुष बहुधा नहीं होते और सच पूछो तो मैं उससे हँसी ही कर रहा था। पर मेरा मतलब यह था कि सम्पूर्ण निष्क्रिय अवस्था या शान्तभाव प्राप्त करने के लिए मनुष्य को कर्मशीलता में से होकर जाना होगा।

निष्क्रियता का हर प्रकार से त्याग करना चाहिए। क्रियाशीलता का अर्थ है 'प्रतिरोध'। मानसिक तथा शारीरिक समस्त दोषों का प्रतिरोध करो और जब तुम इस प्रतिरोध में सफल होगे तभी शान्ति प्राप्त होगी। यह कहना बड़ा सरल है कि 'किसीसे घृणा मत करो किसी अशुभ का प्रतिरोध मत करो' परन्तु हम जानते हैं कि इसे कार्यरूप में परिणत करना क्या है। जब सारे समाज की आँखें हमारी ओर लगी हों तो हम अप्रतिरोध का प्रदर्शन भले ही करें, परन्तु हमारे

हृदय मे वह सदैव कुरेदती रहती है। अप्रतिरोध का शान्तिजन्य अभाव हमे निरन्तर खलता रहता है, हमे ऐसा लगता है कि प्रतिरोध करना ही अच्छा है। यदि तुम्हे धन की इच्छा है और साथ ही तुम्हे यह भी मालूम है कि जो मनुष्य धन का इच्छुक है, उसे ससार दुष्ट कहता है, तो सम्भव है, तुम धन प्राप्त करने के लिए प्राणपण से चेष्टा करने का साहस न करो, परन्तु फिर भी तुम्हारा मन दिन-रात धन के पीछे ही पीछे दौडता रहेगा। पर यह तो सरासर मिथ्याचार है और इससे कोई लाभ नही होता। ससार मे कूद पडो और जब तुम इसके समस्त सुख और दु ख भोग लोगे, तभी त्याग आयेगा—तभी शान्ति प्राप्त होगी। अतएव प्रभुत्व-लाभ की अथवा अन्य जो कुछ तुम्हारी वासना हो, वह सब पहले पूरी कर लो, और जब तुम्हारी सारी वासनाएँ पूर्ण हो जायँगी, तब एक समय ऐसा आयेगा, जब तुम्हे यह मालूम हो जायगा कि वे सब चीजें बहुत छोटी हैं। परन्तु जब तक तुम्हारी वह वासना तृप्त नही होती, जब तक तुम उस कर्मशीलता मे से होकर नही जा चुकते, तब तक तुम्हारे लिए उस शान्तभाव एव आत्मसमर्पण तक पहुँचना नितान्त असम्भव है। इस अनुद्वेग और त्याग का प्रचार गत हजारो वर्षों से होता आया है—प्रत्येक व्यक्ति इसके बारे मे बचपन से सुनता आया है, परन्तु फिर भी आज ससार मे हमे ऐसे बहुत कम लोग दिखायी देते हैं, जो वास्तव मे उस स्थिति तक पहुँच सके हो। मैंने लगभग आधे ससार का भ्रमण कर डाला है, परन्तु मुझे शायद ऐसे बीस भी व्यक्ति नही मिले, जो वास्तव मे शान्त तथा अप्रतिरोधी प्रकृतिवाले हो।

प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपना आदर्श लेकर उसे चरितार्थ करने का प्रयत्न करे। दूसरो के ऐसे आदर्शो को लेकर चलने की अपेक्षा, जिनको वह पूरा ही नही कर सकता, अपने ही आदर्श का अनुसरण करना सफलता का अधिक निश्चित मार्ग है। उदाहरणार्थ, यदि हम एक छोटे बच्चे से एकदम बीस मील चलने को कह दें, तो या तो वह बेचारा मर जायगा, या यदि हज़ार मे से एकाध रेंगता-रौंगता कही पहुँचा भी, तो वह अधमरा हो जायगा। बस, हम भी ससार के साथ ऐसा ही करने का प्रयत्न करते हैं। किसी समाज के सब स्त्री-पुरुष न एक मन के होते हैं, न एक ही योग्यता के और न एक ही शक्ति के। अतएव, उनमे से प्रत्येक का आदर्श भी भिन्न भिन्न होना चाहिए, और इन आदर्शों मे से एक का भी उपहास करने का हमे कोई अधिकार नही। अपने आदर्श को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक को जितना हो सके, यत्न करने दो। फिर यह भी ठीक नही कि मैं तुम्हारे अथवा तुम मेरे आदर्श द्वारा जाँचे जाओ। सेब के पेड की तुलना ओक से नही होनी चाहिए और न ओक की सेब से। सेब के पेड का विचार करने के लिए सेब का मापक ही लेना होगा, और ओक के लिए उसका अपना मापक।

मनुष्य में एकत्व ही सृष्टि का विधान है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष में व्यक्तिगत रूप से कितना भी भेद क्यों न हो उन सबकी पृष्ठभूमि में एकत्व विद्यमान है। स्त्री-पुरुषों के भिन्न भिन्न चरित्र एवं वर्ग सृष्टि की स्वाभाविक विविधता मात्र हैं। अतएव एक ही आदर्श द्वारा सबकी जाँच करना अथवा सबके सामने एक ही आदर्श रखना किसी भी प्रकार उचित नहीं है। ऐसा करने से केवल एक अस्वाभाविक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है और फल यह होता है कि मनुष्य स्वयं से ही घृणा करने लगता है तथा धार्मिक एवं उन्नत बनने से रुक जाता है। हमारा कर्तव्य तो यह है कि हम प्रत्येक को उसके अपने उच्चतम आदर्श को प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करें, तथा उस आदर्श को सत्य के जितना निकटवर्ती हो सके लाने की चेष्टा करें।

हम देखते हैं कि हिन्दू नीतिशास्त्र में यह तत्त्व बहुत प्राचीन काल से ही स्वीकार किया जा चुका है और हिन्दुओं के धर्मशास्त्र तथा नीति सम्बन्धी पुस्तकों में ब्रह्मचर्य गृहस्थ तथा संन्यास इन सब विभिन्न आश्रमों के लिए भिन्न भिन्न विधियों का वर्णन है।

हिन्दू शास्त्रों के अनुसार सार्वभौम मानवता के साधारण कर्तव्यों के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ विशेष कर्तव्य होते हैं। एक हिन्दू अपना जीवन छात्रावस्था से आरंभ करता है उसके बाद वह विवाह करके गृहस्थ हो जाता है वृद्धावस्था में गृहस्थाश्रम से अवकाश ग्रहण करता है और अन्त में वह संसार को त्यागकर संन्यासी हो जाता है। जीवन के इन आश्रमों से भिन्न भिन्न कर्तव्य संबद्ध हैं। वास्तव में इन आश्रमों में से कोई किसीसे श्रेष्ठ नहीं है एक गृहस्थ का जीवन भी उतना ही श्रेष्ठ है जितना एक ब्रह्मचारी का जिसने अपना जीवन धर्म-कार्य के लिए उत्सर्ग कर दिया है। सड़क का भंगी भी उतना ही उच्च तथा श्रेष्ठ है जितना कि एक सिंहासनारूढ़ राजा। थोड़ी देर के लिए उसे गद्दी पर से उतार दो और उसे मेहतर का काम दो फिर देखो वह कैसा काम करता है। इसी प्रकार उस मेहतर को राजा बना दो देखो वह कैसे राज्य चलाता है। यह कहना व्यर्थ है कि 'गृहस्थ से संन्यासी श्रेष्ठ है'। संसार को छोड़कर, स्वच्छन्द और शान्त जीवन में रहकर ईश्वरोपासना करने की अपेक्षा संसार में रहते हुए ईश्वर की उपासना करना बहुत कठिन है। आज तो भारत में जीवन के ये चार आश्रम घटकर केवल दो ही रह गये हैं—गृहस्थ एवं संन्यास। गृहस्थ विवाह करता है और नागरिक बनकर अपने कर्तव्यों का पालन करता है तथा संन्यासी अपनी समस्त शक्तियों को केवल ईश्वरोपासना एवं धर्मोपदेश में लगा देता है। मैं अब महानिर्वाण-तंत्र से गृहस्थ के कर्तव्य सम्बन्धी कुछ श्लोक उद्धृत करता हूँ। उनमें तुम देखोगे कि

किसी व्यक्ति के लिए गृहस्थ होकर अपने सब कर्तव्यो का उचित रूप से पालन करना कितना कठिन है

ब्रह्मनिष्ठो गृहस्थ स्यात् ब्रह्मज्ञानपरायण ।
यद्यत्कर्म प्रकुर्वीत तद्ब्रह्मणि समर्पयेत् ॥८।२३॥

गृहस्थ को ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए तथा ब्रह्मज्ञान का लाभ ही उसके जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए। परन्तु फिर भी उसे निरन्तर अपने सब कर्म करते रहना चाहिए—अपने कर्तव्यो का पालन करते रहना चाहिए, और अपने समस्त कर्मों के फलो को ईश्वर के चरणो मे अर्पण कर देना चाहिए।

कर्म करके कर्मफल की आकाक्षा न करना, किसी मनुष्य की सहायता करके उससे किसी प्रकार की कृतज्ञता की आशा न रखना, कोई सत्कर्म करके भी इस बात की ओर नज़र तक न देना कि वह हमे यश और कीर्ति देगा अथवा नही, इस ससार मे सबसे कठिन बात है। ससार जब तारीफ करने लगता है, तब एक निहायत बुज़दिल भी बहादुर बन जाता है। समाज के समर्थन तथा प्रशसा से एक मूर्ख भी वीरोचित कार्य कर सकता है, परन्तु अपने आसपास के लोगो की निन्दा-स्तुति की बिल्कुल परवाह न करते हुए सर्वदा सत्कार्य मे लगे रहना वास्तव मे सबसे बडा त्याग है।

न मिथ्याभाषणं कुर्यात् न च शाठ्य समाचरेत्।
देवतातिथिपूजासु गृहस्थो निरतो भवेत् ॥८।२४॥

गृहस्थ का प्रधान कर्तव्य जीविकोपार्जन करना है, परन्तु उसे ध्यान रखना चाहिए कि वह झूठ बोलकर, दूसरो को धोखा देकर तथा चोरी करके ऐसा न करे, और उसे यह भी याद रखना चाहिए कि उसका जीवन ईश्वर-सेवा तथा ग़रीबो के लिए ही है।

मातर पितरञ्चैव साक्षात् प्रत्यक्षदेवताम्।
मत्वा गृही निषेवेत सदा सर्वप्रयत्नत ॥८।२५॥

यह समझकर कि माता और पिता ईश्वर के साक्षात् रूप हैं, गृहस्थ को चाहिए कि वह उन्हें सदैव सब प्रकार से प्रसन्न रखे।

तुष्टाया मातरि शिवे तुष्टे पितरि पार्वति।
तव प्रीतिर्भवेद्देवि परब्रह्म प्रसीदति ॥८।२६॥

यदि उसके माता-पिता प्रसन्न रहते हैं तो ईश्वर उसके प्रति प्रसन्न होते हैं।

> औद्धत्यं परिहासं च तर्जनं परिभाषणम्।
> पित्रोरग्रे न कुर्वीत यदीच्छेदात्मनो हितम्॥
> मातरं पितरं वीक्ष्य नत्वोत्तिष्ठेत् ससंभ्रमः।
> विनाज्ञया नोपविशेत् संस्थितः पितृशासने॥८।२ १॥

अपने माता-पिता के सम्मुख औद्धत्य परिहास चंचलता अथवा कोप प्रकट न करे। वह पुत्र वास्तव में श्रेष्ठ है जो अपने माता-पिता के प्रति एक भी कटु शब्द नहीं कहता। माता-पिता के दर्शन कर उसे चाहिए कि वह उन्हें आदरपूर्वक प्रणाम करे। उनके आने पर वह खड़ा हो जाय और जब तक वे उससे बैठने को न कहें, तब तक न बैठे।

> मातरं पितरं पुत्रं दारानतिथिसोदरान्।
> हित्वा गृही न भुञ्जीयात् प्राणैः कण्ठगतैरपि॥
> वञ्चयित्वा गुरून् बन्धून् यो भुङ्क्ते स्वोदरम्भरिः।
> इहैव लोके गर्ह्योऽसौ परत्र नारकी भवेत्॥८।३३-४॥

जो गृहस्थ अपने माता पिता बच्चों स्त्री तथा अतिथि को बिना भोजन कराये स्वयं कर लेता है, वह पाप का भागी होता है।

> जनन्या वर्धितो देहो जनकेन प्रयोजितः।
> स्वजनैः शिक्षितः प्रीत्या सोऽधमस्तान् परित्यजेत्॥
> एषामर्थे महेशानि कृत्वा कष्टशतान्यपि।
> प्रीणयेत् सततं शक्त्या धर्मो ह्येष सनातनः॥८।३६-७॥

पिता-माता द्वारा ही यह शरीर उत्पन्न हुआ है अतएव उन्हें प्रसन्न करने के लिए मनुष्य को हजार हजार कष्ट भी सहने चाहिए।

> न भार्यां ताडयेत् क्वापि मातृवत् पालयेत् सदा।
> न त्यजेत् घोरकष्टेऽपि यदि साध्वी पतिव्रता॥
> स्थितेषु स्वीयदारेषु स्त्रियमन्यां न संस्पृशेत्।
> दुष्टेन चेतसा विद्वान् अन्यथा नारकी भवेत्॥
> विरले शयनं वासं त्यजेत् प्राज्ञः परस्त्रिया।
> अयुक्तभाषणञ्चैव स्त्रियं शौर्यं न दर्शयेत्॥

धनेन वाससा प्रेम्णा श्रद्धयामृतभाषणै ।
सतत तोषयेत् दारान् नाप्रिय क्वचिदाचरेत् ॥८।३९-४२॥

यस्मिन्नरे महेशानि तुष्टा भार्या पतिव्रता।
सर्वो धर्म कृतस्तेन भवतीप्रिय एव स. ॥८।४४॥

इसी प्रकार मनुष्य का अपनी स्त्री के प्रति भी कर्तव्य है। गृहस्थ को अपनी स्त्री को कभी घुडकना न चाहिए और उसका मातृवत् पालन करना चाहिए। यदि उसकी स्त्री साध्वी और पतिव्रता है, तो वह घोर कष्ट मे भी उसका त्याग न करे। जो मनुष्य अपनी स्त्री के अतिरिक्त किसी दूसरी स्त्री का कलुषित मन से चिन्तन करता है, वह घोर नरक मे जाता है। ज्ञानी मनुष्य को चाहिए कि वह परस्त्री के साथ निर्जन मे शयन या वास न करे। स्त्रियो के सम्मुख अनुचित वाक्य न कहे, और न 'मैंने यह किया, वह किया' आदि कहकर अपने मुख से अपनी वडाई ही करे। अपनी स्त्री को धन, वस्त्र, प्रेम, श्रद्धा एव अमृततुल्य वाक्य द्वारा प्रसन्न रखे और उसे किसी प्रकार क्षुव्ध न करे। हे पार्वती, जो पुरुष अपनी पतिव्रता स्त्री का प्रेमभाजन वनने मे सफल होता है, उसे समझो कि अपने स्वधर्म के आचरण मे सफलता मिल गयी। ऐसा व्यक्ति तुम्हारा प्रिय होता है।

चतुर्वर्षावधि सुतान् लालयेत् पालयेत् सदा।
तत षोडशपर्यन्त गुणान् विद्याञ्च शिक्षयेत् ॥
विंशत्यब्दाधिकान् पुत्रान् प्रेरयेत् गृहकर्मसु।
ततस्तास्तुल्यभावेन मत्वा स्नेहं प्रदर्शयेत् ॥
कन्याप्येव पालनीया शिक्षणीयातियत्नत ।
देया वराय विदुषे धनरत्नसमन्विता ॥८।४५-७॥

पुत्र-कन्या के प्रति गृहस्थ के निम्नलिखित कर्तव्य है

चार वर्ष की अवस्था तक पुत्रो का खूव लाड-प्यार करना चाहिए, फिर सोलह वर्ष की अवस्था तक उन्हे नानाविध सद्‌गुणो और विद्याओ की शिक्षा देनी चाहिए। जव वे वीस वर्ष के हो जायँ, तो उन्हें किसी गृह-कर्म मे लगा देना चाहिए। तव पिता को चाहिए कि वह उन्हें अपनी वरावरी का समझकर उनके प्रति स्नेह-प्रदर्शन करे। ठीक इसी तरह कन्याओ का भी लालन-पालन करना चाहिए, उनकी शिक्षा वहुत ध्यानपूर्वक होनी चाहिए, और जव उनका विवाह हो, तो पिता को उन्हें धन-आभूषणादि देना चाहिए।

एवं क्रमेण भ्रातृंश्च स्वसृभ्रातृसुतानपि।
ज्ञातीन् मित्राणि भृत्यांश्च पालयेत्तोषयेद् गृही॥
ततः स्वधर्मनिरतानेकग्रामनिवासिनः।
अभ्यागतानुदासीनान् गृहस्थः परिपालयेत्॥
यद्येवं नाचरेद्देवि गृहस्थो विभवे सति।
पशुरेव स विज्ञेयः स पापी लोकगर्हितः॥८।४८-५०॥

इसी प्रकार गृहस्थ को अपने भाई-बहिन, भतीजे, भांजे तथा अन्य सगे-सम्बन्धी मित्र एवं नौकरों का भी पालन करना चाहिए और उन्हें सन्तुष्ट रखना चाहिए। फिर गृहस्थ को यह भी चाहिए कि वह स्वधर्मरत अपने ग्रामवासियों, अभ्यागतों और उदासीनों का पालन करे। हे देवि, धनसम्पन्न होते हुए भी जो गृहस्थ अपने कुटुम्बियों तथा निर्धनों की सहायता नहीं करता, वह निन्दनीय और पापी है, उसे तो पशुतुल्य ही समझना चाहिए।

निद्रालस्यं देहयत्नं केशविन्यासमेव च।
आसक्तिमशने वस्त्रे नातिरिक्तं समाचरेत्॥
युक्ताहारो युक्तनिद्रो मितवाङ् मितमैथुनः।
स्वच्छो नम्रः शुचिर्दक्षो युक्तः स्यात् सर्वकर्मसु॥८।५१-२॥

गृहस्थ को अत्यन्त निद्रा, आलस्य, देह की सेवा, केश-विन्यास तथा भोजन वस्त्र में आसक्ति का त्याग करना चाहिए। उसे आहार, निद्रा, भाषण, मैथुन इत्यादि सब बातें परिमित रूप से करनी चाहिए। उसे अकपट, नम्र, बाह्याभ्यन्तर शौच-सम्पन्न, निरालस्य और उद्योगशील होना चाहिए।

शूरः शत्रौ विनीतः स्याद् बान्धवे गुरुसन्निधौ॥८।५३॥

गृहस्थ को अपने शत्रु के सामने शूर होना चाहिए और गुरु एवं बन्धुजनों के समक्ष नम्र।

शत्रु के सम्मुख शूरता प्रकट करके उसे उस पर शासन करना चाहिए। यह गृहस्थ का आवश्यक कर्तव्य है। गृहस्थ को घर में कोने में बैठकर रोना और 'अहिंसा परमो धर्मः' कहकर खाली बकवास न करना चाहिए। यदि वह शत्रु के सम्मुख वीरता नहीं दिखाता है तो वह अपने कर्तव्य की अवहेलना करता है। किन्तु अपने बन्धु-बान्धव, आत्मीय-स्वजन एवं गुरु के निकट उसे गौ के समान शान्त एवं निरीह भाव अवलम्बन करना चाहिए।

जुगुप्सितान् न मन्यत नावमन्येत मानिन ।८५३॥

निन्दित असत् व्यक्ति को वह सम्मान न दे और न सम्माननीय व्यक्ति का अनादर करे।

असत् व्यक्ति के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना गृहस्थ का कर्तव्य नही है, क्योकि ऐसा करने से वह असद्विषय को आश्रय देता है। और यदि सम्मानयोग्य व्यक्ति को वह सम्मान नही देता है, तो भी वडा अन्याय करता है।

सौहार्दं व्यवहाराश्च प्रवृत्ति प्रकृति नृणाम्।
सहवासेन तर्कैश्च विदित्वा विश्वसेत्तत ॥८५४॥

एक साथ रहकर, विशेष निरीक्षण के द्वारा वह पहले मनुष्य का स्नेह, व्यवहार, प्रवृत्ति और प्रकृति जान ले, फिर उस पर विश्वास करे।

ऐरे-गैरे जिस किसी भी व्यक्ति के साथ वह मित्रता न कर बैठे। जिसके साथ उसे मित्रता करने की इच्छा हो, उसके कार्य-कलाप तथा अन्य लोगो के साथ उसके व्यवहार की वह पहले भली भाँति जांच कर ले, और फिर उससे मित्रता करे।

स्वीय यश पौरुष च गुप्तये कथित च यत्।
कृत यदुपकाराय धर्मज्ञो न प्रकाशयेत्॥८५६॥

धर्मज्ञ गृही व्यक्ति को चाहिए कि वह अपना यश, पौरुष, दूसरो की वतायी हुई गुप्त वात तथा दूसरो के प्रति उसने जो कुछ उपकार किया है, इन सबका वर्णन सर्वसाधारण के सम्मुख न करे।

उसे अपने वैभव अथवा अभाव आदि की भी वात नही करनी चाहिए। उसे अपने धन पर गर्व करना उचित नही। ऐसे विषय वह गुप्त ही रखे। यही उसका धर्म है। यह केवल सासारिक अभिज्ञता नही है, यदि कोई मनुष्य ऐसा नही करता, तो वह दुर्नीतिपरायण कहा जा सकता है।

गृहस्थ सारे समाज की नीव सदृश है, वही मुख्य धन उपार्जन करनेवाला होता है। निर्धन, दुर्वल, स्त्री-बच्चे आदि जो कार्य करने योग्य नही हैं, वे सव गृहस्थ के ऊपर ही निर्भर रहते हैं। अतएव गृहस्थ को कुछ कर्तव्य करने पडते हैं। और ये कर्तव्य ऐसे होने चाहिए कि उनका साधन करते करते वह अपने हृदय मे शक्ति का विकास अनुभव करे और ऐसा न सोचे कि वह अपने आदर्शानुसार कार्य नही कर रहा है। इसी कारण—

जुगुप्सितप्रवृत्तौ च निश्चितेऽपि पराजये।
गुरुणा लघुना वापि यशस्वी न प्रकाशयेत्॥८।५७॥

यदि उससे कोई अन्याय अथवा निन्दनीय कार्य कर डाला है तो उसे दूसरों के सम्मुख प्रकट नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार यदि वह ऐसी किसी बात में लगा है जिसमें वह अपनी असफलता निश्चित मानता है तो उसे उसकी भी चर्चा नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार आत्मदोष प्रकट करने से कोई लाभ तो होता नहीं बल्कि उलटा इसके द्वारा मनुष्य हतोत्साहित हो जाता है और इस प्रकार उसके कर्तव्य-कर्मों में बाधा पड़ती है।

विद्याधनयशोधर्मान् यतमान उपार्जयेत्।
व्यसनं चासतां संगं मिथ्याद्रोहं परित्यजेत्॥८।५८॥

उसे चाहिए कि वह यत्नपूर्वक विद्या, धन, यश और धर्म का उपार्जन करे तथा व्यसन (द्यूत क्रीड़ा आदि), कुसंग, मिथ्याभाषण एवं परद्रोह का परित्याग करे।

उसे सबसे पहले ज्ञानलाभ के लिए चेष्टा करनी चाहिए। फिर उसे धनोपार्जन के लिए भी यत्न करना चाहिए। यही उसका कर्तव्य है और यदि वह अपने इस कर्तव्य को नहीं करता तो उसकी गणना मनुष्यों में नहीं। जो गृहस्थ धनोपार्जन की चेष्टा नहीं करता, वह दुर्नीतिपरायण है। यदि वह आलस्यभाव से जीवन यापन करता है और उसीमें सन्तुष्ट रहता है तो वह असत् प्रकृतिवाला है, क्योंकि उसके ऊपर अनेकों व्यक्ति निर्भर रहते हैं। यदि वह यथेष्ट धन उपार्जन करता है तो उससे सैकड़ों का पालन पोषण होता है।

यदि तुम्हारे इस शहर में सैकड़ों लोगों ने धनी बनने की चेष्टा न की होती तो यह सभ्यता, ये अनाथाश्रम और ये हवेलियाँ कहाँ से आतीं?

ऐसी दशा में धनोपार्जन करना कोई अन्याय नहीं है, क्योंकि यह धन वितरण के लिए ही होता है। गृहस्थ ही समाज-जीवन का केन्द्र है। उसके लिए धन कमाना तथा उसका सत्कर्मों में व्यय करना ही उपासना है। जिस प्रकार एक संन्यासी की अपनी कुटी में बैठकर की हुई उपासना उसके मुक्ति-लाभ में सहायक होती है, उसी प्रकार एक गृहस्थ की भी सदुपाय तथा सदुद्देश्य से धनी होने की चेष्टा उसके मुक्ति-लाभ में सहायक होती है, क्योंकि इन दोनों में ही हम ईश्वर तथा जो कुछ ईश्वर का है उस सबके प्रति भक्ति से उत्पन्न हुए आत्मसमर्पण एवं आत्मत्याग का ही प्रकाश पाते हैं, भेद है केवल प्रकाश के रूप भर में।

उसे सभी प्रकार यश अर्जन की चेष्टा करनी चाहिए। जुआ खेलना, दुष्ट

व्यक्तियो का सग, असत्य भाषण तथा दूसरो को कष्ट पहुँचाना—उसे कभी नही करना चाहिए।

वहुधा देखा जाता है कि लोग ऐसे कार्यों मे प्रवृत्त हो जाते हैं, जो उनकी शक्ति के बाहर होते हैं। इसका फल यही होता है कि उन्हें फिर अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिए दूसरो को धोखा देना पडता है। फिर सभी बातो मे इस 'समय' की ओर विशेष दृष्टि रखनी चाहिए। एक समय जिसमे असफलता हुई है, सम्भव है, उसीमे दूसरे समय पूरी सफलता प्राप्त हो जाय।

सत्य मृदु प्रिय घीरो वाक्य हितकर वदेत्।
आत्मोत्कर्ष तथा निन्दा परेषा परिवर्जयेत्॥८।६२॥

घीर गृहस्थ को सत्य, मृदु, प्रिय तथा हितकर वचन बोलने चाहिए। वह अपने उत्कर्ष की चर्चा न करे और दूसरो की निन्दा करना छोड दे।

जलाशयाश्च वृक्षाश्च विश्रामगृहमध्वनि।
सेतु प्रतिष्ठितो येन तेन लोकत्रय जितम्॥८।६३॥

जो व्यक्ति सब लोगो की सुविधा के लिए जलाशय खुदवाता है, सडको पर वृक्ष लगाता है, धर्मशालाएँ तथा सेतु-निर्माण करता है, वह बडे बडे योगियो को जो पद प्राप्त होता है, उसीकी ओर अग्रसर होता रहता है।

यह कर्मयोग का एक अग है—क्रियाशीलता, गृहस्थ का कर्तव्य। आगे चलकर उक्त तत्र-ग्रथ मे एक और श्लोक आया है

न बिभेति रणाद् यो वै सग्रामेऽप्यपराङ्मुख.।
धर्मयुद्धे मृतो वापि तेन लोकत्रय जितम्॥८।६७॥

जो मनुष्य युद्ध मे नही डरता, पीठ नही दिखाता और जो धर्मयुद्ध मे मृत्यु को प्राप्त होता है, वह तीनो लोको को जीत लेता है।

यदि स्वदेश अथवा स्वधर्म के लिए युद्ध करते करते मनुष्य की मृत्यु हो जाय, तो योगीजन जिस पद को ध्यान द्वारा पाते हैं, वही पद उस मनुष्य को भी मिलता है। इससे यह स्पष्ट है कि जो एक मनुष्य का कर्तव्य है, वह दूसरे मनुष्य का कर्तव्य नही भी हो सकता, परन्तु साथ ही, शास्त्र किसीके भी कर्तव्य को हीन अथवा उन्नत नही कहते। हर कर्तव्य का एक अपना स्थान होता है, और हम जिस अवस्था मे हो, उसीके अनुरूप कर्तव्य हमे करना चाहिए।

इस सबसे हमे एक भाव यह मिलता है कि दुर्बलता मात्र हेय है। हमारे दर्शन, धर्म अथवा कर्म के अतर्गत यह भाव मुझे पसन्द है। यदि तुम वेदो को पढो, तो

देखोगे कि उसमें 'मामभेत्' अभी अर्थात् किसीसे भी डरना नहीं चाहिए—यह बात बार बार दुहरायी गयी है। भय दुर्बलता का चिह्न है। इसलिए संसार के उपहास अथवा व्यंग की ओर तनिक भी ध्यान न देकर मनुष्य को अपना कर्तव्य करते रहना चाहिए।

यदि कोई मनुष्य ईश्वरोपासना के निमित्त संसार से विरक्त हो जाय तो उसे यह नहीं समझना चाहिए कि जो लोग संसार में रहकर संसार के हित के लिए कार्य करते हैं वे ईश्वर की उपासना नहीं करते और न अपने स्त्री-बच्चों के लिए संसार में रहनेवाले गृहस्थों को ही यह सोचना चाहिए कि जिन लोगों ने संसार का त्याग कर दिया है, वे आलसी और निकम्मे हैं। अपने अपने स्थान में सभी बड़े हैं। इस बात को मैं एक दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करूँगा।

एक राजा अपने राज्य में जब कभी कोई सन्यासी आते तो उनसे सदैव एक प्रश्न पूछा करता था—"संसार का त्याग कर जो संन्यास ग्रहण करता है वह श्रेष्ठ है अथवा संसार में रहकर जो गृहस्थ के समस्त कर्तव्यों को करता जाता है वह श्रेष्ठ है? अनेक विद्वान् लोगों ने उसके इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न किया। कुछ लोगों ने कहा कि संन्यासी श्रेष्ठ है। यह सुनकर राजा ने उनसे यह बात सिद्ध करने को कहा। जब वे सिद्ध न कर सके तो राजा ने उन्हें विवाह करके गृहस्थ हो जाने की आज्ञा दी। कुछ और लोग आये और उन्होंने कहा "स्वधर्मपरायण गृहस्थ ही श्रेष्ठ है। राजा ने उनसे भी उनकी बात के लिए प्रमाण माँगा। पर वे जब प्रमाण न दे सके तो राजा ने उन्हें भी गृहस्थ हो जाने की आज्ञा दी।

अन्त में एक तरुण संन्यासी आये। राजा ने उनसे भी उसी प्रकार प्रश्न किया। संन्यासी ने कहा हे राजन्, अपने अपने स्थान में दोनों ही श्रेष्ठ है, कोई भी कम नहीं है। राजा ने उसका प्रमाण माँगा। संन्यासी ने उत्तर दिया "हाँ मैं इसे सिद्ध कर दूँगा परन्तु आपको मेरे साथ आना होगा और कुछ दिन मेरे ही समान जीवन व्यतीत करना होगा। तभी मैं आपको अपनी बात का प्रमाण दे सकूँगा। राजा ने संन्यासी की बात स्वीकार कर ली और वह उनके पीछे पीछे चलने लगा। वह उस संन्यासी के साथ अपने राज्य की सीमा को पार कर अनेक देशों में से होता हुआ एक बड़े राज्य में आ पहुँचा। उस राज्य की राजधानी में एक बड़ा उत्सव मनाया जा रहा था। राजा और संन्यासी ने संगीत और नगाड़ों के साथ सुने तथा ढोंडी पीटने-वालों की आवाज भी। लोग सड़कों पर सुसज्जित होकर कतारों में खड़े थे। उसी समय कोई एक विशेष घोषणा की जा रही थी। उपर्युक्त राजा तथा संन्यासी भी यह सब देखने के लिए वहाँ खड़े हो गये। घोषणा करनेवाले ने चिल्लाकर कहा "इस देश की राजकुमारी का स्वयंवर होनेवाला है।

राजकुमारियो का अपने लिए इस प्रकार पति चुनना भारत मे एक पुरानी प्रथा थी। अपने भावी पति के सम्बन्ध मे प्रत्येक राजकुमारी के अलग अलग विचार होते थे। कोई अत्यन्त रूपवान पति चाहती थी, कोई अत्यन्त विद्वान्, कोई अत्यन्त धनवान, आदि आदि। अडोस-पडोस के राज्यो के राजकुमार सुन्दर मे सुन्दर ढग से अपने को सजाकर राजकुमारी के सम्मुख उपस्थित होते थे। कभी कभी उन राजकुमारो के भी भाट होते थे, जो उनके गुणो का गान करते तथा यह दर्शाते थे कि उन्हीका वरण किया जाय। राजकुमारी को एक सजे हुए सिहासन पर बिठाकर आलीशान ढग से सभा के चारो ओर ले जाया जाता था। वह उन सबके सामने जाती तथा उनका गुणगान सुनती। यदि उसे कोई राजकुमार नापसन्द होता, तो वह अपने वाहको से कहती, "आगे बढो", और उसके पश्चात् उस नापसन्द राजकुमार का कोई ख्याल तक न किया जाता था। यदि राजकुमारी किसी राजकुमार से प्रसन्न हो जाती, तो वह उसके गले मे वरमाला डाल देती और वह राजकुमार उसका पति हो जाता था।

जिस देश मे यह राजा और सन्यासी आये हुए थे, उस देश मे इसी प्रकार का एक स्वयवर हो रहा था। यह राजकुमारी ससार मे अद्वितीय सुन्दरी थी और उसका भावी पति ही उसके पिता के बाद उसके राज्य का उत्तराधिकारी होनेवाला था। इस राजकुमारी का विचार एक अत्यन्त सुन्दर पुरुष से विवाह करने का था, परन्तु उसे योग्य व्यक्ति मिलता ही न था। कई बार उसके लिए स्वयवर रचे गये, पर राजकुमारी को अपने मन का पति न मिला। इस बार का स्वयवर सबसे भव्य था, अन्य सभी अवसरो की अपेक्षा इस बार अधिक लोग आये थे। राजकुमारी रत्नजटित सिहासन पर बैठकर आयी और उसके वाहक उसे एक राजकुमार के सामने से दूसरे के सामने ले गये। परन्तु उसने किसीकी ओर देखा तक नही। सभी लोग निराश हो गये और सोचने लगे कि क्या अन्य अवसरो की भाँति इस बार का स्वयवर भी असफल ही रहेगा। इतने ही मे वहाँ एक दूसरा तरुण सन्यासी आ पहुँचा। वह इतना सुन्दर था कि मानो सूर्यदेव ही आकाश छोडकर स्वय पृथ्वी पर उतर आये हो। वह आकर सभा के एक ओर खडा हो गया और जो कुछ हो रहा था, उसे देखने लगा। राजकुमारी का सिहासन उसके समीप आया, और ज्यो ही उसने उस सुन्दर सन्यासी को देखा, त्यो ही वह रुक गयी और उसके गले मे वरमाला डाल दी। तरुण सन्यासी ने एकदम माला को रोक लिया और यह कहते हुए 'छि, छि, यह क्या है?' उसे फेंक दिया। उसने कहा, "मैं सन्यासी हूँ, मुझे विवाह से क्या प्रयोजन?" उस देश के राजा ने सोचा कि शायद निर्धन होने के कारण यह राजकुमारी से विवाह करने का साहस नही कर रहा

है। अतएव उसने उससे कहा "देखो मेरी कन्या के साथ तुम्हें मेरा आधा राज्य अभी मिल जायगा और सम्पूर्ण राज्य मेरी मृत्यु के बाद!" और यह कहकर उसने संन्यासी के गले में फिर माला डाल दी। उस युवा संन्यासी ने माला फिर निकालकर फेंक दी और कहा "छि! यह सब क्या झंझट है! मुझे विवाह से क्या मतलब?" और यह कहकर वह तुरन्त सभा छोड़कर चला गया।

इधर राजकुमारी इस युवा पर इतनी मोहित हो गयी कि उसने कह दिया "मैं इसी मनुष्य से विवाह करूँगी नहीं तो प्राण त्याग दूँगी।" और राजकुमारी संन्यासी के पीछे पीछे उसे लौटा लाने के लिए चल पड़ी। इसी अवसर पर हमारे पहले संन्यासी ने जो राजा को यहाँ लाये थे राजा से कहा "राजन्, चलिए, हम दोनों के पीछे पीछे हम लोग भी चलें।" निदान वे उनके पीछे पीछे पर्याप्त अन्तर रखते हुए चलने लगे। वह युवा संन्यासी जिसने राजकुमारी से विवाह करने से इनकार कर दिया था कई मील निकल गया और अन्त में एक जंगल में घुस गया। उसके पीछे राजकुमारी थी और उन दोनों के पीछे ये दोनों। तरुण संन्यासी उस वन से भली भाँति परिचित था तथा वहाँ के सारे जटिल रास्तों का उसे ज्ञान था। वह एकदम एक रास्ते में घुस गया और अदृश्य हो गया। राजकुमारी उसे फिर देख न सकी। उसे काफ़ी देर ढूँढ़ने के बाद अन्त में वह एक वृक्ष के नीचे बैठ गयी और रोने लगी क्योंकि उसे बाहर निकलने का मार्ग नहीं मालूम था। इतने में वह राजा और संन्यासी उसके पास आये और उससे कहा "रोओ मत तुम्हें इस जंगल के बाहर निकाल ले चलेंगे परन्तु अब बहुत अँधेरा हो गया है जिससे रास्ता ढूँढ़ना सहज नहीं। यहीं एक बड़ा पेड़ है आओ इसीके नीचे हम सब विश्राम करें और सबेरा होते ही हम तुम्हें मार्ग बता देंगे।"

अब उस पेड़ की एक डाली पर एक छोटी चिड़िया उसकी पत्नी तथा उसके तीन बच्चे रहते थे। उस चिड़िया ने पेड़ के नीचे इन लोगों को देखा और अपनी पत्नी से कहा "देखो हमारे यहाँ ये लोग अतिथि हैं, जाड़े का मौसम है हम लोग क्या करें? हमारे पास आग तो है नहीं।" यह कहकर वह उड़ गया और एक जलती हुई लकड़ी का टुकड़ा अपनी चोंच में दबा लाया और उसे अतिथियों के सामने गिरा दिया। उन्होंने उसमें लकड़ी आदि लगाकर खूब आग तैयार कर ली परन्तु चिड़िया को फिर भी सन्तोष न हुआ। उसने अपनी स्त्री से फिर कहा "बताओ अब हमें क्या करना चाहिए? ये लोग भूखे हैं और इन्हें खिलाने के लिए हमारे पास कुछ भी नहीं है। हम लोग गृहस्थ हैं और हमारा धर्म है कि जो कोई हमारे घर आये उसे हम भोजन करायें। जो कुछ मेरी शक्ति में है, मुझे अवश्य करना चाहिए मैं उन्हें अपना यह शरीर ही दे दूँगा।" ऐसा कहकर वह आग में कूद

पडा और भुन गया। अतिथियो ने उसे आग मे गिरते देखा, उसे बचाने का यत्न भी किया, परन्तु बचा न सके। उस चिडिया की स्त्री ने अपने पति का मृत्यु देखा और अपने मन मे कहा, "ये तो तीन लोग है, उनके भोजन के लिए केवल एक ही चिडिया पर्याप्त नही। पत्नी के रूप मे मेरा यह कर्तव्य है कि अपने पति के परिश्रमो को मैं व्यर्थ न जाने दूं। वे मेरा भी शरीर ले ले।" और ऐसा कहकर वह भी आग मे गिर गयी और भुन गयी।

इसके बाद जब उन तीन छोटे बच्चो ने देखा कि उन अतिथियो के लिए इतना तो पर्याप्त न होगा, तो उन्होने आपस मे कहा, "हमारे माता-पिता से जो कुछ बन पडा, उन्होने किया, परन्तु फिर भी उतना पूरा न पडेगा। अब हमारा धर्म है कि हम उनके कार्य को पूरा करें—हमे भी अपने शरीर दे देने चाहिए।" और यह कहकर वे सब आग मे कूद पडे।

यह सब देखकर ये तीनो लोग बहुत चकित हुए। इन चिडियो को वे खा ही कैसे सकते थे। रात को बिना वे भोजन किये ही रहे। प्रात काल राजा तथा सन्यासी ने राजकुमारी को जगल का मार्ग दिखला दिया, और वह अपने पिता के घर वापस चली गयी।

तब सन्यासी ने राजा से कहा, "देखिए राजन्, आपको अब ज्ञात हो गया कि हरेक अपने क्षेत्र मे महान् है। यदि आप ससार मे रहना चाहते है, तो इन चिडियो के समान रहिए, दूसरो के लिए अपना जीवन दे देने को सदैव तत्पर रहिए। और यदि आप ससार छोडना चाहते हैं, तो उस युवा सन्यासी के समान होइए, जिसके लिए वह परम सुन्दरी स्त्री और एक राज्य भी तृणवत् था। यदि गृहस्थ होना चाहते हैं, तो दूसरो के हित के लिए अपना जीवन अर्पित कर देने के लिए तैयार रहिए। और यदि आपको सन्यास-जीवन की इच्छा है, तो सौन्दर्य, धन तथा अधिकार की ओर आँख तक न उठाइए। हरेक अपने क्षेत्र मे महान् है, परन्तु एक का कर्तव्य दूसरे का कर्तव्य नही हो सकता।"

कर्म का रहस्य

दूसरों की शारीरिक आवश्यकताओं का निवारण करके उनकी भौतिक सहायता करना महान कर्म अवश्य है, परन्तु अभाव की मात्रा जितनी अधिक रहती है तथा सहायता जितनी अधिक दूर तक अपना असर कर सकती है उसी मात्रा में वह उच्चतर होती है। यदि एक मनुष्य के अभाव एक घंटे के लिए हटाये जा सकें तो यह उसकी सहायता अवश्य है, और यदि एक साल के लिए हटाये जा सकें, तो यह उससे भी अधिक सहायता है पर यदि उसके अभाव सदा के लिए दूर कर दिये जायें तो सचमुच वह उसके लिए सबसे अधिक सहायता होगी। केवल आध्यात्मिक ज्ञान ही ऐसा है, जो हमारे दुःखों को सदा के लिए नष्ट कर दे सकता है अन्य किसी प्रकार के ज्ञान से आवश्यकताओं की पूर्ति केवल अल्प समय के लिए ही होती है। केवल आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा ही हमारे दैन्य-क्लेशों का सदा के लिए अन्त हो सकता है। अतएव किसी मनुष्य की आध्यात्मिक सहायता करना ही उसकी सबसे बड़ी सहायता करना है। जो मनुष्य को पारमार्थिक ज्ञान दे सकता है वही मानव समाज का सबसे बड़ा हितैषी है। हम देखते भी हैं कि जिन व्यक्तियों ने मनुष्य की आध्यात्मिक सहायता की है वे ही वास्तव में सबसे अधिक शक्तिसंपन्न थे। कारण यह है कि आध्यात्मिकता ही हमारे जीवन के समस्त कार्यों का सच्चा आधार है। आध्यात्मिक शक्तिसंपन्न पुरुष यदि चाहे तो हर विषय में सक्षम हो सकता है। और जब तक मनुष्य में आध्यात्मिक बल नहीं आता तब तक उसकी भौतिक आवश्यकताएँ भी भली भाँति तृप्त नहीं हो सकतीं। आध्यात्मिक सहायता से नीचे है—बौद्धिक सहायता। यह ज्ञान-दान भोजन तथा वस्त्र के दान से कहीं श्रेष्ठ है इतना ही नहीं वरन् प्राणदान से भी उच्च है क्योंकि ज्ञान ही मनुष्य का प्रकृत जीवन है। अज्ञान ही मृत्यु है, और ज्ञान जीवन। यदि जीवन अन्धकारमय है और अज्ञान तथा क्लेश में बीतता है तो, ऐसे जीवन का मूल्य बहुत ही कम है। ज्ञान-दान से नीचे है शारीरिक सहायता। अतएव दूसरों की सहायता का प्रश्न उपस्थित होने पर हमें *इस भ्रांत धारणा से सदा बचे रहने का प्रयत्न करना चाहिए कि शारीरिक सहायता* ही एकमात्र सहायता है। वास्तव में शारीरिक सहायता तो सब सहायताओं में केवल अन्तिम ही नहीं वरन् निम्नतम श्रेणी की भी है क्योंकि इसके द्वारा चिर

तृप्ति नहीं हो सकती। भूखे रहने से जो कष्ट होता है, उसका परिहार भोजन कर लेने से ही हो जाता है, परन्तु वह भूख पुन लौट आती है। हमारे क्लेशो का अन्त तो केवल तभी हो सकता है, जब हम तृप्त होकर सब प्रकार के अभावो से परे हो जायें। तब क्षुधा हमे पीडित नही कर सकती और न कोई क्लेश अथवा दुख ही हमे विचलित कर सकता है। अतएव, जो सहायता हमे आध्यात्मिक बल देती है, वह सर्वश्रेष्ठ है, उससे नीचे है बौद्धिक सहायता, और उसके बाद है शारीरिक सहायता।

केवल शारीरिक सहायता द्वारा ही ससार के दुखो से छुटकारा नही हो सकता। जब तक मनुष्य का स्वभाव ही परिवर्तित नही हो जाता, तब तक ये शारीरिक आवश्यकताएँ सदा बनी ही रहेगी और फलस्वरूप क्लेशो का अनुभव भी सदैव होता रहेगा। कितनी भी शारीरिक सहायता उनका पूर्ण उपचार नहीं कर सकती। इस समस्या का केवल एक ही समाधान है और वह है मानव जाति को पवित्र कर देना। अपने चारो ओर हम जो अशुभ तथा क्लेश देखते हैं, उन सबका केवल एक ही मूल कारण है—अज्ञान। मनुष्य को ज्ञानालोक दो, उसे पवित्र और आध्यात्मिक बलसम्पन्न करो और शिक्षित बनाओ, तभी ससार से दुख का अन्त हो जायगा, अन्यथा नही। देश के प्रत्येक घर को हम सदावर्त मे भले ही परिणत कर दें, देश को अस्पतालो से भले ही भर दें, परन्तु जब तक मनुष्य का चरित्र परिवर्तित नही होता, तब तक दुख-क्लेश बना ही रहेगा।

भगवद्गीता मे हम बार बार पढते हैं कि हमे निरन्तर कर्म करते रहना चाहिए। कर्म स्वभावत ही शुभ-अशुभ से निर्मित होता है। हम ऐसा कोई भी कर्म नही कर सकते, जिससे कही कुछ शुभ न हो, और ऐसा भी कोई कर्म नही है, जिससे कही न कही कुछ अशुभ न हो। प्रत्येक कर्म अनिवार्य रूप से गुण-दोष से मिश्रित रहता है। परन्तु फिर भी हमे सतत कर्म करते रहने का ही आदेश है। शुभ और अशुभ, दोनो के अपने अलग अलग परिणाम होगे, वे भी कर्म की उत्पत्ति करेंगे। शुभ कर्मों का फल शुभ होगा और अशुभ कर्मों का फल अशुभ। परन्तु शुभ और अशुभ, दोनो ही आत्मा के लिए बन्धनस्वरूप हैं। इस सम्बन्ध मे गीता का कथन है कि यदि हम अपने कर्मों मे आसक्त न हो, तो हमारी आत्मा पर किसी प्रकार का बन्धन नही पड सकता। अब हम यह देखेंगे कि 'कर्मों मे अनासक्ति' का तात्पर्य क्या है।

गीता का केन्द्रीय भाव यह है निरन्तर कर्म करते रहो, परन्तु उसमे आसक्त मत होओ। सस्कार प्राय मनुष्य की जन्मजात-प्रवृत्ति होता है। यदि मन को तालाब मान लिया जाय, तो उसमे उठनेवाली प्रत्येक लहर, प्रत्येक तरग जब शान्त हो

जाती है, तो वास्तव में वह बिल्कुल नष्ट नहीं हो जाती वरन् चित्त में एक प्रकार का चिह्न छोड़ जाती है तथा ऐसी सम्भावना का निर्माण कर जाती है जिससे वह फिर उठ सके। इस चिह्न तथा इस लहर के फिर से उठने की सम्भावना को मिलाकर हम 'संस्कार' कह सकते हैं। हमारा प्रत्येक कार्य हमारा प्रत्येक अंग सचालन हमारा प्रत्येक विचार हमारे चित्त पर इसी प्रकार का एक संस्कार छोड़ जाता है और यद्यपि ये संस्कार ऊपरी दृष्टि से स्पष्ट न हों तथापि ये अवचेतन रूप से अन्दर ही अन्दर कार्य करने में पर्याप्त समर्थ होते हैं। हम प्रतिमुहूर्त जो कुछ होते हैं वह इन संस्कारों के समुदाय द्वारा ही नियमित होता है। मैं इस मुहूर्त जो कुछ हूँ वह मेरे अतीत जीवन के समस्त संस्कारों का प्रभाव है। यथार्थतः इसे ही 'चरित्र' कहते हैं और प्रत्येक मनुष्य का चरित्र इन संस्कारों की समष्टि द्वारा ही नियमित होता है। यदि शुभ संस्कारों का प्राबल्य रहे तो मनुष्य का चरित्र अच्छा होता है और यदि अशुभ संस्कारों का तो बुरा। यदि एक मनुष्य निरन्तर बुरे शब्द सुनता रहे बुरे विचार सोचता रहे बुरे कर्म करता रहे तो उसका मन भी बुरे संस्कारों से पूर्ण हो जायगा और बिना उसके जाने ही वे संस्कार उसके समस्त विचारों तथा कार्यों पर अपना प्रभाव डालते रहेंगे। वास्तव में ये बुरे संस्कार निरन्तर अपना कार्य करते रहते हैं। अतएव बुरे संस्कार सम्पन्न होने के कारण उस व्यक्ति के कार्य भी बुरे होंगे—वह एक बुरा आदमी बन जायगा—वह इससे बच नहीं सकता। इन संस्कारों की समष्टि उसमें दुष्कर्म करने की प्रबल प्रवृत्ति उत्पन्न कर देगी। वह इन संस्कारों के हाथ एक यंत्र सा होकर रह जायगा वे उसे बलपूर्वक दुष्कर्म करने के लिए बाध्य करेंगे। इसी प्रकार यदि एक मनुष्य अच्छे विचार रखे और सत्कार्य करे, तो उसके इन संस्कारों का प्रभाव भी अच्छा ही होगा तथा उसकी इच्छा न होते हुए भी वे उसे सत्कार्य करने के लिए प्रवृत्त करेंगे। जब मनुष्य इतने सत्कार्य एवं सद्चिन्तन कर चुकता है कि उसकी इच्छा न होते हुए भी उसमें सत्कार्य करने की एक अनिवार्य प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है तब फिर यदि वह दुष्कर्म करना भी चाहे तो इन सब संस्कारो की समष्टि रूप से उसका मन उसे ऐसा करने से तुरन्त रोक देगा इतना ही नहीं वरन् उसके ये संस्कार उसे मार्ग पर से हटा देंगे। तब वह अपने सत्संस्कारों के हाथ एक कठपुतली जैसा हो जायगा। जब ऐसी स्थिति हो जाती है तभी उस मनुष्य का चरित्र स्थिर कहलाता है।

जिस प्रकार कछुआ अपने सिर और पैरों को खोल के अन्दर समेट लेता है और तब उसे चाहे हम मार ही क्यों न डालें उसके टुकड़े टुकड़े ही क्यों न कर डालें पर वह बाहर नहीं निकलता इसी प्रकार जिस मनुष्य ने अपने मन एवं इन्द्रियों

को वश मे कर लिया है, उसका चरित्र भी सदैव स्थिर रहता है। वह अपनी आभ्यन्तरिक शक्तियो को वश मे रखता है और उसकी इच्छा के विरुद्ध ससार की कोई भी वस्तु उन्हे वहिर्मुख होने के लिए विवश नही कर सकती। मन के ऊपर इस प्रकार सद्विचारो एव सुसस्कारो का निरन्तर प्रभाव पडते रहने से सत्कार्य करने की प्रवृत्ति प्रवल हो जाती है और इसके फलस्वरूप हम इन्द्रियो (कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय, दोनो) को वशीभूत करने मे समर्थ होते हैं। तभी हमारा चरित्र स्थिर होता है, तभी हम सत्य-लाभ के अधिकारी हो सकते हैं। ऐसा ही मनुष्य सदैव निरापद रहता है, उससे किसी भी प्रकार की बुराई नही हो सकती। उसको तुम कैसे भी लोगो के साथ रख दो, उसके लिए कोई खतरा नही रहता। इन शुभ सस्कारो से सम्पन्न होने की अपेक्षा एक और भी अधिक उच्चतर अवस्था है और वह है—मुक्ति-लाभ की इच्छा। तुम्हे यह स्मरण रखना चाहिए कि सभी योगो का ध्येय आत्मा की मुक्ति है, और प्रत्येक योग समान रूप से उसी ध्येय की ओर ले जाता है। बुद्ध ने ध्यान से तथा ईसा ने प्रार्थना द्वारा जिस अवस्था की प्राप्ति की थी, मनुष्य केवल कर्म द्वारा भी उस अवस्था को प्राप्त कर सकता है। बुद्ध ज्ञानी थे और ईसा भक्त, पर वे दोनो एक ही लक्ष्य पर पहुँचे थे। यहाँ कठिनाई है। मुक्ति का अर्थ है, सम्पूर्ण स्वाधीनता—शुभ और अशुभ, दोनो प्रकार के वन्धनो से छुटकारा पा जाना। इसे समझना ज़रा कठिन है। लोहे की जज़ीर भी एक जजीर है, और सोने की जजीर भी एक जजीर ही है। यदि हमारी अँगुली मे एक काँटा चुभ जाय, तो उसे निकालने के लिए हम एक दूसरा काँटा काम मे लाते हैं, परन्तु जव वह निकल जाता है, तो हम दोनों को ही फेक देते हैं। हमे फिर दूसरे काँटे को रखने की कोई आवश्यकता नही रह जाती, क्योकि दोनो आखिर काँटे ही तो है। इसी प्रकार कुसस्कारो का नाश शुभ सस्कारो द्वारा करना चाहिए और मन के अशुभ विचारो को शुभ विचारो द्वारा दूर करते रहना चाहिए, जब तक कि समस्त अशुभ विचार लगभग नष्ट न हो जायँ अथवा पराजित न हो जायँ या वशीभूत होकर मन मे कही एक कोने मे न पडे रह जायँ। परन्तु उसके उपरान्त शुभ सस्कारो पर भी विजय प्राप्त करना आवश्यक है। तभी जो 'आसक्त' था, वह 'अनासक्त' हो जाता है। कर्म करो, अवश्य करो, पर उस कर्म अथवा विचार को अपने मन के ऊपर कोई गहरा प्रभाव न डालने दो। लहरें आयें और जायँ, मासपेशियो और मस्तिष्क से वडे वडे कार्य होते रहें, पर वे आत्मा पर किसी प्रकार का गहरा प्रभाव न डालने पायें।

अव प्रश्न यह है कि यह कैसे हो सकता है? हम देखते हैं कि हम जिस किसी कर्म मे लिप्त हो जाते हैं, उसका सस्कार हमारे मन मे रह जाता है। दिन भर

में मैं सैकड़ों आदमियों से मिला और उन्हींमें एक ऐसे व्यक्ति से भी मिला जिससे मुझे प्रेम है। तब यदि रात को सोते समय मैं उन सब लोगों को स्मरण करने का प्रयत्न करूँ तो देखूँगा कि मेरे सम्मुख केवल उसी व्यक्ति का चेहरा आता है जिसे मैं प्रेम करता हूँ भले ही उसे मैंने केवल एक ही मिनट के लिए देखा हो। उसके अतिरिक्त अन्य सब व्यक्ति अन्तर्हित हो जाते हैं। ऐसा क्यों? इसलिए कि इस व्यक्ति के प्रति मेरी विशेष आसक्ति ने मेरे मन पर अन्य सभी की अपेक्षा एक अधिक गहरा प्रभाव डाल दिया था। शरीर-विज्ञान की दृष्टि से तो सभी व्यक्तियों का प्रभाव एक सा ही हुआ था। प्रत्येक व्यक्ति का चेहरा नेत्रपट पर उतर आया था और मस्तिष्क में उसके चित्र भी बन गये थे। परन्तु फिर भी मन पर इन सबका प्रभाव एक समान नहीं पड़ा। सम्भवतः अधिकांश व्यक्तियों के चेहरे एकदम नये थे जिनके बारे में मैंने पहले कभी विचार भी न किया होगा परन्तु वह एक चेहरा जिसकी मुझे केवल एक झलक ही मिली थी भीतर तक समा गया! शायद इस चेहरे का चित्र मेरे मन में बर्षों से रहा हो और मैं उसके बारे में सैकड़ों बातें जानता होऊँ अतः उसकी इस एक झलक ने ही मेरे मन में उन सैकड़ों सोती हुई स्मृतियों को जगा दिया। और इसीलिए शेष अन्य सब चेहरों को देखने के समवेत फलस्वरूप मन में जितना संस्कार पड़ा उसकी अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक इस संस्कार की आवृत्ति होते रहने के कारण मन पर उसका इतना प्रबल प्रभाव पड़ा।

अतएव अनासक्त होओ कार्य होते रहने दो—मस्तिष्क के केन्द्र अपना अपना कार्य करते रहें निरन्तर कार्य करते रहो परन्तु एक लहर को भी अपने मन पर प्रभाव मत डालने दो। संसार में इस प्रकार कर्म करो मानो तुम एक विदेशी पथिक हो पर्यटक हो। कर्म तो निरन्तर करते रहो परन्तु अपने को बन्धन में मत डालो बन्धन भीषण है। संसार हमारी निवासभूमि नहीं है यह तो उन सोपानों में से एक है जिनमें से होकर हम जा रहे हैं। सांख्य दर्शन के उस महावाक्य को मत भूलो 'समस्त प्रकृति आत्मा के लिए है आत्मा प्रकृति के लिए नहीं। प्रकृति के अस्तित्व का प्रयोजन आत्मा की शिक्षा के निमित्त ही है इसका और कोई अर्थ नहीं। उसका अस्तित्व इसीलिए है कि आत्मा को ज्ञान-लाभ हो तथा ज्ञान द्वारा आत्मा अपने को मुक्त कर ले। यदि हम यह बात निरन्तर ध्यान में रखें तो हम प्रकृति में कभी आसक्त न होंगे हमें यह ज्ञान हो जायगा कि प्रकृति हमारे लिए एक पुस्तक सदृश है जिसका हमें अध्ययन करना है और जब हमें उससे आवश्यक ज्ञान प्राप्त हो जायगा तो फिर वह पुस्तक हमारे लिए किसी काम की नहीं रहेगी। परन्तु इसके विपरीत हो यह रहा

है कि हम अपने को प्रकृति मे ही मिला दे रहे है, यह सोच रहे है कि आत्मा प्रकृति के लिए है, आत्मा शरीर के लिए है, और जैसी कि एक कहावत है, हम सोचते है, 'मनुष्य खाने के लिए ही जीवित रहता है, न कि जीवित रहने के लिए खाता है', और यह भूल हम निरन्तर करते रहते है। प्रकृति को ही 'अहम्' मानकर हम प्रकृति मे आसक्त बने रहते है। और ज्यो ही इस आसक्ति का प्रादुर्भाव होता है, त्यो ही आत्मा पर प्रबल सस्कार का निर्माण हो जाता है, जो हमे बन्धन मे डाल देता है और जिसके कारण हम मुक्त भाव से कार्य न करके दास की तरह कार्य करते रहते है।

इस शिक्षा का समस्त सार यही है कि तुम्हे एक 'स्वामी' के समान कार्य करना चाहिए, न कि एक 'दास' की तरह। कर्म तो निरन्तर करते रहो, परन्तु एक दास के समान मत करो। सब लोग किस प्रकार कर्म कर रहे है, क्या यह तुम नही देखते ? इच्छा होने पर भी कोई आराम नही ले सकता ! ९९ प्रतिशत लोग तो दासो की तरह कार्य करते रहते है, और उसका फल होता है दु ख, ये सब कार्य स्वार्थपूर्ण होते है। मुक्त भाव से कर्म करो ! प्रेमसहित कर्म करो ! 'प्रेम' शब्द का यथार्थ अर्थ समझना बहुत कठिन है। बिना स्वाधीनता के प्रेम आ ही नही सकता। दास मे सच्चा प्रेम होना सम्भव नही। यदि तुम एक गुलाम मोल ले लो और उसे जजीरो से बाँधकर उससे अपने लिए काम कराओ, तो वह कष्ट उठाकर किसी प्रकार काम करेगा अवश्य, पर उसमे किसी प्रकार का प्रेम नही रहेगा। इसी तरह जब हम ससार के लिए दासवत् कर्म करते है, तो उसके प्रति हमारा प्रेम नही रहता और इसलिए वह सच्चा कर्म नही हो सकता। हम अपने बन्धु-बान्धवो के लिए जो कर्म करते है, यहाँ तक कि हम अपने स्वय के लिए भी जो कर्म करते है, उसके बारे मे भी ठीक यही बात है। स्वार्थ के लिए किया गया कार्य दास का कार्य है। और कोई कार्य स्वार्थ के लिए है अथवा नही, इसकी पहचान यह है कि प्रेम के साथ किया हुआ प्रत्येक कार्य आनन्ददायक होता है। सच्चे प्रेम के साथ किया हुआ कोई भी कार्य ऐसा नही है, जिसके फलस्वरूप शान्ति और आनन्द न प्राप्त हो। यथार्थ सत्, यथार्थ ज्ञान और यथार्थ प्रेम— ये तीनो सदा के लिए परस्पर सम्बद्ध है। वस्तुत ये एक ही मे तीन है। जहाँ एक रहता है, वहाँ शेष दो भी अवश्य रहते है। ये उस अद्वितीय सच्चिदानन्द के ही तीन पक्ष है। जब वह सत्ता सापेक्ष रूप मे प्रतीत होती है, तो हम उसे विश्व के रूप मे देखते है। वह ज्ञान भी सासारिक वस्तुविषयक ज्ञान के रूप मे परिणत हो जाता है, तथा वह आनन्द मानव-हृदय मे विद्यमान समस्त यथार्थ प्रेम की नीव हो जाता है। अतएव सच्चे प्रेम से प्रेमी अथवा उसके प्रेम-पात्र को कभी कष्ट

नहीं पहुँच सकता। उदाहरणार्थ मान लो एक पुरुष किसी स्त्री से प्रेम करता है। वह चाहता है कि वह स्त्री केवल उसीके पास रहे, अन्य पुरुषों के प्रति उस स्त्री के प्रत्येक व्यवहार से उसमें ईर्ष्या का उद्रेक होता है। वह चाहता है कि वह स्त्री उसीके पास बैठे, उसीके पास खड़ी रहे तथा उसीकी इच्छानुसार खाये-पिये और चले-फिरे। वह स्वयं उस स्त्री का गुलाम हो गया है और चाहता है कि वह स्त्री भी उसकी गुलाम होकर रहे। यह तो प्रेम नहीं है। यह तो गुलामी का एक प्रकार का विकृत भाव है, जो ऊपर से प्रेम जैसा दिखायी देता है। यह प्रेम नहीं हो सकता, क्योंकि यह क्लेशदायक है। यदि वह स्त्री उस मनुष्य की इच्छानुसार न चले, तो उससे उस मनुष्य को कष्ट होता है। वास्तव में सच्चे प्रेम की प्रतिक्रिया दुःखप्रद तो होती ही नहीं। उससे तो केवल आनन्द ही होता है। और यदि उससे ऐसा न होता हो, तो समझ लेना चाहिए कि वह प्रेम नहीं है, बल्कि वह और ही कोई चीज है, जिसे हम भ्रमवश प्रेम कहते हैं। जब तुम अपने पति, अपनी स्त्री, अपने बच्चों, यहाँ तक कि समस्त विश्व को इस प्रकार प्रेम करने में सफल हो सको कि उससे किसी भी प्रकार दुःख, ईर्ष्या अथवा स्वार्थपरतारूप कोई प्रतिक्रिया न हो, केवल तभी तुम सम्यक् रूप से अनासक्त होने की अवस्था में पहुँच सकोगे।

कृष्ण अर्जुन से कहते हैं, "हे अर्जुन, यदि मैं कर्म करने से एक क्षण के लिए भी रुक जाऊँ, तो सारा विश्व ही नष्ट हो जाय। मुझे कर्म से किसी भी प्रकार का लाभ नहीं, मैं ही जगत् का एकमात्र प्रभु हूँ—फिर भी मैं कर्म क्यों करता हूँ?—इसलिए कि मुझे संसार से प्रेम है। ईश्वर अनासक्त है। क्यों?—इसलिए कि वह सच्चा प्रेमी है। उस सच्चे प्रेम से ही हम अनासक्त हो सकते हैं। जहाँ कहीं सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति है, वहाँ जान लेना चाहिए कि वह केवल भौतिक आकर्षण है—केवल कुछ जड़ कणों का दूसरे कुछ जड़ कणों के प्रति आकर्षण मात्र हो रहा है—मानो कोई एक चीज दो वस्तुओं को लगातार निकटतर खींच रही है, और यदि वे दोनों वस्तुएँ काफी निकट नहीं आ सकतीं, तो फिर कष्ट उत्पन्न होता है। परन्तु जहाँ सच्चा प्रेम है, वहाँ भौतिक आकर्षण बिलकुल नहीं रहता। ऐसे प्रेमी चाहे हजारों मील की दूरी पर क्यों न रहें, उनका प्रेम सदैव वैसा ही रहता है; वह प्रेम कभी नष्ट नहीं होता, उससे कभी कोई कष्टप्रद प्रतिक्रिया नहीं होती।

इस प्रकार की अनासक्ति प्राप्त करना लगभग सारे जीवन भर का कार्य है। परन्तु इसको प्राप्त होते ही हम अपनी प्रेम साधना का लक्ष्य प्राप्त हो जाता है और हम मुक्त हो जाते हैं। तब हम प्रकृति के बन्धन से छूट जाते हैं और

उसके असली स्वरूप को जान लेते है। फिर वह हमे वन्धन मे नही डाल सकती तव हम विल्कुल स्वाधीन हो जाते है और कर्म के फलाफल की ओर ध्यान ही नही देते। फिर कौन परवाह करता है कि कर्मफल क्या होगा?

अपने वच्चो को तुम जो देते हो, तो क्या उसके वदले में उनसे कुछ माँगते हो? यह तो तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम उनके लिए काम करो, और बस, वही पर वात समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार, किसी दूसरे पुरुष, किसी नगर अथवा देश के लिए तुम जो कुछ करो, उसके प्रति भी वैसा ही भाव रखो, उनसे किसी प्रकार के प्रतिदान की आशा न रखो। यदि तुम सदैव ऐसा ही भाव रख सको कि तुम केवल दाता ही हो, जो कुछ तुम देते हो, उससे तुम किसी प्रकार के प्रतिदान की आशा नही रखते, तो उस कर्म से तुम्हे किसी प्रकार की आसक्ति नही होगी। आसक्ति तभी आती है, जब हम प्रतिदान की आशा रखते हैं।

यदि दासवत् कार्य करने से स्वार्थपरता और आसक्ति उत्पन्न होती है, तो अपने मन का स्वामी वनकर कार्य करने से अनासक्ति से उत्पन्न आनन्द का लाभ होता है। हम वहुधा अधिकार और न्याय की वातें किया करते हैं, परन्तु वे सब केवल वच्चो की वातो के समान हैं। मनुष्य के चरित्र का नियमन करनेवाली दो चीज़े होती हैं वल और दया। वल का प्रयोग करना सदैव स्वार्थपरतावश ही होता है। वहुधा सभी स्त्री-पुरुष अपनी शक्ति एव सुविधा का यथासम्भव उपभोग करने का प्रयत्न करते हैं। दया दैवी सम्पत्ति है। भले वनने के लिए हमे दयायुक्त होना चाहिए, यहाँ तक कि न्याय और अधिकार भी दया पर ही प्रतिष्ठित होने चाहिए। कर्मफल की लालसा तो हमारी आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग मे बाधक है, इतना ही नही, अन्त मे उससे क्लेश भी उत्पन्न होता है। दया और नि स्वार्थपरता को कार्यरूप मे परिणत करने का एक और उपाय है—और वह है, कर्मों को उपासनारूप मानना, यदि हम सगुण ईश्वर मे विश्वास रखते हो। यहाँ हम अपने समस्त कर्मों के फल ईश्वर को ही समर्पित कर देते हैं,—और इस प्रकार उनकी उपासना करते हुए हमे इस वात का कोई अधिकार नही रह जाता कि हम अपने किये हुए कर्मों के प्रतिदान मे मानव जाति से कुछ अपेक्षा करें। प्रभु स्वय निरन्तर कार्य करते रहते हैं और वे सारी आसक्ति से परे हैं। जिस प्रकार जल कमल के पत्ते को नही भिगो सकता, उसी प्रकार कोई भी कर्म फलासक्ति उत्पन्न करके नि स्वार्थी पुरुष को वन्धन मे नही डाल सकता। अह-शून्य और अनासक्त पुरुष किसी जनपूर्ण और पापपूर्ण नगर के वीच ही क्यो न रहे, पर पाप उसे स्पर्श तक न कर सकेगा।

निम्नलिखित कहानी सम्पूर्ण स्वार्थत्याग का एक दृष्टान्त है। कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद पाँचों पाण्डवों ने एक बड़ा भारी यज्ञ किया। उसमें निर्धनों को बहुत सा दान दिया गया। सभी लोगों ने उस यज्ञ की महत्ता एवं ऐश्वर्य पर आश्चर्य प्रकट किया और कहा कि ऐसा यज्ञ संसार में इसके पहले कभी नहीं हुआ था। यज्ञ के बाद उस स्थान पर एक छोटा सा नेवला आया। नेवले का आधा शरीर सुनहला था और शेष आधा भूरा। वह नेवला उस यज्ञ भूमि की मिट्टी पर लोटने लगा। थोड़ी देर बाद उसने दर्शकों से कहा "तुम सब झूठे हो। यह कोई यज्ञ नहीं है।" लोगों ने कहा "क्या! तुम कहते क्या हो! यह कोई यज्ञ ही नहीं है? तुम जानते हो इस यज्ञ में कितना धन खर्च हुआ है, गरीबों को कितने हीरे-जवाहिरात बाँटे गये हैं, जिससे वे सब के सब धनी और खुशहाल हो गये हैं? यह तो इतना बड़ा यज्ञ था कि ऐसा शायद ही किसी मनुष्य ने किया हो।" परन्तु नेवले ने कहा "सुनो एक छोटे से गाँव में एक निर्धन ब्राह्मण रहता था साथ ही उसकी स्त्री पुत्र और पुत्र वधू। वे लोग बड़े गरीब थे। पूजा-पाठ से उन्हें जो कुछ मिलता उसी पर उनका निर्वाह होता था। एक बार उस गाँव में तीन साल तक अकाल पड़ा जिससे उस बेचारे ब्राह्मण के दुःख-कष्ट की पराकाष्ठा हो गयी। एक बार तो सारे कुटुम्ब को पाँच दिन तक उपवास करना पड़ा। छठवें दिन वह ब्राह्मण भाग्यवश कहीं से थोड़ा सा जौ का आटा ले आया। उस आटे के चार भाग परिवार के चारों सदस्यों के लिए किये गये। उन्होंने उसकी रोटी बनायी और ज्यों ही वे उसे खाने बैठे कि किसीने दरवाजा खटखटाया। पिता ने उठकर दरवाजा खोला तो देखते हैं कि बाहर एक अतिथि खड़ा है। भारत में अतिथि बड़ा पवित्र माना जाता है। वह तो उस समय के लिए 'नारायण' ही समझा जाता है और उसके साथ तद्रूप व्यवहार भी किया जाता है। अतएव उस गरीब ब्राह्मण ने कहा 'महाराज पधारिए, आपका स्वागत है।' और उसने अतिथि के सामने अपना भाग रख दिया। अतिथि उसे जल्दी ही खा गया और बोला 'अरे, आपने तो मुझे और भी मार डाला। मैं दस दिन का भूखा हूँ और भोजन के इस छोटे टुकड़े ने तो मेरी भूख और भी बढ़ा दी।' तब स्त्री ने अपने पति से कहा 'आप मेरा भी भाग दे दीजिए।' पति ने कहा 'नहीं ऐसा नहीं होगा।' परन्तु स्त्री अपनी बात पर अड़ी रही और कहा 'यह बेचारा गरीब भूखा है, हमारे यहाँ आया है। गृहस्थ की हैसियत से हमारा यह धर्म है कि हम उसे भोजन करायें। यह देखकर कि आप उसे अधिक नहीं दे सकते पत्नी के नाते मेरा यह कर्तव्य है कि मैं उसे अपना भी भाग दे दूँ।' ऐसा कह उसने भी अपना भाग अतिथि को दे दिया। अतिथि ने वह भी खा लिया और कहा 'मैं तो भूख से अभी भी जल रहा हूँ।' तब लड़के ने कहा 'आप मेरा भाग भी ले लीजिए, क्योंकि

पुत्र का यह धर्म है कि वह पिता के कर्तव्यो को पूरा करने मे उन्हें सहायता दे।' अतिथि ने वह भी खा लिया, परन्तु फिर भी उसकी तृप्ति नही हुई। अतएव बहू ने भी उसे अपना भाग दे दिया। अब यह पर्याप्त हो गया और अतिथि ने उनको आशीर्वाद दे बिदा ली। उसी रात वे चारो बेचारे भूख से पीडित हो मर गये। उस आटे के कुछ कण इधर-उधर ज़मीन पर बिखर गये थे, और जब मैंने उन पर लोट लगायी, तो मेरा आधा शरीर सुनहला हो गया, जैसा कि तुम अभी देख ही रहे हो। उस समय से मैं ससार भर मे भ्रमण कर रहा हूँ और चाहता हूँ कि किसी दूसरी जगह भी मुझे ऐसा ही यज्ञ देखने को मिले, परन्तु वैसा यज्ञ मुझे कही देखने को नही मिला। मेरा शेष आधा शरीर किसी दूसरी जगह सुनहला न हो सका। इसीलिए तो कहता हूँ कि यह कोई यज्ञ ही नही है।"

दान का यह भाव भारत से धीरे धीरे लुप्त होता जा रहा है, महापुरुषो की सख्या धीरे धीरे कम होती जा रही है। जब बचपन मे मैंने अग्रेजी पढना आरम्भ किया था, उस समय मैंने एक अग्रेजी की कहानी की पुस्तक पढी, जिसमे एक ऐसे कर्तव्यपरायण बालक का वर्णन था, जिसने काम करके जो कुछ उपार्जन किया था, उसका कुछ भाग अपनी वृद्ध माता को दे दिया था। उस बालक के इस कृत्य की प्रशसा पुस्तक के तीन-चार पृष्ठो मे गायी गयी थी। परन्तु इसमे कौन सा असाधारणत्व है? कोई भी हिन्दू बालक उस कहानी की नीति-शिक्षा को नही समझ सकता? और मुझे भी उसका महत्त्व आज ही समझ मे आ रहा है, जब मैं इस पश्चिमी रिवाज़ को सुनता तथा देखता हूँ कि यहाँ प्रत्येक मनुष्य अपने अपने लिए ही है। इस देश मे ऐसे भी लोग अनेक हैं, जो सब कुछ अपने ही लिए रख लेते हैं—उनके पिता, माता, स्त्री और बच्चो की फिर चाहे जैसी दशा क्यो न हो। एक गृहस्थ का ऐसा आदर्श तो कदापि और कही भी नही होना चाहिए।

अब तुमने देखा, कर्मयोग का अर्थ क्या है। उसका अर्थ है—मौत के मुँह मे भी जाकर बिना तर्क-वितर्क किये सबकी सहायता करना। भले ही तुम लाखो बार ठगे जाओ, पर मुँह से एक बात तक न निकालो, और तुम जो कुछ भले कार्य कर रहे हो, उनके सम्बन्ध मे सोचो तक नही। निर्धन के प्रति किये गये उपकार पर गर्व मत करो और न उससे कृतज्ञता की ही आशा रखो, बल्कि उलटे तुम्ही उसके कृतज्ञ होओ,—यह सोचकर कि उसने तुम्हें दान देने का एक अवसर दिया है। अतएव यह स्पष्ट है कि एक आदर्श सन्यासी होने की अपेक्षा एक आदर्श गृहस्थ होना अधिक कठिन है। यथार्थ कर्ममय जीवन, यथार्थ त्यागमय जीवन की अपेक्षा यदि अधिक कठिन नही, तो कम से कम उसके बराबर कठिन तो अवश्य है।

कर्तव्य क्या है?

कर्मयोग का तत्त्व समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि कर्तव्य क्या है। यदि मुझे कोई काम करना है, तो पहले मुझे यह जान लेना चाहिए कि वह मेरा कर्तव्य है और तभी मैं उसे कर सकता हूँ। विभिन्न जातियों में विभिन्न देशों में इस कर्तव्य के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न धारणाएँ हैं। मुसलमान कहता है कि जो कुछ कुरान-शरीफ में लिखा है, वही मेरा कर्तव्य है इसी प्रकार हिन्दू कहता है कि जो कुछ मेरे वेदों में लिखा है वही मेरा कर्तव्य है फिर एक ईसाई की दृष्टि में जो कुछ उसकी बाइबिल में लिखा है वही उसका कर्तव्य है। इससे हमें स्पष्ट दीख पड़ता है कि जीवन में अवस्था ऐतिहासिक काल एवं जाति के भेद से कर्तव्य के सम्बन्ध में धारणाएँ भी बहुविध होती हैं। अन्यान्य सार्वभौमिक भावसूचक शब्दों की तरह 'कर्तव्य' शब्द की भी ठीक ठीक व्याख्या करना दुरूह है। व्यावहारिक जीवन में उसकी परिणति तथा उसके फलाफलों द्वारा ही हमें उसके सम्बन्ध मे कुछ धारणा हो सकती है। जब हमारे सामने कुछ बातें घटती है तो हम सब लोगों मे उस सम्बन्ध में एक विशेष रूप से कार्य करने की स्वाभाविक अथवा प्रशिक्षित प्रवृत्ति उदित होती जाती है और इस प्रवृत्ति के उदित होने पर मन उस घटना के सम्बन्ध में सोचने लगता है। कभी तो वह यह सोचता है कि इस प्रकार की स्थिति में इसी तरह कार्य करना उचित है फिर किसी दूसरे समय उसी प्रकार की स्थिति होने पर भी पूर्वोक्त रूप से कार्य करना अनुचित प्रतीत होता है। कर्तव्य के सम्बन्ध मे सर्वत्र साधारण धारणा यही देखी जाती है कि हर एक सत्पुरुष अपने विवेक के आदेशानुसार कर्म किया करता है। परन्तु वह क्या है जिससे एक कर्म 'कर्तव्य' बन जाता है? एक ईसाई के सामने गो-मांस का एक टुकड़ा रहने पर भी यदि वह अपनी प्राण रक्षा के लिए उसे नहीं खाता अथवा किसी दूसरे मनुष्य के प्राण बचाने के लिए वह मांस नहीं दे देता तो उसे निश्चय ही ऐसा लगेगा कि उसने अपना कर्तव्य नहीं किया। परन्तु इसी अवस्था में यदि एक हिन्दू स्वयं वह गो-मांस का टुकड़ा खा ले अथवा किसी दूसरे हिन्दू को दे दे तो अवश्य उसे भी ठीक उसी प्रकार यह लगेगा कि उसने अपना कर्तव्य नहीं किया। हिन्दू जाति की शिक्षा तथा संस्कार ही ऐसे हैं जिनके कारण उसके हृदय में ऐसे भाव जाग्रत हो जाते हैं। पिछली शताब्दी मे भारतवर्ष में डाकुओं का एक कुख्यात दल था जिन्हें ठग कहते थे।

वे किसी मनुष्य को मार डालना तथा उसका धन छीन लेना अपना कर्तव्य समझते थे। वे जितने अधिक मनुष्यो को मारने मे समर्थ होते, उतना ही अपने को श्रेष्ठ समझते थे। साधारणतया यदि एक मनुष्य सडक पर जाकर किसी दूसरे मनुष्य को बन्दूक से मार डाले, तो निश्चय ही उसे यह सोचकर दुःख होगा कि कर्तव्य-भ्रष्ट हो उसने अनुचित कार्य कर डाला है। परन्तु यदि वही मनुष्य एक फौज मे सिपाही की हैसियत से एक नही, वल्कि वीसो आदमियो को भी मार डाले, तो उसे यह सोचकर अवश्य प्रसन्नता होगी कि उसने अपना कर्तव्य वहुत सुन्दर ढग से निवाहा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि केवल किसी कार्यविशेष से कर्तव्य निर्धारित नही होता। कर्तव्य की कोई वस्तुनिष्ठ परिभाषा कर सकना नितान्त असम्भव है। किंतु कर्तव्य का एक आत्मनिष्ठ पक्ष भी होता है। यदि किसी कर्म द्वारा हम ईश्वर की ओर वढते हैं, तो वह शुभ कर्म है और वह हमारा कर्तव्य है, परन्तु जिस कर्म द्वारा हम नीचे गिरते हैं, वह अशुभ है, और वह हमारा कर्तव्य नही। आत्म-निष्ठ दृष्टिकोण से देखने पर हमे यह प्रतीत होता है कि कुछ कार्य ऐसे होते है, जो हमे उन्नत वनाते है, और दूसरे ऐसे, जो हमे नीचे ले जाते हैं और पशुवत् वना देते हैं। किन्तु विभिन्न व्यक्तियो मे कौन सा कार्य किस तरह का भाव उत्पन्न करेगा, यह निश्चित रूप से वताना असम्भव है। सभी युगो मे समस्त सम्प्रदायो और देशो के मनुष्यो द्वारा मान्य यदि कर्तव्य का कोई एक सार्वभौमिक भाव रहा है, तो वह है—**परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनम्।**—अर्थात् परोपकार ही पुण्य है, और दूसरो को दुःख पहुँचाना ही पाप है।

भगवद्गीता मे जन्म तथा जीवन की विविध अवस्थाओ के अनुसार कर्तव्यो का वारम्वार उल्लेख हुआ है। जीवन के विभिन्न कर्तव्यो के प्रति मनुष्य का जो मानसिक और नैतिक दृष्टिकोण रहता है, वह अनेक अशो मे उसके जन्म और उसकी अवस्था द्वारा नियमित होता है। इसीलिए जिस समाज मे हमारा जन्म हुआ हो, उसके आदर्शों और व्यवहार के अनुरूप उदात्त एव उन्नत वनानेवाले कार्य करना ही हमारा कर्तव्य है। परन्तु यह विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि सभी देशो और समाजो मे एक ही प्रकार के आदर्श एव आचरण प्रचलित नही हैं। इस विषय मे हमारी अज्ञता ही एक जाति की दूसरी के प्रति घृणा का मुख्य कारण है। एक अमेरिकानिवासी समझता है कि उसके देश की प्रथाएँ ही सर्वोत्कृष्ट हैं, अतएव जो कोई उसकी प्रथाओ के अनुसार व्यवहार नही करता, वह दुष्ट है। इसी प्रकार एक हिन्दू सोचता है कि केवल उसीके रीति-रिवाज ही ठीक और ससार भर मे सर्वोत्तम है, और जो उनका पालन नही करता, वह महा दुष्ट है। हम सहज ही इस भ्रम मे पड जाते हैं, और ऐसा होना वहुत स्वाभाविक भी है। परन्तु यह वहुत

अहितकर है संसार में परस्पर के प्रति सहानुभूति के अभाव एवं पारस्परिक घृणा का यह प्रधान कारण है। मुझे स्मरण है जब मैं इस देश में आया और जब मैं शिकागो-महामेला में से जा रहा था तो किसी आदमी ने पीछे से मेरा साफ़ा खींच लिया। मैंने पीछे घूमकर देखा तो अत्यन्त संभ्रान्त लगते एक सज्जन दिखायी पड़े। मैंने उनसे बातचीत की और जब उन्हें यह मालूम हुआ कि मैं अंग्रेजी भी जानता हूँ तो वे बहुत शर्मिन्दा हुए। इसी प्रकार, उसी सम्मेलन में एक दूसरे अवसर पर एक मनुष्य ने मुझे धक्का दे दिया पीछे घूमकर जब मैंने उससे कारण पूछा तो वह भी बहुत लज्जित हुआ और हकला हकलाकर मुझसे माफ़ी माँगते हुए कहने लगा आप ऐसी पोशाक क्यों पहनते है?" इन लोगों की सहानुभूति बस अपनी ही भाषा और वेशभूषा तक सीमित थी। शक्तिशाली जातियाँ कमजोर जातियों पर जो अत्याचार करती है, उसका अधिकांश इसी दुर्भावना के कारण होता है। मानव मात्र के प्रति मानव का जो बन्धुभाव रहता है उसको यह सोख लेता है। सम्भव है वह मनुष्य जिसने मुझसे मेरी पोशाक के बारे में पूछा था तथा जो मेरे साथ मेरी पोशाक के कारण ही दुर्व्यवहार करना चाहता था एक भला आदमी रहा हो एक सन्तानवत्सल पिता और एक सभ्य नागरिक रहा हो परन्तु उसकी स्वाभाविक सहृदयता का अन्त बस उसी समय हो गया जब उसने मुझ जैसे एक व्यक्ति को दूसरे वेश में देखा। सभी देशो में विदेशियों का शोषण होता है, क्योंकि वे यह नही जानते कि परदेश मे अपने को कैसे बचायें। और इस प्रकार वे उन देशवासियो के प्रति अपने देश में भ्रात धारणाएँ साथ ले जाते है। मल्लाह, सिपाही और व्यापारी दूसरे देशों में ऐसे अद्भुत व्यवहार किया करते है जैसा अपने देश मे करना वे स्वप्न में भी नही सोच सकेंगे। शायद यही कारण है कि चीनी लोग यूरोप और अमेरिकावासियों को 'विदेशी शैतान' कहा करते है। पर यदि उन्हें पश्चिमी देश की सज्जनता तथा उसकी नम्रता का भी अनुभव हुआ होता तो वे शायद ऐसा न कहते।

अतएव हमे जो बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए, वह यह है कि हम दूसरे के कर्तव्यों को उसकी दृष्टि से देखें दूसरों के रीति-रिवाजों को अपने रीति रिवाज के मापदण्ड से न जाँचें। मैं विश्व भर के लिए मापदण्ड नही हूँ। हमीको संसार के साथ मिल-जुलकर चलना होगा न कि संसार को हमारे साथ। इस प्रकार हम देखते हैं कि देश-काल-पात्र के अनुसार हमारे कर्तव्य कितने बदल जाते है और सबसे श्रेष्ठ कर्म तो यह है कि जिस विशिष्ट समय पर हमारा जो कर्तव्य हो उसीको हम भली भाँति निबाहें। पहले तो हमें जन्म से प्राप्त कर्तव्य को करना चाहिए और उसे कर चुकने के बाद समाज और जीवन में हमारी स्थिति के अनुसार जो

कर्तव्य हो, उसे सम्पन्न करना चाहिए। मानव-स्वभाव की एक विशेष कमज़ोरी यह है कि वह स्वय अपनी ओर कभी नज़र नही डालता। वह तो सोचता है कि मैं भी राजा के सिंहासन पर बैठने के योग्य हूँ। और यदि मान लिया जाय कि वह है भी, तो सबसे पहले उसे यह दिखा देना चाहिए कि वह अपनी वर्तमान स्थिति का कर्तव्य भली भाँति कर चुका है, ऐसा होने पर उसके सामने उच्चतर कर्तव्य आयेंगे। जब ससार में हम लगन से काम शुरू करते हैं, तो प्रकृति हमे चारो ओर से धक्के देने लगती है और शीघ्र ही हमे इस योग्य बना देती है कि हम अपनी स्थिति प्राप्त कर सकें। जो जिस पद के योग्य नही है, वह दीर्घकाल तक उसमे रहकर सबको सन्तुष्ट नही कर सकता। अतएव प्रकृति के विधान के विरुद्ध बडबडाना व्यर्थ है। यदि कोई मनुष्य छोटा कार्य करे, तो उसी कारण वह छोटा नही कहा जा सकता। कर्तव्य के केवल ऊपरी रूप से ही मनुष्य की उच्चता या नीचता का निर्णय करना उचित नही, देखना तो यह चाहिए कि वह अपना कर्तव्य किस भाव और ढग से करता है।

आगे चलकर हम देखेंगे कि कर्तव्य की यह धारणा भी परिवर्तित हो जाती है, और यह भी देखेंगे कि सबसे श्रेष्ठ कार्य तो तभी होता है, जब उसके पीछे किसी प्रकार के स्वार्थ की प्रेरणा नही होती। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि कर्तव्य ज्ञान से किया हुआ कर्म ही हमे कर्तव्य-ज्ञान से अतीत कर्म की ओर ले जाता है। और तब कर्म उपासना मे परिणत हो जाता है—इतना ही नही, वरन् उस समय कर्म का अनुष्ठान केवल कर्म के लिए ही होता है। फिर हमे प्रतीत होगा कि कर्तव्य का दर्शन, चाहे वह नैतिकता पर अधिष्ठित हो अथवा प्रेम पर, वही है, जो अन्य किसी योग का—जिसका उद्देश्य है, 'निम्न अह' को क्रमश घटाते घटाते बिल्कुल नष्ट कर देना, जिससे अन्त मे 'उच्च अह' प्रकाशित हो जाय, तथा निम्न स्तर मे अपनी शक्तियो का क्षय होने से रोकना, जिससे आत्मा अधिकाधिक उच्च भूमि मे प्रकाशमान हो सके। यह कार्य नीच वासनाओ के उदय होने पर, कर्तव्य की कठोर आवश्यकता के अनुसार, उनका निग्रह करने से किया जा सकता है। जान या अनजान मे सारी समाज-सस्था इस प्रकार सगठित हुई है कि कर्म और अनुभूति के क्षेत्र मे स्वार्थ को धीरे धीरे कम करते हुए, हम मनुष्य के वास्तविक स्वरूप के अनन्त विकास का पथ खोल देते हैं।

कर्तव्य का पालन शायद ही कभी मधुर होता हो। कर्तव्य-चक्र तभी हलका और आसानी से चलता है, जब उसके पहियो मे प्रेमरूपी चिकनाई लगी होती है, अन्यथा वह एक अविराम घर्षण मात्र है। यदि ऐसा न हो, तो माता-पिता अपने बच्चो के प्रति, बच्चे अपने माता-पिता के प्रति, पति अपनी पत्नी के प्रति तथा

पत्नी अपने पति के प्रति अपना अपना कर्तव्य कैसे निभा सकें? क्या इस प्रयत्न के उदाहरण हमें अपने दैनिक जीवन में सर्वदा दिखायी नहीं देते? कर्तव्य-पालन की मधुरता प्रेम में ही है और प्रेम का विकास केवल स्वतन्त्रता में होता है। परन्तु सोचो तो सही इन्द्रियों का क्रोध का ईर्ष्या का तथा मनुष्य के जीवन म प्रतिदिन होनेवाली अन्य सैकड़ो छोटी छोटी बातों का गुलाम होकर रहना क्या स्वतन्त्रता है? अपने जीवन के इन सब क्षुद्र संघर्षों में सहिष्णुता धारण करना ही स्वतन्त्रता की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। स्त्रियाँ स्वयं अपने चिड़चिड़े एवं ईर्ष्यापूर्ण स्वभाव की गुलाम होकर अपने पतियों को दोष दिया करती हैं। वे दावा करती हैं कि हम स्वाधीन हैं परन्तु वे नहीं जानतीं कि ऐसा करने से वे स्वयं को निरी गुलाम सिद्ध कर रही हैं। और यही हाल उन पतियों का भी है जो सर्वदा अपनी स्त्रियों में दोष देखा करते हैं।

पवित्रता ही स्त्री और पुरुष का सर्वप्रथम धर्म है। ऐसा उदाहरण शायद ही कहीं हो कि एक पुरुष—वह चाहे जितना भी पथ भ्रष्ट क्यों न हो गया हो—अपनी नम्र प्रेमपूर्ण तथा पतिव्रता स्त्री द्वारा ठीक रास्ते पर न लाया जा सके। संसार अभी भी उतना गिरा नहीं है। हम बहुधा संसार में बहुत से निर्दय पतियों तथा पुरुषो के भ्रष्टाचरण के बारे में सुनते रहते हैं परन्तु क्या यह बात सच नहीं है कि ससार में उतनी ही निर्दय तथा भ्रष्ट स्त्रियाँ भी है? यदि सभी स्त्रियाँ इतनी शुद्ध और पवित्र होतीं जितना कि वे दावा करती हैं तो मुझे पूरा विश्वास है कि समस्त संसार में एक भी अपवित्र पुरुष न रह जाता। ऐसा कौन सा पाशविक भाव है जिसे पवित्रता और सतीत्व पराजित नहीं कर सकता? एक शुद्ध पतिव्रता स्त्री जो अपने पति को छोड़कर अन्य सब पुरुषो को पुत्रवत् समझती है तथा उनके प्रति माता का भाव रखती है धीरे धीरे अपनी पवित्रता की शक्ति में इतनी उन्नत हो जायगी कि एक अत्यन्त पाशविक प्रकृतिवाला मनुष्य भी उसके सान्निध्य में पवित्र वातावरण का अनुभव करेगा। इसी प्रकार प्रत्येक पति को अपनी स्त्री को छोड़ कर अन्य सब स्त्रियों को अपनी माता बहन अथवा पुत्री के समान देखना चाहिए। विशेषकर उस मनुष्य को जो धर्म का प्रचारक होना चाहता है यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक स्त्री को मातृवत् देखे और उसके साथ सदैव तद्रूप व्यवहार करे।

मातृपद ही ससार मे सबसे श्रेष्ठ पद है, क्योंकि यही एक ऐसी स्थिति है जहाँ निःस्वार्थता की महत्तम शिक्षा प्राप्त की जा सकती है। केवल भगवत्प्रेम ही माता के प्रेम से उच्च है अन्य सब तो निम्न श्रेणी के हैं। माता का कर्तव्य है कि पहले वह अपने बच्चों की सोचे फिर अपने लिए परन्तु उसके बजाय यदि माता-पिता सर्वदा पहले अपने ही बारे में सोचें तो फल यह होगा कि उनमें तथा उनके बच्चों

मे वही सम्बन्ध स्थापित हो जायगा, जो चिडियो तथा उनके बच्चो मे होता है। चिडियो के बच्चे जब उडने योग्य हो जाते हैं, तो अपने माँ-बाप को पहचानते तक नही। वास्तव मे वह पुरुष धन्य है, जो स्त्री को ईश्वर के मातृभाव की प्रतिमूर्ति समझता है, और वह स्त्री भी धन्य है, जो पुरुष को ईश्वर के पितृभाव की प्रतिमूर्ति मानती है, तथा वे बच्चे भी धन्य हैं, जो अपने माता-पिता को भगवान् का ही रूप मानते है।

हमारी उन्नति का एकमात्र उपाय यह है कि हम पहले वह कर्तव्य करे, जो हमारे हाथ मे है। और इस प्रकार धीरे धीरे शक्ति-सचय करते हुए क्रमश हम सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं।

एक तरुण सन्यासी वन मे गया। वहाँ उसने दीर्घकाल तक ध्यान-भजन तथा योगाभ्यास किया। अनेक वर्षों की कठिन तपस्या के बाद एक दिन जब वह एक वृक्ष के नीचे बैठा था, तो उसके ऊपर वृक्ष से कुछ सूखी पत्तियाँ आ गिरी। उसने ऊपर निगाह उठायी, तो देखा कि एक कौआ और एक बगुला पेड पर लड रहे हैं। यह देखकर सन्यासी को बहुत क्रोध आया। उसने कहा, "यह क्या! तुम्हारा इतना साहस कि तुम ये सूखी पत्तियाँ मेरे सिर पर फेंको ?" इन शब्दो के साथ सन्यासी की क्रुद्ध आँखो से आग की एक ज्वाला सी निकली, और वे बेचारी दोनो चिडियाँ उससे जलकर भस्म हो गयीं। अपने मे यह शक्ति देखकर वह सन्यासी बडा खुश हुआ, उसने सोचा, 'वाह, अब तो मैं दृष्टि मात्र से कौए-बगुले को भस्म कर सकता हूँ।' कुछ समय बाद भिक्षा के लिए वह एक गाँव को गया। गाँव मे जाकर वह एक दरवाजे पर खडा हुआ और पुकारा, "माँ, कुछ भिक्षा मिले।" भीतर से आवाज आयी, "थोडा रुको, मेरे बेटे।" सन्यासी ने मन मे सोचा, "अरे दुष्टा, तेरा इतना साहस कि तू मुझसे प्रतीक्षा कराये! अब भी तू मेरी शक्ति नही जानती ?" सन्यासी ऐसा सोच ही रहा था कि भीतर से फिर एक आवाज आयी, "बेटा, अपने को इतना बडा मत समझ। यहाँ न तो कोई कौआ है और न बगुला।" यह सुनकर सन्यासी को बडा आश्चर्य हुआ। बहुत देर तक खडे रहने के बाद अन्त मे घर मे से एक स्त्री निकली और उसे देखकर सन्यासी उसके चरणो पर गिर पडा और बोला, "माँ, तुम्हें यह सब कैसे मालूम हुआ ?" स्त्री ने उत्तर दिया, "बेटा, न तो मैं तुम्हारा योग जानती हूँ और न तुम्हारी तपस्या। मैं तो एक साधारण स्त्री हूँ। मैंने तुम्हें इसलिए थोडी देर रोका था कि मेरे पतिदेव बीमार हैं और मैं उनकी सेवा-शुश्रूषा मे सलग्न थी। यही मेरा कर्तव्य है। सारे जीवन भर मैं इसी बात का यत्न करती रही हूँ कि मैं अपना कर्तव्य पूर्ण रूप से निबाहूँ। जब मैं अविवाहित थी, तब मैंने अपने माता-पिता के प्रति पुत्री

का कर्तव्य किया और अब जब मेरा विवाह हो गया है तो मैं अपने पतिदेव के प्रति पत्नी का कर्तव्य करती हूँ। बस यही मेरा योगाभ्यास है। अपना कर्तव्य करने से ही मेरे दिव्य चक्षु खुल गये हैं, जिससे मैंने तुम्हारे विचारों को जान लिया और मुझे इस बात का भी पता चल गया कि तुमने वन में क्या किया है। यदि तुम्हें इससे भी कुछ उच्चतर तत्त्व जानने की इच्छा है तो अमुक नगर के बाजार में जाओ, वहाँ तुम्हें एक व्याध मिलेगा। वह तुम्हें कुछ ऐसी बातें बतलायेगा जिन्हें सुनकर तुम बड़े प्रसन्न होगे।" संन्यासी ने विचार किया "भला मैं उस शहर में उस व्याध के पास क्यों जाऊँ?" परन्तु उसने अभी जो घटना देखी उसे सोचकर उसकी आँखें कुछ खुल गयी। अतएव वह उस शहर में गया। जब वह शहर के नजदीक आया तो उसने दूर से एक बड़े मोटे व्याध को बाजार में बैठे हुए और बड़े बड़े छुरों से मांस काटते हुए देखा। वह लोगों से अपना सौदा कर रहा था। संन्यासी ने मन ही मन सोचा "हरे! हरे! क्या यही वह व्यक्ति है जिससे मुझे शिक्षा मिलेगी? दिखता तो यह शैतान का अवतार है।" इतने में व्याध ने संन्यासी की ओर देखा और कहा "महाराज क्या उस स्त्री ने आपको मेरे पास भेजा है? कृपया बैठ जाइए। मैं जरा अपना काम समाप्त कर लूँ।" संन्यासी ने सोचा 'यहाँ मुझे क्या मिलेगा?' खैर, वह बैठ गया। इधर व्याध अपना काम लगातार करता रहा और जब वह अपना काम पूरा कर चुका तो उसने अपने रुपये पैसे समेटे और संन्यासी से कहा "चलिए महाराज घर चलिए।" घर पहुँचकर व्याध ने उसे आसन दिया और कहा "आप यहाँ थोड़ा ठहरिए।" व्याध अपने घर में चला गया। उसने अपने वृद्ध माता-पिता को स्नान कराया उन्हें भोजन कराया और उन्हें प्रसन्न करने के लिए जो कुछ कर सकता था किया। उसके बाद वह उस संन्यासी के पास आया और कहा "महाराज आप मेरे पास आये हैं। अब बताइए, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?" संन्यासी ने उससे आत्मा तथा परमात्मा सम्बन्धी कुछ प्रश्न किये और उनके उत्तर में व्याध ने उसे जो उपदेश दिया वही महाभारत में 'व्याध-गीता' के नाम से प्रसिद्ध है। व्याध-गीता में हम वेदान्त दर्शन की एक पराकाष्ठा का वर्णन देखते हैं। जब व्याध अपना उपदेश समाप्त कर चुका तो संन्यासी को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने कहा "फिर आप इस शरीर में क्यों हैं? इतने ज्ञानी होते हुए भी आप व्याध-शरीर में क्यों हैं? इतना गंदा और घिनौना कार्य क्यों करते हैं?" व्याध ने उत्तर दिया "वत्स कोई भी कर्तव्य गन्दा नहीं है। कोई भी कर्तव्य अपवित्र नहीं है। मेरे जन्म ने मुझे इस परिस्थिति में रख दिया। बचपन से ही मैंने यह व्यापार सीखा है। मैं अनासक्त हूँ और अपना कर्तव्य उत्तम रूप से किये जाता हूँ। मैं गृहस्थ के नाते अपना कर्तव्य करता

हूँ और अपने माता-पिता को प्रसन्न रखने के लिए जो कुछ मुझसे वन पडता है, करता हूँ। न तो मैं तुम्हारा योग जानता हूँ और न मैं कभी सन्यासी ही हुआ। ससार छोडकर मैं कभी वन मे नही गया। परन्तु फिर भी जो कुछ तुमने मुझसे सुना तथा देखा, वह सव मुझे अनासक्त भाव से अपनी अवस्था के अनुरूप कर्तव्य का पालन करने से ही प्राप्त हुआ है।"

भारतवर्ष मे एक वहुत वडे महात्मा[1] हैं। अपने जीवन मे मैंने जितने महा अद्भुत पुरुष देखे, उनमे से वे एक हैं। वे विचित्र व्यक्ति हैं, कभी किसीको उपदेश नही देते, यदि तुम उनसे कोई प्रश्न पूछो भी, तो भी वे उसका उत्तर नही देते। गुरु का पद ग्रहण करने मे वे बडे सकुचित होते हैं। यदि तुम उनसे आज एक प्रश्न पूछो और उसके वाद कुछ दिन प्रतीक्षा करो, तो किसी दिन अपनी वातचीत मे वे उस प्रश्न को उठाकर उस पर वडा सुन्दर प्रकाश डालते हैं। उन्होंने मुझे एक वार कर्म का रहस्य वताया था। उन्होने कहा, "साधन और सिद्धि को एकरूप समझो।" अर्थात् साधना-काल में साधन में ही मन-प्राण अर्पण कर कार्य करो, क्योकि उसकी चरम अवस्था का नाम ही सिद्धि है। जब तुम कोई कर्म करो, तव अन्य किसी वात का विचार ही मत करो। उसे एक उपासना के—वडी से वडी उपासना के रूप मे करो, और उस समय उसमे अपना सारा तन-मन लगा दो। यही वात हमने उपर्युक्त कथा मे भी देखी है। व्याध एव वह स्त्री—दोनो ने अपना अपना कर्तव्य वडी प्रसन्नता से तथा तन्मनस्क होकर किया और उसका फल यह हुआ कि उन्हें दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ। इससे हमे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जीवन की किसी भी अवस्था मे, कर्मफल मे विना आसक्ति रखे यदि कर्तव्य उचित रूप से किया जाय, तो उससे हमे आत्मा की पूर्णता का सर्वोच्च अनुभव प्राप्त होता है।

कर्मफल मे आसक्ति रखनेवाला व्यक्ति अपने भाग्य मे आये हुए कर्तव्य पर भिनभिनाता है। अनासक्त पुरुष को सव कर्तव्य समरूप से शुभ है। उसके लिए तो वे कर्तव्य स्वार्थपरता तथा इन्द्रियपरायणता को नष्ट करके आत्मा को मुक्त कर देने के लिए शक्तिशाली साधन है। हम सव अपने को वहुत वडा मानते है। प्रकृति ही सदैव कडे नियम से हमारे कर्मों के अनुसार उचित कर्मफल का विधान करती है। और इसलिए अपनी ओर से चाहे हम किसी कर्तव्य को स्वीकार करने के लिए भले ही अनिच्छुक हो, फिर भी वास्तव मे हमारे कर्मफल के अनु-

---

१ पवहारी वावा एक प्रसिद्ध महात्मा थे। इनका आश्रम गाज़ीपुर में था। स्वामी विवेकानन्द ने इन पर एक सक्षिप्त जीवन-चरित्र लिखा। देखिए नवम खड, पृष्ठ २५८। स०

साथ ही हमारे कर्तव्य निश्चित होंगे। स्पर्धा से ईर्ष्या उत्पन्न होती है और उससे हृदय की कोमलता नष्ट हो जाती है। भिनभिनाते रहनेवाले पुरुष के लिए सभी कर्तव्य नीरस होते हैं। उसे कभी किसी चीज से सन्तोष नहीं होता और फल-स्वरूप उसका जीवन दूभर हो उठना और असफल हो जाना स्वाभाविक है। हमें चाहिए कि हम काम करते रहें, जो कुछ भी हमारा कर्तव्य हो उसे करते रहें, अपना कंधा सदैव काम से भिड़ाये रखें। तभी अवश्य हमें प्रकाश की उपलब्धि होगी।

हम स्वय अपना उपकार करते हैं, संसार का नहीं

यह विचार करने के पहले कि कर्तव्यनिष्ठा हमे आध्यात्मिक उन्नति मे किस प्रकार सहायता पहुँचाती है, मैं तुम लोगो को सक्षेप मे यह भी बता देना चाहता हूँ कि भारत मे जिसे हम कर्म कहते है, उसका एक दूसरा पक्ष क्या है। प्रत्येक धर्म के तीन विभाग होते हैं। प्रथम दार्शनिक, दूसरा पौराणिक और तीसरा कर्मकाण्ड। दार्शनिक भाग तो वास्तव मे प्रत्येक धर्म का सार है। महापुरुषो की कम या अधिक काल्पनिक जीवनी तथा अलौकिक विषय सम्बन्धी कथाओ एव आख्यायिकाओ द्वारा पौराणिक भाग इस दार्शनिक भाग की व्याख्या करता है। कर्मकाण्ड इस दर्शन को और भी स्थूल रूप देता है, जिससे वह सर्वसाधारण की समझ मे आ सके। वास्तव मे अनुष्ठान दर्शन का ही एक स्थूलतर रूप है। यह अनुष्ठान ही कर्म है। प्रत्येक धर्म मे इसकी आवश्यकता है, क्योकि जब तक हम आध्यात्मिक जीवन मे बहुत उन्नत न हो जायँ, तब तक सूक्ष्म आध्यात्मिक तत्त्वो को समझ नही सकते। मनुष्य को अपने मन मे यह मान लेना सरल है कि वह कोई भी बात समझ सकता है। परन्तु जब वह उसे कार्य मे लाने की चेष्टा करता है, तो उसे मालूम होता है कि सूक्ष्म भावो को ठीक ठीक समझना तथा उन्हे हृदयगम करना बडा ही कठिन है। इसीलिए प्रतीक विशेष रूप से सहायक होते हैं, और उनके द्वारा सूक्ष्म विषयो को समझने की जो प्रणाली है, उसे हम किसी भी प्रकार त्याग नही सकते। स्मरणातीत काल से ही प्रतीको का प्रयोग प्रत्येक धर्म मे होता रहा है। एक दृष्टि से हम प्रतीक के बिना किसी बात को सोच ही नही सकते।, स्वय शब्द हमारे विचारो के प्रतीक ही है। ससार की प्रत्येक वस्तु प्रतीक के रूप मे देखी जा सकती है। सारा ससार ही प्रतीक है और उसके पीछे मूल तत्त्वरूप मे ईश्वर विराजमान है। इस प्रकार का प्रतीक केवल मनुष्य द्वारा उत्पन्न किया हुआ ही नही है। और न ऐसा है कि एक धर्म के कुछ अनुयायियो ने बैठकर कुछ प्रतीको की कल्पना कर डाली है। धर्म के प्रतीको की उत्पत्ति स्वाभाविक रूप से होती है। नही तो ऐसा क्यो है कि प्राय' सभी मनुष्यो के मन मे कुछ विशेष प्रतीक कुछ विशिष्ट भावो से सदा सम्बद्ध रहते हैं? कुछ प्रतीक तो सभी जगह पाये जाते हैं। तुममे से अनेको की यह धारणा है कि क्रॉस का चिह्न सर्वप्रथम ईसाई धर्म के साथ प्रचलित हुआ, परन्तु वास्तव मे तो वह ईसाई धर्म के बहुत पहले से, मूसा के भी जन्म के पहले, वेदो के आविर्भाव

आत्मसंयम और आत्मत्याग का अभ्यास। आत्मा में दिव्य साक्षात्कार की असीम सम्भावनाओं को मनुष्य सदर्प और ऐसे अभ्यास के बिना सिद्ध नहीं कर सकता। पर साधक के प्राणपण से प्रयत्न और प्रबल संयम के अभ्यास बिना यह किसी भी तरह कार्य में परिणत नहीं किया जा सकता। 'मन में सदा प्रभु का ही चिन्तन चलता रहे।' पहले यह बात बहुत कठिन मालूम होती है। पर अध्यवसाय के साथ लगे रहने पर इस प्रकार के चिन्तन की शक्ति धीरे धीरे बढ़ती जाती है। भगवान् श्री कृष्ण गीता में कहते हैं 'हे कौन्तेय अभ्यास और वैराग्य से यह प्राप्त होता है।'[1] उसके बाद है 'क्रिया' अर्थात् यज्ञ। पंच महायज्ञों का नियमित रूप से अनुष्ठान करना होगा।

'कल्याण' अर्थात् पवित्रता ही एकमात्र ऐसी भित्ति है जिस पर सारा भक्ति प्रासाद खड़ा है। बाह्य शौच और खाद्याखाद्य-विचार, ये दोनों सरल हैं, पर आंतरिक शौच एवं पवित्रता के बिना उनका कोई मूल्य नहीं। रामानुज ने आंतरिक शौच के लिए निम्नलिखित गुणों को उपायस्वरूप बतलाया है—(१) सत्य (२) आर्जव अर्थात् सरलता (३) दया अर्थात् निःस्वार्थ परोपकार, (४) दान (५) अहिंसा अर्थात् मन वचन और कर्म से किसीकी हिंसा न करना (६) अनभिध्या अर्थात् परद्रव्य मे लोभ न करना वृथा चिन्तन और दूसरे द्वारा किये गये अनिष्ट आचरण के निरन्तर चिन्तन का त्याग। इन गुणों में से अहिंसा विशेष ध्यान देने योग्य है। सब प्राणियों के प्रति अहिंसा का भाव हमारे लिए परमावश्यक है। इसका अर्थ यह नहीं कि हम केवल मनुष्यों के प्रति दया का भाव रखें और छोटे जानवरों को निर्दयता से मारते रहें और न यही—जैसा कुछ लोग समझते है—कि हम कुत्ते और बिल्लियों की तो रक्षा करते रहें, चींटियों को शक्कर खिलाते रहें पर इधर, जैसा बने वैसा अपने मानव-बन्धुओं का गला काटने के लिए बिना किसी झिझक के तैयार रहें। यह एक उल्लेखनीय बात है कि इस संसार मे प्रायः प्रत्येक शुभ विचार चीमत्सता की चरम सीमा तक ले जाये जा सकते हैं। केवल अक्षरार्थ ग्रहण करके अति की सीमा तक पहुँचायी अच्छी साधना भी दोष बन जाती है। कुछ धार्मिक सम्प्रदायों के मैले-कुचैले साधु इस विचार से कि कहीं उनके शरीर के जुएँ आदि मर न जायें नहाते तक नहीं। परन्तु उन्हें इस बात का कभी ध्यान भी नहीं आता कि ऐसा करने से वे दूसरों को कितना कष्ट देते हैं और कितनी बीमारियाँ फैलाते हैं। वे जो भी हों पर कम से कम वैदिक धर्मावलम्बी तो नहीं है।

---

१ अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ गीता ॥६।३५॥

पराभक्ति

प्रारम्भिक त्याग

अब तक हमने गौणी भक्ति के बारे मे चर्चा की। अब हम पराभक्ति का विवेचन करेंगे। इस पराभक्ति के अभ्यास मे लगने के लिए एक विशेष साधन की बात बतलानी है। सब प्रकार की साधनाओ का उद्देश्य है—आत्मशुद्धि। नाम-जप, कर्मकाण्ड, प्रतीक, प्रतिमा आदि केवल आत्मशुद्धि के लिए हैं। पर शुद्धि की इन सब साधनाओ मे त्याग ही सबसे श्रेष्ठ है। इसके बिना कोई भी पराभक्ति के क्षेत्र मे प्रवेश नही कर सकता। त्याग की बात सुनते ही बहुत से लोग डर जाते हैं, पर इसके बिना किसी प्रकार की आध्यात्मिक उन्नति सम्भव नही। सभी प्रकार के योगो मे यह त्याग आवश्यक है। यह त्याग ही सारी आध्यात्मिकता का प्रथम सोपान है, उसका यथार्थ केन्द्र, उसका सार है। यह त्याग ही वास्तविक धर्म है।

जब मानवात्मा ससार की समस्त वस्तुओ से विमुख होकर गम्भीर तत्त्वो के अनुसन्धान मे लग जाती है, जब वह समझ लेती है कि मैं देहरूप जड मे बद्ध होकर स्वय जड हुई जा रही हूँ और क्रमश विनाश की ओर ही बढ रही हूँ,—और ऐसा समझकर जब वह जड पदार्थ से अपना मुँह मोड लेती है, तभी त्याग आरम्भ होता है, तभी वास्तविक आध्यात्मिकता का विकास प्रारम्भ होता है। कर्मयोगी सारे कर्मफलो का त्याग करता है, वह जो कुछ कर्म करता है, उसके फल मे वह आसक्त नही होता। वह ऐहिक अथवा पारत्रिक किसी प्रकार के फलोपभोग की चिता नही करता। राजयोगी जानता है कि सारी प्रकृति का लक्ष्य आत्मा को भिन्न भिन्न प्रकार का सुख-दुखात्मक अनुभव प्राप्त कराना है, जिसके फलस्वरूप आत्मा यह जान ले कि वह प्रकृति से नित्य पृथक् और स्वतन्त्र है। मानवात्मा को यह भली भाँति जान लेना होगा कि वह नित्य आत्मस्वरूप है और भूतो के साथ उसका सयोग केवल सामयिक है, क्षणिक है। राजयोगी प्रकृति के अपने अनुभवो से वैराग्य की शिक्षा पाता है। ज्ञानयोगी का वैराग्य सबसे कठिन है, क्योकि आरम्भ से ही उसे यह जान लेना पडता है कि यह ठोस दिखनेवाली प्रकृति पूर्णतया भ्रम है। उसे यह समझ लेना पडता है कि प्रकृति मे जहाँ भी शक्ति की अभिव्यक्ति है, वह सब आत्मा की ही शक्ति है, प्रकृति की नही। उसे आरम्भ मे ही यह जान लेना पडता है कि सारा ज्ञान और अनुभव आत्मा मे ही

इसी प्रकार की अन्य सूक्ष्मतर बातो मे आनन्द मिलने लगता है। इसी तरह, जब मनुष्य बुद्धि और मनोवृत्ति के भी अतीत हो जाता है और आध्यात्मिकता तथा ईश्वरानुभूति के क्षेत्र मे विचरता है, तो उसे वहाँ ऐसा अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है कि उसकी तुलना मे सारा इन्द्रियजन्य सुख, यहाँ तक कि बुद्धि से मिलनेवाला सुख भी बिल्कुल तुच्छ प्रतीत होता है। जब चन्द्रमा चारो ओर अपनी शुभ्रोज्ज्वल किरणें बिखेरता है, तो तारे धुँधले पड जाते है, परन्तु सूर्य के प्रकट होने से चन्द्रमा स्वय ही निष्प्रभ हो जाता है। भक्ति के लिए जिस वैराग्य की आवश्यकता होती है, उसको प्राप्त करने के लिए किसीका नाश करने की आवश्यकता नही होती। वह वैराग्य तो स्वभावत ही आ जाता है। जैसे बढते हुए तेज प्रकाश के सामने मन्द प्रकाश धीरे धीरे स्वय ही धुँधला होता जाता है और अन्त मे बिल्कुल विलीन हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियजन्य तथा बुद्धिजन्य सुख ईश्वर-प्रेम के समक्ष आप ही आप धीरे धीरे धुँधले होकर अन्त मे विलीन हो जाते हैं।

यही ईश्वर-प्रेम क्रमश बढते हुए एक ऐसा रूप धारण कर लेता है, जिसे पराभक्ति कहते हैं। तब तो इस प्रेमिक पुरुष के लिए अनुष्ठान की और आवश्यकता नही रह जाती, शास्त्रो का कोई प्रयोजन नही रह जाता, प्रतिमा, मन्दिर, गिरजे, विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय, देश, राष्ट्र——ये सब छोटे छोटे सीमित भाव और बन्धन अपने आप ही चले जाते हैं। तब ससार मे ऐसी कोई भी वस्तु नही बच रहती, जो उसको बाँध सके, जो उसकी स्वाधीनता को नष्ट कर सके। जिस प्रकार किसी चुम्बक की चट्टान के पास एक जहाज़ के आ जाने से, उस जहाज़ की सारी कीलें तथा लोहे की छडे खिचकर निकल आती हैं और जहाज के तख्ते आदि खुलकर पानी पर तैरने लगते है, उसी प्रकार प्रभु की कृपा से आत्मा के सारे बन्धन दूर हो जाते हैं और वह मुक्त हो जाती है। अतएव भक्ति-लाभ के उपाय-स्वरूप इस वैराग्य-साधन मे न तो किसी प्रकार की कठोरता है, न शुष्कता और न किसी प्रकार की ज़बरदस्ती ही। भक्त को अपने किसी भी भाव का दमन करना नही पडता, प्रत्युत वह तो सब भावो को प्रबल करके भगवान् की ओर लगा देता है।

है, प्रकृति में नहीं और इसलिए उसे केवल विचारजन्य धारणा के बल से एकदम प्रकृति के सारे बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर डालना पड़ता है। प्रकृति और प्राकृतिक पदार्थों की ओर वह देखता तक नहीं वे सब उड़ते दृश्यों के समान उसके सामने गायब से हो जाते हैं। वह स्वयं कैवल्यपद में अवस्थित होने का प्रयत्न करता है।

सब प्रकार के वैराग्यों में भक्तियोगी का वैराग्य सबसे स्वाभाविक है। उसमें न कोई कठोरता है न कुछ छोड़ना पड़ता है न हमें अपने आपसे कोई चीज छीननी पड़ती है और न बलपूर्वक किसी चीज से हमें अपने आपको अलग ही करना पड़ता है। भक्ति का त्याग तो अत्यन्त सहज और हमारे आसपास की वस्तुओं की तरह स्वाभाविक होता है। इस प्रकार का त्याग बहुत कुछ विकृत रूप में हम प्रतिदिन अपने चारों ओर देखते हैं। उदाहरणार्थ एक मनुष्य एक स्त्री से प्रेम करता है। कुछ समय बाद वह दूसरी स्त्री से प्रेम करने लगता है और पहली स्त्री को छोड़ देता है। वह पहली स्त्री धीरे धीरे उसके मन से पूर्णतया चली जाती है और उस मनुष्य को उसकी याद तक नहीं आती—उस स्त्री का अभाव तक उसे अब महसूस नहीं होता। एक स्त्री एक मनुष्य से प्रेम करती है कुछ दिनों बाद वह दूसरे मनुष्य से प्रेम करने लगती है और पहला आदमी उसके मन से सहज ही उतर जाता है। किसी व्यक्ति को अपने शहर से प्यार होता है। फिर वह अपने देश को प्यार करने लगता है और तब उसका अपने उस छोटे से शहर के प्रति उत्कट प्रेम धीरे धीरे, स्वाभाविक रूप से चला जाता है। फिर जब वही मनुष्य सारे संसार को प्यार करने लगता है तब उसकी कट्टर देशभक्ति अपने देश के प्रति प्रबल और उन्मत्त प्रेम धीरे धीरे चला जाता है। इससे उसे कोई कष्ट नहीं होता। यह भाव दूर करने के लिए उसे किसी प्रकार की जोर-जबरदस्ती नहीं करनी पड़ती। एक असंस्कृत मनुष्य इन्द्रिय-सुखों में उन्मत्त रहता है। जैसे जैसे वह सस्कृत होता जाता है वैसे वैसे बौद्धिक विषयों में उसे अधिक सुख मिलने लगता है और उसके विषय भोग भी धीरे धीरे कम होते जाते हैं। एक कुत्ता अथवा भेड़िया जितनी रुचि से अपना भोजन करता है उतना आनन्द किसी मनुष्य को अपने भोजन म नहीं आता। परन्तु जो आनन्द मनुष्य को बुद्धि और बौद्धिक कार्यों से प्राप्त होता है, उसका अनुभव एक कुत्ता कभी नहीं कर सकता। पहले-पहल इन्द्रियों से सुख होता है परन्तु ज्यों ज्यों प्राणी उच्चतर अवस्थाओं को प्राप्त होता जाता है त्यों त्यों इन्द्रियजन्य सुखों में उसकी आसक्ति कम होती जाती है। मानव-समाज में भी देखा जाता है कि मनुष्य की प्रवृत्ति जितनी पशुवत् होती है वह उतनी ही तीव्रता से इन्द्रियों में सुख का अनुभव करता है। पर वह जितना ही सस्कृत और उच्च होता जाता है उतना ही उसे बुद्धि सम्बन्धी तथा

इसी प्रकार की अन्य सूक्ष्मतर बातो मे आनन्द मिलने लगता है। इसी तरह, जब मनुष्य बुद्धि और मनोवृत्ति के भी अतीत हो जाता है और आध्यात्मिकता तथा ईश्वरानुभूति के क्षेत्र मे विचरता है, तो उसे वहाँ ऐसा अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है कि उसकी तुलना मे सारा इन्द्रियजन्य सुख, यहाँ तक कि बुद्धि से मिलनेवाला सुख भी बिल्कुल तुच्छ प्रतीत होता है। जब चन्द्रमा चारो ओर अपनी शुभ्रोज्ज्वल किरणे बिखेरता है, तो तारे धुँधले पड जाते है, परन्तु सूर्य के प्रकट होने मे चन्द्रमा स्वय ही निष्प्रभ हो जाता है। भक्ति के लिए जिस वैराग्य की आवश्यकता होती है, उसको प्राप्त करने के लिए किसीका नाश करने की आवश्यकता नही होती। वह वैराग्य तो स्वभावत ही आ जाता है। जैसे बढते हुए तेज प्रकाश के सामने मन्द प्रकाश धीरे धीरे स्वय ही धुँधला होता जाता है और अन्त मे बिल्कुल विलीन हो जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियजन्य तथा बुद्धिजन्य सुख ईश्वर-प्रेम के समक्ष आप ही आप धीरे धीरे धुंधले होकर अन्त मे विलीन हो जाते हैं।

यही ईश्वर-प्रेम क्रमश बढते हुए एक ऐसा रूप धारण कर लेता है, जिसे पराभक्ति कहते है। तब तो इस प्रेमिक पुरुष के लिए अनुष्ठान की और आवश्यकता नही रह जाती, शास्त्रो का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, प्रतिमा, मन्दिर, गिरजे, विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय, देश, राष्ट्र—ये सब छोटे छोटे सीमित भाव और बन्धन अपने आप ही चले जाते हैं। तब ससार मे ऐसी कोई भी वस्तु नही बच रहती, जो उसको बाँध सके, जो उसकी स्वाधीनता को नष्ट कर सके। जिस प्रकार किसी चुम्बक की चट्टान के पास एक जहाज़ के आ जाने से, उस जहाज़ की सारी कीलें तथा लोहे की छडे खिचकर निकल आती हैं और जहाज़ के तख्ते आदि खुलकर पानी पर तैरने लगते हैं, उसी प्रकार प्रभु की कृपा से आत्मा के सारे बन्धन दूर हो जाते हैं और वह मुक्त हो जाती है। अतएव भक्ति-लाभ के उपाय-स्वरूप इस वैराग्य-साधन मे न तो किसी प्रकार की कठोरता है, न शुष्कता और न किसी प्रकार की जबरदस्ती ही। भक्त को अपने किसी भी भाव का दमन करना नही पडता, प्रत्युत वह तो सब भावो को प्रबल करके भगवान् की ओर लगा देता है।

भक्त का वैराग्य—प्रेमजन्य

प्रकृति में हम सर्वत्र प्रेम ही देखते हैं। मानव-समाज में जो कुछ सुन्दर और महान् और उदात्त है वह समस्त प्रेमप्रसूत है फिर जो कुछ खराब नहीं नहीं बल्कि पैशाचिक है वह भी उसी प्रेम भाव का विकृत रूप है। पति-पत्नी का विशुद्ध दाम्पत्य प्रेम और अति नीच कामवृत्ति दोनों उस प्रेम के ही दो रूप हैं। भाव एक ही है, पर भिन्न भिन्न अवस्था में उसके भिन्न भिन्न रूप होते हैं। यह एक ही प्रेम एक ओर तो मनुष्य को भलाई करने और अपना सब कुछ गरीबों को बाँट देने के लिए प्रेरित करता है फिर दूसरी ओर वही एक दूसरे मनुष्य को अपने बन्धु बान्धवों का गला काटने और उनका सर्वस्व अपहरण कर लेने की प्रेरणा देता है। यह दूसरा व्यक्ति जिस प्रकार अपने आपसे प्यार करता है पहला व्यक्ति उसी प्रकार दूसरों से प्यार करता है। पहली दशा में प्रेम की गति ठीक और उचित दिशा में है पर दूसरी दशा में वही बुरी दिशा में। जो आग हमारे लिए भोजन पकाती है वह एक बच्चे को जला भी सकती है। किन्तु इसमें आग का कोई दोष नहीं। उसका जैसा व्यवहार किया जायगा वैसा फल मिलेगा। अतएव यह प्रेम यह प्रबल आसंग-स्पृहा दो व्यक्तियों के एकप्राण हो जाने की यह तीव्र आकांक्षा और सम्भवत अन्त में सबकी उस एकस्वरूप में विलीन हो जाने की इच्छा उत्तम या अधम रूप से सर्वत्र प्रकाशित है।

भक्तियोग उच्चतर प्रेम का विज्ञान है। वह हमें दर्शाता है कि हम प्रेम को ठीक रास्ते से कैसे लगायें कैसे उसे वश में लायें उसका सद्व्यवहार किस प्रकार करें किस प्रकार एक नये मार्ग में उसे मोड़ दें और उससे श्रेष्ठ और महत्तम फल अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्था किस प्रकार प्राप्त करें। भक्तियोग कुछ छोड़ने-त्यागने की शिक्षा नहीं देता वह केवल कहता है 'परमेश्वर में आसक्त होओ।' और जो परमेश्वर के प्रेम में उन्मत्त हो गया है, उसकी स्वभावत निम्न विषयों में कोई प्रवृत्ति नहीं रह सकती।

'प्रभो मैं तेरे बारे में और कुछ नहीं जानता केवल इतना जानता हूँ कि तू मेरा है। तू सुन्दर है! अहा तू सुन्दर है! तू स्वयं सौन्दर्यस्वरूप है।' हम सभी में सौन्दर्य-पिपासा विद्यमान है। भक्तियोग केवल इतना कहता है कि इस सौन्दर्य पिपासा की गति भगवान् की ओर फेर दो। मानव मुख में आकाश तारा या

चन्द्रमा मे जो सौन्दर्य दिखता है, वह आया कहाँ मे ? वह भगवान् के उस सर्वतो-मुखी प्रकृत सौन्दर्य का ही आंशिक प्रकाश मात्र है। 'उसीके प्रकाश से मव प्रकाशित होते हैं।'[1] उसीका तेज सव वस्तुओ मे है। भक्ति की इस उच्च अवस्था को प्राप्त करो। उससे तुम अपने समस्त क्षुद्र अह-भावो को भूल जाओगे। छोटे छोटे सासारिक स्वार्थो का त्याग कर दो। मानवता को ही अपने ममम्त मानवी और उससे उच्चतर ध्येयो का भी केन्द्र न समझ वैंठना। तुम केवल एक साक्षी की तरह, एक जिज्ञासु की तरह खडे रहो और प्रकृति की लीलाएँ देखते जाओ। मनुष्य के प्रति आसक्तिरहित होओ और देखो, यह प्रवल प्रेम-प्रवाह जगत् मे किस प्रकार कार्य कर रहा है! हो सकता है, कभी कभी एकाध धक्का भी लगे, परन्तु वह परम प्रेम की प्राप्ति के मार्ग मे होनेवाली एक घटना मात्र है। सम्भव है, कही थोडा द्वन्द्व छिडे, अथवा कोई थोडा फिसल जाय, पर ये सव उस परम प्रेम मे आरोहण के सोपान मात्र हैं। चाहे जितने द्वन्द्व छिडे, चाहे जितने सघर्ष आये, पर तुम साक्षी होकर वस एक ओर खडे रहो। ये द्वन्द्व तुम्हे तभी खटकेंगे, जव तुम ससार-प्रवाह मे पडे होगे। परन्तु जव तुम उसके वाहर निकल आओगे और केवल एक द्रष्टा के रूप मे खडे रहोगे, तो देखोगे कि प्रेमस्वरूप भगवान् अपने आपको अनन्त प्रकार से प्रकाशित कर रहा है।

'जहाँ कही थोडा सा भी आनन्द है, चाहे वह घोर विपय-भोग का ही क्यो न हो, वहाँ उस अनन्त आनन्दस्वरूप भगवान् का ही अश है।' निम्नतम आकर्षण मे भी ईश्वरीय प्रेम का वीज निहित है। सस्कृत भाषा मे प्रभु का एक नाम 'हरि' है। उसका अर्थ यह है कि वह सवको अपनी ओर आकृष्ट करता है। असल मे वही हमारे प्रेम का एकमात्र उपयुक्त पात्र है। यह जो हम लोग नाना दिशाओ मे आकृष्ट हो रहे हैं, तो हम लोगो को खीच कौन रहा है ? वही!—वही हमे अपनी गोद मे लगातार खीच रहा है। निर्जीव जड क्या कभी चेतन आत्मा को खीच सकता है ? नही—कभी नही। मान लो, एक सुन्दर मुखडा देखकर कोई उन्मत्त हो गया। तो क्या कुछ जड परमाणुओ की समष्टि ने उसे पागल कर दिया है ? नही, कभी नही। इन जड परमाणुओ के पीछे अवश्य ईश्वरीय शक्ति और ईश्वरीय प्रेम का खेल चल रहा है। अज्ञ मनुष्य यह नही जानता। परन्तु फिर भी, जाने या अनजाने, वह उसीके द्वारा आकृष्ट हो रहा है। अतएव यहाँ तक कि निम्नतम प्रकार के आकर्षण भी अपनी शक्तियाँ स्वय भगवान् से ही पाती हैं। 'हे प्रिये, कोई स्त्री अपने पति को पति के निमित्त प्यार नही करती, पति की अन्तरस्थ

---

१. तस्य भासा सर्वमिद विभाति।। कठोपनिषद्।।२।२।१५।।

भक्त का वैराग्य—प्रेमजन्य

प्रकृति में हम सर्वत्र प्रेम ही देखते हैं। मानव-समाज में जो कुछ सुन्दर और महान् और उदात्त है वह समस्त प्रेमप्रसूत है फिर जो कुछ खराब नहीं बल्कि पैशाचिक है वह भी उसी प्रेम-भाव का विकृत रूप है। पति-पत्नी का विशुद्ध दाम्पत्य प्रेम और अति नीच कामवृत्ति दोनों उस प्रेम के ही दो रूप हैं। भाव एक ही है पर भिन्न भिन्न अवस्था में उसके भिन्न भिन्न रूप होते हैं। वह एक ही प्रेम एक ओर तो मनुष्य को भलाई करने और अपना सब कुछ ग़रीबों को बाँट देने के लिए प्रेरित करता है फिर दूसरी ओर वही एक दूसरे मनुष्य को अपने बन्धु बान्धवों का गला काटने और उनका सर्वस्व अपहरण कर लेने की प्रेरणा देता है। यह दूसरा व्यक्ति जिस प्रकार अपने आपसे प्यार करता है पहला व्यक्ति उसी प्रकार दूसरों से प्यार करता है। पहली दशा में प्रेम की गति ठीक और उचित दिशा मे है पर दूसरी दशा मे वही बुरी दिशा में। जो आग हमारे लिए भोजन पकाती है वह एक बच्चे को जला भी सकती है। किन्तु इसमें आग का कोई दोष नहीं। उसका जैसा व्यवहार किया जायगा वैसा फल मिलेगा। अतएव यह प्रेम यह प्रबल आसंग-स्पृहा दो व्यक्तियों के एकप्राण हो जाने की यह तीव्र आकांक्षा और सम्भवत: अन्त में सबकी उस एकस्वरूप में विलीन हो जाने की इच्छा उत्तम या अधम रूप से सर्वत्र प्रकाशित है।

भक्तियोग उच्चतर प्रेम का विज्ञान है। वह हमें दर्शाता है कि हम प्रेम को ठीक रास्ते से कैसे लगायें कैसे उसे वश में लायें उसका सद्व्यवहार किस प्रकार करें, किस प्रकार एक नये मार्ग मे उसे मोड़ दें और उससे श्रेष्ठ और महत्तम फल अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्था किस प्रकार प्राप्त करें। भक्तियोग कुछ छोड़ने-त्यागने की शिक्षा नहीं देता वह केवल कहता है, "परमेश्वर में आसक्त होओ।" और जो परमेश्वर के प्रेम मे उन्मत्त हो गया है उसकी स्वभावत: निम्न विषयों में कोई प्रवृत्ति नहीं रह सकती।

'प्रभो मैं तेरे बारे मे और कुछ नहीं जानता केवल इतना जानता हूँ कि मेरा है। तू सुन्दर है! अहा तू सुन्दर है! तू स्वयं सौन्दर्यस्वरूप है।' हम मे सौन्दर्य-पिपासा विद्यमान है। भक्तियोग केवल इतना कहता है कि इस सौ पिपासा की गति भगवान् की ओर फेर दो। मानव मुख में आकाश तार

लगते है कि पराभक्ति क्या है। और जिसने पराभक्ति के राज्य मे प्रवेश किया है, उसीको यह कहने का अधिकार है कि प्रतिमा-पूजन अथवा वाह्य अनुष्ठान आदि अब आवश्यक नही हैं। उसीने प्रेम की उस परम अवस्था की प्राप्ति कर ली है, जिसे हम साधारणतया विश्ववन्धुत्व कहते है, दूसरे लोग तो विश्ववन्धुत्व की कोरी बातें ही करते है। उसमे फिर भेदभाव नही रह जाता। अथाह प्रेमसिन्धु उसमे समा जाता है। तब उसे मनुष्य मे मनुष्य नही दिखता, वरन् सर्वत्र उसे अपना प्रियतम ही दिखायी देता है। प्रत्येक मुख मे उसे 'हरि' ही दिखायी देता है। सूर्य अथवा चन्द्र का प्रकाश उसीकी अभिव्यक्ति है। जहाँ कही सौन्दर्य और महानता दिखायी देती है, उसकी दृष्टि मे वह सब भगवान् का ही है। ऐसे भक्त आज भी इस ससार मे विद्यमान है। ससार उनसे कभी रिक्त नही होता। ऐसे भक्तो को यदि साँप भी काट ले, तो वे कहते हैं, "मेरे प्रियतम का एक दूत आया था।" ऐसे ही पुरुषो को विश्ववन्धुत्व की बातें करने का अधिकार है। उनके हृदय मे क्रोध, घृणा अथवा ईर्ष्या कभी प्रवेश नही कर पाती। सारा वाह्य, इन्द्रियग्राह्य जगत् उनके लिए सदा के लिए लुप्त हो जाता है। वे तो अपने प्रेम के द्वारा वाह्य दृश्यावली के पीछे स्थित सत्य को सारे समय देखते रहते है। वे कभी क्रोधित कैसे हो सकते है?

आत्मा के निमित्त ही पत्नी उसे प्यार करती है।"[1] प्रेमिका पत्नियाँ चाहे यह जानती हों अथवा नहीं, पर है यह सत्य। "हे प्रिय, पत्नी के लिए पत्नी का कोई प्यार नहीं करता परन्तु पत्नी की अन्तरस्थ आत्मा के लिए ही पति उसे प्यार करता है।"[2] इसी प्रकार, संसार में जब कोई अपने बच्चे अथवा अन्य किसीसे प्रेम करता है, तो वह वास्तव में उसकी अन्तरस्थ आत्मा के लिए ही उससे प्रेम करता है। भगवान् मानो एक बड़ा चुम्बक है और हम सब लोहे के कण के समान हैं। हम लोग उसके द्वारा सतत खींचे जा रहे हैं। हम सभी उसे प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। संसार में हम जो नानाविध प्रयत्न करते हैं वे सब केवल स्वार्थ के लिए नहीं हो सकते। अज्ञानी लोग जानते नहीं कि उनके जीवन का उद्देश्य क्या है। वास्तव में वे लगातार परमात्मारूप उस बड़े चुम्बक की ओर ही अग्रसर हो रहे हैं। हमारे इस अविराम कठोर जीवन-संग्राम का लक्ष्य है—अन्त में उसके निकट पहुँचकर उसके साथ एकीभूत हो जाना।

भक्तियोगी इस जीवन-संग्राम का अर्थ भली भाँति जानता है। वह ऐसे संग्रामों की एक लम्बी शृंखला में से पार हो चुका है और वह जानता है कि उनका लक्ष्य क्या है। उनसे छुटकारा पाने की उसकी तीव्र आकांक्षा रहती है। वह संघर्षों से दूर ही रहना चाहता है और सीधे समस्त आकर्षणों के मूल कारणस्वरूप 'हरि' के निकट चला जाना चाहता है। यही भक्त का त्याग है। भगवान् के प्रति इस प्रबल आकर्षण से उसके अन्य सब आकर्षण नष्ट हो जाते हैं। उसके हृदय में इस प्रबल अनन्त ईश्वर प्रेम के प्रवेश कर जाने से फिर वहाँ अन्य किसी प्रेम को तिल मात्र भी गुंजाइश नहीं रह जाती। और रहे भी कैसे? भक्ति उसके हृदय को ईश्वररूपी प्रेम-सागर के दैवी सलिल से भर देती है और इस प्रकार उसमें फिर क्षुद्र प्रेमों के लिए स्थान ही नहीं रह जाता। तात्पर्य यह कि भक्त का वैराग्य अर्थात् भगवान् को छोड़ समस्त विषयों में अनासक्ति भगवान् के प्रति परम अनुराग से उत्पन्न होती है।

पराभक्ति की प्राप्ति के लिए यही सर्वोत्तम साधन है—यही आदर्श तैयारी है। जब यह वैराग्य आता है तो पराभक्ति के राज्य का प्रवेश-द्वार खुल जाता है जिससे आत्मा पराभक्ति के गम्भीरतम प्रदेशों में पहुँच सके। तभी हम यह समझने

---

१ न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।। बृहदारण्यकोपनिषद् ।।२।४।५।।

२ न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया

लगते हैं कि पराभक्ति क्या है। और जिसने पराभक्ति के राज्य मे प्रवेश किया है, उसीको यह कहने का अधिकार है कि प्रतिमा-पूजन अथवा वाह्य अनुष्ठान आदि अब आवश्यक नही हैं। उसीने प्रेम की उस परम अवस्था की प्राप्ति कर ली है, जिसे हम साधारणतया विश्ववन्धुत्व कहते हैं, दूसरे लोग तो विश्ववन्धुत्व की कोरी बातें ही करते है। उसमे फिर भेदभाव नही रह जाता। अथाह प्रेमसिन्धु उसमे समा जाता है। तब उसे मनुष्य मे मनुष्य नही दिखता, वरन् सर्वत्र उसे अपना प्रियतम ही दिखायी देता है। प्रत्येक मुख मे उसे 'हरि' ही दिखायी देता है। सूर्य अथवा चन्द्र का प्रकाश उसीकी अभिव्यक्ति है। जहाँ कही सौन्दर्य और महानता दिखायी देती है, उसकी दृष्टि मे वह सब भगवान् का ही है। ऐसे भक्त आज भी इस ससार मे विद्यमान हैं। ससार उनसे कभी रिक्त नही होता। ऐसे भक्तो को यदि साँप भी काट ले, तो वे कहते हैं, "मेरे प्रियतम का एक दूत आया था।" ऐसे ही पुरुषो को विश्ववन्धुत्व की बाते करने का अधिकार है। उनके हृदय मे क्रोध, घृणा अथवा ईर्ष्या कभी प्रवेश नही कर पाती। सारा वाह्य, इन्द्रियग्राह्य जगत् उनके लिए सदा के लिए लुप्त हो जाता है। वे तो अपने प्रेम के द्वारा वाह्य दृश्यावली के पीछे स्थित सत्य को सारे समय देखते रहते हैं। वे कभी क्रोधित कैसे हो सकते हैं?

भक्तियोग की स्वाभाविकता और केन्द्रीय रहस्य

भगवान् श्री कृष्ण से अर्जुन पूछते हैं "हे प्रभो जो सतत युक्त हो तुम्हें भजते हैं, और जो अव्यक्त निर्गुण के उपासक हैं इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है?" कृष्ण उत्तर देते हैं "हे अर्जुन मुझमें मन को एकाग्र करके जो नित्य युक्त हो परम श्रद्धा के साथ मेरी उपासना करता है वही मेरा श्रेष्ठ उपासक है वही श्रेष्ठ योगी है। और जो इन्द्रिय-समुदाय को पूर्ण वश में करके मन-बुद्धि से परे, सर्वव्यापी अव्यक्त और सदा एकरस रहनेवाले नित्य अचल निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को निरन्तर एकीभाव से ध्यान करते हुए उपासना करते हैं वे समस्त भूतों के हित में रत हुए और सबमें समान भाव रखनेवाले योगी भी मुझे ही प्राप्त होते हैं। किन्तु उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म में आसक्त चित्तवाले पुरुषों के लिए (साधन में) क्लेश अर्थात् परिश्रम अधिक है, क्योंकि देहाभिमानी व्यक्तियों द्वारा यह अव्यक्त गति बहुत दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है अर्थात् जब तक शरीर मे अभिमान रहता है, तब तक निराकार ब्रह्म मे स्थिति होनी कठिन है। और जो मेरे परायण हुए भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पित कर, मुझे अनन्य ध्यान और योग से निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, मुझमें चित्त लगानेवाले उन प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूपी संसार-समुद्र से उद्धार करता हूँ।"[1]

उपर्युक्त कथन में ज्ञानयोग और भक्तियोग दोनों का दिग्दर्शन कराया गया है। कह सकते हैं कि उसमें दोनों की व्याख्या कर दी गयी है। ज्ञानयोग अवश्य अति श्रेष्ठ मार्ग है। तत्त्व-विचार उसका प्राण है। और आश्चर्य की बात तो यह है कि सभी सोचते हैं कि वे ज्ञानयोग के आदर्शानुसार चलने में समर्थ हैं। परन्तु वास्तव में ज्ञानयोग-साधना बड़ी कठिन है। उसमे गिर जाने की बड़ी आशंका रहती है। संसार में हम दो प्रकार के मनुष्य देखते हैं। एक तो आसुरी प्रकृतिवाले जिनकी दृष्टि में शरीर का पालन-पोषण ही सर्वस्व है, और दूसरे दैवी प्रकृतिवाले जिनकी यह धारणा रहती है कि शरीर किसी एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति का—आत्मोन्नति का एक साधन मात्र है। शैतान भी अपनी कार्य-सिद्धि के लिए शास्त्रों को उद्धृत कर सकता है और करता भी है। और इस तरह ऐसा प्रतीत होता है कि

1 गीता ॥१२।१-७॥

ज्ञानमार्ग जिस प्रकार साधु व्यक्तियो के सत्कार्य का प्रवल प्रेरक है, उसी प्रकार असाधु व्यक्तियो के भी कार्य का समर्थक है। ज्ञानयोग मे यही एक वडे खतरे की वात है। परन्तु भक्तियोग बिल्कुल स्वाभाविक और मधुर है। भक्त उतनी ऊँची उडान नही उडता, जितनी कि एक ज्ञानयोगी, और इसीलिए उसके बडे खड्डो मे गिरने की आशका भी नही रहती। पर हाँ, इतना समझ लेना होगा कि साधक किसी भी पथ पर क्यो न चले, जब तक आत्मा के सारे वन्धन छूट नही जाते, तव तक वह मुक्त नही हो सकता।

निम्नोक्त श्लोक से यह स्पष्ट होता है कि किस प्रकार एक भाग्यशालिनी गोपी पाप और पुण्य के वन्धनो से मुक्त हो गयी थी। 'भगवान् के ध्यान से उत्पन्न तीव्र आनन्द ने उसके समस्त पुण्य कर्मजनित वन्धनो को काट दिया। फिर भगवान् की प्राप्ति न होने की परम आकुलता से उसके समस्त पाप धुल गये और वह मुक्त हो गयी।'[१] अतएव भक्तियोग का रहस्य यह है कि मनुष्य के हृदय मे जितने प्रकार की वासनाएँ और भाव हैं, उनमे से कोई भी स्वरूपत अधम नही है, उन्हे धीरे धीरे अपने वश मे लाकर उनको उत्तरोत्तर उच्च दिशा मे उन्मुख करना होगा, जिससे वे अन्तत परमोच्च दशा को प्राप्त हो जायँ। उनकी सर्वोच्च दिशा है वह, जो ईश्वर की ओर ले जाती है, और शेष सब दिशाएँ निम्नाभिमुखी हैं। हम देखते हैं कि हमारे जीवन मे सुख और दु ख सर्वदा लगे ही रहते हैं। जव कोई मनुष्य धन अथवा अन्य किसी सासारिक वस्तु के अभाव से दु ख अनुभव करता है, तो वह अपनी भावनाओ को गलत मार्ग पर ले जा रहा है। फिर भी, दु ख की भी उपयोगिता है। यदि मनुष्य इस वात के लिए दु ख करने लगे कि अब तक उसे परमात्मा की प्राप्ति नही हुई, तो वह दु ख उसकी मुक्ति का हेतु वन जायगा। जब कभी तुम्हे इस बात का आनन्द होता है कि तुम्हारे पास चाँदी के कुछ टुकडे हैं, तो समझना कि तुम्हारी आनन्द-वृत्ति गलत रास्ते पर जा रही है। उसे उच्चतर दिशा की ओर ले जाना होगा, हमे अपने सर्वोच्च लक्ष्य ईश्वर के चिन्तन मे आनन्द अनुभव करना होगा। हमारी अन्य सब भावनाओ के सम्बन्ध मे भी ठीक ऐसी ही बात है। भक्त की दृष्टि मे उनमे से कोई भी खराव नही है, वह उन सवको लेकर केवल भगवान् की ओर उन्मुख कर देता है।

---

१ तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा।
तदप्राप्तिमहद्दुःखविलीनाशेषपातका ॥
चिन्तयन्ती जगत्पति परब्रह्मस्वरूपिणम्।
निरुच्छ्वासतया मुक्ति गतान्या गोपकन्यका ॥

—विष्णुपुराण ॥५।१३।२१-२॥

भक्तियोग की स्वाभाविकता और केन्द्रीय रहस्य

भगवान् श्री कृष्ण से अर्जुन पूछते हैं, "हे प्रभो जो सतत युक्त हो तुम्हें भजते हैं, और जो अव्यक्त निर्गुण के उपासक हैं इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है?" कृष्ण उत्तर देते हैं "हे अर्जुन मुझमें मन को एकाग्र करके जो नित्य युक्त हो परम श्रद्धा के साथ मेरी उपासना करता है वही मेरा श्रेष्ठ उपासक है वही श्रेष्ठ योगी है। और जो इन्द्रिय-समुदाय को पूर्ण वश में करके मन-बुद्धि से परे, सर्वव्यापी अव्यक्त और सदा एकरस रहनेवाले नित्य अचल निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को निरन्तर एकीभाव से ध्यान करते हुए उपासना करते हैं वे समस्त भूतों के हित में रत हुए और सबमें समान भाव रखनेवाले योगी भी मुझे ही प्राप्त होते हैं। किन्तु उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म में आसक्त चित्तवाले पुरुषों के लिए (साधन में) क्लेश अर्थात् परिश्रम अधिक है क्योंकि देहाभिमानी व्यक्तियों द्वारा वह अव्यक्त गति बहुत दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है अर्थात् जब तक शरीर में अभिमान रहता है तब तक निराकार ब्रह्म मे स्थिति होनी कठिन है। और जो मेरे परायण हुए भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पित कर, मुझे अनन्य ध्यान और योग से निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, मुझमें चित्त लगानेवाले उन प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूपी संसार-समुद्र से उद्धार करता हूँ।"[१]

उपर्युक्त कथन में ज्ञानयोग और भक्तियोग दोनों का दिग्दर्शन कराया गया है। कह सकते हैं कि उसमें दोनों की व्याख्या कर दी गयी है। ज्ञानयोग अवश्य अति श्रेष्ठ मार्ग है। तत्त्व-विचार उसका प्राण है। और आश्चर्य की बात तो यह है कि सभी सोचते हैं कि वे ज्ञानयोग के आदर्शानुसार चलने में समर्थ हैं। परन्तु वास्तव में ज्ञानयोग-साधना बड़ी कठिन है। उसमें गिर जाने की बड़ी आशंका रहती है। संसार में हम दो प्रकार के मनुष्य देखते हैं। एक तो आसुरी प्रकृतिवाले जिनकी दृष्टि में शरीर का पालन-पोषण ही सर्वस्व है और दूसरे दैवी प्रकृतिवाले जिनकी यह धारणा रहती है कि शरीर किसी एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति का—आत्मोन्नति का एक साधन मात्र है। शैतान भी अपनी कार्य-सिद्धि के लिए शास्त्रों को उद्धृत कर सकता है और करता भी है। और इस तरह ऐसा प्रतीत होता है कि

---

१ गीता ॥१२।१-७॥

ज्ञानमार्ग जिस प्रकार साधु व्यक्तियो के सत्कार्य का प्रबल प्रेरक है, उसी प्रकार असाधु व्यक्तियो के भी कार्य का समर्थक है। ज्ञानयोग मे यही एक बडे खतरे की बात है। परन्तु भक्तियोग बिल्कुल स्वाभाविक और मधुर है। भक्त उतनी ऊँची उडान नही उडता, जितनी कि एक ज्ञानयोगी, और इसीलिए उसके बडे खड्डो मे गिरने की आशका भी नही रहती। पर हाँ, इतना समझ लेना होगा कि साधक किसी भी पथ पर क्यो न चले, जब तक आत्मा के सारे बन्धन छूट नही जाते, तब तक वह मुक्त नही हो सकता।

निम्नोक्त श्लोक से यह स्पष्ट होता है कि किस प्रकार एक भाग्यशालिनी गोपी पाप और पुण्य के बन्धनो से मुक्त हो गयी थी। 'भगवान् के ध्यान से उत्पन्न तीव्र आनन्द ने उसके समस्त पुण्य कर्मजनित बन्धनो को काट दिया। फिर भगवान् की प्राप्ति न होने की परम आकुलता से उसके समस्त पाप धुल गये और वह मुक्त हो गयी।'[1] अतएव भक्तियोग का रहस्य यह है कि मनुष्य के हृदय मे जितने प्रकार की वासनाएँ और भाव हैं, उनमे से कोई भी स्वरूपत अधम नही है, उन्हे धीरे धीरे अपने वश मे लाकर उनको उत्तरोत्तर उच्च दिशा मे उन्मुख करना होगा, जिससे वे अन्तत परमोच्च दशा को प्राप्त हो जायँ। उनकी सर्वोच्च दिशा है वह, जो ईश्वर की ओर ले जाती है, और शेष सब दिशाएँ निम्नाभिमुखी हैं। हम देखते हैं कि हमारे जीवन मे सुख और दु ख सर्वदा लगे ही रहते हैं। जब कोई मनुष्य धन अथवा अन्य किसी सासारिक वस्तु के अभाव से दु ख अनुभव करता है, तो वह अपनी भावनाओ को गलत मार्ग पर ले जा रहा है। फिर भी, दु ख की भी उपयोगिता है। यदि मनुष्य इस बात के लिए दु ख करने लगे कि अब तक उसे परमात्मा की प्राप्ति नही हुई, तो वह दु ख उसकी मुक्ति का हेतु बन जायगा। जब कभी तुम्हे इस बात का आनन्द होता है कि तुम्हारे पास चाँदी के कुछ टुकडे हैं, तो समझना कि तुम्हारी आनन्द-वृत्ति गलत रास्ते पर जा रही है। उसे उच्चतर दिशा की ओर ले जाना होगा, हमे अपने सर्वोच्च लक्ष्य ईश्वर के चिन्तन मे आनन्द अनुभव करना होगा। हमारी अन्य सब भावनाओ के सम्बन्ध मे भी ठीक ऐसी ही बात है। भक्त की दृष्टि मे उनमे से कोई भी खराब नही है, वह उन सबको लेकर केवल भगवान् की ओर उन्मुख कर देता है।

---

१. तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा।
तदप्राप्तिमहद्दु खविलीनाशेषपातका ॥
चिन्तयन्ती जगत्पति परब्रह्मस्वरूपिणम्।
निरुच्छ्वासतया मुक्ति गतान्या गोपकन्यका ॥

—विष्णुपुराण ॥५।१३।२१-२॥

भक्तियोग की स्वाभाविकता और केन्द्रीय रहस्य

भगवान् श्री कृष्ण से अर्जुन पूछते हैं "हे प्रभो जो सतत युक्त हो तुम्हें भजते हैं और जो अव्यक्त निर्गुण के उपासक हैं, इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है?" कृष्ण उत्तर देते हैं "हे अर्जुन मुझमें मन को एकाग्र करके जो नित्य युक्त हो परम श्रद्धा के साथ मेरी उपासना करता है वही मेरा श्रेष्ठ उपासक है, वही श्रेष्ठ योगी है। और जो इन्द्रिय-समुदाय को पूर्ण वश में करके मन-बुद्धि से परे, सर्वव्यापी अव्यक्त और सदा एकरस रहनेवाले नित्य अचल निराकार, अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को निरन्तर एकीभाव से ध्यान करते हुए उपासना करते हैं वे समस्त भूतों के हित में रत हुए और सबमें समान भाव रखनेवाले योगी भी मुझे ही प्राप्त होते हैं। किन्तु उस सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्म म आसक्त चित्तवाले पुरुषों के लिए (साधन में) क्लेश अर्थात् परिश्रम अधिक है क्योंकि देहाभिमानी व्यक्तियों द्वारा यह अव्यक्त गति बहुत दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है अर्थात् जब तक शरीर में अभिमान रहता है, तब तक निराकार ब्रह्म में स्थिति होनी कठिन है। और जो मेरे परायण हुए भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पित कर, मुझे अनन्य ध्यान और योग से निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, मुझमे चित्त लगानेवाले उन प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूपी संसार-समुद्र से उद्धार करता हूँ।"[1]

उपर्युक्त कथन में ज्ञानयोग और भक्तियोग दोनों का दिग्दर्शन कराया गया है। कह सकते हैं कि उसमें दोनों की व्याख्या कर दी गयी है। ज्ञानयोग अवश्य अति श्रेष्ठ मार्ग है। तत्त्व-विचार उसका प्राण है। और आश्चर्य की बात तो यह है कि सभी सोचते हैं कि वे ज्ञानयोग के आदर्शानुसार चलने में समर्थ हैं। परन्तु वास्तव मे ज्ञानयोग-साधना बड़ी कठिन है। उसमे गिर जाने की बड़ी आशंका रहती है। संसार में हम दो प्रकार के मनुष्य देखते हैं। एक तो आसुरी प्रकृतिवाले जिनकी दृष्टि में शरीर का पालन-पोषण ही सर्वस्व है और दूसरे दैवी प्रकृतिवाले, जिनकी यह धारणा रहती है कि शरीर किसी एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति का—आत्मोन्नति का एक साधन मात्र है। शैतान भी अपनी कार्य-सिद्धि के लिए शास्त्रों को उद्धृत कर सकता है और करता भी है। और इस तरह ऐसा प्रतीत होता है कि

---

१ गीता ॥१२।१-७॥

ज्ञानमार्ग जिस प्रकार साधु व्यक्तियो के सत्कार्य का प्रबल प्रेरक है, उसी प्रकार असाधु व्यक्तियो के भी कार्य का समर्थक है। ज्ञानयोग मे यही एक बडे खतरे की वात है। परन्तु भक्तियोग बिल्कुल स्वाभाविक और मधुर है। भक्त उतनी ऊँची उडान नही उडता, जितनी कि एक ज्ञानयोगी, और इसीलिए उसके बडे खड्डो मे गिरने की आशका भी नही रहती। पर हाँ, इतना समझ लेना होगा कि साधक किसी भी पथ पर क्यो न चले, जब तक आत्मा के सारे वन्धन छूट नही जाते, तव तक वह मुक्त नही हो सकता।

निम्नोक्त श्लोक से यह स्पष्ट होता है कि किस प्रकार एक भाग्यशालिनी गोपी पाप और पुण्य के बन्धनो से मुक्त हो गयी थी। 'भगवान् के ध्यान से उत्पन्न तीव्र आनन्द ने उसके समस्त पुण्य कर्मजनित बन्धनो को काट दिया। फिर भगवान् की प्राप्ति न होने की परम आकुलता से उसके समस्त पाप धुल गये और वह मुक्त हो गयी।'[1] अतएव भक्तियोग का रहस्य यह है कि मनुष्य के हृदय मे जितने प्रकार की वासनाएँ और भाव हैं, उनमे से कोई भी स्वरूपत अधम नही है, उन्हे धीरे धीरे अपने वश मे लाकर उनको उत्तरोत्तर उच्च दिशा मे उन्मुख करना होगा, जिससे वे अन्तत परमोच्च दशा को प्राप्त हो जायँ। उनकी सर्वोच्च दिशा है वह, जो ईश्वर की ओर ले जाती है, और शेष सब दिशाएँ निम्नाभिमुखी हैं। हम देखते हैं कि हमारे जीवन मे सुख और दु ख सर्वदा लगे ही रहते हैं। जब कोई मनुष्य धन अथवा अन्य किसी सासारिक वस्तु के अभाव से दु ख अनुभव करता है, तो वह अपनी भावनाओ को गलत मार्ग पर ले जा रहा है। फिर भी, दु ख की भी उपयोगिता है। यदि मनुष्य इस बात के लिए दु ख करने लगे कि अब तक उसे परमात्मा की प्राप्ति नही हुई, तो वह दु ख उसकी मुक्ति का हेतु वन जायगा। जब कभी तुम्हें इस बात का आनन्द होता है कि तुम्हारे पास चाँदी के कुछ टुकडे हैं, तो समझना कि तुम्हारी आनन्द-वृत्ति गलत रास्ते पर जा रही है। उसे उच्चतर दिशा की ओर ले जाना होगा, हमे अपने सर्वोच्च लक्ष्य ईश्वर के चिन्तन मे आनन्द अनुभव करना होगा। हमारी अन्य सब भावनाओ के सम्बन्ध मे भी ठीक ऐसी ही वात है। भक्त की दृष्टि मे उनमे से कोई भी खराब नही है, वह उन सवको लेकर केवल भगवान् की ओर उन्मुख कर देता है।

---

१ तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा।
तदप्राप्तिमहद्दुःखविलीनाशेषपातका ॥
चिन्तयन्ती जगत्पति परब्रह्मस्वरूपिणम्।
निरुच्छ्वासतया मुक्ति गतान्या गोपकन्यका ॥

—विष्णुपुराण ॥५।१३।२१-२॥

भक्ति की अभिव्यक्ति के रूप

भक्ति जिन विविध रूपों[1] में प्रकाशित होती है, उनमें से कुछ ये हैं: पहला है—'श्रद्धा'। लोग मन्दिरों और पवित्र स्थानों के प्रति श्रद्धा क्यों प्रकट करते हैं? इसलिए कि वहाँ भगवान् की पूजा होती है, ऐसे सभी स्थानों से उनकी सत्ता अधिक सम्बद्ध होती है। प्रत्येक देश में लोग धर्म के आचार्यों के प्रति श्रद्धा क्यों प्रकट करते हैं? इसलिए कि ऐसा करना मानव-हृदय के लिए नितान्त स्वाभाविक है, क्योंकि ये सब आचार्य उन्हीं भगवान् की महिमा का उपदेश देते हैं। इस श्रद्धा का मूल है प्रेम। हम जिससे प्रेम नहीं करते, उसके प्रति कभी भी श्रद्धालु नहीं हो सकते। इसके बाद है—'प्रीति' अर्थात् ईश्वर-चिन्तन में आनन्द। मनुष्य इन्द्रिय-विषयों में कितना तीव्र आनन्द अनुभव करता है! इन्द्रियों को अच्छी लगनेवाली चीजों के लिए वह कहाँ कहाँ भटकता फिरता है और बड़ी से बड़ी जोखिम उठाने को तैयार रहता है। भक्त को चाहिए कि वह भगवान् के प्रति इसी प्रकार का तीव्र प्रेम रखे। इसके उपरान्त आता है 'विरह'—प्रेमास्पद के अभाव में उत्पन्न होनेवाला तीव्र दुःख। यह दुःख संसार के समस्त दुःखों में सबसे मधुर है—अत्यन्त मधुर है। जब मनुष्य भगवान् को न पा सकने के कारण, संसार में एकमात्र जानने योग्य वस्तु को न जान सकने के कारण भीतर तीव्र वेदना अनुभव करने लगता है और फलस्वरूप अत्यन्त व्याकुल हो बिलकुल पागल सा हो जाता है, तो उस दशा को विरह कहते हैं। मन की ऐसी दशा में प्रेमास्पद को छोड़ उसे और कुछ अच्छा नहीं लगता (एकरतिविचिकित्सा)। बहुधा यह विरह सांसारिक प्रणय में देखा जाता है। जब स्त्री और पुरुष में यथार्थ और प्रगाढ़ प्रेम होता है, तो उन्हें ऐसे किसी भी व्यक्ति की उपस्थिति अच्छी नहीं लगती, जो उनके मन का नहीं होता। ठीक इसी प्रकार जब पराभक्ति हृदय पर अपना प्रभाव जमा लेती है, तो अन्य अप्रिय विषयों की उपस्थिति हमें खटकने लगती है, यहाँ तक कि प्रेमास्पद भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी विषय पर बातचीत तक करना हमारे लिए

---

१ सम्मान-बहुमान-प्रीति-विरह-इतरविचिकित्सा-महिमख्याति-तदर्थ-प्राण-स्थान-तदीयता-सर्वतद्भाव-अप्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्।

—शाण्डिल्यसूत्र ॥२।१।४४॥

अरुचिकर हो जाता है। 'उसका, केवल उसका ध्यान करो और अन्य सब बातें त्याग दो।'' जो लोग केवल उन्हींकी चर्चा करते हैं, वे भक्त को मित्र के समान प्रतीत होते हैं, और जो लोग अन्य विषयो की चर्चा करते है, वे उसको शत्रु के समान लगते हैं। प्रेम की इससे भी उच्च अवस्था तो वह है, जब उस प्रेमास्पद भगवान् के लिए ही जीवन धारण किया जाता है, जब उस प्रेमस्वरूप के निमित्त ही प्राण धारण करना सुन्दर और सार्थक समझा जाता है। ऐसे प्रेमी के लिए उस परम प्रेमास्पद भगवान् बिना एक क्षण भी रहना असम्भव हो उठता है। उस प्रियतम का चिन्तन हृदय मे सदैव बने रहने के कारण ही उसे जीवन इतना मधुर प्रतीत होता है। शास्त्रो मे इसी अवस्था को **तदर्थप्राणसस्थान** कहा है। 'तदीयता' तब आती है, जब साधक भक्ति-मत के अनुसार पूर्णावस्था को प्राप्त हो जाता है, जब वह श्री भगवान् के चरणारविन्दो का स्पर्श कर लेता है, तब उसकी प्रकृति विशुद्ध हो जाती है—सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित हो जाती है। तब उसके जीवन की सारी साध पूरी हो जाती है। फिर भी, इस प्रकार के बहुत से भक्त उसकी उपासना के निमित्त ही जीवन धारण किये रहते हैं। इस जीवन के इसी एकमात्र सुख को वे छोडना नही चाहते। 'हे राजन्! हरि के ऐसे मनोहर गुण है कि जो लोग उनको प्राप्त कर ससार की सारी वस्तुओ से तृप्त हो गये हैं, जिनके हृदय की सब ग्रन्थियाँ खुल गयी हैं, वे भी भगवान् की निष्काम भक्ति करते हैं।'[2]—'जिस भगवान् की उपासना सारे देवता, मुमुक्षु और ब्रह्मवादीगण करते हैं।'[3] ऐसा है प्रेम का प्रभाव! जब मनुष्य अपने आपको बिल्कुल भूल जाता है और जब उसे यह भी ज्ञान नही रहता कि कोई चीज़ अपनी है, तभी उसे यह 'तदीयता' की अवस्था प्राप्त होती है। तब सब कुछ उसके लिए पवित्र हो जाता है, क्योकि वह सब उसके प्रेमास्पद का ही तो है। सासारिक प्रेम मे भी, प्रेमी अपनी प्रेमिका की प्रत्येक वस्तु को बडी प्रिय और पवित्र मानता है। अपनी प्रणयिनी के कपडे के एक छोटे से टुकडे को भी वह प्यार करता है। इसी प्रकार जो मनुष्य भगवान् से प्रेम करता है, उसके लिए सारा ससार प्रिय हो जाता है, क्योकि यह ससार आखिर उसीका तो है।

---

१ तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतु ।
—मुण्डकोपनिषद् ॥२।२।५॥

२ आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्यम्भूतगुणो हरि ॥ श्रीमद्भागवत ॥१।७।१०॥

३ य सर्वेदेवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च।
—नृसिहतापनी उपनिषद् ॥५।२।१५॥

भक्ति की अभिव्यक्ति के रूप

भक्ति जिन विविध रूपों[1] में प्रकाशित होती है, उनमें से कुछ ये हैं : पहला है—'श्रद्धा'। लोग मन्दिरों और पवित्र स्थानों के प्रति श्रद्धा क्यों प्रकट करते हैं? इसलिए कि वहाँ भगवान् की पूजा होती है, ऐसे सभी स्थानों में उनकी सत्ता अधिक सम्बद्ध होती है। प्रत्येक देश में लोग धर्म के आचार्यों के प्रति श्रद्धा क्यों प्रकट करते हैं? इसलिए कि ऐसा करना मानव-हृदय के लिए नितान्त स्वाभाविक है, क्योंकि ये सब आचार्य उन्हीं भगवान् की महिमा का उपदेश देते हैं। इस श्रद्धा का मूल है प्रेम। हम जिससे प्रेम नहीं करते, उसके प्रति कभी भी श्रद्धालु नहीं हो सकते। इसके बाद है—'प्रीति' अर्थात् ईश्वर-चिन्तन में आनन्द। मनुष्य इन्द्रिय-विषयों में कितना तीव्र आनन्द अनुभव करता है! इन्द्रियों को अच्छी लगनेवाली चीजों के लिए वह कहाँ कहाँ भटकता फिरता है और बड़ी से बड़ी जोखिम उठाने को तैयार रहता है। भक्त को चाहिए कि वह भगवान् के प्रति इसी प्रकार का तीव्र प्रेम रखे। इसके उपरान्त आता है 'विरह'—प्रेमास्पद के अभाव में उत्पन्न होनेवाला तीव्र दुःख। यह दुःख संसार के समस्त दुःखों में सबसे मधुर है—अत्यन्त मधुर है। जब मनुष्य भगवान् को न पा सकने के कारण, संसार में एकमात्र जानने योग्य वस्तु को न जान सकने के कारण भीतर तीव्र वेदना अनुभव करने लगता है और फलस्वरूप अत्यन्त व्याकुल हो बिल्कुल पागल सा हो जाता है, तो उस दशा को विरह कहते हैं। मन की ऐसी दशा में प्रेमास्पद को छोड़ उसे और कुछ अच्छा नहीं लगता (एकरतिविचिकित्सा)। बहुधा यह विरह सांसारिक प्रणय में देखा जाता है। जब स्त्री और पुरुष में यथार्थ और प्रगाढ़ प्रेम होता है, तो उन्हें ऐसे किसी भी व्यक्ति की उपस्थिति अच्छी नहीं लगती, जो उनके मन का नहीं होता। ठीक इसी प्रकार जब पराभक्ति हृदय पर अपना प्रभाव जमा लेती है, तो अन्य अप्रिय विषयों की उपस्थिति हमें खटकने लगती है, यहाँ तक कि प्रेमास्पद भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी विषय पर बातचीत तक करना हमारे लिए

---

[1] सम्मान-बहुमान-प्रीति-विरह-इतरविचिकित्सा-महिमख्याति-तदर्थ-प्राणस्थान-तदीयता-सर्वतद्भाव-अप्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्।

—शाण्डिल्यसूत्र ॥२।१।४४॥

विश्वप्रेम और उससे आत्मसमर्पण का उदय

समष्टि से प्रेम किये बिना हम व्यष्टि से कैसे प्रेम कर सकते हैं? ईश्वर ही वह समष्टि है। सारे विश्व का यदि एक अखण्ड रूप से चिन्तन किया जाय, तो वही ईश्वर है; और उसे पृथक् पृथक् रूप से देखने पर वही यह दृश्यमान संसार है—व्यष्टि है। समष्टि वह इकाई है, जिसमें लाखों छोटी छोटी इकाइयों का योग है। इस समष्टि के माध्यम से ही सारे विश्व को प्रेम करना सम्भव है। भारतीय दार्शनिक व्यष्टि पर ही नहीं रुक जाते; वे तो व्यष्टि पर एक सरसरी दृष्टि डालकर तुरन्त एक ऐसे व्यापक या समष्टि भाव की खोज में लग जाते हैं, जिसमें सब व्यष्टियों या विशेषों का अन्तर्भाव हो। इस समष्टि की खोज ही भारतीय दर्शन और धर्म का लक्ष्य है। ज्ञानी पुरुष ऐसी एक समष्टि की, ऐसे एक निरपेक्ष और व्यापक तत्त्व की कामना करता है, जिसे जानने से वह सब कुछ जान सके। भक्त उस एक सर्वव्यापी पुरुष की साक्षात् उपलब्धि कर लेना चाहता है, जिससे प्रेम करने से वह सारे विश्व से प्रेम कर सके। योगी उस मूलभूत शक्ति को अपने अधिकार में लाना चाहता है, जिसके नियमन से वह इस सम्पूर्ण विश्व का नियमन कर सके। यदि हम भारतीय विचार-धारा के इतिहास का अध्ययन करें, तो देखेंगे कि भारतीय मन सदा से हर विषय में—भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान, भक्तितत्त्व, दर्शन आदि सभी में—एक समष्टि या व्यापक तत्त्व की इस अपूर्व खोज में लगा रहा है। अतएव भक्त इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि यदि तुम केवल एक के बाद दूसरे व्यक्ति से प्रेम करते चले जाओ, तो भी अनन्त काल में भी संसार को एक समष्टि के रूप में प्यार करने में समर्थ न हो सकोगे। पर अन्त में जब यह मूल सत्य ज्ञात हो जाता है कि समस्त प्रेम की समष्टि ईश्वर है, संसार के मुक्त, बद्ध या मुमुक्षु सारे जीवात्माओं की आदर्श-समष्टि ही ईश्वर है, तभी यह विश्वप्रेम सम्भव होता है। ईश्वर ही समष्टि है और यह परिदृश्यमान जगत् उसीका परिच्छिन्न भाव है—उसीकी अभिव्यक्ति है। यदि हम इस समष्टि को प्यार करें, तो इससे सभी को प्यार करना हो जाता है। तब जगत् को प्यार करना और उसकी भलाई करना सहज हो जाता है। पर पहले भगवत्प्रेम के द्वारा हमें यह शक्ति प्राप्त कर लेनी होगी, अन्यथा संसार की भलाई करना कोई हँसी-खेल नहीं है। भक्त कहता है, 'सब कुछ उसीका है, वह मेरा प्रियतम है, मैं उससे प्रेम करता हूँ।' इस प्रकार भक्त को सब

कुछ पवित्र प्रतीत होने लगता है, क्योकि वह सब आखिर उसीका तो है। सभी उसकी सन्तान है, उसके अगस्वरूप हैं, उसके रूप हैं। तब फिर हम किसीको कैसे चोट पहुँचा सकते हैं? दूसरो को बिना प्यार किये हम कैसे रह सकते है? भगवान् के प्रति प्रेम के साथ ही, उसके निश्चित फलस्वरूप, सर्व भूतो के भी प्रति प्रेम अवश्य आयेगा। हम ईश्वर के जितने समीप आते जाते है, उतने ही अधिक स्पष्ट रूप से देखते है कि सब कुछ उसीमे है। जब जीवात्मा इस परम प्रेमानन्द को आत्मसात करने मे सफल होती है, तब वह ईश्वर को सर्व भूतो मे देखने लगती है। इस प्रकार हमारा हृदय प्रेम का एक अनन्त स्रोत बन जाता है। और जब हम इस प्रेम की और भी उन्नतर अवस्थाओ मे पदार्पण करते हैं, तब ससार की वस्तुओ मे क्षुद्र भेद की भावनाएँ हमारे हृदय से सर्वथा लुप्त हो जाती हैं। तब मनुष्य मनुष्य के रूप मे नही दीखता, वरन् साक्षात् ईश्वर के रूप मे ही दीख पडता है, पशु मे पशु-रूप नही दिखायी पडता, वरन् उसमे स्वय भगवान् ही दीख पडते हैं, यहाँ तक कि ऐसे प्रेमी की आँखो से बाघ का भी बाघ-रूप लुप्त हो जाता है और उसमे स्वय भगवान् प्रकाशमान दीख पडता है। इस प्रकार, भक्ति की इस प्रगाढ अवस्था मे सभी प्राणी हमारे लिए उपास्य हो जाते हैं। 'हरि को सब भूतो मे अवस्थित जानकर ज्ञानी को सब प्राणियो के प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति रखनी चाहिए।'[1]

इस प्रगाढ, सर्वग्राही प्रेम के फलस्वरूप पूर्ण आत्मसमर्पण की अवस्था उपस्थित होती है। तब यह दृढ विश्वास हो जाता है कि ससार मे भला-बुरा जो कुछ होता है, कुछ भी हमारे लिए अनिष्टकर नही। शास्त्रो ने इसीको 'अप्रातिकूल्य' कहा है। ऐसा प्रेमी जीव दु ख उपस्थित होने पर कहता है, "दु ख ! स्वागत है तुम्हारा।" यदि कष्ट आये, तो कहेगा, "आओ कष्ट ! स्वागत है तुम्हारा। तुम भी तो मेरे प्रियतम के पास से ही आये हो।" यदि सर्प आये, तो कहेगा, "विराजो, सर्प !" यहाँ तक कि यदि मृत्यु भी आये, तो वह अधरो पर मुस्कान लिये उसका स्वागत करेगा। "धन्य हूँ मैं, जो ये सब मेरे पास आते हैं, इन सबका स्वागत है।" भगवान् और जो कुछ भगवान् का है, उस सबके प्रति प्रगाढ प्रेम से उत्पन्न होनेवाली इस पूर्ण निर्भरता की अवस्था मे भक्त अपने को प्रभावित करनेवाले सुख और दु ख का भेद भूल जाता है। दु ख-कष्ट आने पर वह तनिक भी विचलित नही होता। और प्रेमस्वरूप ईश्वर की इच्छा पर यह जो स्थिर, खेदशून्य निर्भरता

---

१ एव सर्वेषु भूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी।
कर्तव्या पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमय हरिम्॥

विश्वप्रेम और उससे आत्मसमर्पण का उदय

समष्टि से प्रेम किये बिना हम व्यष्टि से कैसे प्रेम कर सकते हैं? ईश्वर ही वह समष्टि है। सारे विश्व का यदि एक अखण्ड रूप से चिन्तन किया जाय, तो वही ईश्वर है, और उसे पृथक् पृथक् रूप से देखने पर वही यह दृश्यमान संसार है—व्यष्टि है। समष्टि वह इकाई है, जिसमें लाखों छोटी छोटी इकाइयों का योग है। इस समष्टि के माध्यम से ही सारे विश्व को प्रेम करना सम्भव है। भारतीय दार्शनिक व्यष्टि पर ही नहीं रुक जाते, वे तो व्यष्टि पर एक सरसरी दृष्टि डालकर तुरन्त एक ऐसे व्यापक या समष्टि भाव की खोज में लग जाते हैं, जिसमें सब व्यष्टियों या विशेषों का अन्तर्भाव हो। इस समष्टि की खोज ही भारतीय दर्शन और धर्म का लक्ष्य है। ज्ञानी पुरुष ऐसी एक समष्टि की, ऐसे एक निरपेक्ष और व्यापक तत्त्व की कामना करता है, जिसे जानने से वह सब कुछ जान सके। भक्त उस एक सर्वव्यापी पुरुष की साक्षात् उपलब्धि कर लेना चाहता है, जिससे प्रेम करने से वह सारे विश्व से प्रेम कर सके। योगी उस मूलभूत शक्ति को अपने अधिकार में लाना चाहता है, जिसके नियमन से वह इस सम्पूर्ण विश्व का नियमन कर सके। यदि हम भारतीय विचार-धारा के इतिहास का अध्ययन करें, तो देखेंगे कि भारतीय मन सदा से हर विषय में—भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान, भक्तितत्त्व, दर्शन आदि सभी में—एक समष्टि या व्यापक तत्त्व की इस अपूर्व खोज में लगा रहा है। अतएव भक्त इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि यदि तुम केवल एक के बाद दूसरे व्यक्ति से प्रेम करते चले जाओ, तो भी अनन्त काल में भी संसार को एक समष्टि के रूप में प्यार करने में समर्थ न हो सकोगे। पर अन्त में जब यह मूल सत्य ज्ञात हो जाता है कि समस्त प्रेम की समष्टि ईश्वर है, संसार के मुक्त, बद्ध या मुमुक्षु सारे जीवात्माओं की आदर्श-समष्टि ही ईश्वर है, तभी यह विश्वप्रेम सम्भव होता है। ईश्वर ही समष्टि है और यह परिदृश्यमान जगत् उसीका परिच्छिन्न भाव है—उसीकी अभिव्यक्ति है। यदि हम इस समष्टि को प्यार करें, तो इससे सभी को प्यार करना हो जाता है। तब जगत् को प्यार करना और उसकी भलाई करना सहज हो जाता है। पर पहले भगवत्प्रेम के द्वारा हमें यह शक्ति प्राप्त कर लेनी होगी, अन्यथा संसार की भलाई करना कोई हँसी-खेल नहीं है। भक्त कहता है, "सब कुछ उसीका है, वह मेरा प्रियतम है, मैं उससे प्रेम करता हूँ।" इस प्रकार भक्त को सब

कुछ पवित्र प्रतीत होने लगता है, क्योकि वह सब आखिर उसीका तो है। सभी उसकी सन्तान हैं, उसके अगस्वरूप हैं, उसके रूप हैं। तब फिर हम किसीको कैसे चोट पहुँचा सकते हैं? दूसरो को विना प्यार किये हम कैसे रह सकते है? भगवान् के प्रति प्रेम के साथ ही, उसके निश्चित फलस्वरूप, सर्व भूतो के भी प्रति प्रेम अवश्य आयेगा। हम ईश्वर के जितने समीप आते जाते हैं, उतने ही अधिक स्पष्ट रूप से देखते हैं कि सब कुछ उसीमे है। जव जीवात्मा इस परम प्रेमानन्द को आत्मसात करने मे सफल होती है, तब वह ईश्वर को सर्व भूतो मे देखने लगती है। इस प्रकार हमारा हृदय प्रेम का एक अनन्त स्रोत वन जाता है। और जब हम इस प्रेम की और भी उच्चतर अवस्थाओ मे पदार्पण करते हैं, तब ससार की वस्तुओ मे क्षुद्र भेद की भावनाएँ हमारे हृदय से सर्वथा लुप्त हो जाती हैं। तब मनुष्य मनुष्य के रूप मे नही दीखता, वरन् साक्षात् ईश्वर के रूप मे ही दीख पडता है, पशु मे पशु-रूप नही दिखायी पडता, वरन् उसमे स्वय भगवान् ही दीख पडते हैं, यहाँ तक कि ऐसे प्रेमी की आँखो से बाघ का भी बाघ-रूप लुप्त हो जाता है और उसमे स्वय भगवान् प्रकाशमान दीख पडता है। इस प्रकार, भक्ति की इस प्रगाढ अवस्था मे सभी प्राणी हमारे लिए उपास्य हो जाते हैं। 'हरि को सब भूतो मे अवस्थित जानकर ज्ञानी को सब प्राणियो के प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति रखनी चाहिए।'[1]

इस प्रगाढ, सर्वग्राही प्रेम के फलस्वरूप पूर्ण आत्मसमर्पण की अवस्था उपस्थित होती है। तब यह दृढ विश्वास हो जाता है कि ससार मे भला-बुरा जो कुछ होता है, कुछ भी हमारे लिए अनिष्टकर नही। शास्त्रो ने इसीको 'अप्रातिकूल्य' कहा है। ऐसा प्रेमी जीव दुःख उपस्थित होने पर कहता है, "दुःख! स्वागत है तुम्हारा।" यदि कष्ट आये, तो कहेगा, "आओ कष्ट! स्वागत है तुम्हारा। तुम भी तो मेरे प्रियतम के पास से ही आये हो।" यदि सर्प आये, तो कहेगा, "विराजो, सर्प!" यहाँ तक कि यदि मृत्यु भी आये, तो वह अधरो पर मुस्कान लिये उसका स्वागत करेगा। "धन्य हूँ मैं, जो ये सब मेरे पास आते हैं, इन सबका स्वागत है।" भगवान् और जो कुछ भगवान् का है, उस सबके प्रति प्रगाढ प्रेम से उत्पन्न होनेवाली इस पूर्ण निर्भरता की अवस्था मे भक्त अपने को प्रभावित करनेवाले सुख और दुःख का भेद भूल जाता है। दुःख-कष्ट आने पर वह तनिक भी विचलित नही होता। और प्रेमस्वरूप ईश्वर की इच्छा पर यह जो स्थिर, खेदशून्य निर्भरता

---

१ एव सर्वेषु भूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी।
कर्तव्या पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमय हरिम्॥

विश्वप्रेम और उससे आत्मसमर्पण का उदय

समष्टि से प्रेम किये बिना हम व्यष्टि से कैसे प्रेम कर सकते हैं? ईश्वर ही वह समष्टि है सारे विश्व का यदि एक अखण्ड रूप से चिन्तन किया जाय तो वही ईश्वर है, और उसे पृथक् पृथक् रूप से देखने पर वही यह दृश्यमान संसार है—व्यष्टि है। समष्टि वह इकाई है जिसमें लाखों छोटी छोटी इकाइयों का योग है। इस समष्टि के माध्यम से ही सारे विश्व को प्रेम करना सम्भव है। भारतीय दार्शनिक व्यष्टि पर ही नहीं रुक जाते वे तो व्यष्टि पर एक सरसरी दृष्टि डालकर तुरन्त एक ऐसे व्यापक या समष्टि भाव की खोज में लग जाते हैं, जिसमें सब व्यष्टियों या विशेषों का अन्तर्भाव हो। इस समष्टि की खोज ही भारतीय दर्शन और धर्म का लक्ष्य है। ज्ञानी पुरुष ऐसी एक समष्टि की ऐसे एक निरपेक्ष और व्यापक तत्त्व की कामना करता है जिसे जानने से वह सब कुछ जान सके। भक्त उस एक सर्वव्यापी पुरुष की साक्षात् उपलब्धि कर लेना चाहता है, जिससे प्रेम करने से वह सारे विश्व से प्रेम कर सके। योगी उस मूलभूत शक्ति को अपने अधिकार में लाना चाहता है, जिसके नियमन से वह इस सम्पूर्ण विश्व का नियमन कर सके। यदि हम भारतीय विचार-धारा के इतिहास का अध्ययन करें तो देखेंगे कि भारतीय मन सदा से हर विषय में—भौतिक विज्ञान मनोविज्ञान भक्तितत्त्व दर्शन आदि सभी में—एक समष्टि या व्यापक तत्त्व की इस अपूर्व खोज में लगा रहा है। अतएव भक्त इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि यदि तुम केवल एक के बाद दूसरे व्यक्ति से प्रेम करते चले जाओ तो भी अनन्त काल में भी संसार को एक समष्टि के रूप में प्यार करने में समर्थ न हो सकोगे। पर अन्त में जब यह मूल सत्य ज्ञात हो जाता है कि समस्त प्रेम की समष्टि ईश्वर है संसार के मुक्त बद्ध या मुमुक्षु सारे जीवात्माओं की आदर्श-समष्टि ही ईश्वर है, तभी यह विश्वप्रेम सम्भव होता है। ईश्वर ही समष्टि है और यह परिदृश्यमान जगत् उसीका परिच्छिन्न भाव है—उसीकी अभिव्यक्ति है। यदि हम इस समष्टि को प्यार करें, तो इससे सभी को प्यार करना हो जाता है। तब जगत् को प्यार करना और उसकी भलाई करना सहज हो जाता है। पर पहले भगवत्प्रेम के द्वारा हमें यह शक्ति प्राप्त कर लेनी होगी अन्यथा संसार की भलाई करना कोई हँसी-खेल नहीं है। भक्त कहता है, "सब कुछ उसीका है वह मेरा प्रियतम है, मैं उससे प्रेम करता हूँ। इस प्रकार भक्त को सब

कुछ पवित्र प्रतीत होने लगता है, क्योकि वह सब आखिर उसीका तो है। सभी उसकी सन्तान हैं, उसके अगस्वरूप हैं, उसके रूप हैं। तव फिर हम किसीको कैसे चोट पहुँचा सकते हैं? दूसरो को विना प्यार किये हम कैसे रह सकते हैं? भगवान् के प्रति प्रेम के साथ ही, उसके निश्चित फलस्वरूप, सर्व भूतो के भी प्रति प्रेम अवश्य आयेगा। हम ईश्वर के जितने समीप आते जाते हैं, उतने ही अधिक स्पष्ट रूप से देखते हैं कि सव कुछ उसीमे है। जव जीवात्मा इस परम प्रेमानन्द को आत्मसात करने में सफल होती है, तव वह ईश्वर को सर्व भूतो मे देखने लगती है। इस प्रकार हमारा हृदय प्रेम का एक अनन्त स्रोत वन जाता है। और जव हम इस प्रेम की और भी उच्चतर अवस्थाओ मे पदार्पण करते हैं, तव ससार की वस्तुओ मे क्षुद्र भेद की भावनाएँ हमारे हृदय से सर्वथा लुप्त हो जाती हैं। तव मनुष्य मनुष्य के रूप मे नही दीखता, वरन् साक्षात् ईश्वर के रूप मे ही दीख पडता है, पशु मे पशु-रूप नही दिखायी पडता, वरन् उसमे स्वय भगवान् ही दीख पडते हैं, यहाँ तक कि ऐसे प्रेमी की आँखो से वाघ का भी वाघ-रूप लुप्त हो जाता है और उसमे स्वय भगवान् प्रकाशमान दीख पडता है। इस प्रकार, भक्ति की इस प्रगाढ अवस्था मे सभी प्राणी हमारे लिए उपास्य हो जाते हैं। 'हरि को सब भूतो मे अवस्थित जानकर ज्ञानी को सब प्राणियो के प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति रखनी चाहिए।'[1]

इस प्रगाढ, सर्वग्राही प्रेम के फलस्वरूप पूर्ण आत्मसमर्पण की अवस्था उपस्थित होती है। तब यह दृढ विश्वास हो जाता है कि ससार मे भला-बुरा जो कुछ होता है, कुछ भी हमारे लिए अनिष्टकर नही। शास्त्रो ने इसीको 'अप्रातिकूल्य' कहा है। ऐसा प्रेमी जीव दुख उपस्थित होने पर कहता है, "दुख! स्वागत है तुम्हारा।" यदि कष्ट आये, तो कहेगा, "आओ कष्ट! स्वागत है तुम्हारा। तुम भी तो मेरे प्रियतम के पास से ही आये हो।" यदि सर्प आये, तो कहेगा, "विराजो, सर्प!" यहाँ तक कि यदि मृत्यु भी आये, तो वह अधरो पर मुस्कान लिये उसका स्वागत करेगा। "धन्य हूँ मैं, जो ये सब मेरे पास आते हैं, इन सबका स्वागत है।" भगवान् और जो कुछ भगवान् का है, उस सबके प्रति प्रगाढ प्रेम से उत्पन्न होनेवाली इस पूर्ण निर्भरता की अवस्था मे भक्त अपने को प्रभावित करनेवाले सुख और दुख का भेद भूल जाता है। दुख-कष्ट आने पर वह तनिक भी विचलित नही होता। और प्रेमस्वरूप ईश्वर की इच्छा पर यह जो स्थिर, खेदशून्य निर्भरता

---

१ एव सर्वेषु भूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी।
कर्तव्या पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमय हरिम्॥

है वह तो सचमुच महान् वीरतापूर्ण क्रिया-कलापों से मिलनेवाले नाम-यश की अपेक्षा कहीं अधिक वाञ्छनीय है।

अधिकतर मनुष्यों के लिए देह ही सब कुछ है देह ही उनकी सारी दुनिया है दैहिक सुख-भोग ही उनका सर्वस्व है। देह और देह से सम्बन्धित वस्तुओं की उपासना करने का भूत हम सबमें प्रविष्ट हो गया है। भले ही हम लम्बी चौड़ी बातें करें बड़ी ऊँची ऊँची उड़ानें लें पर आखिर हैं हम गिद्धों के ही समान हमारा मन सदा नीचे पड़े हुए सड़े-गले मांस के टुकड़े में ही पड़ा रहता है। हम शेर से अपने शरीर की रक्षा क्यों करें? हम उसे शेर को क्यों न दे दें? कम से कम उससे शेर की तो तृप्ति होगी और यह कार्य आत्मत्याग और उपासना से अधिक भिन्न न होगा। क्या तुम ऐसे एक भाव की उपलब्धि कर सकते हो जिसमें स्वार्थ की तनिक भी गन्ध न हो? क्या तुम अपना यह भाव सम्पूर्ण रूप से नष्ट कर सकते हो? यह प्रेम-धर्म के शिखर की वह सिर चकरा देनेवाली ऊँचाई है और बहुत थोड़े लोग ही उस तक पहुँच सके हैं। पर जब तक मनुष्य इस प्रकार के आत्मत्याग के लिए सारे समय पूरे हृदय के साथ प्रस्तुत नहीं रहता तब तक वह पूर्ण भक्त नहीं हो सकता। हम अपने इस शरीर को अल्प अथवा अधिक समय तक के लिए भले ही बनाये रख लें पर उससे क्या? हमारे शरीर का एक न एक दिन नाश होना तो अवश्यम्भावी है। उसका अस्तित्व चिरस्थायी नहीं है। वे धन्य हैं जिनका शरीर दूसरों की सेवा में अर्पित हो जाता है। 'एक साधु पुरुष केवल अपनी सम्पत्ति ही नहीं वरन् अपने प्राण भी दूसरों की सेवा में उत्सर्ग कर देने के लिए सदैव उद्यत रहता है। इस संसार में जब मृत्यु निश्चित है तो श्रेष्ठ यही है कि यह शरीर किसी नीच कार्य की अपेक्षा किसी उत्तम कार्य में ही अर्पित हो जाय। हम भले ही अपने जीवन को पचास वर्ष या बहुत हुआ तो सौ वर्ष तक खींच ले जायँ पर उसके बाद? उसके बाद क्या होता है? जो वस्तु संघात से उत्पन्न होती है वह विघटित होकर नष्ट भी होती है। ऐसा समय अवश्य आता है, जब उसे विघटित होना पड़ता है। ईसा बुद्ध और मुहम्मद सभी दिवंगत हो गये। संसार के सारे महापुरुष और आचार्यगण आज इस धरती से उठ गये हैं।

भक्त कहता है "इस क्षणभंगुर संसार में जहाँ प्रत्येक वस्तु टुकड़े टुकड़े हो धूल में मिली जा रही है हमें अपने समय का सदुपयोग कर लेना चाहिए। और वास्तव में जीवन का सर्वश्रेष्ठ उपयोग यही है कि उसे सर्वभूतों की सेवा में लगा दिया जाय। हमारा सबसे बड़ा भ्रम यह है कि हमारा यह शरीर ही हम हैं और जिस किसी प्रकार से हो इसकी रक्षा करनी होगी इसे सुखी रखना होगा। और यह भयानक देहात्म बुद्धि ही संसार में सब प्रकार की स्वार्थपरता की जड़ है। यदि तुम यह निश्चित

रूप से जान सको कि तुम शरीर से विल्कुल पृथक् हो, तो फिर इस दुनिया मे ऐसा कुछ भी नही रह जायगा, जिसके साथ तुम्हारा विरोध हो सके। तव तुम सव प्रकार की स्वार्थपरता के अतीत हो जाओगे। इसीलिए भक्त कहता है कि हमे ऐसा रहना चाहिए, मानो हम दुनिया की सारी चीज़ो के लिए मर से गये हो। और वास्तव मे यही यथार्थ आत्मसमर्पण है—यही सच्ची शरणागति है—'जो होने का है, हो।' यही 'तेरी इच्छा पूर्ण हो' का तात्पर्य है। उसका तात्पर्य यह नही कि हम यत्र-तत्र लडाई-झगडा करते फिरें और सारे समय यही सोचते रहे कि हमारी ये सारी कमजोरियाँ और सासारिक आकाक्षाएँ भगवान् की इच्छा से हो रही है। हो सकता है कि हमारे स्वार्थपूर्ण प्रयत्नो से भी कुछ भला हो जाय, पर वह ईश्वर देखेगा, उसमे हमारा-तुम्हारा कोई हाथ नही। यथार्थ भक्त अपने लिए कभी कोई इच्छा या कार्य नही करता। उसके हृदय के अन्तरतम प्रदेश से तो वस यही प्रार्थना निकलती है, "प्रभो, लोग तुम्हारे नाम पर वडे वडे मन्दिर वनवाते हैं, वडे वडे दान देते हैं, पर मैं तो निर्धन हूँ, मेरे पास कुछ भी नही है। अत मैं अपने इस शरीर को ही तुम्हारे चरणो मे अर्पित करता हूँ। मेरा परित्याग न करना, मेरे प्रभो!" जिसने एक वार इस अवस्था का आस्वादन कर लिया है, उसके लिए प्रेमास्पद भगवान् के चरणो मे यह चिर आत्मसमर्पण कुवेर के धन और इन्द्र के ऐश्वर्य से भी श्रेष्ठ है, नाम-यश और सुख-सम्पदा की महान् आकाक्षा से भी महत्तर है। भक्त के शान्त आत्मसमर्पण से हृदय मे जो शान्ति आती है, उसकी तुलना नही हो सकती, वह वुद्धि के लिए अगोचर है। इस अप्रातिकूल्य अवस्था की प्राप्ति होने पर उसका किसी प्रकार का स्वार्थ नही रह जाता, और तव फिर स्वार्थ मे वाधा देनेवाली कोई वस्तु भी ससार मे नही रह जाती। इस परम शरणागति की अवस्था मे सव प्रकार की आसक्ति समूल नष्ट हो जाती है और रह जाती है सर्वभूतो की अन्तरात्मा और आधारस्वरूप उस भगवान् के प्रति सर्वावगाहिनी प्रेमात्मिका भक्ति। भगवान् के प्रति प्रेम की यह आसक्ति ही सचमुच ऐसी है, जो जीवात्मा को नही वाँधती, प्रत्युत उसके समस्त वन्धन सार्थक रूप से छिन्न कर देती है।

सच्चे भक्त के लिए
पराविद्या और पराभक्ति एक हैं

उपनिषदों में परा और अपरा विद्या में भेद बतलाया गया है। भक्त के लिए पराविद्या और पराभक्ति दोनों एक ही हैं। मुण्डक उपनिषद् में कहा है, 'ब्रह्मज्ञानी के मतानुसार परा और अपरा ये दो प्रकार की विद्याएँ जानने योग्य हैं। अपरा विद्या में ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद शिक्षा (उच्चारणादि की विद्या) कल्प (यज्ञपद्धति) व्याकरण निरुक्त (वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति और अर्थ बतानेवाला शास्त्र) छन्द और ज्योतिष आदि हैं तथा पराविद्या द्वारा उस अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है।'[1] इस प्रकार पराविद्या स्पष्टतः ब्रह्मविद्या है।

देवीभागवत में पराभक्ति की निम्नलिखित व्याख्या है—'एक बर्तन से दूसरे बर्तन में तेल डालने पर जिस प्रकार एक अविच्छिन्न धारा में प्रवाहित होता है उसी प्रकार जब मन भगवान् के सतत चिन्तन में लग जाता है, तो पराभक्ति की अवस्था प्राप्त हो जाती है।'[2] भगवान् के प्रति अविच्छिन्न आसक्ति के साथ हृदय और मन का इस प्रकार अविरत और नित्य स्थिर भाव ही मनुष्य के हृदय में भगवत्प्रेम का सर्वोच्च प्रकाश है। अन्य सब प्रकार की भक्ति इस पराभक्ति अर्थात् रागानुगा भक्ति की प्राप्ति के लिए केवल सोपानस्वरूप है। जब इस प्रकार का अपार अनुराग मनुष्य के हृदय में उत्पन्न हो जाता है तो उसका मन निरन्तर भगवान् के स्मरण में ही लगा रहता है उसे और किसीका ध्यान ही नहीं आता। भगवान् के अतिरिक्त वह अपने मन में अन्य विचारों को स्थान तक नहीं देता और फलस्वरूप उसकी आत्मा पवित्रता के अभेद्य कवच से रक्षित हो जाती है तथा मानसिक एवं भौतिक समस्त बन्धनों को तोड़कर शान्त और मुक्त भाव धारण कर लेती है। ऐसा ही व्यक्ति अपने हृदय मे भगवान् की उपासना कर सकता है। उसके

---

१ द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा ह्यया तदक्षरमधिगम्यते॥ मुण्डकोपनिषद् ॥१।१।४–५॥

२ चेतसो वर्तनञ्चैव तैलधारासमं सदा॥ देवीभागवत ॥७।३७।११॥

लिए अनुष्ठान-पद्धति, प्रतिमा, शास्त्र और मत-मतान्तर आदि अनावश्यक हो जाते हैं, उनके द्वारा उसे और कोई लाभ नही होता। भगवान् की इस प्रकार उपासना करना सहज नही है। साधारणतया मानवी प्रेम वही लहलहाते देखा जाता है, जहाँ उसे दूसरी ओर से बदले मे प्रेम मिलता है, और जहाँ ऐसा नही होता, वहाँ उदासीनता आकर अपना अधिकार जमा लेती है। ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं, जहाँ बदले मे प्रेम न मिलते हुए भी प्रेम का प्रकाश होता हो। उदाहरणार्थ, हम दीपक के प्रति पतिंगे के प्रेम को ले सकते हैं। पतिंगा दीपक से प्रेम करता है और उसमे गिरकर अपने प्राण दे देता है। असल मे इस प्रकार प्रेम करना उसका स्वभाव ही है। केवल प्रेम के लिए प्रेम करना ससार मे निस्सन्देह प्रेम की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है और यही पूर्ण नि स्वार्थ प्रेम है। इस प्रकार का प्रेम जब आध्यात्मिकता के क्षेत्र मे कार्य करने लगता है, तो वही हमे पराभक्ति की उपलब्धि कराता है।

प्रेम का त्रिकोण

प्रेम की उपमा एक त्रिकोण से दी जा सकती है जिसका प्रत्येक कोण प्रेम के एक एक अविभाज्य गुण का सूचक है। जिस प्रकार बिना तीनों कोणों के त्रिकोण नहीं बन सकता उसी प्रकार निम्नलिखित तीन गुणों के बिना यथार्थ प्रेम का होना असम्भव है। इस प्रेमरूपी त्रिकोण का पहला कोण तो यह है कि प्रेम में किसी प्रकार का क्रय-विक्रय नहीं होता। जहाँ कहीं किसी बदले की आशा रहती है वहाँ यथार्थ प्रेम कभी नहीं हो सकता यह तो एक प्रकार की दूकानदारी सी हो जाती है। जब तक हमारे हृदय में इस प्रकार की थोड़ी सी भी भावना रहती है कि भगवान् की आराधना के बदले में हमें उससे कुछ मिले तब तक हमारे हृदय में यथार्थ प्रेम का संचार नहीं हो सकता। जो लोग किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए ईश्वर की उपासना करते हैं उन्हें यदि वह चीज न मिले तो निश्चय ही वे उसकी आराधना करना छोड़ देंगे। भक्त भगवान् से इसलिए प्रेम करता है कि वह प्रेमास्पद है सच्चे भक्त के इस दैवी प्रेम का और कोई हेतु नहीं रहता।

एक बार एक राजा किसी वन में गया। वहाँ उसे एक साधु मिले। साधु से थोड़ी देर बातचीत करके राजा उनकी पवित्रता और ज्ञान पर बड़ा मुग्ध हो गया। राजा ने उनसे प्रार्थना की "महाराज यदि आप मुझसे कोई भेंट ग्रहण करने की कृपा करें, तो धन्य हो जाऊँ। पर साधु ने इन्कार कर दिया और कहा "इस वन के फल मेरे लिए पर्याप्त है, पहाड़ों से निकले हुए शुद्ध पानी के झरने पीने को पर्याप्त जल दे देते हैं वृक्षों की छालें मेरे शरीर को ढकने के लिए काफी हैं और पर्वतों की कन्दराएँ सुन्दर घर का काम देती हैं। मैं तुमसे अथवा अन्य किसीस कोई भेंट क्यों लूँ? राजा ने कहा महाराज केवल मुझे कृतार्थ करने के लिए कृपया कुछ अवश्य स्वीकार कर लीजिए, और दया कर मेरे साथ चलकर मेरी राजधानी तथा महल को पवित्र कीजिए। विशेष आग्रह के बाद साधु ने अन्त मे राजा की प्रार्थना स्वीकार कर ली और उसके साथ उसके महल को गये। साधु को भेंट देने के पहले राजा नियमानुसार अपनी दैनिक प्रार्थना करने लगा। उसने कहा हे ईश्वर, मुझ और अधिक सन्तान दो मेरा धन और भी बढ़े मेरा राज्य अधिकाधिक फैल जाय मेरा शरीर स्वस्थ और नीरोग रहे आदि आदि। राजा अपनी प्रार्थना समाप्त भी न कर पाया था कि साधु उठ खड़े हुए

और चुपके से कमरे के वाहर चल दिये। यह देखकर राजा वडे असमजस मे पड गया और चिल्लाता हुआ साधु के पीछे भागा, "महाराज, आप कहाँ जा रहे है, आपने तो मुझसे कोई भी भेंट ग्रहण नही की।" यह सुनकर वे साधु पीछे घूमकर राजा से वोले, "अरे भिखारी, मैं भिखारियो से भिक्षा नही माँगता। तू तो स्वय एक भिखारी है, मुझे किस प्रकार भिक्षा दे सकता है! मैं इतना मूर्ख नही कि तुझ जैसे भिखारी से कुछ लूँ। जा, भाग जा, मेरे पीछे मत आ।"

इस कथा से ईश्वर के सच्चे प्रेमियो और साधारण भिखारियो मे भेद वडे सुन्दर ढग से प्रकट हुआ है। भिखारी की भाँति गिडगिडाना प्रेम की भाषा नही है। यहाँ तक कि, मुक्ति के लिए भगवान् की उपासना करना भी अधम उपासना मे गिना जाता है। प्रेम कोई पुरस्कार नही चाहता। प्रेम सर्वदा प्रेम के लिए ही होता है। भक्त इसलिए प्रेम करता है कि विना प्रेम किये वह रह ही नही सकता। जव तुम किसी मनोहर प्राकृतिक दृश्य को देखकर उस पर मोहित हो जाते हो, तो उस दृश्य से तुम किसी फल की याचना नही करते और न वह दृश्य ही तुमसे कुछ माँगता है। फिर भी उस दृश्य का दर्शन तुम्हारे मन को वडा आनन्द देता है, वह तुम्हारे मन के घर्षणों को हल्का कर तुम्हे शान्त कर देता है और उस समय तक के लिए मानो तुम्हें अपनी नश्वर प्रकृति से ऊपर उठाकर एक स्वर्गीय आनन्द से भर देता है। सच्चे प्रेम का यह भाव उक्त त्रिकोणात्मक प्रेम का पहला कोण है। अपने प्रेम के बदले मे कुछ मत माँगो। सदैव देते ही रहो। भगवान् को अपना प्रेम दो, परन्तु बदले मे उससे कुछ भी माँगो मत।

प्रेम के इस त्रिकोण का दूसरा कोण है प्रेम का भय से नितान्त रहित होना। जो लोग भयवश भगवान् से प्रेम करते हैं, वे अधम मनुष्य हैं, उनमे अभी तक मनुष्यत्व का विकास नही हुआ। वे दण्ड के भय से ईश्वर की उपासना करते हैं। उनकी दृष्टि मे ईश्वर एक महान् पुरुष है, जिसके एक हाथ मे दण्ड है और दूसरे में चाबुक। उन्हे इस बात का डर रहता है कि यदि वे उसकी आज्ञा का पालन नही करेंगे, तो उन्हे कोडे लगाये जायँगे। पर दण्ड के भय से ईश्वर की उपासना करना सबसे निम्न कोटि की उपासना है। एक तो, वह उपासना कहलाने योग्य है ही नही, फिर भी यदि उसे उपासना कहे, तो वह प्रेम की सवसे भद्दी उपासना है। जब तक हृदय मे किसी प्रकार का भय है, तव तक प्रेम कैसे हो सकता है? प्रेम, स्वभावत सव प्रकार के भय पर विजय प्राप्त कर लेता है। उदाहरणार्थ, यदि एक युवती माँ सडक पर जा रही हो और उस पर कुत्ता भौंक पडे, तो वह डरकर समीपस्थ घर मे घुस जायगी। परन्तु मान लो, दूसरे दिन वही स्त्री अपने वच्चे के साथ जा रही है और उसके वच्चे पर शेर झपट पडता है। तो वताओ, वह क्या

करेगी ? बच्चे की रक्षा के लिए वह स्वयं शेर के मुँह में चली जायगी। सचमुच प्रेम समस्त भय पर विजय प्राप्त कर लेता है। भय इस स्वार्थपर भावना से उत्पन्न होता है कि मैं दुनिया से अलग हूँ। और जितना ही मैं अपने को क्षुद्र और स्वार्थपर बनाऊँगा मेरा भय उतना ही बढ़ेगा। यदि कोई मनुष्य अपने को एक छोटा सा तुच्छ जीव समझे तो भय उसे अवश्य घेर लेगा। और तुम अपने को जितना ही कम तुच्छ समझोगे तुम्हारे लिए भय भी उतना ही कम होगा। जब तक तुममें थोड़ा सा भी भय है तब तक तुम्हारे मानस-सरोवर में प्रेम की तरंगें नहीं उठ सकती। प्रेम और भय दोनों एक साथ कभी नहीं रह सकते। जो भगवान् से प्रेम करते हैं, उन्हें उससे डरना नहीं चाहिए। 'ईश्वर का नाम व्यर्थ में न लो' इस आदेश पर ईश्वर का सच्चा प्रेमी हँसता है। प्रेम के धर्म में ईश-निन्दा किस प्रकार सम्भव है ? ईश्वर का नाम तुम जितना ही लोगे फिर वह किसी भी प्रकार से क्यों न हो तुम्हारा उतना ही मंगल है। उससे प्रेम होने के कारण ही तुम उसका नाम लेते हो।

प्रेमरूपी त्रिकोण का तीसरा कोण है प्रेम में किसी प्रतिद्वन्द्वी का न होना क्योंकि इस प्रेम में ही प्रेमी का सर्वोच्च आदर्श मूर्त रहता है। सच्चा प्रेम तब तक नहीं होता जब तक हमारे प्रेम का पात्र हमारा सर्वोच्च आदर्श नहीं बन जाता। हो सकता है कि अनेक स्थलों में मनुष्य का प्रेम अनुचित दिशा में और अपात्र अर्पित जाता हो पर जो प्रेमी है उसके लिए तो उसका प्रेमपात्र ही उच्चतम आदर्श है। हो सकता है, कोई व्यक्ति अपना आदर्श सबसे निकृष्ट मनुष्य में देखे और कोई दूसरा किसी देव-मानव में पर प्रत्येक दशा में वह आदर्श ही है, जिसे सच्चे और प्रगाढ़ रूप से प्रेम किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के उच्चतम आदर्श को ही ईश्वर कहते हैं। ज्ञानी हो या अज्ञानी साधु हो या पापी पुरुष हो अथवा स्त्री शिक्षित हो अथवा अशिक्षित प्रत्येक दशा में मनुष्य मात्र का परमोच्च आदर्श ही ईश्वर है। सौन्दर्य उदात्तता और शक्ति के उच्चतम आदर्शों के योग में ही हमें प्रेममय एवं प्रेमास्पद ईश्वर का पूर्णतम भाव मिलता है।

स्वभावत ही ये आदर्श किसी न किसी रूप में प्रत्येक व्यक्ति के मन में वर्तमान रहते हैं। वे मानो हमारे मन के अंग या अंशविशेष हैं। उन आदर्शों को व्यावहारिक जीवन में परिणत करने के जो सब प्रयत्न हैं, वे ही मानवीय प्रकृति की नाना विध क्रियाओं के रूप में प्रकट होते हैं। विभिन्न जीवात्माओं में जो विविध आदर्श निहित हैं वे बाहर आकर मूर्त रूप धारण करने की सतत चेष्टा कर रहे हैं, और इसके फलस्वरूप हम अपने चारों ओर समाज म नाना प्रकार की गतियाँ और हलचल देखते हैं। जो कुछ भीतर है वही बाहर आने का प्रयत्न करता है।

आदर्श का यह नित्य प्रबल प्रभाव ही एक ऐसी कार्यकरी शक्ति है, जो मानव जीवन मे सतत क्रियाशील है। हो सकता है, सैकडो जन्म के वाद, हजारो वर्ष सघर्ष करने के पश्चात्, मनुष्य समझे कि अपना अभ्यन्तरस्थ आदर्श वाहरी वातावरण और अवस्थाओ के साथ पूरी तरह मेल नही खा सकता। और जब वह यह समझ जाता है, तब वाहरी जगत् को अपने आदर्श के अनुसार गढने की फिर अधिक चेष्टा नही करता। तब वह इस प्रकार के सारे प्रयत्न छोडकर प्रेम की उच्चतम भूमि से, स्वय आदर्श की आदर्श-रूप से उपासना करने लगता है। यह पूर्ण आदर्श अपने मे अन्य सब छोटे छोटे आदर्शों को समा लेता है। सभी लोग इस वात की सत्यता स्वीकार करते हैं कि प्रेमी इथियोपिया की भौंहो मे भी हेलेन का सौन्दर्य देखता है। तटस्थ लोग कह सकते हैं कि यहाँ प्रेम स्थान-भ्रष्ट हो गया है, पर जो प्रेमी है, वह अपनी हेलेन को ही सर्वदा देखता है, इथियोपिया को विल्कुल नही देखता। हेलेन हो या इथियोपिया, वास्तव मे हमारे प्रेम के आधार तो मानो कुछ केन्द्र हैं, जिनके चारो ओर हमारे आदर्श मूर्त होते है। ससार साधारणत किसकी उपासना करता है?—अवश्य उच्चतम भक्त और प्रेमी के सर्वावगाही पूर्ण आदर्श की नही। स्त्री-पुरुष साधारणत उसी आदर्श की उपासना करते हैं, जो उनके अपने हृदय मे है। प्रत्येक व्यक्ति अपना अपना आदर्श वाहर प्रक्षिप्त करके उसके सम्मुख भूमिष्ठ हो प्रणाम करता है। इसीलिए हम देखते हैं कि जो लोग निर्दयी और खूनी होते हैं, वे एक रक्तपिपासु ईश्वर की ही कल्पना करते तथा उसे भजते हैं, क्योकि वे अपने सर्वोच्च आदर्श की ही उपासना कर सकते है। और इसीलिए साधुजनो का ईश्वर सम्वन्धी आदर्श वहुत ऊँचा होता है, और वास्तव मे वह अन्य लोगो के आदर्श से वहुत भिन्न है।

प्रेममय ईश्वर स्वयं ही अपना प्रमाण है

जो प्रेमी स्वार्थपरता और भय के परे हो गया है जो फलाकांक्षाशून्य हो गया है उसका आदर्श क्या है ? वह परमेश्वर से भी यही कहेगा 'मैं तुम्हें अपना सर्वस्व अर्पित करता हूँ मैं तुमसे कोई चीज नहीं चाहता। वास्तव में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे मैं अपना कह सकूँ। जब मनुष्य इस प्रकार की अवस्था प्राप्त कर लेता है तब उसका आदर्श पूर्ण प्रेम के प्रेमजनित पूर्ण निर्भीकता के आदर्श मे परिणत हो जाता है। इस प्रकार के व्यक्ति के सर्वोच्च आदर्श में किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं रह जाती—वह किसी विशेष भाव द्वारा सीमित नहीं रहता। वह आदर्श तो सार्वभौमिक प्रेम अनन्त और असीम प्रेम पूर्ण स्वतन्त्र प्रेम का आदर्श होता है यही क्यों वह साक्षात् प्रेमस्वरूप होता है। तब प्रेम-धर्म के इस महान् आदर्श की उपासना किसी प्रतीक या प्रतिमा के सहारे नहीं करनी पडती वरन् तब तो वह आदर्श के रूप में ही उपासित होता है। इस प्रकार के एक सार्वभौमिक आदर्श की आदर्शरूप से उपासना सबसे उत्कृष्ट प्रकार की पराभक्ति है। भक्ति के अन्य सब प्रकार तो इस पराभक्ति की प्राप्ति में केवल सोपानस्वरूप हैं।

इस प्रेम-धर्म के पथ में चलते चलते हमें जो सफलताएँ और असफलताएँ मिलती हैं वे सबकी सब उस आदर्श की प्राप्ति के मार्ग पर ही घटती हैं—अर्थात् प्रकारान्तर से वे उसमे सहायता ही पहुँचाती हैं। साधक एक के बाद दूसरी वस्तु लेता जाता है और उस पर अपना आभ्यन्तरिक आदर्श प्रक्षिप्त करता जाता है। क्रमश ये सारी बाह्य वस्तुएँ इस सतत विस्तारशील आभ्यन्तरिक आदर्श को प्रकाशित करने के लिए अनुपयुक्त सिद्ध होती हैं और इसलिए स्वभावत एक एक करके उनका परित्याग कर दिया जाता है। अन्त में साधक समझ जाता है कि बाह्य वस्तुओं मे आदर्श की उपलब्धि करने का प्रयत्न व्यर्थ है और ये सब बाह्य वस्तुएँ तो आदर्श की तुलना म बिल्कुल तुच्छ हैं। कालान्तर म वह उस सर्वोच्च और सम्पूर्ण निर्विशेष भावात्मक सूक्ष्म आदर्श को अन्तर मे ही जीवन्त और सत्य रूप मे अनुभव करने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। जब भक्त इस अवस्था में पहुँच जाता है तब उसमें ये सब तर्क-वितर्क नहीं उठते कि भगवान् को सिद्ध किया जा सकता है अथवा नहीं भगवान् सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है या नहीं। उसके लिए तो भगवान् प्रेममय है—प्रेम का सर्वोच्च आदर्श है और बस यह जानना ही उसके लिए यथेष्ट

है। भगवान् प्रेमरूप होने के कारण स्वत सिद्ध है, वह अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नही रखता। प्रेमी के पास प्रेमास्पद का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए किसी बात की आवश्यकता नही। अन्यान्य धर्मों के न्यायकर्ता भगवान् का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए बहुत से प्रमाणो की आवश्यकता हो सकती है, पर भक्त तो ऐसे भगवान् की बात मन मे भी नही ला सकता। उसके लिए तो भगवान् केवल प्रेम-स्वरूप है। 'हे प्रिये, कोई भी स्त्री पति से, पति के लिए प्रेम नही करती, वरन् पति मे स्थित आत्मा के लिए ही वह पति से प्रेम करती है। हे प्रिये, कोई भी पुरुष पत्नी से, पत्नी के लिए प्रेम नही करता, वरन् पत्नी मे स्थित आत्मा के लिए ही प्रेम करता है।'

कोई कोई कहते हैं कि स्वार्थपरता ही समस्त मानवीय कार्यों की एकमात्र प्रेरक शक्ति है। किन्तु वह भी तो प्रेम है, पर हाँ, वह प्रेम विशिष्ट होने के कारण निम्न भावापन्न हो गया है—बस, इतना ही। जब मैं अपने को ससार की सारी वस्तुओ मे अवस्थित सोचता हूँ, तब निश्चय ही मुझमे किसी प्रकार की स्वार्थपरता नही रह सकती। किन्तु जब मैं भ्रम मे पडकर अपने आपको एक छोटा सा प्राणी सोचने लगता हूँ, तब मेरा प्रेम सकीर्ण हो जाता है—एक विशिष्ट भाव से सीमित हो जाता है। प्रेम के क्षेत्र को सकीर्ण और मर्यादित कर लेना ही हमारा भ्रम है। इस विश्व की सारी वस्तुएँ भगवान् से निकली हैं, अतएव वे सभी हमारे प्रेम के योग्य हैं। पर हम यह सर्वदा स्मरण रखे कि समष्टि को प्यार करने से ही अशो को भी प्यार करना हो जाता है। यह समष्टि ही भक्त का भगवान् है। अन्यान्य प्रकार के ईश्वर—जैसे, स्वर्ग मे रहनेवाले पिता, शास्ता, स्रष्टा—तथा नानाविध मतवाद और शास्त्र-ग्रन्थ भक्त के लिए कुछ अर्थ नही रखते—उसके लिए इन सबका कोई प्रयोजन नही, क्योकि वह तो पराभक्ति के प्रभाव से पूर्णतया इन सबके ऊपर उठ गया है। जब हृदय शुद्ध और पवित्र हो जाता है, तथा दैवी प्रेमामृत से आप्लावित हो जाता है, तब ईश्वर सम्बन्धी अन्य सब धारणाएँ बच्चो की बात सी प्रतीत होने लगती हैं और वे अपूर्ण एव अनुपयुक्त समझकर त्याग दी जाती हैं। सचमुच, पराभक्ति का प्रभाव ही ऐसा है! तब वह पूर्णताप्राप्त भक्त अपने भगवान् को मन्दिरो और गिरजो मे खोजने नही जाता, उसके लिए तो ऐसा कोई स्थान ही नही, जहाँ वह न हो। वह उसे मन्दिर के भीतर और बाहर सर्वत्र देखता है। साधु की साधुता मे और दुष्ट की दुष्टता मे भी वह उसके दर्शन करता है, क्योकि उसने तो उस महिमामय प्रभु को पहले से ही अपने हृदय-सिहासन पर बिठा लिया है और वह जानता है कि वह एक सर्वशक्तिमान एव अनिर्वाण प्रेमज्योति के रूप मे उसके हृदय मे नित्य दीप्तिमान है और सदा से वर्तमान है।

प्रेममय ईश्वर स्वयं ही अपना प्रमाण है

जो प्रेमी स्वार्थपरता और भय के परे हो गया है, जो फलाकांक्षाशून्य हो गया है, उसका आदर्श क्या है? वह परमेश्वर से भी यही कहेगा "मैं तुम्हें अपना सर्वस्व अर्पित करता हूँ, मैं तुमसे कोई चीज नहीं चाहता। वास्तव में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे मैं अपना कह सकूँ।" जब मनुष्य इस प्रकार की अवस्था प्राप्त कर लेता है, तब उसका आदर्श पूर्ण प्रेम के, प्रेमजनित पूर्ण निर्भीकता के आदर्श में परिणत हो जाता है। इस प्रकार के व्यक्ति के सर्वोच्च आदर्श में किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं रह जाती—वह किसी विशेष भाव द्वारा सीमित नहीं रहता। वह आदर्श तो सार्वभौमिक प्रेम, अनन्त और असीम प्रेम, पूर्ण स्वतन्त्र प्रेम का आदर्श होता है, यही क्यों, वह साक्षात् प्रेमस्वरूप होता है। तब प्रेम-धर्म के इस महान् आदर्श की उपासना किसी प्रतीक या प्रतिमा के सहारे नहीं करनी पड़ती, वरन् तब तो वह आदर्श के रूप में ही उपासित होता है। इस प्रकार के एक सार्वभौमिक आदर्श की आदर्शरूप से उपासना सबसे उत्कृष्ट प्रकार की पराभक्ति है। भक्ति के अन्य सब प्रकार तो इस पराभक्ति की प्राप्ति में केवल सोपानस्वरूप हैं।

इस प्रेम-धर्म के पथ में चलते चलते हमें जो सफलताएँ और असफलताएँ मिलती हैं, वे सबकी सब उस आदर्श की प्राप्ति के मार्ग पर ही घटती हैं—अर्थात् प्रकारान्तर से वे उसमें सहायता ही पहुँचाती हैं। साधक एक के बाद दूसरी वस्तु लेता जाता है और उस पर अपना आभ्यन्तरिक आदर्श प्रक्षिप्त करता जाता है। क्रमशः ये सारी बाह्य वस्तुएँ इस सतत विस्तारशील आभ्यन्तरिक आदर्श को प्रकाशित करने के लिए अनुपयुक्त सिद्ध होती हैं और इसलिए स्वभावतः एक एक करके उनका परित्याग कर दिया जाता है। अन्त में साधक समझ जाता है कि बाह्य वस्तुओं में आदर्श की उपलब्धि करने का प्रयत्न व्यर्थ है और ये सब बाह्य वस्तुएँ तो आदर्श की तुलना में बिल्कुल तुच्छ हैं। कालान्तर में वह उस सर्वोच्च और सम्पूर्ण निर्विशेष-भावापन्न सूक्ष्म आदर्श को अन्तर में ही जीवन्त और सत्य रूप से अनुभव करने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। जब भक्त इस अवस्था में पहुँच जाता है, तब उसमें ये सब तर्क-वितर्क नहीं उठते कि भगवान् को सिद्ध किया जा सकता है अथवा नहीं, भगवान् सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान हैं या नहीं। उसके लिए तो भगवान् प्रेममय हैं—प्रेम का सर्वोच्च आदर्श हैं, और बस यह जानना ही उसके लिए यथेष्ट

इसके बाद है 'सख्य' प्रेम। इस सख्य प्रेम का साधक भगवान् से कहता है, 'तुम मेरे प्रिय सखा हो।"[1] जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने मित्र के सम्मुख अपना हृदय खोल देता है और यह जानता है कि उसका मित्र उसके अवगुणो पर कभी ध्यान न देगा, वरन् उसकी सदा सहायता ही करेगा—उन दोनो मे जिस प्रकार समानता का एक भाव रहता है, उसी प्रकार सख्य प्रेम के साधक और उसके सखा भगवान् के बीच भी मानो एक प्रकार की समानता का भाव रहता है। इस तरह भगवान् हमारा अन्तरग मित्र हो जाता है, जिसको हम अपने जीवन की सारी बाते दिल खोलकर बता सकते हैं, जिसके समक्ष हम अपने हृदय के गुप्त से गुप्त भावो को भी विना किसी हिचकिचाहट के प्रकट कर सकते हैं। उस पर हम पूरा भरोसा —पूरा विश्वास रख सकते हैं कि वह वही करेगा, जिससे हमारा मगल होगा, और ऐसा सोचकर हम पूर्ण रूप से निश्चिन्त रह सकते हैं। इस अवस्था मे भक्त भगवान् को अपनी बराबरी का समझता है—भगवान् मानो हमारा सगी हो, सखा हो। हम सभी इस ससार मे मानो खेल रहे है। जिस प्रकार बच्चे अपना खेल खेलते हैं, जिस प्रकार बडे बडे राजा-महाराजा और सम्राट् अपना अपना खेल खेलते हैं, उसी प्रकार वह प्रेमस्वरूप भगवान् भी इस दुनिया के साथ खेल खेल रहा है। वह पूर्ण है—उसे किसी चीज़ का अभाव नही। उसे सृष्टि करने की क्या आवश्यकता है? जब हमे किसी चीज़ की आवश्यकता होती है, तभी हम उसकी पूर्ति के लिए क्रियाशील होते है, और अभाव का तात्पर्य ही है अपूर्णता। भगवान् पूर्ण है—उसे किसी बात का अभाव नही। तो फिर वह इस नित्य कर्ममय सृष्टि मे क्यो लगा है? उसका उद्देश्य क्या है? भगवान् के सृष्टि-निर्माण के सम्बन्ध मे जो सब भिन्न भिन्न कल्पनाएँ हैं, वे किंवदन्तियो के रूप मे ही भली हो सकती हैं, अन्य किसी प्रकार नही। सचमुच, यह समस्त उसकी लीला है। यह सारा विश्व उसका ही खेल है—वह तो उसके लिए एक तमाशा है। यदि तुम निर्धन हो, तो उस निर्धनता को ही एक वडा तमाशा समझो, यदि धनी हो, तो उस धनीपन को ही एक तमाशे के रूप मे देखो। यदि दु ख आये, तो वही एक सुन्दर तमाशा है, और यदि सुख प्राप्त हो, तो सोचो, यह भी एक सुन्दर तमाशा है। यह दुनिया वस, एक खेल का मैदान है, और हम सव यहाँ पर नाना प्रकार के खेल-खिलवाड कर रहे हैं—मौज कर रहे हैं। भगवान् सारे समय हमारे साथ खेल रहा है और हम भी उसके साथ खेलते रहते हैं। भगवान् तो हमारा चिरकाल का सगी है—हमारे खेल का साथी है। कैसा सुन्दर खेल रहा है वह! खेल खत्म हुआ कि कल्प का अन्त हो गया!

---

१ त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव॥ पाण्डव गीता॥

फिर अल्प या अधिक समय तक विश्राम—उसके बाद फिर से खेल का आरम्भ—पुनः जगत् की सृष्टि! जब तुम भूल जाते हो कि यह सब एक खेल है और तुम इस खेल में सहायता कर रहे हो, तभी दुःख और कष्ट तुम्हारे पास आते हैं। तब हृदय भारी हो जाता है और संसार अपने प्रचण्ड बोझ से तुम्हें दबा देता है। पर ज्यों ही तुम दो पल के जीवन की परिवर्तनशील घटनाओं को सत्य समझना छोड़ देते हो और इस संसार को एक क्रीड़ाभूमि तथा अपने आपको भगवान् की क्रीड़ा में एक सखा-धर्मी सोचने लगते हो, त्यों ही दुःख-कष्ट चला जाता है। वह तो प्रत्येक अणु-परमाणु में खेल रहा है। वह तो खेलते खेलते ही पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि का निर्माण कर रहा है। वह तो मानव-हृदय, प्राणियों और पेड़-पौधों के साथ क्रीड़ा कर रहा है। हम मानो उसके शतरंज के मोहरे हैं। वह मोहरों को शतरंज के खानों में बिठाकर इधर-उधर चला रहा है। वह हमें कभी एक प्रकार से सजाता है और कभी दूसरे प्रकार से—हम भी जाने या अनजाने उसके खेल में सहायता कर रहे हैं। अहा, कैसा परमानन्द है! हम सब उसके खेल के साथी जो हैं!

इसके बाद है 'वात्सल्य' प्रेम। उसमें भगवान् का चिन्तन पिता-रूप से न करके सन्तान-रूप से करना पड़ता है। हो सकता है, यह कुछ अजीब सा मालूम हो, पर उसका उद्देश्य है—अपनी भगवान् सम्बन्धी धारणा से ऐश्वर्य के समस्त भाव दूर कर देना। ऐश्वर्य की भावना के साथ ही भय आता है। पर प्रेम में भय का कोई स्थान नहीं। यह सत्य है कि चरित्र-गठन के लिए भक्ति और आज्ञा-पालन आवश्यक है, पर जब एक बार चरित्र गठित हो जाता है—जब प्रेमी शान्त प्रेम का आस्वादन कर लेता है और जब प्रेम की प्रबल उन्मत्तता का भी उसे थोड़ा सा अनुभव हो जाता है, तब उसके लिए नीतिशास्त्र और साधन-नियम आदि की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रेमी कहता है कि भगवान् को महामहिम ऐश्वर्यशाली जगन्नाथ या देवदेव के रूप में सोचने की मेरी इच्छा ही नहीं होती। भगवान् के साथ सम्बन्धित यह जो भयोत्पादक ऐश्वर्य की भावना है, उसीको दूर करने के लिए वह भगवान् को अपनी सन्तान के रूप में प्यार करता है। माता पिता अपने बच्चे से भयभीत नहीं होते, उसके प्रति उनकी श्रद्धा नहीं होती। वे उस बच्चे से कुछ याचना नहीं करते। बच्चा तो सदा पानेवाला ही होता है और उसके लिए वे लोग सौ बार भी मरने को तैयार रहते हैं। अपने एक बच्चे के लिए वे लोग हजार जीवन भी न्योछावर करने को प्रस्तुत रहते हैं। बस, इसी प्रकार भगवान् से वात्सल्य-भाव से प्रेम किया जाता है। जो सम्प्रदाय भगवान् के अवतार में विश्वास करते हैं, उन्हींमें यह वात्सल्य भाव की उपासना स्वाभाविक

रूप से आती और पनपती है। मुसलमानो के लिए भगवान् को एक सन्तान के रूप मे मानना असम्भव है, वे तो डरकर इस भाव से दूर ही रहेगे। पर ईसाई और हिन्दू इसे सहज ही समझ सकते हैं, क्योकि उनके तो बाल ईसा और बाल कृष्ण है। भारतीय रमणियाँ बहुधा अपने आपको श्री कृष्ण की माता के रूप मे सोचती है। ईसाई माताएँ भी अपने आपको ईसा की माता के रूप मे सोच सकती हैं। इससे पाश्चात्य देशो मे ईश्वर के मातृभाव का प्रचार होगा, और इसीकी आज उन्हे विशेष आवश्यकता है। भगवान् के प्रति भय और भक्ति के कुसस्कार हमारे हृदय मे बहुत गहरे जमे हुए हैं और भगवत्सम्वन्धी इन भय और भक्ति तथा महिमा-ऐश्वर्य के भावो को प्रेम मे विल्कुल निमग्न कर देने मे बहुत समय लगता है।

प्रेम का यह दिव्य रूप एक और मानवीय भाव मे प्रकाशित होता है। उसे 'मधुर' कहते हैं और वही सव प्रकार के प्रेमो मे श्रेष्ठ है। इस ससार मे प्रेम की जो उच्चतम अभिव्यक्ति है, वही उसकी नीव है और मानवीय प्रेमो मे वही सबसे प्रवल है। पुरुष और स्त्री के बीच जो प्रेम रहता है, उसके समान और कौन सा प्रेम है, जो मनुष्य की सारी प्रकृति को बिल्कुल उलट-पलट दे, जो उसके प्रत्येक परमाणु मे सचरित होकर उसको पागल बना दे, उसकी अपनी प्रकृति को ही भुला दे, और उसे चाहे तो देवता वना दे, चाहे दैत्य ? दैवी प्रेम के इस मधुर भाव मे भगवान् का चिन्तन पतिरूप मे किया जाता है—ऐसा विचार कि हम सभी स्त्रियाँ हैं, इस ससार मे और कोई पुरुष नही, एक ही पुरुष है और वह है हमारा प्रेमास्पद भगवान्। जो प्रेम पुरुष स्त्री के प्रति और स्त्री पुरुष के प्रति प्रदर्शित करती है, वही प्रेम भगवान् को देना होगा।

हम इस ससार मे जितने प्रकार के प्रेम देखते हैं, जिनके साथ हम अल्प या अधिक परिमाण मे क्रीडा मात्र कर रहे हैं, उन सवका एक ही लक्ष्य है और वह है भगवान्। पर दुख की वात है कि मनुष्य उस अनन्त समुद्र को नही जानता, जिसकी ओर प्रेम की यह महान् सरिता सतत प्रवाहित हो रही है, और इसलिए अज्ञानवश वह इस प्रेम-सरिता को वहुधा छोटे छोटे मानवी पुतलो की ओर वहाने का प्रयत्न करता रहता है। मानवी प्रकृति मे सन्तान के प्रति जो प्रवल स्नेह देखा जाता है, वह सन्तान-रूपी एक छोटे से पुतले के लिए ही नही है। यदि तुम आँखे वन्द कर उसे केवल सन्तान पर ही न्योछावर कर दो, तो तुम्हे उसके फलस्वरूप दुख अवश्य भोगना पडेगा। पर इस प्रकार के दुख से ही तुममे यह चेतना जाग्रत होगी कि यदि तुम अपना प्रेम किसी मनुष्य को अर्पित करो, तो उसके फलस्वरूप कभी न कभी दुख-

फिर अल्प या अधिक समय तक विश्राम—उसके बाद फिर से खेल का आरम्भ—पुनः जगत् की सृष्टि! जब तुम भूल जाते हो कि यह सब एक खेल है और तुम इस खेल में सहायता कर रहे हो तभी दुःख और कष्ट तुम्हारे पास आते हैं तब हृदय भारी हो जाता है और संसार अपने प्रचण्ड बोझ से तुम्हें दबा देता है। पर ज्यों ही तुम इस दो पल के जीवन की परिवर्तनशील घटनाओं को सत्य समझना छोड़ देते हो और इस संसार को एक क्रीड़ाभूमि तथा अपने आपको भगवान् की क्रीड़ा में एक सखा-संगी सोचने लगते हो त्यों ही दुःख-कष्ट चला जाता है। वह तो प्रत्येक अणु-परमाणु में खेल रहा है। वह तो खेलते खेलते ही पृथ्वी सूर्य चन्द्र आदि का निर्माण कर रहा है। वह तो मानव-हृदय प्राणियों और पेड़-पौधों के साथ क्रीड़ा कर रहा है। हम मानो उसके शतरंज के मोहरे हैं। वह मोहरों को शतरंज के खानों में बिठाकर इधर-उधर चला रहा है। वह हमें कभी एक प्रकार से सजाता है और कभी दूसरे प्रकार से—हम भी जाने या अनजाने उसके खेल में सहायता कर रहे हैं। अहा कैसा परमानन्द है! हम सब उसके खेल के साथी जो हैं!

इसके बाद है 'वात्सल्य' प्रेम। उसमें भगवान् का चिन्तन पिता-रूप से न करके सन्तान-रूप से करना पड़ता है। हो सकता है यह कुछ अजीब सा मालूम हो पर उसका उद्देश्य है—अपनी भगवान् सम्बन्धी धारणा से ऐश्वर्य के समस्त भाव दूर कर देना। ऐश्वर्य की भावना के साथ ही भय आता है। पर प्रेम में भय का कोई स्थान नहीं। यह सत्य है कि चरित्र-गठन के लिए भक्ति और आज्ञा पालन आवश्यक है पर जब एक बार चरित्र गठित हो जाता है—जब प्रेमी शान्त प्रेम का आस्वादन कर लेता है और जब प्रेम की प्रबल उन्मत्तता का भी उसे थोड़ा सा अनुभव हो जाता है, तब उसके लिए नीतिशास्त्र और साधन-नियम आदि की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रेमी कहता है कि भगवान् का महामहिम ऐश्वर्यशाली जगन्नाथ या देवदेव के रूप में सोचने की मेरी इच्छा ही नहीं होती। भगवान् के साथ सम्बन्धित यह जो भयोत्पादक ऐश्वर्य की भावना है, उसीको दूर करने के लिए वह भगवान् को अपनी सन्तान के रूप में प्यार करता है। माता पिता अपने बच्चे से भयभीत नहीं होते उसके प्रति उनकी श्रद्धा नहीं होती। वे उस बच्चे से कुछ याचना नहीं करते। बच्चा तो सदा पानेवाला ही होता है और उसके लिए वे लोग सौ बार भी मरने को तैयार रहते हैं। अपने एक बच्चे के लिए वे लोग हजार जीवन भी न्योछावर करने को प्रस्तुत रहते हैं। बस इसी प्रकार भगवान् से वात्सल्य भाव से प्रेम किया जाता है। जो सम्प्रदाय भगवान् के अवतार में विश्वास करते हैं, उन्हींमें यह वात्सल्य-भाव की उपासना स्वाभाविक

उपयोगी मानकर ग्रहण करते हैं। पर मूर्ख लोग इसे नही समझते—और वे कभी समझेंगे भी नही। वे उसे केवल भौतिक दृष्टि से देखते हैं। वे इस आध्यात्मिक प्रेमोन्मत्तता को नही समझ पाते। और वे समझ भी कैसे सके? 'हे प्रियतम, तुम्हारे अधरो के केवल एक चुम्बन के लिए! जिसका तुमने एक बार चुम्बन किया है, तुम्हारे लिए उसकी पिपासा बढती ही जाती है। उसके समस्त दुःख चले जाते है। वह तुम्हे छोड और सब कुछ भूल जाता है।"[1] प्रियतम के उस चुम्बन के लिए—उनके अधरो के उस स्पर्श के लिए व्याकुल होओ, जो भक्त को पागल कर देता है, जो मनुष्य को देवता बना देता है। भगवान् जिसको एक बार अपना अधरामृत देकर कृतार्थ कर देते हैं, उसकी सारी प्रकृति बिल्कुल बदल जाती है। उसके लिए यह जगत् उड जाता है, सूर्य और चन्द्र का कोई अस्तित्व नही रह जाता और यह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड एक बिन्दु के समान प्रेम के उस अनन्त सिन्धु मे न जाने कहाँ विलीन हो जाता है। प्रेमोन्माद की यही चरम अवस्था है।

पर सच्चा भगवत्प्रेमी यहाँ पर भी नही रुकता, उसके लिए तो पति और पत्नी की प्रेमोन्मत्तता भी यथेष्ट नही। अतएव ऐसे भक्त अवध (परकीय) प्रेम का भाव ग्रहण करते है, क्योकि वह अत्यन्त प्रबल होता है। पर देखो, उसकी अवैधता उनका लक्ष्य नही है। इस प्रेम का स्वभाव ही ऐसा है कि उसे जितनी बाधा मिलती है, वह उतना ही उग्र रूप धारण करता है। पति-पत्नी का प्रेम अबाध रहता है—उसमे किसी प्रकार की विघ्न-बाधा नही आती। इसीलिए भक्त कल्पना करता है, मानो कोई स्त्री परपुरुष मे आसक्त है और उसके माता, पिता या स्वामी उसके इस प्रेम का विरोध करते हैं। इस प्रेम के मार्ग मे जितनी ही बाधाएँ आती है, वह उतना ही प्रबल रूप धारण करता जाता है। श्री कृष्ण वृन्दावन के कुजो मे किस प्रकार लीला करते थे, किस प्रकार सब लोग उन्मत्त होकर उनसे प्रेम करते थे, किस प्रकार उनकी बाँसुरी की मधुर तान सुनते ही चिरधन्य गोपियाँ सब कुछ भूलकर, इस ससार और इसके समस्त बन्धनो को भूलकर, यहाँ के सारे कर्तव्य तथा सुख-दुःख को बिसराकर, उन्मत्त सी उनसे मिलने के लिए छूट पडती थी—यह सब मानवी भाषा द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। मानव, हे मानव, तुम दैवी प्रेम की बातें तो करते हो, पर

---

१ सुरतवर्धन शोकनाशन स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारण नृणा वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥
—श्रीमद्भागवत ॥१०।३१॥

कष्ट अवश्य प्राप्त होगा। अतएव हमें अपना प्रेम उसी पुरुषोत्तम को देना होगा जिसका विनाश नहीं, जिसमें कभी परिवर्तन नहीं और जिसके प्रेम-समुद्र में कभी ज्वार-भाटा नहीं। प्रेम को अपने प्रकृत लक्ष्य पर पहुँचना चाहिए—उसे तो उसके निकट जाना चाहिए, जो वास्तव में प्रेम का अनन्त सागर है। सभी नदियाँ समुद्र में ही जाकर गिरती हैं। यहाँ तक कि पर्वत से गिरनेवाली पानी की एक बूँद भी, वह फिर कितनी भी बड़ी क्यों न हो, किसी झरने या नदी में पहुँचकर बस वहीं नहीं रुक जाती, वरन् वह भी अन्त में किसी न किसी प्रकार समुद्र में ही पहुँच जाती है। भगवान् हमारे सब प्रकार के भावों का एकमात्र लक्ष्य हैं। यदि तुम्हें क्रोध करना है, तो भगवान् पर क्रोध करो। उलाहना देना है, तो अपने प्रेमास्पद को उलाहना दो—अपने सखा को उलाहना दो। भला अन्य किसे तुम बिना डर के उलाहना दे सकते हो? मर्त्य जीव तुम्हारे क्रोध को न सह सकेगा। वहाँ तो प्रतिक्रिया होगी। यदि तुम मुझ पर क्रोध करो, तो निश्चित है, मैं तुरन्त प्रतिक्रिया करूँगा, क्योंकि मैं तुम्हारे क्रोध को सह नहीं सकता। अपने प्रेमास्पद से कहो, 'प्रियतम, तुम मेरे पास क्यों नहीं आते? तुमने क्यों मुझे इस प्रकार अकेला छोड़ रखा है?' उसको छोड़ भला और किसमें आनन्द है? मिट्टी के छोटे छोटे लोंदों में भला कौन सा आनन्द हो सकता है? हमें तो अनन्त आनन्द के घनीभूत सार को ही खोजना है—और भगवान् ही आनन्द का वह घनीभूत सार हैं। आओ, हम अपने समस्त भावों और समस्त प्रवृत्तियों को उसकी ओर मोड़ दें। वे सब उसीके लिए हैं। वे यदि अपना लक्ष्य चूक जायँ, तो वे फिर कुत्सित रूप धारण कर लेंगे। पर यदि वे अपने ठीक लक्ष्य-स्वरूप ईश्वर में जाकर पहुँचें, तो उनमें से अत्यन्त नीच वृत्ति भी पूर्णरूपेण परिवर्तित हो जायगी। भगवान् ही मनुष्य के मन और शरीर की समस्त शक्तियों का एकमात्र लक्ष्य हैं—एकायन हैं,—फिर वे शक्तियाँ किसी भी रूप से क्यों न प्रकट हों। मानव-हृदय का समस्त प्रेम—सारे भाव भगवान् की ही ओर जायँ। वही हमारा एकमात्र प्रेमास्पद है। यह मानव-हृदय भला और किसे प्यार करेगा? वह परम सुन्दर है, परम महान् है—अहा! वह साक्षात् सौन्दर्यस्वरूप है, दिव्यता स्वरूप है। इस संसार में भला और कौन है, जो उससे अधिक सुन्दर हो? उसे छोड़ इस दुनिया में भला और कौन पति होने के उपयुक्त है? उसके सिवा इस जगत् में भला और कौन हमारा प्रेम-पात्र हो सकता है? अतः वही हमारा पति हो, वही हमारा प्रेमास्पद हो।

बहुधा ऐसा होता है कि भगवत्प्रेम में छके भक्तगण जब इस भगवत्प्रेम का वर्णन करने जाते हैं, तो इसके लिए वे सब प्रकार के मानवी प्रेम की भाषा को

उपसंहार

जब प्रेम का यह उच्चतम आदर्श प्राप्त हो जाता है, तो ज्ञान फिर न जाने कहाँ चला जाता है। तब भला ज्ञान की इच्छा भी कौन करे? तब तो मुक्ति, उद्धार, निर्वाण की बातें न जाने कहाँ गायब हो जाती हैं। इस दैवी प्रेम मे छके रहने से फिर भला कौन मुक्त होना चाहेगा? 'प्रभो! मुझे धन, जन, सौन्दर्य, विद्या, यहाँ तक कि, मुक्ति भी नही चाहिए। बस, इतनी ही साध है कि जन्म जन्म मे तुम्हारे प्रति मेरी अहैतुकी भक्ति बनी रहे।"[1] भक्त कहता है, "मैं शक्कर हो जाना नही चाहता, मुझे तो शक्कर खाना अच्छा लगता है।" तब भला कौन मुक्त हो जाने की इच्छा करेगा? कौन भगवान् के साथ एक हो जाने की कामना करेगा? भक्त कहता है, "मैं जानता हूँ कि मैं ही वह हूँ, तो भी मैं उससे अपने को अलग रखूँगा और उससे पृथक् रहूँगा, ताकि मैं उस प्रियतम मे आनन्द ले सकूँ।" प्रेम के लिए प्रेम—यही भक्त का सर्वोच्च सुख है। प्रियतम मे आनन्द लेने के लिए कौन हजार बार भी बद्ध होने को तैयार न होगा? एक सच्चा भक्त प्रेम को छोड और किसी वस्तु की कामना नही करता। वह स्वय प्रेम करना चाहता है, और चाहता है कि भगवान् भी उससे प्रेम करे। उसका निष्काम प्रेम नदी के प्रवाह की विरुद्ध दिशा मे जानेवाले ज्वार के समान है। वह मानो नदी के उद्गम-स्थान की ओर, स्रोत की विपरीत दिशा मे जाता है। ससार उसको पागल कहता है। मैं एक ऐसे महापुरुष[2] को जानता हूँ, जिन्हे लोग पागल कहते थे। इस पर उसका उत्तर था, "भाइयो, सारा ससार ही तो एक पागलखाना है। कोई सासारिक प्रेम के पीछे पागल है, कोई नाम के पीछे, कोई यश के लिए, तो कोई पैसे के लिए। फिर कोई ऐसे भी हैं, जो उद्धार पाने या स्वर्ग जाने के लिए पागल हैं। इस विराट् पागलखाने मे मैं भी एक पागल हूँ—मैं भगवान् के लिए पागल हूँ। तुम पैसे के लिए पागल हो, और मैं भगवान् के लिए। जैसे तुम पागल हो, वैसा ही मैं भी। फिर भी मैं सोचता हूँ कि मेरा ही पागलपन सबसे उत्तम है।" यथार्थ भक्त के प्रेम मे इसी प्रकार की तीव्र उन्मत्तता रहती है और

---

१ शिक्षाष्टक ।।४।।

२ श्री रामकृष्ण परमहस।

साथ ही इस संसार की असार वस्तुओं में भी मन दिये रहते हो—क्या तुम सच्चे हो? 'जहाँ राम हैं वहाँ काम नहीं और जहाँ काम है वहाँ राम नहीं। ये दोनों कभी एक साथ नहीं रह सकते—प्रकाश और अन्धकार क्या कभी एक साथ रहे हैं?'[1]

---

१ जहाँ राम तहँ काम नहिं जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहूँ होत नहिं, रवि रजनी इक ठाम॥ तुलसीदास॥

उपसंहार

जव प्रेम का यह उच्चतम आदर्श प्राप्त हो जाता है, तो ज्ञान फिर न जाने कहाँ चला जाता है। तव भला ज्ञान की इच्छा भी कौन करे? तव तो मुक्ति, उद्धार, निर्वाण की वातें न जाने कहाँ गायव हो जाती हैं। इस दैवी प्रेम मे छके रहने से फिर भला कौन मुक्त होना चाहेगा? 'प्रभो! मुझे धन, जन, सौन्दर्य, विद्या, यहाँ तक कि, मुक्ति भी नही चाहिए। वस, इतनी ही साध है कि जन्म जन्म मे तुम्हारे प्रति मेरी अहैतुकी भक्ति वनी रहे।'[1] भक्त कहता है, "मैं शक्कर हो जाना नही चाहता, मुझे तो शक्कर खाना अच्छा लगता है।" तव भला कौन मुक्त हो जाने की इच्छा करेगा? कौन भगवान् के साथ एक हो जाने की कामना करेगा? भक्त कहता है, "मैं जानता हूँ कि मैं ही वह हूँ, तो भी मैं उससे अपने को अलग रखूंगा और उससे पृथक् रहूँगा, ताकि मैं उस प्रियतम मे आनन्द ले सकूँ।" प्रेम के लिए प्रेम—यही भक्त का सर्वोच्च सुख है। प्रियतम मे आनन्द लेने के लिए कौन हजार वार भी वद्ध होने को तैयार न होगा? एक सच्चा भक्त प्रेम को छोड और किसी वस्तु की कामना नही करता। वह स्वय प्रेम करना चाहता है, और चाहता है कि भगवान् भी उससे प्रेम करे। उसका निष्काम प्रेम नदी के प्रवाह की विरुद्ध दिशा मे जानेवाले ज्वार के समान है। वह मानो नदी के उद्गम-स्थान की ओर, स्रोत की विपरीत दिशा मे जाता है। ससार उसको पागल कहता है। मैं एक ऐसे महापुरुष[2] को जानता हूँ, जिन्हे लोग पागल कहते थे। इस पर उसका उत्तर था, "भाइयो, सारा ससार ही तो एक पागलखाना है। कोई सासारिक प्रेम के पीछे पागल है, कोई नाम के पीछे, कोई यश के लिए, तो कोई पैसे के लिए। फिर कोई ऐसे भी हैं, जो उद्धार पाने या स्वर्ग जाने के लिए पागल हैं। इस विराट् पागलखाने मे मैं भी एक पागल हूँ—मैं भगवान् के लिए पागल हूँ। तुम पैसे के लिए पागल हो, और मैं भगवान् के लिए। जैसे तुम पागल हो, वैसा ही मैं भी। फिर भी मैं सोचता हूँ कि मेरा ही पागलपन सवसे उत्तम है।" यथार्थ भक्त के प्रेम मे इसी प्रकार की तीव्र उन्मत्तता रहती है और

---

१ शिक्षाष्टक ॥४॥

२ श्री रामकृष्ण परमहस।

इसके सामने अन्य सब कुछ उड़ जाता है। उसके लिए तो यह सारा जगत् केवल प्रेम से भरा है—प्रेमी को बस ऐसा ही दीखता है। जब मनुष्य में यह प्रेम प्रवेश करता है तो वह चिरकाल के लिए सुखी चिरकाल के लिए मुक्त हो जाता है। और दैवी प्रेम की यह पवित्र उन्मत्तता ही हममें समायी हुई संसार-व्याधि को सदा के लिए दूर कर दे सकती है। उससे वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं और वासनाओं के साथ ही स्वार्थपरता का भी नाश हो जाता है। तब भक्त भगवान् के समीप चला जाता है क्योंकि उसने उन सब असार वासनाओं को फेंक दिया है, जिनसे वह पहले भरा हुआ था।

प्रेम के धर्म में हमें द्वैत भाव से आरम्भ करना पड़ता है। उस समय हमारे लिए भगवान् हमसे भिन्न रहता है और हम भी अपने को उससे भिन्न समझते हैं। फिर प्रेम बीच में आ जाता है। तब मनुष्य भगवान् की ओर अग्रसर होने लगता है और भगवान् भी क्रमशः मनुष्य के अधिकाधिक निकट आने लगता है। मनुष्य संसार के सारे सम्बन्ध—जैसे माता पिता पुत्र सखा स्वामी प्रेमी आदि भाव—लेता है और अपने प्रेम के आदर्श भगवान् के प्रति उन सबको आरोपित करता जाता है। उसके लिए भगवान् इन सभी रूपों में विराजमान है और उसकी उन्नति की चरम अवस्था तो वह है, जिसमें वह अपने उपास्य देवता में सम्पूर्ण रूप से निमग्न हो जाता है। हम सबका पहले अपने प्रति प्रेम रहता है, और इस क्षुद्र अहं-भाव का असंगत दावा प्रेम को भी स्वार्थपर बना देता है। परन्तु अन्त में ज्ञान-ज्योति का भरपूर प्रकाश आता है, जिसमें यह क्षुद्र अहं उस अनन्त के साथ एक हो जाता है। इस प्रेम के प्रकाश में मनुष्य स्वयं सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित हो जाता है और अन्त में इस सुन्दर और प्राणों को उन्मत्त बना देने वाले सत्य का अनुभव करता है कि प्रेम प्रेमी और प्रेमास्पद तीनों एक ही हैं।

व्याख्यान, प्रवचन एवं कक्षालाप-४

(राजयोग)

राजयोग पर छः पाठ[1]

ससार के अन्य विज्ञानो की भाँति राजयोग भी एक विज्ञान है। यह विज्ञान मन का विश्लेपण तथा अतीन्द्रिय जगत् के तथ्यो का सकलन करता है और इस प्रकार आध्यात्मिक जगत् का निर्माता है। ससार के सभी महान् उपदेष्टाओ ने कहा है, "हमने देखा और जाना है।" ईसा, पॉल और पीटर सभी ने जिन सत्यो की शिक्षा दी, उनका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने का दावा किया है।

यह प्रत्यक्ष अनुभव योग द्वारा प्राप्त होता है।

हमारे अस्तित्व की सीमा चेतना अथवा स्मृति नही हो सकती। एक अति-चेतन भूमिका भी है। इसमे और सुषुप्ति मे सवेदनाएँ नही प्राप्त होती। किन्तु इन दोनो के बीच ज्ञान और अज्ञान जैसा आकाश-पाताल का भेद है। यह आलोच्य योगशास्त्र ठीक विज्ञान के ही समान तर्कसगत है।

मन की एकाग्रता ही समस्त ज्ञान का उत्स है।

योग हमे जड-तत्त्व को अपना दास बनाने की शिक्षा देता है, और उसको हमारा दास होना ही चाहिए। योग का अर्थ जोडना है अर्थात् जीवात्मा को परमात्मा के साथ जोडना, मिलाना।

मन चेतना मे और उसके अधीन कार्य करता है। हम लोग जिसे चेतना कहते हैं, वह हमारे स्वरूप की अनन्त शृखला की एक कडी मात्र है।

हमारा यह 'अहम्' किंचित् मात्र चेतना और अचेतनता के विपुल परिणाम को आच्छादित करता है, जव कि उसके परे, और उसकी प्राय अज्ञात, अतिचेतन की भूमिका है।

श्रद्धाभाव से योगाभ्यास करने पर मन का एक के वाद एक स्तर खुलता जाता है और प्रत्येक, नये तथ्यो को प्रकाशित करता है। हम अपने सम्मुख नये जगतो

---

१ इन पाठो की रचना स्वामी विवेकानन्द द्वारा अमेरिकन भक्त शिष्या श्रीमती सारा सी० वुल के निवास-स्थान पर कुछ घनिष्ठ श्रोताओ के सम्मुख दिये गये कक्षालापो के आधार पर हुई है, जो उनके द्वारा सुरक्षित रखे गये थे और जो अन्त मे सन् १९१३ मे निजी मडली मे वितरित करने के लिए मुद्रित किये गये थे। स०

की सृष्टि होती सी बेपाल है नयी शक्तियाँ हमारे हाथों में आ जाती हैं किन्तु हमें मार्ग में ही नहीं रुक जाना चाहिए, और जब हमारे सामने हीरों की खान पड़ी हो तो कौच के दानों से हमें चौंधिया नहीं जाना चाहिए।

केवल ईश्वर ही हमारा लक्ष्य है। उसकी प्राप्ति न हो पाना ही हमारी मृत्यु है।

सफलताकांक्षी साधक के लिए तीन बातों की आवश्यकता है।

पहली है ऐहिक और पारलौकिक इन्द्रिय भोग-वासना का त्याग और केवल भगवान् और सत्य को लक्ष्य बनाना। हम यहाँ सत्य की उपलब्धि के लिए हैं, भोग के लिए नहीं। भोग पशुओं के लिए छोड़ दो जिनको हमारी अपेक्षा उसमें कहीं अधिक आनन्द मिलता है। मनुष्य एक विचारशील प्राणी है, और मृत्यु पर विजय तथा प्रकाश को प्राप्त कर लेने तक उसे संघर्ष करते ही रहना चाहिए। उस फिजूल की बातचीत में अपनी शक्ति नष्ट नहीं करनी चाहिए। समाज की पूजा एवं लोकप्रिय जनमत मूर्ति-पूजा ही है। आत्मा का लिंग देश स्थान या काल नहीं होता।

दूसरी है सत्य और मगवत्प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा। जल में डूबता मनुष्य जैसे वायु के लिए व्याकुल होता है, वैसे ही व्याकुल हो जाओ। केवल ईश्वर को ही चाहो और कुछ भी स्वीकार न करो जो आभासी मात्र है उससे धोखा न खाओ। सबसे विमुख होकर केवल ईश्वर की खोज करो।

तीसरी बात में छः अभ्यास हैं

(१) मन को बहिर्मुख न होने देना।

(२) इन्द्रिय-निग्रह।

(३) मन को अन्तर्मुख बनाना।

(४) निर्विरोध सहिष्णुता या पूर्ण तितिक्षा।

(५) मन को एक भाव में स्थिर रखना। ध्येय को सम्मुख रखो और उसका चिन्तन करो। कभी अलग न करो। समय की गणना न करो।

(६) अपने स्वरूप का सतत चिन्तन करो।

अंधविश्वास का परित्याग कर दो। अपनी तुच्छता के विश्वास में अपने को सम्मोहित न करो। जब तक तुम ईश्वर के साथ एकात्मकता की अनुभूति (वास्तविक अनुभूति) न कर लो तब तक रात-दिन अपने आपको बताते रहो कि तुम यथार्थतः क्या हो।

इन साधनाओं के बिना कोई भी फल प्राप्त नहीं हो सकता।

हम ब्रह्म की धारणा कर सकते हैं, पर उसे भाषा के द्वारा व्यक्त करना

असम्भव है। जैसे ही हम उसे अभिव्यक्त करने की चेष्टा करते हैं, वैसे ही हम उसे सीमित बना डालते हैं और वह ब्रह्म नही रह जाता।

हमे इन्द्रिय-जगत् की सीमाओ के परे जाना है और बुद्धि से भी अतीत होना है। ऐसा करने की हममे शक्ति है।

[एक सप्ताह तक प्राणायाम के प्रथम पाठ का अभ्यास करने के पश्चात् शिष्य को चाहिए कि वह गुरु को अपना अनुभव बताये।]

प्रथम पाठ

इस पाठ का उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास है। प्रत्येक व्यक्तित्व का विकास आवश्यक है। सभी एक केन्द्र मे मिल जायँगे। 'कल्पना प्रेरणा का द्वार और समस्त विचार का आधार है।' सभी पैगम्बर, कवि और अन्वेषक महती कल्पना-शक्ति से सम्पन्न थे। प्रकृति की व्याख्या हमारे भीतर है, पत्थर बाहर गिरता है, लेकिन गुरुत्वाकर्षण हमारे भीतर है, बाहर नही। जो अति आहार करते हैं, जो उपवास करते है, जो अत्यधिक सोते है, जो अत्यल्प सोते है, वे योगी नही हो सकते। अज्ञान, चचलता, ईर्ष्या, आलस्य और अतिशय आसक्ति योग-सिद्धि के महान् शत्रु है। योगी के लिए तीन बडी आवश्यकताएँ है

प्रथम—शारीरिक और मानसिक पवित्रता, प्रत्येक प्रकार की मलिनता तथा मन को पतन की ओर ढकेलनेवाली सभी बातो का परित्याग आवश्यक है।

द्वितीय—धैर्य प्रारम्भ मे आश्चर्यजनक दृश्य प्रकट होगे, पर बाद मे वे सब अन्तर्हित हो जायँगे। यह सबसे कठिन समय है। पर दृढ रहो, यदि धैर्य रखोगे, तो अन्त मे सिद्धि सुनिश्चित है।

तृतीय—लगन सुख-दुख, स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य सभी दशाओ मे साधना मे एक दिन का भी नागा न करो।

साधना का सर्वोत्तम समय दिन और रात की सधि का समय है। यह हमारे शरीर की हलचल के शान्त रहने का समय है—दो दशाओ के मध्य का शून्य-स्थल है। यदि इस समय न हो सके, तो उठने के ही बाद और सोने के पूर्व अभ्यास करो। नित्य स्नान—शरीर को अधिक से अधिक स्वच्छ रखना—आवश्यक है।

स्नान के पश्चात् बैठ जाओ। आसन दृढ रखो अर्थात् ऐसी भावना करो कि तुम चट्टान की भाँति दृढ हो, कि तुम्हे कुछ भी विचलित करने मे समर्थ नही है। कधे, सिर और कमर एक सीधी रेखा मे रखो, पर मेरुदण्ड के ऊपर जोर न डालो,

सारी क्रिया इसीके सहारे होती है अतः इसको क्षति पहुँचानेवाला कोई कार्य न होना चाहिए।

अपने पैर की अँगुलियों से आरम्भ करके अपने शरीर के प्रत्येक अंग की स्थिरता की भावना करो। इस भाव का अपने में चिन्तन करो और यदि चाहो तो प्रत्येक का स्पर्श करो। प्रत्येक का पूर्ण अर्थात् उसमें कोई विकार नहीं है, सोचते हुए धीरे धीरे ऊपर चलकर सिर तक जाओ। तब समस्त शरीर के पूर्ण होने के भाव का चिन्तन करो यह सोचते हुए कि मुझे सत्य का साक्षात्कार करने के हेतु यह ईश्वर द्वारा प्रदत्त साधन है। यह वह नौका है जिस पर बैठकर तुम्हें सागर समुद्र पार करके अनन्त सत्य के तट पर पहुँचना है। इस क्रिया के पश्चात् अपनी नासिका के दोनों छिद्रों से एक दीर्घ श्वास लो और फिर उसे बाहर निकालो। इसके पश्चात् जितनी देर तक सरलतापूर्वक बिना श्वास लिये रह सको रहो। इस प्रकार के चार प्राणायाम करो और फिर स्वाभाविक रूप से श्वास लो और भगवान् से ज्ञान के प्रकाश के लिए प्रार्थना करो।

"मैं उस सत्ता की महिमा का चिन्तन करता हूँ जिसने विश्व की रचना की है वह मेरे मन को प्रबुद्ध करे। बैठो और दस-पन्द्रह मिनट इस भाव का ध्यान करो।

अपनी अनुभूतियों को अपने गुरु के अतिरिक्त और किसीको न बताओ।

यथासम्भव कम से कम बात करो।

अपना चिन्तन सद्गुणों पर जमाओ हम जैसा सोचते हैं वैसे ही बन जाते हैं।

पवित्र चिन्तन हमें अपनी समस्त मानसिक मलिनताओं को भस्म करने में सहायता देता है। जो योगी नहीं है, वह दास है। मुक्ति-लाभ के हेतु एक एक करके सभी बन्धन काटने होंगे।

इस जगत् के परे जो सत्य है, उसको सभी लोग जान सकते हैं। यदि ईश्वर की सत्ता सत्य है तो अवश्य ही हमें उसको एक तथ्य के रूप में अनुभव करना चाहिए और यदि आत्मा जैसी कोई सत्ता है, तो हमें उसे देखने और अनुभव करने मे समर्थ होना चाहिए।

यदि आत्मा है, तो उसका साक्षात्कार करने के लिए हमें कुछ ऐसा बनना पड़ेगा जो शरीर नहीं है।

योगी इन्द्रियों को दो मुख्य वर्गों मे विभाजित करते हैं ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ अथवा ज्ञान और कर्म।

अन्तरिन्द्रिय या मन के चार स्तर हैं प्रथम—मनस् अर्थात् मनन अथवा चिन्तन-शक्ति। इसको संयत न करने पर प्रायः इसकी समस्त शक्ति नष्ट हो

जाती है। उचित सयम किये जाने पर यह अद्भुत शक्ति बन जाती है। द्वितीय—बुद्धि अर्थात् इच्छा-शक्ति (इसको बोध-शक्ति भी कहा जाता है)। तृतीय—अहकार अर्थात् आत्मचेतन अहबुद्धि। चतुर्थ—चित्त अर्थात् वह तत्त्व, जिसके आधार और माध्यम से समस्त शक्तियाँ क्रियाशील होती है, मानो यह मन का धरातल है अथवा वह समुद्र है, जिसमे समस्त क्रिया-शक्तियाँ तरगो का रूप धारण किये हुए हैं।

योग वह विज्ञान है, जिसके द्वारा हम चित्त को अनेक क्रिया-शक्तियो का रूप धारण करने अथवा उनमे रूपान्तरित होने से रोकते हैं। समुद्र मे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जिस प्रकार तरगो के कारण अस्पष्ट अथवा विच्छिन्न हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा अर्थात् सत्स्वरूप का प्रतिबिम्ब भी मन की तरगो से विच्छिन्न हो जाता है। केवल जब समुद्र दर्पण की भाँति तरगशून्य होकर शान्त हो जाता है, तभी चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब दिखायी पडता है। उसी प्रकार जब चित्त अर्थात् मनस् सयम के द्वारा सम्पूर्ण रूप से शान्त हो जाता है, तभी स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

यद्यपि चित्त सूक्ष्मतर रूप मे जड है, तथापि वह देह नही है। वह देह द्वारा चिरकाल तक आबद्ध नही रहता। पर इस बात से सिद्ध होता है कि हम कभी कभी देहभाव से परे हो जाते हैं। अपनी इन्द्रियो को वशीभूत करके हम इच्छानुसार इस बात का अभ्यास कर सकते हैं।

यदि हम ऐसा करने मे पूर्ण समर्थ हो जायँ, तो समस्त विश्व हमारे वश मे हो जाय, क्योकि हमारी इन्द्रियो को लेकर ही यह जगत् है। स्वाधीनता ही उच्च जीवन की कसौटी है। आध्यात्मिक जीवन उस समय प्रारम्भ होता है, जिस समय तुम अपने को इन्द्रियो के बधन से मुक्त कर लेते हो। जो इन्द्रियो के अधीन हैं, वही ससारी हैं, वही दास हैं।

चित्त को तरगो का रूप धारण करने से रोकने मे पूर्ण समर्थ होने पर हमारी देह का नाश हो जाता है। इस देह को तैयार करने मे करोडो वर्षों से हमे इतना कडा परिश्रम करना पडा है कि उसी चेष्टा मे व्यस्त रहते रहते हम यह भूल गये कि इस देह की प्राप्ति का वास्तविक उद्देश्य पूर्णता-प्राप्ति है। हम सोचने लगे हैं कि हमारी समस्त चेष्टाओ का लक्ष्य इस देह की तैयारी है। यही माया है। हमे इस भ्रम को मिटाना होगा और अपने मूल उद्देश्य की ओर जाकर इस बात का अनुभव करना होगा कि हम देह नही हैं, यह तो हमारा दास है।

मन को अलग करके उसे देह से पृथक् देखना सीखो। हम देह के ऊपर सवेदना और प्राण को आरोपित करते हैं और फिर सोचते है कि वह चेतन और सत्य

है। हम इतने दीर्घकाल से यह बोझ पहने हुए हैं कि भूल जाते हैं कि हम और देह एक नहीं हैं। योग हमें देह को इच्छानुसार अलग करने तथा उसे अपने दास अपने साधन न कि स्वामी के रूप में देखने में सहायता करता है। योगाभ्यास का प्रथम प्रमुख ध्येय मानसिक शक्तियों का नियंत्रण करना है। दूसरा उन्हें पूर्ण शक्ति लगाकर किसी एक विषय पर केन्द्रित करना है।

यदि तुम बहुत बात करते हो तो तुम योगी नहीं हो सकते।

द्वितीय पाठ

इस योग का नाम अष्टांग योग है, क्योंकि इसको प्रधानतः आठ भागों में विभक्त किया गया है। वे हैं

प्रथम—यम। यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और सारा जीवन इसके द्वारा शासित होना चाहिए। इसके पाँच विभाग हैं

(१) मन कर्म वचन से हिंसा न करना।

(२) मन कर्म वचन से लोभ न करना।

(३) मन कर्म और वचन की पवित्रता।

(४) मन कर्म और वचन की पूर्ण सत्यता।

(५) अपरिग्रह (किसीसे कोई दान न लेना)।

द्वितीय—नियम। शरीर की देखभाल नित्य स्नान परिमित आहार इत्यादि।

तृतीय—आसन। मेरुदण्ड के ऊपर जोर न देकर कमर, गर्दन और सिर सीधा रखना।

चतुर्थ—प्राणायाम। प्राणवायु अथवा जीवन-शक्ति को वशीभूत करने के लिए श्वास-प्रश्वास का संयम।

पंचम—प्रत्याहार। मन को अन्तर्मुख करना तथा उसे बहिर्मुखी होने से रोकना अन्तःतत्त्व को समझने के लिए उसे मन में घुमाना अर्थात् उस पर बार बार विचार करना।

षष्ठ—धारणा। एक विषय पर ध्यान केन्द्रित करना।

सप्तम—ध्यान।

अष्टम—समाधि आलोक हमारी समस्त साधना का लक्ष्य।

हमें यम-नियम का अभ्यास जीवनपर्यन्त करना चाहिए। जहाँ तक दूसरे अभ्यासों का सम्बन्ध है हम ठीक वैसा ही करते हैं, जैसा कि जोंक बिना दूसरे

तिनके को दृढतापूर्वक पकडे पहलेवाले को नही छोडती है। दूसरे शब्दो मे हमे अपने पहले कदम को भली भाँति समझकर अभ्यास कर लेना है और तब दूसरा उठाना है।

इस पाठ का विषय प्राणायाम अर्थात् प्राण का नियमन है। राजयोग मे प्राण-वायु चित्तभूमि मे प्रविष्ट होकर हमे आध्यात्मिक राज्य मे ले जाती है। यह समस्त देहयत्र का मूल चक्र है। प्राण प्रथम फुफ्फुस पर क्रिया करता है, फुफ्फुस हृदय को प्रभावित करते हैं, हृदय रक्त-प्रवाह को और वह क्रमानुसार मस्तिष्क को तथा मस्तिष्क मन पर क्रिया करता है। जिस प्रकार इच्छा-शक्ति बाह्य सवेदन उत्पन्न करती है, उसी प्रकार बाह्य सवेदन इच्छा-शक्ति जाग्रत कर देता है। हमारी इच्छा-शक्ति दुर्बल है, हम जड-तत्त्व के इतने बधन मे हैं कि हम उसकी शक्ति को नही जान पाते। हमारी अधिकाश क्रियाएँ बाहर से भीतर की ओर होती हैं। बाह्य प्रकृति हमारे आन्तरिक साम्य को नष्ट कर देती है, किन्तु जैसा कि हमे चाहिए, हम उसके साम्य को नष्ट नही कर पाते। किन्तु यह सब भूल है। वास्तव मे प्रबलतर शक्ति तो भीतर की शक्ति है।

वे ही महान् सत और आचार्य है, जिन्होंने अपने भीतर के मनोराज्य को जीता है। और इसी कारण उनकी वाणी मे शक्ति थी। एक ऊँची मीनार पर वदी किये गये एक मत्री की कहानी[1] है। वह अपनी पत्नी के प्रयत्न से मुक्त हुआ। पत्नी भृग, मधु, रेशमी सूत, सुतली और रस्सी लायी थी। यह रूपक इस बात को स्पष्ट करता है कि किस प्रकार हम रेशमी धागे की भाँति प्रथम प्राणवायु का नियमन करके अन्त मे एकाग्रतारूपी रस्सी पकड सकेंगे, जो हमे देहरूपी कारागार से निकाल देगी और हम मुक्ति प्राप्त करेगे। मुक्ति प्राप्त कर लेने पर उसके हेतु प्रयुक्त साधनो का हम परित्याग कर सकते हैं।

प्राणायाम के तीन अग हैं

(१) पूरक—श्वास लेना।

(२) कुम्भक—श्वास रोकना।

(३) रेचक—श्वास छोडना।

मस्तिष्क मे से होकर मेरुदण्ड के दोनो ओर बहनेवाले दो शक्ति-प्रवाह हैं, जो मूलाधार मे एक दूसरे का अतिक्रमण करके मस्तिष्क मे लौट आते हैं। इन दोनो मे एक का नाम 'सूर्य' (पिंगला) है, जो मस्तिष्क के वाम गोलार्ध से प्रारम्भ होकर मेरुदण्ड के दक्षिण पार्श्व मे मस्तिष्क के आधार (सहस्रार) पर एक दूसरे को लाँघ-

---

१. कहानी के हेतु 'विवेकानन्द साहित्य', प्रथम खड द्रष्टव्य। स०

कर पुनः मूलाधार पर अंग्रेजी के आठ (8) अंक के अर्ध भाग के आकार में समान एक दूसरे का फिर अतिक्रमण करती हैं।

दूसरे शक्ति-प्रवाह का नाम 'चन्द्र' (इड़ा) है, जिसकी क्रिया उपर्युक्त क्रम के ठीक विपरीत है और जो इस आठ (8) अंक को पूर्ण बनाती है। हाँ इसका निम्न भाग ऊपरी भाग से कहीं अधिक लम्बा है। ये शक्ति प्रवाह दिन-रात गतिशील रहते हैं और विभिन्न केन्द्रों में जिन्हें हम 'चक्र' कहते हैं बड़ी बड़ी जीवनी-शक्तियों का संचय किया करते हैं। पर शायद ही हमें उनका ज्ञान हो। एकाग्रता द्वारा हम उनका अनुभव कर सकते हैं और शरीर के विभिन्न अंगों में उनका पता लगा सकते हैं। इस 'सूर्य' और 'चन्द्र' के शक्ति-प्रवाह श्वास-क्रिया के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं और इसीके नियमन द्वारा हम शरीर को नियमित करते हैं।

कठोपनिषद्[1] में देह को रथ मन को लगाम इन्द्रियों को घोड़े विषय को पथ और बुद्धि को सारथी कहा गया है। इस रथ में बैठी हुई आत्मा रथी है। यदि रथी समझदार नहीं है और सारथी से घोड़ों को नियंत्रित नहीं करा सकता तो वह कभी भी अपने ध्येय तक नहीं पहुँच सकता। अपितु, दुष्ट अश्वों के समान इन्द्रियाँ उसे जहाँ चाहेंगी खींच ले जायँगी। यहाँ तक कि उसकी जान भी ले सकती हैं। ये दो शक्ति-प्रवाह सारथी के हाथों में रोकथाम के हेतु लगाम हैं और अश्वों को अपने वश में करने के लिए उसे इनके ऊपर नियंत्रण करना आवश्यक है। नीतिपरायण होने की शक्ति हमे प्राप्त करनी ही है। जब तक हम उसे प्राप्त नहीं कर लेते हम अपने कर्मों को नियमित नहीं कर सकते। नीतिशिक्षाओं को कार्यरूप में परिणत करने की शक्ति हमें केवल योग से ही प्राप्त हो सकती है। नीतिपरायण होना योग का उद्देश्य है। जगत् के सभी बड़े बड़े आचार्य योगी थे और उन्होंने प्रत्येक शक्ति प्रवाह को वश मे कर रखा था। योगी इन दोनों प्रवाहों को मेरुदण्ड के तले में संयत करके उनको मेरुदण्ड के भीतर के केन्द्र से होकर परिचालित करते हैं। तब ये प्रवाह ज्ञान के प्रवाह बन जाते हैं। यह स्थिति केवल योगी की ही होती है।

प्राणायाम की द्वितीय शिक्षा कोई एक प्रणाली सभी के लिए नहीं है। प्राणायाम का लयपूर्ण क्रमबद्धता के साथ होना आवश्यक है और इसकी सबसे सहज विधि गणना है। चूंकि यह (गणना) पूर्णरूपेण यंत्रवत् हो जाती है, हम इसके बजाय एक निश्चित संख्या में पवित्र मंत्र ॐ का जप करते हैं।

---

[1] कठोपनिषद् [illegible]

प्राणायाम की क्रिया इस प्रकार है दायें नथुने को अँगूठे से दवाकर चार वार 'ॐ' का जप करके धीरे धीरे बायें नथुने से श्वास लो।

तत्पश्चात् वायें नथुने पर तर्जनी रखकर दोनो नथुनो को कसकर वन्द कर दो और 'ॐ' का मन ही मन आठ वार जप करते हुए श्वास को भीतर रोके रहो।

पश्चात्, अँगूठे को दाहिने नथुने से हटाकर चार वार 'ॐ' का जप करते हुए उसके द्वारा धीरे धीरे श्वास को वाहर निकालो।

जव श्वास वाहर हो जाय, तव फुफ्फुस से समस्त वायु निकालने के लिए पेट को दृढतापूर्वक सकुचित करो। फिर बाये नथुने को वद करके चार वार 'ॐ' का जप करते हुए दाहिने नथुने से श्वास भीतर ले जाओ। इसके बाद दाहिने नथुने को अँगूठे से वद करो और आठ बार 'ॐ' का जप करते हुए श्वास को भीतर रोको। फिर बाये नथुने को खोलकर चार बार 'ॐ' का जप करते हुए पहले की भाँति पेट को सकुचित करके धीरे धीरे श्वास को बाहर निकालो। इस सारी क्रिया को प्रत्येक वैठक मे दो वार दुहराओ अर्थात् प्रत्येक नथुने के लिए दो के हिसाव से चार प्राणायाम करो। प्राणायाम के लिए बैठने के पूर्व सारी क्रिया प्रार्थना से प्रारम्भ करना अच्छा होगा।

एक सप्ताह तक इस अभ्यास को करने की आवश्यकता है। फिर धीरे धीरे श्वास-प्रश्वास की अवधि को बढाओ, किन्तु अनुपात वही रहे। अर्थात् यदि तुम श्वास भीतर ले जाते समय छ बार 'ॐ' का जप करते हो, तो उतना ही श्वास वाहर निकालते समय भी करो और कुम्भक के समय बारह बार करो। इन अभ्यासो के द्वारा हम और अधिक पवित्र, निर्मल और आध्यात्मिक होते जायँगे। किसी विपथ मे पडने से अथवा कोई शक्ति (सिद्धि) की चाह से वचे रहो। प्रेम ही एक ऐसी शक्ति है, जो चिरकाल तक हमारे साथ रहती है और बढती जाती है। राजयोग के द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को मानसिक, शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से सवल होना आवश्यक है। अपना प्रत्येक कदम इन वातो को ध्यान मे रखकर ही बढाओ।

लाखो मे कोई विरला ही कह सकता है, "मैं इस ससार के परे जाकर ईश्वर का साक्षात्कार करूँगा।" शायद ही कोई सत्य के सामने खडा हो सके। किन्तु अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए हमे मरने के लिए भी तैयार रहना पडेगा।

तृतीय पाठ

कुंडलिनी आत्मा का अनुभव जड़ के रूप में न करो बल्कि उसके यथार्थ स्वरूप को जानो। हम लोग आत्मा को देह समझते हैं किन्तु हमारे लिए इसको इन्द्रिय और बुद्धि से अलग करके सोचना आवश्यक है। तभी हमें इस बात का ज्ञान होगा कि हम अमृतस्वरूप हैं। परिवर्तन से आशय है कार्य और कारण का द्वैत और जो कुछ भी परिवर्तित होता है, उसका नश्वर होना अवश्यम्भावी है। इससे यह सिद्ध होता है कि न तो शरीर और न मन अविनाशी हो सकते हैं क्योंकि दोनों में निरंतर परिवर्तन हो रहा है। केवल जो अपरिवर्तनशील है, वही अविनाशी हो सकता है क्योंकि उसे कुछ भी प्रभावित नहीं कर सकता।

हम सत्यस्वरूप हो नहीं जाते बल्कि हम सत्यस्वरूप हैं किन्तु हमें सत्य को आवृत करनेवाले अज्ञान के पर्दे को हटाना होगा। देह विचार का ही रूप है। 'सूर्य' और 'चन्द्र' शक्ति प्रवाह शरीर के सभी अंगों में शक्ति-संचार करते हैं। अवशिष्ट अतिरिक्त शक्ति सुषुम्ना के अन्तर्गत विभिन्न चक्रों अथवा सामान्यतया विदित स्नायु-केन्द्र में संचित रहती है।

ये शक्ति-प्रवाह मृत देह में दृष्टिगत नहीं होते और केवल स्वस्थ शरीर में ही देखे जा सकते हैं।

योगी को एक विशेष सुविधा रहती है क्योंकि वह केवल इनका अनुभव ही नहीं करता अपितु इन्हें प्रत्यक्ष देखता भी है। ये उसके जीवन में ज्योतिर्मय हो उठते हैं। ऐसे ही उसके महान् स्नायु-केन्द्र भी हैं।

कार्य ज्ञात तथा अज्ञात दोनों दशाओं में होते हैं। योगियों की एक दूसरी दशा भी होती है वह है ज्ञानातीत या अतिचेतन अवस्था जो सभी देशों और सभी युगों में समस्त धार्मिक ज्ञान का स्रोत रही है। ज्ञानातीत दशा में कभी भूल नहीं होती किन्तु जब जन्मजात प्रवृत्ति के द्वारा प्रेरित कार्य पूर्णरूपेण यंत्रवत् होता है, तब पूर्ववर्ती (ज्ञानातीत दशा) ज्ञान की दशा के परे की स्थिति होती है। इसे अन्तःप्रेरणा कहते हैं परन्तु योगी कहता है 'यह शक्ति प्रत्येक मनुष्य में अन्तर्निहित है और अन्ततोगत्वा सभी लोग इसका आनन्द प्राप्त करेंगे।

हमें 'सूर्य' और 'चन्द्र' की गतियों को एक नये रास्ते से परिचालित करना होगा और उनके लिए सुषुम्ना का मुख खोलकर एक नया रास्ता देना होगा। जब हम इस 'सुषुम्ना' से होकर शक्ति-प्रवाह को मस्तिष्क तक ले जाने में सफल हो जाते हैं, उस समय हम शरीर से बिल्कुल अलग हो जाते हैं।

मेरुदड के तले त्रिकास्थि (sacrum) के निकट स्थित मूलाधार चक्र सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह स्थल काम-शक्ति के प्रजनन-तत्त्व का निवास है, और योगी इसको एक त्रिकोण के भीतर छोटे से कुडलीकृत सर्प के प्रतीक के रूप मे मानते हैं। इस प्रसुप्त सर्प को कुडलिनी कहते है। इसी कुडलिनी को जाग्रत करना ही राजयोग का प्रमुख उद्देश्य है।

महती काम-शक्ति को पशुसुलभ क्रिया से उन्नत करके मनुष्य शरीर के महान् डाइनेमो मस्तिष्क मे परिचालित करके वहाँ सचित करने पर वह ओजस् अर्थात् महान् आध्यात्मिक शक्ति बन जाती है। समस्त सत् चिन्तन, समस्त प्रार्थनाएँ उस पशुसुलभ शक्ति के एक अश को ओजस् मे परिणत करने मे सहायता करती हैं और हमे आध्यात्मिक शक्ति प्रदान करती हैं। यह ओजस् ही मनुष्य का सच्चा मनुष्यत्व है, और केवल मनुष्य के शरीर मे ही इस शक्ति का सग्रह सम्भव है। जिसकी समस्त पशुसुलभ काम-शक्ति ओजस् मे परिणत हो गयी है, वही देवता है। उसकी वाणी मे शक्ति होती है और उसके वचन जगत् को पुनरुज्जीवित करते हैं।

योगी मन ही मन कल्पना करता है कि यह कुडलिनी क्रमश धीरे धीरे उठकर सर्वोच्च स्तर अर्थात् सहस्रार मे पहुँच रही है। जब तक मनुष्य अपनी सर्वोच्च शक्ति, काम-शक्ति को ओज मे परिणत नही कर लेता, कोई भी स्त्री या पुरुष, वास्तविक रूप मे आध्यात्मिक नही हो सकता।

कोई शक्ति उत्पन्न नही की जा सकती, उसे केवल एक दिशा मे परिचालित किया जा सकता है। अत हमे चाहिए कि हम अपनी महती शक्तियो को अपने वश मे करना सीखें और अपनी इच्छा-शक्ति से उन्हें पशुवत् रखने के बजाय आध्यात्मिक बना दें। अत यह स्पष्ट है कि पवित्रता ही समस्त धर्म और नीति की आधारशिला है। विशेषत राजयोग मे मन, वचन की पूर्ण पवित्रता परमावश्यक है। विवाहित और अविवाहित, सभी लोगो के लिए एक ही नियम लागू होता है। देह के इस सार अश को वृथा नष्ट कर देने पर आध्यात्मिकता की प्राप्ति सम्भव नही है।

इतिहास बताता है कि सभी युगो मे बडे बडे द्रष्टा महापुरुष या तो सन्यासी और तपस्वी थे अथवा विवाहित जीवन का परित्याग कर देनेवाले थे। केवल पवित्रात्मा ही भगवत्साक्षात्कार कर सकते हैं।

प्राणायाम से पूर्व इस त्रिकोणमडल को ध्यान मे देखने की चेष्टा करो। आँखें बन्द करके इसके चित्र की मन ही मन स्पष्ट कल्पना करो। सोचो कि इसके चारो ओर अग्निशिखा है और उसके बीच मे कुडलिनी सोयी पडी है। जब तुम्हें कुडलिनी

स्पष्ट रूप से दीखने लगे अपनी कल्पना में इसे मूलाधार चक्र में स्थित करो और कुम्भक में श्वास को अवरुद्ध करके कुंडलिनी को जगाने के हेतु श्वास के द्वारा उसके मस्तक पर आघात करो। जितनी ही शक्तिशाली कल्पना होगी उतनी शीघ्रता से वास्तविक फल की प्राप्ति होगी और कुण्डलिनी जाग्रत हो जायगी। जब तक वह जाग्रत नहीं हुई, तब तक यही सोचो कि वह जाग्रत हो गयी है, तथा शक्ति प्रवाहों को अनुभव करने की चेष्टा करो और उन्हें सुषुम्णा पथ में परिचालित करने का प्रयास करो। इससे उनकी क्रिया में शीघ्रता होती है।

चतुर्थ पाठ

मन को वश में करने की शक्ति प्राप्त करने के पूर्व हमें उसका भली प्रकार अध्ययन करना चाहिए।

चंचल मन को संयत करके हमें उसे विषयों से खींचना होगा और उसे एक विचार में केन्द्रित करना होगा। बार बार इस क्रिया को करना आवश्यक है। इच्छा शक्ति द्वारा मन को वश में करके उसकी क्रिया रोककर ईश्वर की महिमा का चिन्तन करना चाहिए।

मन को स्थिर करने का सबसे सरल उपाय है चुपचाप बैठ जाना और उसे कुछ क्षण के लिए वह जहाँ जाय जाने देना। दृढ़तापूर्वक इस भाव का चिन्तन करो 'मैं मन को विचरण करते हुए देखनेवाला साक्षी हूँ। मैं मन नहीं हूँ।" पश्चात् मन को ऐसा सोचता हुआ कल्पना करो कि मानो वह तुमसे बिल्कुल भिन्न है। अपने को ईश्वर से अभिन्न मानो मन अथवा जड़ पदार्थ के साथ एक करके कदापि न सोचो।

सोचो कि मन तुम्हारे सामने एक विस्तृत तरंगहीन सरोवर है और आने जानेवाले विचार इसके तल पर उठनेवाले बुलबुले हैं। विचारों को रोकने का प्रयास न करो वरन् उनको देखो और जैसे जैसे वे विचरण करते हैं वैसे वैसे तुम भी उनके पीछे चलो। यह क्रिया धीरे धीरे मन के वृत्तों को सीमित कर देगी। कारण यह है कि मन विचार की विस्तृत परिधि में घूमता है और ये परिधियाँ विस्तृत होकर निरन्तर बढ़नेवाले वृत्तों में फैलती रहती हैं ठीक वैसे ही जैसे किसी सरोवर में ढेला फेंकने पर होता है। हम इस क्रिया को उलट देना चाहते हैं और बड़े वृत्तों से प्रारम्भ करके उन्हें छोटा बनाते चले जाते हैं—यहाँ तक कि अन्त में हम मन को एक बिन्दु पर स्थिर करके उसे वहीं रोक सकें। दृढ़तापूर्वक इस भाव का चिन्तन

करो, "मैं मन नही हूँ, मैं देखता हूँ कि मैं सोच रहा हूँ। मैं अपने मन तथा अपनी क्रिया का अवलोकन कर रहा हूँ।" प्रतिदिन मन और भावना से अपने को अभिन्न समझने का भाव कम होता जायगा, यहाँ तक कि अन्त मे तुम अपने को मन मे बिल्कुल अलग कर सकोगे और वास्तव मे इसे अपने से भिन्न जान सकोगे।

इतनी सफलता प्राप्त करने के बाद मन तुम्हारा दास हो जायगा और उसके ऊपर इच्छानुसार शासन कर सकोगे। इन्द्रियो से परे हो जाना योगी की प्रथम स्थिति है। जब वह मन पर विजय प्राप्त कर लेता है, तब सर्वोच्च स्थिति प्राप्त कर लेता है।

जितना सम्भव हो सके, एकान्त सेवन करो। तुम्हारा आसन सामान्य ऊँचाई का होना चाहिए। प्रथम कुशासन बिछाओ, फिर मृगचर्म और उसके ऊपर रेशमी कपडा। अच्छा होगा कि आसन के साथ पीठ टेकने का साधन न हो और वह दृढ हो।

चूकि विचार एक प्रकार के चित्र है, अत हमे उनकी रचना न करनी चाहिए। हमे अपने मन से सारे विचार दूर हटाकर रिक्त कर देना चाहिए। जितनी ही शीघ्रता से विचार आयें, उतनी ही तेज़ी से उन्हें दूर भगाना चाहिए। इसे कार्यरूप मे परिणत करने के लिए हमे जड-तत्त्व और देह के परे जाना परमावश्यक है। वस्तुत मनुष्य का समस्त जीवन ही इसको सिद्ध करने का प्रयास है।

प्रत्येक ध्वनि का अपना अर्थ होता है। हमारी प्रकृति मे इन दोनो का परस्पर सम्बन्ध है।

हमारा उच्चतम आदर्श ईश्वर है। उसका चिन्तन करो। यही नही कि हम ज्ञाता को जान सकते हैं, अपितु हम तो वही हैं।

अशुभ को देखना तो उसकी सृष्टि ही करना है। जो कुछ हम है, वही हम बाहर भी देखते हैं, क्योकि यह जगत् हमारा दर्पण है। यह छोटा सा शरीर हमारे द्वारा रचा हुआ एक छोटा सा दर्पण है, बल्कि समस्त विश्व हमारा शरीर है। इस बात का हमे सतत चिन्तन करना चाहिए, तब हमे ज्ञान होगा कि न तो हम मर सकते हैं और न दूसरो को मार सकते हैं, क्योकि वह तो हमारा ही स्वरूप है। हम अजन्मा और अमर है और प्रेम ही हमारा कर्तव्य है।

'यह समस्त विश्व हमारा शरीर है। समस्त स्वास्थ्य, समस्त सुख हमारा सुख है, क्योकि यह सब कुछ विश्व के अन्तर्गत है।' कहो, "मैं विश्व हूँ।" अन्त मे हमे ज्ञात हो जाता है कि सारी क्रिया हमारे भीतर से इस दर्पण मे प्रकट हो रही है।

हो ये दो श्लोक हैं। कृष्ण के उपदेश के सारस्वरूप इन श्लोकों से बड़ा भारी बल प्राप्त होता है

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ १३।२७॥

और,

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ १३।२८॥

—'विनाश होनेवाले सब भूतों में जो लोग अविनाशी परमात्मा को स्थित देखते हैं यथार्थ में उन्हींका देखना सार्थक है क्योंकि ईश्वर को सर्वत्र समान भाव से देखकर वे आत्मा के द्वारा आत्मा की हिंसा नहीं करते इसलिए वे परमगति को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार इस देश और अन्यान्य देशों में कल्याण कार्य की दृष्टि से वेदान्त के प्रचार और प्रसार के लिए विस्तृत क्षेत्र है। इस देश में और विदेशों में भी मनुष्य जाति के दुःख दूर करने के लिए तथा मानव-समाज की उन्नति के लिए हम परमात्मा की सर्वव्यापकता और सर्वत्र समान रूप से उसकी विद्यमानता का प्रचार करना होगा। जहाँ भी बुराई दिखाई देती है, वहीं अज्ञान भी मौजूद रहता है। मैंने अपने ज्ञान और अनुभव द्वारा मालूम किया है और यही शास्त्रों में भी कहा गया है कि भेद-बुद्धि से ही संसार मे सारे अशुभ और अभेद-बुद्धि से ही सारे शुभ फलते हैं। यदि सारी विभिन्नताओं के अन्दर ईश्वर के एकत्व पर विश्वास किया जाय तो सब प्रकार से ससार का कल्याण किया जा सकता है। यही वेदान्त का सर्वोच्च आदर्श है। प्रत्येक विषय में आदर्श पर विश्वास करना एक बात है और प्रतिदिन के छोटे छोटे कामों में उसी आदर्श के अनुसार काम करना बिल्कुल दूसरी बात है। एक ऊँचा आदर्श दिखा देना अच्छी बात है इसमें सन्देह नहीं पर उस आदर्श तक पहुँचने का उपाय कौन सा है?

स्वभावतः यहाँ वही कठिन और उद्विग्न करने वाला जाति-भेद तथा समाज सुधार का सवाल आ उपस्थित होता है, जो कई सदियों से सर्वसाधारण के मन में उठता रहा है। मैं तुमसे यह बात स्पष्ट शब्दों में कह देना चाहता हूँ कि मैं केवल जाति-पाँति का भेद मिटानेवाला अथवा समाज-सुधारक मात्र नहीं हूँ। सीधे धर्म में जाति भेद या समाज-सुधार से मेरा कुछ मतलब नहीं। तुम चाहे जिस जाति या समाज के क्यों न हो उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं पर तुम किसी और जातिवाले को घृणा की दृष्टि से क्यों देखो? मैं केवल प्रेम और मात्र प्रेम की

का आदर्श विशिष्ट रूप से प्रतिष्ठित है। यूरोप के बडे बडे धर्माचार्य भी यह प्रमाणित करने के लिए हजारो रुपये खर्च कर रहे हैं कि उनके पूर्वपुरुष उच्च वशो के थे और तब तक वे सन्तुष्ट नही होंगे जब तक अपनी वशपरम्परा किसी भयानक क्रूर शासक से स्थापित नही कर लेंगे, जो पहाड पर रहकर राही बटोहियो की ताक मे रहते थे और मौका पाते ही उन पर आक्रमण कर लूट लेते थे। आभिजात्य प्रदान करने वाले इन पूर्वजो का यही पेशा था और हमारे धर्माध्यक्ष कार्डिनल इनमे से किसीसे अपनी वशपरम्परा स्थापित किये बिना सतुष्ट नही रहते थे। फिर दूसरी ओर भारत के बडे से बडे राजाओ के वशधर इस बात की चेष्टा कर रहे हैं कि हम अमुक कौपीनधारी, सर्वस्वत्यागी, वनवासी, फल-मूलाहारी और वेदपाठी ऋषि की सन्तान हैं। भारतीय राजा भी अपनी वशपरम्परा स्थापित करने के लिए वही जाते हैं। अगर तुम अपनी वशपरम्परा किसी महर्षि से स्थापित कर सकते हो, तो ऊँची जाति के माने जाओगे, अन्यथा नही।

अतएव, हमारा उच्च वश का आदर्श अन्यान्य देशवासियो के आदर्श से बिल्कुल भिन्न है। आध्यात्मिक साधनासम्पन्न महात्यागी ब्राह्मण ही हमारे आदर्श हैं। इस ब्राह्मण-आदर्श से मेरा क्या मतलब है ? आदर्श ब्राह्मणत्व वही है, जिसमे सासारिकता एकदम न हो और असली ज्ञान पूर्ण मात्रा मे विद्यमान हो। हिन्दू जाति का यही आदर्श है। क्या तुमने नही सुना है, शास्त्रो मे लिखा है कि ब्राह्मण के लिए कोई क़ानून-कायदा नही है—वे राजा के शासनाधीन नही हैं, और उनके लिए फाँसी की सज़ा नही हो सकती ? यह बात बिल्कुल सच है। स्वार्थपर मूढ लोगो ने जिस भाव से इस तत्त्व की व्याख्या की है, उस भाव से उसको मत समझो; सच्चे वेदान्ती भाव से इस तत्त्व को समझने की चेष्टा करो। यदि ब्राह्मण कहने से ऐसे मनुष्य का बोध हो, जिसने स्वार्थपरता का एकदम नाश कर डाला है, जिसका जीवन ज्ञान और प्रेम की शक्ति को प्राप्त करने मे तथा इनका विस्तार करने मे ही बीतता है, जो देश ऐसे ही सच्चरित्र, नैष्ठिक तथा आध्यात्मिक ब्राह्मणो, स्त्री तथा पुरुषो से परिपूर्ण है, वह देश यदि विधिनिषेध के परे हो, तो इसमे आश्चर्य की कौन सी बात है ? ऐसे लोगो पर शासन करने के लिए सेना या पुलिस इत्यादि की क्या आवश्यकता है ? ऐसे आदमियो पर शासन करने का ही क्या काम है ? अथवा ऐसे लोगो को किसी शासन-तन्त्र के अधीन रहने की ही क्या जरूरत है। ये लोग साधुस्वभाव महात्मा हैं—ईश्वर के अन्तरगस्वरूप हैं, ये ही हमारे आदर्श ब्राह्मण हैं और हम शास्त्रो में देखते हैं—सत्ययुग मे पृथ्वी पर केवल एक जाति थी और वह ब्राह्मण थी। महाभारत मे हम देखते हैं, पुराकाल मे सारी पृथ्वी [illegible] ब्राह्मणो का ही निवास था। क्रमश ज्यो ज्यो उनकी अवनति होने लगी,

सुमन किया है अच्छा ही किया है पर इससे भी अच्छा करने की चेष्टा करो। पुराने जमाने में इस देश में बहुतेरे अच्छे काम हुए हैं पर अब भी उससे बड़े बड़े काम करने का पर्याप्त समय और अवकाश है। मैं निश्चित हूँ कि तुम जानते हो कि हम एक जगह एक अवस्था में चुपचाप बैठे नहीं रह सकते। यदि हम एक जगह स्थिर रहे, तो हमारी मृत्यु अनिवार्य है। हमें या तो आगे बढ़ना होगा या पीछे हटना होगा—*हमें उन्नति करते रहना होगा नहीं तो हमारी अवनति आप से आप होती जायगी।* हमारे पूर्व पुरुषों ने प्राचीन काल में बहुत बड़े बड़े काम किये हैं, पर हमें उनकी अपेक्षा भी उच्चतर जीवन का विकास करना होगा और उनकी अपेक्षा और भी महान् कार्यों की ओर अग्रसर होना पड़ेगा। अब पीछे हटकर अवनति को प्राप्त होना यह कैसे हो सकता है? ऐसा कभी नहीं हो सकता। नहीं हम कदापि वैसा होने नहीं देंगे। पीछे हटने से हमारी जाति का अधःपतन और मरण होगा। अतएव 'अग्रसर होकर महत्तर कर्मों का अनुष्ठान करो'—तुम्हारे सामने यही मेरा वक्तव्य है।

मैं किसी क्षणिक समाज-सुधार का प्रचारक नहीं हूँ। मैं समाज के दोषों का सुधार करने की चेष्टा नहीं कर रहा हूँ। मैं तुमसे केवल इतना ही कहता हूँ कि तुम आगे बढ़ो और हमारे पूर्वपुरुष समग्र मानव जाति की उन्नति के लिए जो सर्वांग सुन्दर प्रणाली बता गये हैं उसीका अवलम्बन कर उनके उद्देश्य को सम्पूर्ण रूप से कार्य में परिणत करो। तुमसे मेरा कहना यही है कि तुम लोग मानव के एकत्व और उसके नैसर्गिक ईश्वरत्व-भावरूपी वेदान्ती आदर्श के अधिकाधिक समीप पहुँचते जाओ। यदि मेरे पास समय होता तो मैं तुम लोगों को बड़ी प्रसन्नता के साथ यह दिखाता और बताता कि आज हमें जो कुछ कार्य करना है उसे *हजारों वर्ष पहले हमारे स्मृतिकारों ने बता दिया है। और उनकी बातों से हम* यह भी जान सकते हैं कि आज हमारी जाति और समाज के आचार-व्यवहार में जो सब परिवर्तन हुए हैं और होंगे उन्हें भी उन लोगों ने आज से हजारों वर्ष पहले जान लिया था। वे भी जाति भेद को तोड़ने वाले थे पर आजकल की तरह नहीं। जाति-भेद को तोड़ने से उनका मतलब यह नहीं था कि शहर भर के लोग एक साथ मिलकर शराब कबाब उड़ायें या जितने मूर्ख और पागल हैं वे सब चाहे जिसके साथ शादी कर लें और सारे देश को एक बहुत बड़ा पागलखाना बना दें और न उनका यही विश्वास था कि जिस देश में जितने ही अधिक विधवा-विवाह हों वह देश उतना ही उन्नत समझा जायगा। इस प्रकार से किसी जाति को उन्नत होते मुझे अभी देखना है।

ब्राह्मण ही हमारे पूर्वपुरुषों के आदर्श थे। हमारे सभी शास्त्रों में ब्राह्मण

का आदर्श विशिष्ट रूप से प्रतिष्ठित है। यूरोप के बड़े बड़े धर्माचार्य भी यह प्रमाणित करने के लिए हज़ारो रुपये खर्च कर रहे हैं कि उनके पूर्वपुरुष उच्च वशो के थे और तव तक वे सन्तुष्ट नही होंगे जब तक अपनी वशपरम्परा किसी भयानक क्रूर शासक से स्थापित नही कर लेंगे, जो पहाड पर रहकर राही बटोहियो की ताक मे रहते थे और मौका पाते ही उन पर आक्रमण कर लूट लेते थे। आभिजात्य प्रदान करने वाले इन पूर्वजो का यही पेशा था और हमारे धर्माध्यक्ष कार्डिनल इनमे से किसीसे अपनी वशपरम्परा स्थापित किये विना सतुष्ट नही रहते थे। फिर दूसरी ओर भारत के बड़े से बड़े राजाओ के वशधर इस बात की चेष्टा कर रहे हैं कि हम अमुक कौपीनधारी, सर्वस्वत्यागी, वनवासी, फल-मूलाहारी और वेदपाठी ऋषि की सन्तान हैं। भारतीय राजा भी अपनी वशपरम्परा स्थापित करने के लिए वही जाते हैं। अगर तुम अपनी वशपरम्परा किसी महर्षि से स्थापित कर सकते हो, तो ऊँची जाति के माने जाओगे, अन्यथा नही।

अतएव, हमारा उच्च वश का आदर्श अन्यान्य देशवासियो के आदर्श से बिल्कुल भिन्न है। आध्यात्मिक साधनासम्पन्न महात्यागी ब्राह्मण ही हमारे आदर्श हैं। इस ब्राह्मण-आदर्श से मेरा क्या मतलव है? आदर्श ब्राह्मणत्व वही है, जिसमे सासारिकता एकदम न हो और असली ज्ञान पूर्ण मात्रा मे विद्यमान हो। हिन्दू जाति का यही आदर्श है। क्या तुमने नही सुना है, शास्त्रो मे लिखा है कि ब्राह्मण के लिए कोई कानून-कायदा नही है—वे राजा के शासनाधीन नही हैं, और उनके लिए फाँसी की सज़ा नही हो सकती? यह बात बिल्कुल सच है। स्वार्थपर मूढ लोगो ने जिस भाव से इस तत्त्व की व्याख्या की है, उस भाव से उसको मत समझो, सच्चे वेदान्ती भाव से इस तत्त्व को समझने की चेष्टा करो। यदि ब्राह्मण कहने से ऐसे मनुष्य का वोध हो, जिसने स्वार्थपरता का एकदम नाश कर डाला है, जिसका जीवन ज्ञान और प्रेम की शक्ति को प्राप्त करने मे तथा इनका विस्तार करने मे ही वीतता है, जो देश ऐसे ही सच्चरित्र, नैष्ठिक तथा आध्यात्मिक ब्राह्मणो, स्त्री तथा पुरुषो से परिपूर्ण है, वह देश यदि विधिनिषेध के परे हो, तो इसमे आश्चर्य की कौन सी वात है? ऐसे लोगो पर शासन करने के लिए सेना या पुलिस इत्यादि की क्या आवश्यकता है? ऐसे आदमियो पर शासन करने का ही क्या काम है? अथवा ऐसे लोगो को किसी शासन-तन्त्र के अधीन रहने की ही क्या जरूरत है। ये लोग साधुस्वभाव महात्मा हैं—ईश्वर के अन्तरगस्वरूप हैं, ये ही हमारे आदर्श ब्राह्मण हैं और हम शास्त्रो मे देखते हैं—सत्ययुग मे पृथ्वी पर केवल एक जाति थी और वह ब्राह्मण थी। महाभारत मे हम देखते हैं, पुराकाल मे सारी पृथ्वी पर केवल ब्राह्मणो का ही निवास था। क्रमश ज्यो ज्यो उनकी अवनति होने लगी,

यह जाति भिन्न भिन्न जातियों में विभक्त होती गयी। फिर, जब कम चक घूमता घूमता सत्ययुग आ पहुँचेगा तब फिर से सभी ब्राह्मण ही हो जायेंगे। वर्तमान युग चक भविष्य में सत्ययुग के आने की सूचना दे रहा है, इसी बात की ओर मैं तुम्हारा ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। ऊँची जातियों को नीची करने मनचाहे आहार विहार करने और क्षणिक सुख-भोग के लिए अपने अपने वर्णाश्रम-धर्म की मर्यादा तोड़ने से इस जातिभेद की समस्या हल नहीं होगी। इसकी मीमांसा तभी होगी जब हम लोगों में से प्रत्येक मनुष्य वेदान्ती धर्म का आदेश पालन करने लगेगा जब हर कोई सच्चा धार्मिक होने की चेष्टा करेगा और प्रत्येक व्यक्ति आदर्श बन जायगा। तुम आर्य हो या अनार्य ऋषि-सन्तान हो ब्राह्मण हो या अत्यन्त नीच अन्त्यज जाति के ही क्यों न हो भारतभूमि के प्रत्येक निवासी के प्रति तुम्हारे पूर्वपुरुषों का दिया हुआ एक महान् आदेश है। तुम सबके प्रति बस एक ही आदेश है कि चुपचाप बैठे रहने से काम न होगा। निरन्तर उन्नति के लिए चेष्टा करते रहना होगा। ऊँची से ऊँची जाति से लेकर नीची से नीची जाति के लोगों (पैरिया) को भी ब्राह्मण होने की चेष्टा करनी होगी। वेदान्त का यह आदर्श केवल भारतवर्ष के लिए ही नहीं वरन् सारे संसार के लिए उपयुक्त है। हमारे जातिभेद का लक्ष्य यही है कि धीरे धीरे सारी मानव जाति आध्यात्मिक मनुष्य के महान् आदर्श को प्राप्त करने के लिए अग्रसर हो जो धृति क्षमा शौच शान्ति उपासना और ध्यान का अभ्यासी है। इस आदर्श में ईश्वर की स्थिति स्वीकृत है।

इस उद्देश्य को कार्यरूप में परिणत करने का उपाय क्या है? मैं तुम लोगों को फिर एक बार याद दिला देना चाहता हूँ कि कोसने निन्दा करने या गालियों की बौछार करने से कोई सदुद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता। लगातार वर्षों तक इस प्रकार की कितनी ही चेष्टाएँ की गयी हैं, पर कभी अच्छा परिणाम प्राप्त नहीं हुआ। केवल पारस्परिक सद्भाव और प्रेम के द्वारा ही अच्छे परिणाम की आशा की जा सकती है। यह महान् विषय है और मेरी दृष्टि में जो योजनाएँ हैं उनकी व्याख्या के लिए कई भाषणों की आवश्यकता होगी जिनमें मैं प्रतिदिन उठनेवाले अपने विचारों को व्यक्त कर सकूँ। अतएव आज मैं यहीं पर अपनी वक्तृता का उपसंहार करता हूँ। हिन्दुओ! मैं तुम्हें केवल इतनी ही याद दिला देना चाहता हूँ कि हमारा यह राष्ट्रीय बेड़ा हमें सदियों से इस पार से उस पार करता आ रहा है। शायद आजकल इसमें कुछ छेद हो गये हैं शायद यह कुछ पुराना भी पड़ गया है। यदि यही बात है, तो हम सारे भारतवासियों को प्राणों की बाजी लगाकर इन छेदों को बन्द कर देने और इसका जीर्णोद्धार करने की चेष्टा करनी चाहिए। हमें अपने सभी देशभाइयों को इस खतरे की सूचना दे देनी चाहिए। वे जागें और

हमारी सहायता करें। मैं भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक जोर से चिल्लाकर लोगो को इस परिस्थिति और कर्तव्य के प्रति जागरूक करूँगा। मान लो, लोगो ने मेरी वात अनसुनी कर दी, तो भी मैं इसके लिए उन्हें न तो कोसूंगा और न भर्त्सना ही करूँगा। पुराने जमाने मे हमारी जाति ने वहुत वडे वडे काम किये हैं, और यदि हम उनसे भी वडे वडे काम न कर सकें, तो एक साथ ही शान्तिपूर्वक डूव मरने मे हमे सन्तोष होगा। देशभक्त वनो—जिस जाति ने अतीत मे हमारे लिए इतने वडे वडे काम किये हैं, उसे प्राणो से भी अधिक प्यारी समझो। हे स्वदेशवासियो! मैं ससार के अन्यान्य राष्ट्रो के साथ अपने राष्ट्र की जितनी ही अधिक तुलना करता हूँ, उतना ही अधिक तुम लोगो के प्रति मेरा प्यार वढता जाता है। तुम लोग शुद्ध, शान्त और सत्स्वभाव हो, और तुम्ही लोग सदा अत्याचारो से पीडित रहते आये हो—इस मायामय जड जगत् की पहेली ही कुछ ऐसी है। जो हो, तुम इसकी परवाह मत करो। अन्त मे आत्मा की ही जय अवश्य होगी। इस वीच आओ हम काम मे सलग्न हो जायँ। केवल देश की निन्दा करने से काम नही चलने का। हमारी इस परम पवित्र मातृभूमि के काल-जर्जर कर्मजीर्ण आचारो और प्रथाओ की निन्दा मत करो। एकदम अधविश्वासपूर्ण और अतार्किक प्रथाओ के विरुद्ध भी एक शब्द मत कहो, क्योकि उनके द्वारा भी अतीत मे हमारी जाति और देश का कुछ न कुछ उपकार अवश्य हुआ है। सदा याद रखना कि हमारी सामाजिक प्रथाओ के उद्देश्य ऐसे महान् हैं, जैसे ससार के किसी और देश की प्रथाओ के नही हैं। मैंने ससार मे प्राय सर्वत्र जाति-पाँति का भेदभाव देखा है, पर उद्देश्य ऐसा महिमामय नही है। अतएव, जब जातिभेद का होना अनिवार्य है, तब उसे धन पर खडा करने की अपेक्षा पवित्रता और आत्मत्याग के ऊपर खडा करना कही अच्छा है। इसलिए निन्दा के शब्दो का उच्चारण एकदम छोड दो। तुम्हारा मुँह वन्द हो और हृदय खुल जाय। इस देश और सारे जगत् का उद्धार करो। तुम लोगो मे से प्रत्येक को यह सोचना होगा कि सारा भार तुम्हारे ही ऊपर है। वेदान्त का आलोक घर घर ले जाओ, प्रत्येक जीवात्मा मे जो ईश्वरत्व अन्तर्निहित है, उसे जगाओ। तव तुम्हारी सफलता का परिमाण जो भी हो, तुम्हें इस वात का सन्तोष होगा कि तुमने एक महान् उद्देश्य की सिद्धि मे ही अपना जीवन बिताया है, कर्म किया है और प्राण उत्सर्ग किया है। जैसे भी हो, महत्-कार्य की सिद्धि होने पर मानव जाति का दोनो लोको मे कल्याण होगा।

तथा शुद्ध विकास हो सकता है, जितना कि इस विश्व में पहले कभी नही हुआ। हम इस बात के लिए आपके विशेष कृतज्ञ हैं कि आपने ससार के महान् धर्मों के प्रतिनिधियो का ध्यान हिन्दू धर्म के उस विशेष सिद्धान्त की ओर आकर्षित किया, जिसको 'विभिन्न धर्मों मे बन्धुत्व तथा सामजस्य' कहा जा सकता है। आज यह सम्भव नही रहा है कि कोई वास्तविक शिक्षित तथा सच्चा व्यक्ति इस बात का ही दावा करे कि सत्य तथा पवित्रता पर किसी एक विशेष स्थान, सम्प्रदाय अथवा वाद का ही स्वामित्व है या वह यह कहे कि कोई विशेष धर्म-मार्ग या दर्शन ही अन्त तक रहेगा और अन्य सब नष्ट हो जायँगे। यहाँ पर हम आप ही के उन सुन्दर शब्दो को दुहराते हैं, जिनके द्वारा श्रीमद्भागवद्गीता का केन्द्रीय सामजस्य भाव स्पष्ट प्रकट होता है कि 'ससार के विभिन्न धर्म एक प्रकार के यात्रास्वरूप है, जहाँ तरह तरह के स्त्री-पुरुष इकट्ठे हुए है तथा जो भिन्न भिन्न दशाओ तथा परिस्थितियो मे से होकर एक ही लक्ष्य की ओर जा रहे हैं।'

हम तो यह कहेंगे कि यदि आपने सिर्फ इस पुण्य एव उच्च उद्देश्य को ही, जो आपको सौंपा गया था, अपने कर्त्तव्य रूप मे निवाहा होता, तो उतने से ही आपके हिन्दू भाई बडी प्रसन्नता तथा कृतज्ञतापूर्वक आपके उस अमूल्य कार्य के लिए महान् आभार मानते। परन्तु आप केवल इतना ही न करके पाश्चात्य देशो मे भी गये, तथा वहाँ जाकर आपने जनता को ज्ञान तथा शान्ति का सदेश सुनाया जो भारतवर्ष के सनातन धर्म की प्राचीन शिक्षा है। वेदान्त धर्म के परम युक्तिसम्मत होने को प्रमाणित करने मे आपने जो यत्न किया है उसके लिए आपको हार्दिक धन्यवाद देते समय हमे आपके उस महान् सकल्प का उल्लेख करते हुए बडा हर्ष होता है, जिसके आधार पर प्राचीन हिन्दू धर्म तथा हिन्दू दर्शन के प्रचार के लिए अनेकानेक केन्द्रो वाला एक सक्रिय मिशन स्थापित होगा। आप जिन प्राचीन आचार्यों के पवित्र मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं, एव जिस महान् गुरु ने आपके जीवन और उसके उद्देश्यो को उत्प्रेरित किया है, उन्हीके योग्य अपने को सिद्ध करने के लिए आपने इस महान् कार्य मे अपनी सारी शक्ति लगाने का सकल्प किया है। हम इस बात के प्रार्थी हैं कि ईश्वर हमे वह सुअवसर दे जिसमे कि हम आपके साथ इस पुण्य कार्य मे सहयोग दे सके। साथ ही हम उस सर्व-शक्तिमान दयालु परमपिता परमेश्वर से करबद्ध होकर यह भी प्रार्थना करते हैं कि वह आपको चिरजीवी करे, शक्तिशाली बनाए तथा आपके प्रयत्नो को वह गौरव तथा सफलता प्रदान करे जो सनातन सत्य के ललाट पर सदैव अकित रहती है।

इसके बाद खेतडी के महाराजा का निम्नलिखित मानपत्र भी पढा गया

पूज्यपाद स्वामी जी

इस अवसर पर जब कि आप मद्रास पधारे हैं, मैं यथाशक्ति शीघ्रातिशीघ्र आपकी सेवा में उपस्थित होकर, विशेष रूप से आपके कुशलपूर्वक वापस लौट आने पर अपनी हार्दिक प्रसन्नता प्रकट करता हूँ तथा पाश्चात्य देशों में आपके निःस्वार्थ प्रयत्नों को जो सफलता प्राप्त हुई है, उस पर आपको हार्दिक बधाई देता हूँ। हम जानते हैं कि ये पाश्चात्य देश वे ही हैं, जिनके विद्वानों का यह दावा है कि 'यदि किसी क्षेत्र में विज्ञान ने अपना अधिकार जमा लिया तो फिर धर्म की मजाल भी नहीं है कि वह वहाँ अपना पैर रख सके' यद्यपि सच बात तो यह है कि विज्ञान ने स्वयं अपने को कभी भी सच्चे धर्म का विरोधी नहीं ठहराया। हमारा यह पवित्र आर्यावर्त देश इस बात में विशेष भाग्यशाली है कि शिकागो की धर्म-महासभा में प्रतिनिधि के रूप में जाने के लिए उसे आप जैसा एक महापुरुष मिल सका और, स्वामी जी यह केवल आपकी ही विद्वत्ता साहसिकता तथा अदम्य उत्साह का फल है कि पाश्चात्य देश वाले भी यह बात भली भाँति जान गए कि आज भी भारत के पास आध्यात्मिकता की कैसी असीम निधि है। आपके प्रयत्नों के फलस्वरूप आज यह बात पूर्ण रूप से सिद्ध हो गई है कि संसार के अनेकानेक मतमतान्तरों के विरोधाभास का सामंजस्य वेदान्त के सार्वभौम प्रकाश में हो सकता है। और संसार के लोगों को यह बात भली भाँति समझ लेने तथा इस महान् सत्य को कार्यान्वित करने की आवश्यकता है कि विश्व के विकास में प्रकृति की सदैव योजना रही है 'विविधता में एकता'। साथ ही विभिन्न धर्मों में समन्वय बन्धुत्व तथा पारस्परिक सहानुभूति एवं सहायता द्वारा ही मनुष्य जाति का जीवनव्रत संचालित एवं उसका चरमोद्देश्य सिद्ध होना सम्भव है। आपके महान् तथा पवित्र तत्त्वावधान में तथा आपकी श्रेष्ठ शिक्षाओं के स्फूर्तिदायक प्रभाव के आधार पर हम वर्तमान पीढ़ी के लोगों को इस बात का सौभाग्य प्राप्त हुआ है कि हम अपनी ही आँखों के सामने संसार के इतिहास में एक उस युग का प्रादुर्भाव देख सकेंगे जिसमें धर्मान्धता घृणा तथा संघर्ष का नाश होकर, मुझे आशा है कि शान्ति सहानुभूति तथा प्रेम का साम्राज्य होगा। और मैं अपनी प्रजा के साथ ईश्वर से यह प्रार्थना करता हूँ कि उसकी कृपा आप पर तथा आपके प्रयत्नों पर सदैव बनी रहे!

जब यह मानपत्र पढ़ा जा चुका तो स्वामी जी सभामंडप से उतर गये और एक गाड़ी में चढ़ गये जो उन्हीं के लिए खड़ी थी। स्वामी जी के स्वागत के लिए आई हुई जनता की भीड़ इतनी जबरदस्त थी तथा उसमें ऐसा जोश समाया था कि उस अवसर पर तो स्वामी जी केवल निम्नलिखित संक्षिप्त उत्तर ही दे सके, अपना पूर्ण उत्तर उन्होंने किसी दूसरे अवसर के लिए स्थगित रखा।

स्वामी जी का उत्तर

वन्धुओ, मनुष्य की इच्छा एक होती है परन्तु ईश्वर की दूसरी। विचार यह था कि तुम्हारे मानपत्र का पाठ तथा मेरा उत्तर ठीक अग्रेज़ी शैली पर हो, परन्तु यही ईश्वरेच्छा दूसरी प्रतीत होती है—मुझे इतने वडे जनसमूह से 'रथ' मे चढकर गीता के ढग से वोलना पड रहा है। इसके लिए हम कृतज्ञ ही हैं, अच्छा ही है कि ऐसा हुआ। इससे भाषण मे स्वभावत ओज आ जायगा तथा जो कुछ मैं तुम लोगो से कहूँगा उसमे शक्ति का सचार होगा। मैं कह नही सकता कि मेरी आवाज़ तुम सब तक पहुँच सकेगी या नही, परन्तु मैं यत्न करूँगा। इसके पहले शायद खुले मैदान मे व्यापक जनसमूह के सामने भाषण देने का अवसर मुझे कभी नही मिला था।

जिस अपूर्व स्नेह तथा उत्साहपूर्वक उल्लास से मेरा कोलम्बो से लेकर मद्रास पर्यन्त स्वागत किया गया है तथा जैसा लगता है कि सम्पूर्ण भारतवर्ष मे किये जाने की सम्भावना है, वह मेरी सर्वाधिक स्वप्नमयी रगीन आशाओ से भी अधिक है। परन्तु इससे मुझे हर्ष ही होता है। और वह इसलिए कि इसके द्वारा मुझे अपना वह कथन प्रत्येक वार सिद्ध होता दिखाई देता है जो मैं कई बार पहले भी व्यक्त कर चुका हूँ कि प्रत्येक राष्ट्र का एक ध्येय उसके लिए सजीवनीस्वरूप होता है, प्रत्येक राष्ट्र का एक विशेष निर्धारित मार्ग होता है, और भारतवर्ष का विशेषत्व है धर्म। ससार के अन्य देशो मे धर्म तो केवल कई बातो मे से एक है, असल मे वहाँ तो वह एक छोटी सी चीज़ गिना जाता है। उदाहरणार्थ, इग्लैंड मे धर्म राष्ट्रीय नीति का केवल एक अश है, इग्लिश चर्च शाही घराने की एक चीज़ है और इसीलिए उनकी चाहे उसमे श्रद्धा-भक्ति हो अथवा नही, वे उसके सहायक सदैव वने रहेंगे, क्योकि वे तो यह समझते हैं कि वह उनका चर्च है। और प्रत्येक भद्र पुरुष तथा महिला से यही आशा की जाती है कि वह उसी चर्च का एक सदस्य बनकर रहे, और वही मानो भद्रता का चिह्न है। इसी प्रकार अन्य देशो मे भी एक एक प्रबल राष्ट्रीय शक्ति होती है, यह शक्ति या तो जबरदस्त राजनीति के रूप मे दिखाई देती है अथवा किसी बौद्धिक खोज के रूप मे। इसी प्रकार कही या तो यह सैन्यवाद के रूप मे दिखाई देती है अथवा वाणिज्यवाद के रूप मे। कह सकते है कि उन्ही क्षेत्रो मे राष्ट्र का हृदय स्थित रहता है और इस प्रकार धर्म तो उस राष्ट्र की अन्य बहुत सी चीजो मे से केवल एक ऊपरी सजावट की सी चीज़ रह जाती है।

पर भारतवर्ष मे धर्म ही राष्ट्र के हृदय का मर्मस्थल है, इसीको राष्ट्र की रीढ कह लो अथवा वह नीव समझो जिसके ऊपर राष्ट्ररूपी इमारत खडी है। इस देश

में राजनीति यहाँ तक कि बुद्धिविलास भी गौण समझे जाते हैं। भारत में धर्म को सर्वोपरि समझा जाता है। मैंने यह बात सैकड़ों बार सुनी है कि भारतीय जनता साधारण जानकारी की बातों में भी प्रवीण नहीं है और यह बात सचमुच ठीक भी है। जब मैं कोलम्बो में उतरा तो मुझे यह पता चला कि वहाँ किसी को भी इस बात का ज्ञान न था कि यूरोप में कैसी राजनीतिक उथलपुथल मची हुई है, वहाँ क्या क्या परिवर्तन हो रहे हैं, मन्त्रिमंडल की कैसी हार हो रही है, आदि आदि। एक भी व्यक्ति को यह ज्ञान न था कि समाजवाद, अराजकतावाद आदि शब्दों का अथवा यूरोप के राजनीतिक वातावरण में अमुक परिवर्तन का क्या अर्थ है। परन्तु दूसरी ओर यदि तुम लंका के ही लोगों को ले लो तो वहाँ के प्रत्येक स्त्री-पुरुष तथा बच्चे बच्चे को मालूम था कि उनके देश में एक भारतीय सन्यासी आया है जो शिकागो की धर्म-महासभा में भाग लेने के लिए भेजा गया था तथा जिसने वहाँ अपने क्षेत्र में सफलता प्राप्त की। इससे सिद्ध होता है कि उस देश के लोग, जहाँ तक ऐसी सूचना से सम्बन्ध है, जो उनके मतलब की है अथवा जिससे उनके दैनिक जीवन का सम्बन्ध है, उससे वे वाकिफ अवश्य हैं तथा जानने की इच्छा रखते हैं। राजनीति तथा इस प्रकार की अन्य बातें भारतीय जीवन के अत्यावश्यक विषय कभी नहीं रहे हैं। परन्तु धर्म एवं आध्यात्मिकता ही एक ऐसा मुख्य आधार रहे है जिसके ऊपर भारतीय जीवन निर्भर रहा है तथा फला-फूला है और इतना ही नहीं भविष्य में भी इसे इसीपर निर्भर रहना है।

संसार के राष्ट्रों द्वारा बड़ी समस्याओं का समाधान हो रहा है। भारत ने सर्वदा एक का पक्ष ग्रहण किया है तथा अन्य समस्त संसार ने दूसरे का पक्ष। वह समस्या यह है कि भविष्य मे कौन टिक सकेगा? क्या कारण है कि एक राष्ट्र जीवित रहता है तथा दूसरा नष्ट हो जाता है? जीवनसंग्राम में घृणा टिक सकती है अथवा प्रेम, भोगविलास चिरस्थायी है अथवा त्याग, भौतिकता टिक सकती है या आध्यात्मिकता। हमारी विचारधारा उसी प्रकार की है जैसी हमारे पूर्वजो की अति प्राचीन प्रागैतिहासिक काल में थी। जिस अन्धकारमय प्राचीन काल तक पौराणिक परम्पराएँ भी पहुँच नहीं सकतीं उसी समय हमारे यशस्वी पूर्वजों ने अपनी समस्या के पक्ष का ग्रहण कर लिया और संसार को चुनौती दे दी। हमारी समस्या को हल करने का रास्ता है वैराग्य, त्याग, निर्भीकता तथा प्रेम। बस ये ही सब टिकने योग्य हैं। जो राष्ट्र इन्द्रियों की आसक्ति का त्याग कर देता है, वही *टिक सकता है। और इसका प्रमाण यह है कि आज हमें इतिहास इस बात की गवाही* दे रहा है कि प्रायः प्रत्येक सदी में बरसाती मेढकों की तरह नये राष्ट्रों का उत्थान तथा पतन हो रहा है—लगभग शून्य से प्रारम्भ करते हैं, कुछ दिनों तक उपद्रव

मचाते है और फिर समाप्त हो जाते हैं। परन्तु यह भारत का महान् राष्ट्र जिसको अनेकानेक ऐसे दुर्भाग्यो, खतरो तथा उथलपुथल की कठिनतम समस्याओ से उलझना पडा है, जैसा कि ससार के किसी अन्य राष्ट्र को करना नही पडा, आज भी कायम है, टिका हुआ है, और इसका कारण है सिर्फ वैराग्य तथा त्याग क्योकि यह स्पष्ट ही है कि बिना त्याग के धर्म रह ही नही सकता। इसके विपरीत यूरोप एक दूसरी ही समस्या के सुलझाने मे लगा हुआ है। उसकी समस्या यह है कि एक आदमी अधिक से अधिक कितनी सम्पत्ति इकट्ठा कर सकता है, वह कितनी शक्ति जुटा सकता है, भले ही वह ईमानदारी से हो या बेईमानी से, नेकनामी से हो या बदनामी से। क्रूर, निर्दय, हृदयहीन, प्रतिद्वन्द्विता, यही यूरोप का नियम रहा है। पर हमारा नियम रहा है वर्ण-विभाग, प्रतिस्पर्धा का नाश, प्रतिस्पर्धा के बल को रोकना, इसके अत्याचारो को रौंद डालना तथा इस रहस्यमय जीवन मे मानव का पथ शुद्ध एव सरल बना देना।

स्वामी जी का भाषण इस प्रकार हो ही रहा था कि इस अवसर पर जनता की ऐसी भीड उमडी कि उनका भाषण सुनना कठिन हो गया। इसलिए स्वामी जी ने यह कहकर ही सक्षेप मे अपना भाषण समाप्त कर दिया।

मित्रो, मैं तुम्हारा जोश देखकर बहुत प्रसन्न हूँ, यह परम प्रशसनीय है। यह मत सोचना कि मैं तुम्हारे इस भाव को देखकर नाराज़ हूँ, बल्कि मैं तो खुश हूँ, बहुत खुश हूँ—बस ऐसा ही अदम्य उत्साह चाहिए, ऐसा ही जोश हो। सिर्फ इतना ही है कि इसे चिरस्थायी रखना—इसे बनाये रखना। इस आग को बुझ मत जाने देना। हमे भारत मे बहुत बडे बडे कार्य करने हैं। उसके लिए मुझे तुम्हारी सहायता की आवश्यकता है। ठीक है, ऐसा ही जोश चाहिए। अच्छा, अब इस सभा को जारी रखना असम्भव प्रतीत होता है। तुम्हारे सदय व्यवहार तथा जोशीले स्वागत के लिए मैं तुम्हें अनेक धन्यवाद देता हूँ। किसी दूसरे मौके पर शान्ति मे हम-तुम फिर कुछ और बातचीत तथा भावविनिमय करेगे—मित्रो, अभी के लिए नमस्ते।

चूँकि तुम लोगो की भीड चारो ओर है और चारो ओर घूमकर व्याख्यान देना असम्भव है, इसलिए इस समय तुम लोग केवल मुझे देखकर ही सतुष्ट हो जाओ। अपना विस्तृत व्याख्यान मैं फिर किसी दूसरे अवसर पर दूँगा। तुम्हारे उत्साहपूर्ण स्वागत के लिए पुन धन्यवाद।

मेरी क्रान्तिकारी योजना

[मद्रास के विक्टोरिया हॉल में दिया गया भाषण]

उस दिन अधिक भीड़ के कारण मैं व्याख्यान समाप्त नहीं कर सका था अतएव मद्रास निवासी मेरे प्रति जो निरन्तर सदय व्यवहार करते आये हैं उसके लिए आज मैं उन्हें अनेकानेक धन्यवाद देता हूँ। मैं यह नहीं जानता कि अभिनन्दन-पत्रों में मेरे लिए जो सुन्दर सुन्दर विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, उनके लिए मैं किस प्रकार अपनी कृतज्ञता प्रकट करूँ। मैं प्रभु से इतनी ही प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे इन कृपापूर्ण तथा उदार प्रशंसाओं के योग्य बना दें और इस योग्य भी कि मैं अपना सारा जीवन अपने धर्म और मातृभूमि की सेवा में अर्पण कर सकूँ प्रभु मुझे इनके योग्य बनाये।

मैं समझता हूँ कि मुझमें अनेक दोषों के होते हुए भी थोड़ा साहस है। मैं भारत से पाश्चात्य देशों में कुछ सन्देश ले गया था और उसे मैंने निर्भीकता से अमरिका और इंग्लैण्डवासियों के सामने प्रकट किया। आज का विषय आरम्भ करने के पूर्व मैं साहसपूर्वक दो शब्द तुम लोगों से कहना चाहता हूँ। कुछ दिनों से मेरे चारों ओर कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हो रही हैं, जो मेरे कार्य की उन्नति में विशेष रूप से विघ्न डालने की चेष्टा कर रही हैं यहाँ तक कि यदि सम्भव हो सके तो वे मुझे एकबारगी कुचल कर मेरा अस्तित्व ही नष्ट कर डालें। पर ईश्वर को धन्यवाद कि ये सारी चेष्टाएँ विफल हो गयी हैं, और इस प्रकार की चेष्टाएँ सदैव विफल ही सिद्ध होती हैं। मैं गत तीन वर्षों से देख रहा हूँ कुछ लोग मेरे एवं मेरे कार्यों के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्त धारणाएँ बनाये हुए हैं। जब तक मैं विदेश में था मैं चुप रहा मैं एक शब्द भी नहीं बोला। पर आज मैं अपने देश की भूमि पर खड़ा हूँ मैं स्पष्टीकरण के रूप में कुछ शब्द कहना चाहता हूँ। इन शब्दों का क्या फल होगा अथवा ये शब्द तुम लोगों के हृदय में किन किन भावों का उद्रेक करेंगे इसकी मैं परवाह नहीं करता। मुझे बहुत कम चिन्ता है क्योंकि मैं वही संन्यासी हूँ जिसने लगभग चार वर्ष पहले अपने दंड और कमंडल के साथ तुम्हारे नगर में प्रवेश किया था और वही सारी दुनिया इस समय भी मेरे सामने पड़ी है।

विना और अधिक भूमिका के मैं अव अपने विषय को आरम्भ करता हूँ। सबसे पहले मुझे थियोसॉफिकल सोसायटी के सम्बन्ध मे कुछ कहना है। यह कहने की आवश्यकता नही कि उक्त सोसायटी से भारत का कुछ भला हुआ है और इसके लिए प्रत्येक हिन्दू उक्त सोसायटी और विशेषकर श्रीमती वेसेंट का कृतज्ञ है। यद्यपि मैं श्रीमती वेसेंट के सम्बन्ध मे वहुत कम ही जानता हूँ, पर जो कुछ भी मुझे उनके वारे मे मालूम है, उसके आधार पर मेरी यह धारणा है कि वे हमारी मातृभूमि की सच्ची हितचिन्तक हैं और यथाशक्ति उसकी उन्नति की चेष्टा कर रही हैं, इसलिए वे प्रत्येक सच्ची भारत-सन्तान की विशेष कृतज्ञता की अधिकारिणी हैं। प्रभु उन पर तथा उनसे सम्बन्धित सब पर आशीर्वाद की वर्षा करें! परन्तु यह एक बात है, और थियोसॉफिकल सोसायटी मे सम्मिलित होना एक दूसरी बात। भक्ति, श्रद्धा और प्रेम एक बात है, और कोई मनुष्य जो कुछ कहे, उसे बिना विचारे, बिना तर्क किये, बिना उसका विश्लेषण किये निगल जाना सर्वथा दूसरी बात। एक अफवाह चारो ओर फैल रही है और वह यह कि अमेरिका और इग्लैण्ड मे जो कुछ काम मैंने किया है, उसमे थियोसॉफिस्टो ने मेरी सहायता की है। मैं तुम लोगो को स्पष्ट शब्दो मे बता देना चाहता हूँ कि इसका प्रत्येक शब्द गलत है, प्रत्येक शब्द झूठ है। हम लोग इस जगत् मे उदार भावो एव भिन्न मतवालो के प्रति सहानभूति के सम्बन्ध मे बडी लम्बी-चौडी बातें सुना करते हैं। यह है तो बहुत अच्छी बात, पर कार्यत हम देखते हैं कि जब कोई मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य की सब बातो मे विश्वास करता है, केवल तभी तक वह उससे सहानुभूति पाता है, पर ज्यो ही वह किसी विषय मे उससे भिन्न विचार रखने का साहस करता है, त्यो ही वह सहानभूति गायब हो जाती है, वह प्रेम खत्म हो जाता है। फिर, कुछ ऐसे भी लोग हैं, जिनका अपना अपना स्वार्थ रहता है। और यदि किसी देश मे ऐसी कोई बात हो जाय, जिससे उनके स्वार्थ मे कुछ धक्का लगता हो, तो उनके हृदय मे इतनी ईर्ष्या और घृणा उत्पन्न हो जाती है कि वे उस समय क्या कर डालेंगे, कुछ कहा नही जा सकता। यदि हिन्दू अपने घरो को साफ करने की चेष्टा करते हो, तो इससे ईसाई मिशनरियो का क्या बिगडता है? यदि हिन्दू प्राणपण से अपना सुधार करने का प्रयत्न करते हो, तो इसमे ब्राह्मसमाज और अन्यान्य सुधारसस्थाओ का क्या जाता है? ये लोग हिन्दुओ के सुधार के विरोध मे क्यो खडे हो? ये लोग इस आन्दोलन के प्रवलतम शत्रु क्यो हो? क्यो?— यही मेरा प्रश्न है। मेरी समझ मे तो उनकी घृणा और ईर्ष्या की मात्रा इतनी अधिक है कि इस विषय मे उनसे किसी प्रकार का प्रश्न करना भी सर्वथा निरर्थक है।

आज से चार वर्ष पहले जब मैं अमेरिका जा रहा था—सात समुद्र पार, बिना किसी परिचय-पत्र के बिना किसी जान-पहचान के एक धनहीन मित्रहीन अज्ञात सन्यासी के रूप में—तब मैंने थियोसॉफिकल सोसायटी के नेता से भेंट की। स्वभावत मैंने सोचा था कि जब ये अमेरिकावासी हैं और भारत-भक्त हैं तो सम्भवत अमेरिका के किसी सज्जन के नाम मुझे एक परिचय-पत्र दे देंगे। किन्तु जब मैंने उनके पास जाकर इस प्रकार के परिचय-पत्र के लिए प्रार्थना की तो उन्होंने पूछा "क्या आप हमारी सोसायटी के सदस्य बनेंगे ? मैंने उत्तर दिया 'नहीं मैं किस प्रकार आपकी सोसायटी का सदस्य हो सकता हूँ ? मैं तो आपके अधिकांश सिद्धान्तों पर विश्वास नहीं करता। उन्होंने कहा "तब मुझे खेद है मैं आपके लिए कुछ भी नहीं कर सकता। क्या यही मेरे लिए रास्ता बना देना था ? जो हो मैं अपने कतिपय मद्रासी मित्रों की सहायता से अमेरिका गया। उन मित्रों में से अनेक यहाँ पर उपस्थित हैं, केवल एक ही अनुपस्थित है, न्यायाधीश सुब्रह्मण्य अय्यर जिनके प्रति अपनी परम कृतज्ञता प्रकट करना शेष है। उनमें प्रतिभाशाली पुरुष की अन्तर्दृष्टि विद्यमान है। इस जीवन में मेरे सच्चे मित्रों में से वे एक हैं वे भारत माता के सच्चे सपूत हैं। अस्तु, धर्म-महासभा के कई मास पूर्व ही मैं अमेरिका पहुँच गया। मेरे पास रुपये बहुत कम थे और वे शीघ्र ही समाप्त हो गये। इधर जाड़ा भी आ गया और मेरे पास थे सिर्फ गरमी के कपड़े। उस घोर शीतप्रधान देश म मैं आखिर क्या करूँ यह कुछ सूझता न था। यदि मैं मार्ग में भीख माँगने लगता तो परिणाम यही होता कि मैं जेल भेज दिया जाता। उस समय मेरे पास केवल कुछ ही डालर बचे थे। मैंने अपने मद्रासवासी मित्रों के पास तार भेजा। यह बात थियोसॉफिस्टों को मालूम हो गयी और उनमें से एक ने लिखा अब शैतान शीघ्र ही मर जायगा ईश्वर की कृपा से अच्छा ही हुआ। बला टली ! तो क्या यही मेरे लिए रास्ता बना देना था ? मैं ये बातें इस समय कहना नहीं चाहता था किन्तु मेरे देशवासी यह सब जानने के इच्छुक थे अत कहनी पड़ीं। गत तीन वर्षों तक इस सम्बन्ध मे एक शब्द भी मैंने मुँह से नहीं निकाला। चुपचाप रहना ही मेरा मूलमन्त्र रहा किन्तु आज मे बातें मुँह से निकल पड़ीं। पर बात यहीं पर पूरी नहीं हो जाती। मैंने धर्म-महासभा में कई थियोसॉफिस्टों को देखा। मैंने उनसे बातचीत करने और मिलने-जुलने की चेष्टा की। उन लोगो ने जिस अवज्ञा भरी दृष्टि से मेरी ओर देखा वह आज भी मेरी नजरों पर नाच रही है—मानो वह कह रही थी "यह कहाँ का क्षुद्र कीड़ा यहाँ देवताओं के बीच आ गया ? मैं पूछता हूँ क्या यही मेरे लिए रास्ता बना देना था ? हाँ तो धर्म-महासभा मे मेरा बहुत नाम तथा यश हो गया और तब से मेरे ऊपर अत्यधिक कार्य भार आ गया। पर प्रत्येक स्थान

पर इन लोगो ने मुझे दबाने की चेष्टा की। थियोसॉफिकल सोसायटी के सदस्यो को मेरे व्याख्यान सुनने की मनाही कर दी गयी। यदि वे मेरी वक्तृता सुनने आते, तो वे सोसायटी की सहानुभूति खो देते, क्योकि इस सोसायटी के गुप्त (एसोटेरिक) विभाग का यह नियम ही है कि जो मनुष्य उक्त विभाग का सदस्य होता है, उसे केवल कुथमी और मोरिया (वे जो भी हो) के पास से ही शिक्षा ग्रहण करनी पडती है—अवश्य इनके दृश्य प्रतिनिधि, मिस्टर जज और मिसेज़ बेसेन्ट से। अत उक्त विभाग के सदस्य होने का अर्थ यह है कि मनुष्य अपना स्वाधीन विचार बिल्कुल छोडकर पूर्ण रूप से इन लोगो के हाथ मे आत्मसमर्पण कर दे। निश्चय ही मैं ये सब बातें नही कर सकता था, और जो मनुष्य ऐसा करे, उसे मैं हिन्दू कह भी नही सकता। मेरे हृदय मे स्वर्गीय मिस्टर जज के लिए बडी श्रद्धा है। वे गुणवान, उदार, सरल और थियोसॉफिस्टो के योग्यतम प्रतिनिधि थे। उनमे और श्रीमती बेसेन्ट मे जो विरोध हुआ था, उसके सम्बन्ध मे कुछ भी राय देने का मुझे अधिकार नही है, क्योकि दोनो ही अपने अपने 'महात्मा' की सत्यता का दावा करते हैं। और यहाँ आश्चर्य की बात तो यह है कि दोनो एक ही 'महात्मा' का दावा करते हैं। ईश्वर जाने, सत्य क्या है—वे ही एकमात्र निर्णायक हैं। और जब दोनो पक्षो मे प्रमाण की मात्रा बराबर है, तब ऐसी अवस्था मे किसी भी पक्ष मे अपनी राय प्रकट करने का किसी को अधिकार नही।

हाँ, तो इस प्रकार उन लोगो ने समस्त अमेरिका मे मेरे लिए मार्ग प्रशस्त किया। पर वे यही पर नही रुके, वे दूसरे विरोधी पक्ष—ईसाई मिशनरियो—से जा मिले। इन ईसाई मिशनरियो ने मेरे विरुद्ध ऐसे ऐसे भयानक झूठ गढे, जिनकी कल्पना तक नही की जा सकती। यद्यपि मैं उस परदेश मे अकेला और मित्रहीन था, तथापि उन्होंने प्रत्येक स्थान मे मेरे चरित्र पर दोषारोपण किया। उन्होंने मुझे प्रत्येक मकान से बाहर निकाल देने की चेष्टा की, और जो भी मेरा मित्र बनता, उसे मेरा शत्रु बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने मुझे भूखो मार डालने की कोशिश की, और यह कहते मुझे दु ख होता है कि इस काम मे मेरे एक भारतवासी भाई का भी हाथ था। वे भारत मे एक सुधारक दल के नेता हैं। ये सज्जन प्रतिदिन घोषित करते है कि 'ईसा भारत मे आये हैं।' तो क्या इसी प्रकार ईसा भारत मे आयेंगे? क्या इसी प्रकार भारत का सुधार होगा? इन सज्जन को मैं अपने बचपन से ही जानता था, ये मेरे परम मित्र भी थे। जब मैं उनसे मिला, तो बडा ही प्रसन्न हुआ, क्योकि मैंने बहुत दिनो से अपने किसी देशभाई को नही देखा था। पर उन्होंने मेरे प्रति ऐसा व्यवहार किया! जिस दिन धर्म-महासभा ने मुझे सम्मानित किया, जिस दिन शिकागो में मैं लोकप्रिय हो गया, उसी दिन से

आज से चार वर्ष पहले जब मैं अमेरिका जा रहा था—सात समुद्र पार, बिना किसी परिचय-पत्र के बिना किसी जान-पहचान के एक धनहीन मित्रहीन अज्ञात संन्यासी के रूप में—तब मैंने थियोसॉफ़िकल सोसायटी के नेता से भेंट की। स्वभावतः मैंने सोचा था कि जब ये अमेरिकावासी हैं और भारत भक्त हैं, तो सम्भवतः अमेरिका के किसी सज्जन के नाम मुझे एक परिचय-पत्र दे देंगे। किन्तु जब मैंने उनके पास जाकर इस प्रकार के परिचय-पत्र के लिए प्रार्थना की तो उन्होंने पूछा "क्या आप हमारी सोसायटी के सदस्य बनेंगे? मैंने उत्तर दिया "नहीं मैं किस प्रकार आपकी सोसायटी का सदस्य हो सकता हूँ? मैं तो आपके अधिकांश सिद्धान्तों पर विश्वास नहीं करता। उन्होंने कहा 'तब मुझे खेद है मैं आपके लिए कुछ भी नहीं कर सकता। क्या यही मेरे लिए रास्ता बना देना था? जो हो मैं अपने कतिपय मद्रासी मित्रों की सहायता से अमेरिका गया। उन मित्रों में से अनेक यहाँ पर उपस्थित हैं केवल एक ही अनुपस्थित हैं, न्यायाधीश सुब्रह्मण्य अय्यर जिनके प्रति अपनी परम कृतज्ञता प्रकट करना शेष है। उनमें प्रतिभाशाली पुरुष की अन्तर्दृष्टि विद्यमान है। इस जीवन में मेरे सच्चे मित्रों में से वे एक हैं वे भारत माता के सच्चे सपूत हैं। अस्तु, धर्म-महासभा के कई मास पूर्व ही मैं अमेरिका पहुँच गया। मेरे पास रुपये बहुत कम थे और वे शीघ्र ही समाप्त हो गये। इधर जाड़ा भी आ गया और मेरे पास थे सिर्फ़ गरमी के कपड़े। उस घोर शीतप्रधान देश में मैं आखिर क्या करूँ यह कुछ सूझता न था। यदि मैं मार्ग में भीख माँगने लगता तो परिणाम यही होता कि मैं जेल भेज दिया जाता। उस समय मेरे पास केवल कुछ ही डालर बचे थे। मैंने अपने मद्रासवासी मित्रों के पास तार भेजा। यह बात थियोसॉफ़िस्टों को मालूम हो गयी और उनमें से एक ने लिखा अब शैतान शीघ्र ही मर जायगा ईश्वर की कृपा से अच्छा हीं हुआ। बला टली! तो क्या यही मेरे लिए रास्ता बना देना था? मैं ये बातें इस समय कहना नहीं चाहता था किन्तु मेरे देशवासी यह सब जानने के इच्छुक थे अतः कहनी पड़ीं। गत तीन वर्षों तक इस सम्बन्ध में एक शब्द भी मैंने मुँह से नहीं निकाला। चुपचाप रहना ही मेरा मूलमन्त्र रहा किन्तु आज ये बातें मुँह से निकल पड़ीं। पर बात यहीं पर पूरी नहीं हो जाती। मैंने धर्म-महासभा में कई थियोसॉफ़िस्टों को देखा। मैंने उनसे बातचीत करने और मिलने-जुलने की चेष्टा की। उन लोगों ने जिस अवज्ञा भरी दृष्टि से मेरी ओर देखा वह आज भी मेरी नज़रों पर नाच रही है—मानो वह कह रही थी "यह यहाँ का क्षुद्र कीड़ा यहाँ देवताओं के बीच आ गया? मैं पूछता हूँ क्या यही मेरे लिए रास्ता बना देना था? हाँ तो धर्म-महासभा में मेरा बहुत नाम हो गया और तब से मेरे ऊपर अत्यधिक कार्य भार आ गया। पर प्रत्येक स्थान

सबका दास बना सके। मैं उन्ही महापुरुष के श्री चरणो को अपने मस्तक पर धारण किये हूँ। वे ही मेरे आदर्श हैं—मैं उन्ही आदर्श पुरुष के जीवन का अनुकरण करने की चेष्टा करूँगा। सबका सेवक बनकर ही एक हिन्दू अपने को उन्नत करने की चेष्टा करता है। उसे इसी प्रकार, न कि विदेशी प्रभाव की सहायता से, सर्वसाधारण को उन्नत करना चाहिए। बीस वर्ष की पश्चिमी सभ्यता मेरे मन मे उस मनुष्य का दृष्टान्त उपस्थित कर देती है, जो विदेश मे अपने मित्र को भूखा मार डालना चाहता है। क्यो?—केवल इसीलिए कि उसका मित्र लोकप्रिय हो गया है और उसके विचार मे वह मित्र उसके धनोपार्जन मे बाधक होता है। और असल, सनातन हिन्दू धर्म के उदाहरणस्वरूप हैं ये दूसरे व्यक्ति, जिनके सम्बन्ध मे मैंने अभी कहा है। इससे विदित हो जायगा कि सच्चा हिन्दू धर्म किस प्रकार कार्य करता है। हमारे इन सुधारको मे से एक भी, ऐसा जीवन गठन करके दिखाये तो सही जो एक पैरिया की भी सेवा के लिए तत्पर हो। फिर तो मैं उसके चरणो के समीप बैठकर शिक्षा ग्रहण करूँ, पर हाँ, उसके पहले नही। लम्बी-चौडी बातो की अपेक्षा थोडा कुछ कर दिखाना लाख गुना अच्छा है।

अब मैं मद्रास की समाज-सुधारक समितियो के बारे मे कुछ कहूँगा। उन्होने मेरे साथ बडा सदय व्यवहार किया है। उन्होंने मेरे लिए अनेक मधुर शब्दो का प्रयोग किया है और मुझे बताया है कि मद्रास और बगाल के समाज-सुधारको मे बडा अन्तर है। मैं उनसे इस बात मे सहमत हूँ। मैंने अक्सर तुम लोगो से कहा है, और यह तुम लोगो मे से बहुतो को याद भी होगा कि मद्रास इस समय बडी अच्छी अवस्था मे है। बगाल मे जैसी क्रिया-प्रतिक्रिया चल रही है, वैसी मद्रास मे नही है। यहाँ पर धीरे धीरे स्थायी रूप से सब विषयो मे उन्नति हो रही है, यहाँ पर समाज का क्रमश विकास हो रहा है, किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नही। बगाल मे कही कही कुछ कुछ पुनरुत्थान हुआ है, पर मद्रास मे यह पुनरुत्थान नही है, यह है समाज की स्वाभाविक उन्नति। अतएव दोनो प्रदेशो के निवासियो की विभिन्नता के सम्बन्ध मे समाज-सुधारक जो कुछ कहते हैं, उनसे मैं सर्वथा सहमत हूँ। परन्तु एक विभिन्नता और है, जिसे वे नही समझते। इन सस्थाओ मे से कुछ मुझे डराकर अपना सदस्य बनाना चाहती हैं। ये लोग ऐसा करें, यह एक आश्चर्यजनक बात है। जो मनुष्य अपने जीवन के चौदह वर्षों तक लगातार फाकाकशी का मुकाबला करता रहा हो, जिसे यह भी न मालूम रहा हो कि दूसरे दिन का भोजन कहाँ से आयेगा, सोने के लिए स्थान कहाँ मिलेगा, वह इतनी सरलता से धमकाया नही जा सकता। जो मनुष्य बिना कपडो के और बिना यह जाने कि दूसरे समय भोजन कहाँ से मिलेगा, उस स्थान पर रहा हो, जहाँ का तापमान शून्य से भी तीस-

उनका स्वर बदल गया और छिपे छिपे मुझे हानि पहुँचाने में उन्होंने कोई कसर उठा नहीं रखी। मैं पूछता हूँ क्या इसी तरह ईसा भारतवर्ष में आयेंगे? क्या बीस वर्ष ईसा की उपासना कर उन्होंने यही शिक्षा पाई है? हमारे ये बड़े बड़े सुधारकगण कहते हैं कि ईसाई धर्म और ईसाई कौम भारतवासियों को उन्नत बनायेंगे। तो क्या वह इसी प्रकार होगा? यदि उक्त सज्जन को इसका एक उदाहरण लिया जाय तो निस्सन्देह स्थिति कोई आशाजनक प्रतीत नहीं होती।

एक बात और। मैंने समाज-सुधारकों के मुखपत्र में पढ़ा था कि मैं शूद्र हूँ और मुझसे पूछा गया था कि एक शूद्र को संन्यासी होने का क्या अधिकार है? तो इसपर मेरा उत्तर यह है कि मैं उन महापुरुष का वंशधर हूँ जिनके चरणकमलों पर प्रत्येक ब्राह्मण 'यमाय धर्मराजाय चित्रगुप्ताय वै नमः' उच्चारण करते हुए पुष्पांजलि प्रदान करता है और जिनके वंशज विशुद्ध क्षत्रिय हैं। यदि अपने पुराणों पर विश्वास हो तो इन समाज-सुधारकों को जान लेना चाहिए कि मेरी जाति ने पुराने जमाने में अन्य सेवाओं के अतिरिक्त कई शताब्दियों तक आधे भारतवर्ष का शासन किया था। यदि मेरी जाति की गणना छोड़ दी जाय तो भारत की वर्तमान सभ्यता का क्या शेष रहेगा? अकेले बंगाल में ही मेरी जाति में सबसे बड़े दार्शनिक सबसे बड़े कवि सबसे बड़े इतिहासज्ञ सबसे बड़े पुरातत्त्ववेत्ता और सबसे बड़े धर्मप्रचारक उत्पन्न हुए हैं। मेरी ही जाति ने वर्तमान समय के सबसे बड़े वैज्ञानिकों से भारतवर्ष को विभूषित किया है। इन निन्दकों को थोड़ा अपने देश के इतिहास का तो ज्ञान प्राप्त करना था ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीनों वर्णों के सम्बन्ध में जरा अध्ययन तो करना था जरा यह तो जानना था कि तीनों ही वर्णों को सन्यासी होने और वेद के अध्ययन करने का समान अधिकार है। ये बातें मैंने यों ही प्रसंगवश कह दीं। वे जो मुझे शूद्र कहते हैं इसकी मुझे तनिक भी पीड़ा नहीं। मेरे पूर्वजों ने गरीबों पर जो अत्याचार किया था उससे उसका कुछ परिशोध हो जायगा। यदि मैं पैरिया (नीच चाण्डाल) होता तो मुझे और भी आनन्द आता क्योंकि मैं उन महापुरुष का शिष्य हूँ जिन्होंने सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण होते हुए भी एक पैरिया (चाण्डाल) के घर को साफ करने की अपनी इच्छा प्रकट की थी। अवश्य वह इस पर सहमत हुआ नहीं—और भला होता भी कैसे? एक तो ब्राह्मण फिर उस पर सन्यासी वे आकर घर साफ करेंगे इस पर क्या वह कभी राजी हो सकता था? निदान एक दिन आधी रात को उठकर गुप्त रूप से उन्होंने उस पैरिया के घर में प्रवेश किया और उसका पाखाना साफ कर दिया उन्होंने अपने लम्बे लम्बे बालों से उस स्थान को पोंछ डाला। और यह काम वे लगातार कई दिनों तक करते रहे, ताकि वे अपने को

सवका दास वना सके। मैं उन्ही महापुरुष के श्री चरणो को अपने मस्तक पर धारण किये हूँ। वे ही मेरे आदर्श हैं—मैं उन्ही आदर्श पुरुष के जीवन का अनुकरण करने की चेष्टा करूँगा। सवका सेवक वनकर ही एक हिन्दू अपने को उन्नत करने की चेष्टा करता है। उसे इसी प्रकार, न कि विदेशी प्रभाव की सहायता से, सर्वसाधारण को उन्नत करना चाहिए। वीस वर्ष की पश्चिमी सभ्यता मेरे मन मे उस मनुष्य का दृष्टान्त उपस्थित कर देती है, जो विदेश मे अपने मित्र को भूखा मार डालना चाहता है। क्यो ?—केवल इसीलिए कि उसका मित्र लोकप्रिय हो गया है और उसके विचार मे वह मित्र उसके धनोपार्जन मे वाधक होता है। और असल, सनातन हिन्दू धर्म के उदाहरणस्वरूप है ये दूसरे व्यक्ति, जिनके सम्वन्ध मे मैंने अभी कहा है। इससे विदित हो जायगा कि सच्चा हिन्दू धर्म किस प्रकार कार्य करता है। हमारे इन सुधारको मे से एक भी, ऐसा जीवन गठन करके दिखाये तो सही जो एक पैरिया की भी सेवा के लिए तत्पर हो। फिर तो मैं उसके चरणो के समीप वैठकर शिक्षा ग्रहण करूँ, पर हाँ, उसके पहले नही। लम्वी-चौडी वातो की अपेक्षा थोडा कुछ कर दिखाना लाख गुना अच्छा है।

अव मैं मद्रास की समाज-सुधारक समितियो के वारे मे कुछ कहूँगा। उन्होने मेरे साथ वडा सदय व्यवहार किया है। उन्होने मेरे लिए अनेक मधुर शब्दो का प्रयोग किया है और मुझे बताया है कि मद्रास और वगाल के समाज-सुधारको मे वडा अन्तर है। मैं उनसे इस वात मे सहमत हूँ। मैंने अक्सर तुम लोगो से कहा है, और यह तुम लोगो मे से वहुतो को याद भी होगा कि मद्रास इस समय वडी अच्छी अवस्था मे है। वगाल मे जैसी क्रिया-प्रतिक्रिया चल रही है, वैसी मद्रास मे नही है। यहाँ पर धीरे धीरे स्थायी रूप से सव विषयो मे उन्नति हो रही है, यहाँ पर समाज का क्रमश विकास हो रहा है, किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नही। वगाल मे कही कही कुछ कुछ पुनरुत्थान हुआ है, पर मद्रास मे यह पुनरुत्थान नही है, यह है समाज की स्वाभाविक उन्नति। अतएव दोनो प्रदेशो के निवासियो की विभिन्नता के सम्वन्ध मे समाज-सुधारक जो कुछ कहते हैं, उनसे मैं सर्वथा सहमत हूँ। परन्तु एक विभिन्नता और है, जिसे वे नहीं समझते। इन सस्थाओ मे से कुछ मुझे डराकर अपना सदस्य वनाना चाहती हैं। ये लोग ऐसा करें, यह एक आश्चर्यजनक वात है। जो मनुष्य अपने जीवन के चौदह वर्षों तक लगातार फाकाकशी का मुकावला करता रहा हो, जिसे यह भी न मालूम रहा हो कि दूसरे दिन का भोजन कहाँ से आयेगा, सोने के लिए स्थान कहाँ मिलेगा, वह इतनी सरलता से धमकाया नही जा सकता। जो मनुष्य विना कपडो के और विना यह जाने कि दूसरे समय भोजन कहाँ से मिलेगा, उस स्थान पर रहा हो, जहाँ का तापमान शून्य से भी तीस-

किये गए हों। वह भारत में इतनी सरलता से नहीं बताया जा सकता। यहाँ पानी बना है जो मैं उनसे कहूँगा—सुधार आदि यहाँ हुआ है। मेरा थोड़ा निज का अनुभव भी है और मेरे पास समाज के लिए एक सन्देश है जो मैं बिना किसी डर के बिना भविष्य की चिन्ता किए सब को दूँगा। सुधारकों से मैं कहूँगा कि मैं स्वयं उनसे कहीं बढ़कर सुधारक हूँ। वे लोग केवल इधर उधर थोड़ा सुधार करना चाहते हैं। और मैं चाहता हूँ आमूल सुधार। हम लोगों का मतभेद है केवल सुधार की प्रणाली में। उनकी प्रणाली विनाशात्मक है और मेरी रचनात्मक। मैं सुधार में विश्वास नहीं करता, मैं विश्वास करता हूँ स्वाभाविक उन्नति में। मैं अपने को ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित कर अपने समाज के लोगों के सिर पर यह उपदेश मढ़ने का साहस नहीं कर सकता कि 'तुम्हें इसी भाँति चलना होगा दूसरी तरह नहीं।' मैं तो सिर्फ उस गिलहरी की भाँति होना चाहता हूँ जो राम के सेतु बाँधने के समय अपने योगदानस्वरूप थोड़ा बालू लाकर सन्तुष्ट हो गयी थी। यही मेरा भाव है। यह अद्भुत राष्ट्रीयजीवनरूपी यन्त्र युग युग से कार्य करता आ रहा है। राष्ट्रीय जीवन का यह अद्भुत प्रवाह हम लोगों के सम्मुख बह रहा है। कौन जानता है, कौन साहसपूर्वक कह सकता है कि यह अच्छा है या बुरा और यह किस प्रकार चलेगा? हजारों घटनाचक्र उसके चारों ओर उपस्थित होकर उसे एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति देकर कभी उसकी गति को मन्द और कभी उसे तीव्र कर देते हैं। उसके वेग को नियमित करने का कौन साहस कर सकता है? हमारा काम तो फल की ओर दृष्टि न रख केवल काम करते जाना है, जैसा कि गीता में कहा है। राष्ट्रीय जीवन को जिस ईंधन की जरूरत है देते जाओ, बस वह अपने ढंग से उन्नति करता जायगा, कोई उसकी उन्नति का मार्ग निर्दिष्ट नहीं कर सकता। हमारे समाज में बहुत सी बुराइयाँ हैं पर इस तरह बुराइयाँ तो दूसरे समाजों में भी हैं। यहाँ की भूमि विधवाओं के आँसू से कभी कभी तर होती है, तो पाश्चात्य देश का वायुमण्डल अविवाहित स्त्रियों की आहों से भरा रहता है। यहाँ का जीवन गरीबी की चपेटों से जर्जरित है, तो वहाँ पर लोग विलासिता के विष से जीवन्मृत हो रहे हैं। यहाँ पर लोग इसलिए आत्महत्या करना चाहते हैं कि उनके पास खाने को कुछ नहीं है, तो वहाँ खाद्यान्न (भोज) की प्रचुरता के कारण लोग आत्महत्या करते हैं। बुराइयाँ सभी जगह हैं यह तो पुराने बात-रोग की तरह है। यदि उसे पैर से हटाओ तो वह सिर में चला जाता है। वहाँ से हटाने पर वह दूसरी जगह भाग जाता है। बस उसे केवल एक जगह से दूसरी जगह ही भगा सकते हैं। ऐ बच्चो बुराइयों के निराकरण की चेष्टा करना ही सही उपाय नहीं है। हमारे शास्त्रों में लिखा

है कि अच्छे और बुरे का नित्य सम्बन्ध है। वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यदि तुम्हारे पास एक है, तो दूसरा अवश्य रहेगा। जब समुद्र मे एक स्थान पर लहर उठती है तो दूसरे स्थान पर गड्डा होना अनिवार्य है। इतना ही नही, सारा जीवन ही दोषयुक्त है। बिना किसी की हत्या किये एक सांस तक नही ली जा सकती, बिना किसी का भोजन छीने हम एक कौर भी नही खा सकते। यही प्रकृति का नियम है, यही दार्शनिक सिद्धान्त है।

इसलिए हमे केवल यह समझ लेना होगा कि सामाजिक दोषो के निराकरण का कार्य उतना वस्तुनिष्ठ नही है, जितना आत्मनिष्ठ। हम कितनी भी लम्बी चौडी डीग क्यो न हाँके समाज के दोषो को दूर करने का कार्य जितना स्वय के लिए शिक्षात्मक है, उतना समाज के लिए वास्तविक नही। समाज के दोष दूर करने के सम्बन्ध मे सबसे पहले इस तत्त्व को समझ लेना होगा, और इसे समझकर अपने मन को शान्त करना होगा, अपने खून की चढती गरमी को रोकना होगा, अपनी उत्तेजना को दूर करना होगा। ससार का इतिहास भी हमे यह बताता है कि जहाँ कही इस प्रकार की उत्तेजना से समाज के सुधार करने का प्रयत्न हुआ है, वहाँ केवल यही फल हुआ कि जिस उद्देश्य से वह किया गया था, उस उद्देश्य को ही उसने विफल कर दिया। दासत्व को नष्ट कर देने के लिए अमेरिका मे जो लडाई ठनी थी, उसकी अपेक्षा, अधिकार और स्वतत्रता की स्थापना के लिए किसी बडे सामाजिक आन्दोलन की कल्पना ही नही की जा सकती। तुम सभी लोग उसे जानते हो। पर उसका फल क्या हुआ? यही कि आजकल के दास इस युद्ध के पूर्व के दासो की अपेक्षा सौगुनी अधिक बुरी दशा को पहुँच गये। इस युद्ध के पूर्व ये बेचारे नीग्रो कम से कम किसी की सम्पत्ति तो थे, और सम्पत्ति होने के नाते इनकी देखभाल की जाती थी कि ये कही दुर्बल और बेकाम न हो जायँ। पर आज तो ये किसी की सम्पत्ति नही हैं, इनके जीवन का कुछ भी मूल्य नही है। मामूली बातो के लिए ये जीते जी जला दिये जाते हैं, गोली से उडा दिये जाते है, और इनके हत्यारो पर कोई कानून ही लागू नही होता। क्यो? इसीलिए कि ये 'निगर' हैं, मानो ये मनुष्य तो क्या पशु भी नही हैं! समाज के दोषो को प्रबल उत्तेजनापूर्ण आन्दोलन द्वारा अथवा कानून के बल पर सहसा हटा देने का यही परिणाम होता है। इतिहास इस बात का साक्षी है—इस प्रकार का आन्दोलन चाहे किसी भले उद्देश्य से ही क्यो न किया गया हो। यह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है। प्रत्यक्ष अनुभव से ही मैंने यह सीखा है। यही कारण है कि मैं केवल दोष ही देखने-वाली इन सस्थाओ का सदस्य नही हो सकता। दोषारोपण अथवा निन्दा करने की भला आवश्यकता क्या? ऐसा कौन सा समाज है, जिसमे दोष न हो? सभी

समाज में तो दोष है। यह तो सभी कोई जानते हैं। आज का एक बच्चा भी इसे जानता है। वह भी सभामंच पर खड़ा होकर हमारे सामने हिन्दू धर्म की भयानक बुराइयों पर एक लम्बा भाषण दे सकता है। जो भी अशिक्षित विदेशी पृथ्वी की प्रदक्षिणा करता हुआ भारत में पहुँचता है वह रेल पर से भारत की चलती नजर से देख भर लेता है और बस फिर भारत की भयानक बुराइयों पर बड़ा धारागर्भित व्याख्यान देने लगता है। हम जानते हैं कि यहाँ बुराइयाँ हैं। पर बुराई तो हर कोई दिखा सकता है। मानव समाज का सच्चा हितैषी तो वह है, जो इन कठिनाइयों से बाहर निकलने का उपाय बताये। यह तो इस प्रकार है कि कोई एक दार्शनिक एक डूबते हुए लड़के को गम्भीर भाव से उपदेश दे रहा था तो लड़के ने कहा 'पहले मुझे पानी से बाहर निकालिये फिर उपदेश दीजिये।" बस ठीक इसी तरह भारतवासी भी कहते हैं 'हम लोगों ने बहुत व्याख्यान सुन लिये बहुत सी संस्थाएँ देख ली बहुत से पत्र पढ़ लिये अब तो ऐसा मनुष्य चाहिए जो अपने हाथ का सहारा दे हमें इन दुःखों के बाहर निकाल दे। कहाँ है वह मनुष्य जो हमसे वास्तविक प्रेम करता है जो हमारे प्रति सच्ची सहानुभूति रखता है? बस उसी आदमी की हमें जरूरत है। यहीं पर मेरा इन समाज-सुधारक आन्दोलनों से सर्वथा मतभेद है। आज सौ वर्ष हो गये ये आन्दोलन चल रहे हैं पर सिवाय निन्दा और विद्वेषपूर्ण साहित्य की रचना के इनसे और क्या काम हुआ है? ईश्वर करता यहाँ ऐसा न होता। इन्होंने पुराने समाज की कठोर आलोचना की है उस पर तीव्र दोषारोपण किया है उसकी कटु निन्दा की है और अन्त में पुराने समाज ने भी इनके समान स्वर उठाकर ईंट का जवाब ईंट से दिया है। इसके फलस्वरूप प्रत्येक भारतीय भाषा में ऐसे साहित्य की रचना हो गयी है, जो जाति के लिए, देश के लिए कलंकस्वरूप है। क्या यही सुधार है? क्या इसी तरह देश गौरव के पथ पर बढ़ेगा? यह दोष है किसका?

इसके बाद एक और महत्त्वपूर्ण विषय पर हमें विचार करना है। भारतवर्ष में हमारा शासन सदैव राजाओं द्वारा हुआ है राजाओं ने ही हमारे सब कानून बनाये हैं। अब वे राजा नहीं हैं और इस विषय में अग्रसर होने के लिए हमें मार्ग दिखलानेवाला अब कोई नहीं रहा। सरकार साहस नहीं करती। वह तो जनमत की गति देखकर ही अपनी कार्य-प्रणाली निश्चित करती है। अपनी समस्याओं को हल कर लेनेवाला एक कल्याणकारी और प्रबल लोकमत स्थापित करने में समय लगता है—काफी लम्बा समय लगता है और इस बीच हमें प्रतीक्षा करनी होगी। अतएव सामाजिक सुधार की सम्पूर्ण समस्या यह रूप लेती है कहाँ हैं वे लोग जो सुधार चाहते हैं? पहले उन्हें तैयार करो। सुधार चाहने

वाले लोग हैं कहाँ? कुछ थोडे से लोग किसी बात को उचित समझते हैं और बस उसे अन्य सब पर जबरदस्ती लादना चाहते है। इन अल्पसख्य व्यक्तियो के अत्याचार के समान दुनिया मे और कोई अत्याचार नही। मुट्ठी भर लोग, जो सोचते हैं कि कतिपय बातें दोषपूर्ण है, राष्ट्र को गतिशील नही कर सकते। राष्ट्र मे आज प्रगति क्यो नही है? क्यो वह जडभावापन्न है? पहले राष्ट्र को शिक्षित करो, अपनी निजी विधायक सस्थाएँ बनाओ, फिर तो कानून आप ही आ जायँगे। जिस शक्ति के बल से, जिसके अनुमोदन से क़ानून का गठन होगा, पहले उसकी सृष्टि करो। आज राजा नही रहे, जिस नयी शक्ति से, जिस नये दल की सम्मति से नयी व्यवस्था गठित होगी, वह लोक-शक्ति कहाँ है? पहले उसी लोक-शक्ति को सगठित करो। अतएव समाज-सुधार के लिए भी प्रथम कर्तव्य है—लोगो को शिक्षित करना। और जब तक यह कार्य सम्पन्न नही होता, तब तक प्रतीक्षा करनी ही पडेगी।

गत शताब्दी मे सुधार के लिए जो भी आन्दोलन हुए हैं, उनमे से अधिकाश केवल ऊपरी दिखावा मात्र रहे हैं। उनमे से प्रत्येक ने केवल प्रथम दो वर्णों से ही सम्बन्ध रखा है, शेष दो से नही। विधवा-विवाह के प्रश्न से ७० प्रतिशत भारतीय स्त्रियो का कोई सम्बन्ध नही है। और देखो, मेरी बात पर ध्यान दो, इस प्रकार के सब आन्दोलनो का सम्बन्ध भारत के केवल उच्च वर्णों से ही रहा है, जो जनसाधारण का तिरस्कार करके स्वय शिक्षित हुए हैं। इन लोगो ने अपने अपने घर को साफ करने एव अग्रेजो के सम्मुख अपने को सुन्दर दिखाने मे कोई कसर बाकी नही रखी। पर यह तो सुधार नही कहा जा सकता। सुधार करने मे हमे चीज के भीतर, उसकी जड तक पहुँचाना होता है। इसीको मैं आमूल सुधार कहता हूँ। आग जड मे लगाओ और उसे क्रमश ऊपर उठने दो एव एक अखड भारतीय राष्ट्र सगठित करो।

पर यह एक बडी भारी समस्या है, और इसका समाधान भी कोई सरल नही है। अतएव शीघ्रता करने की आवश्यकता नही। यह समस्या तो गत कई शताब्दियो से हमारे देश के महापुरुषो को ज्ञात थी।

आजकल, विशेषत दक्षिण मे, बौद्ध धर्म और उसके अज्ञेयवाद की आलोचना करने की एक प्रथा सी चल पडी है। यह उन्हे स्वप्न मे भी ध्यान नही आता कि जो विशेष दोष आजकल हमारे समाज मे वर्तमान हैं, वे सब बौद्ध धर्म द्वारा ही छोडे गये हैं। बौद्ध धर्म ने हमारे लिए यही वसीयत छोडी है। जिन लोगो ने बौद्ध धर्म की उन्नति और अवनति का इतिहास कभी नही पढा, उनके द्वारा लिखी गयी पुस्तको मे हम पढ़ते हैं कि बौद्ध धर्म के इतने विस्तार का कारण था—गौतम

बुद्ध द्वारा प्रचारित अपूर्व आचार-शास्त्र और उनका लोकोत्तर चरित्र। भगवान् बुद्धदेव के प्रति मेरी यथेष्ट श्रद्धा-भक्ति है। पर मेरे शब्दों पर ध्यान दो बौद्ध धर्म का विस्तार उक्त महापुरुष के मत और अपूर्व चरित्र के कारण उतना नहीं हुआ जितना बौद्धों द्वारा निर्माण किये गये बड़े बड़े मन्दिरों एवं भव्य प्रतिमाओं के कारण समग्र देश के सम्मुख किये गये भड़कीले उत्सवों के कारण। इसी भाँति बौद्ध धर्म ने उन्नति की। इन सब बड़े बड़े मन्दिरों एवं आडम्बर भरे क्रियाकलापों के सामने घरों में हवन के लिए प्रतिष्ठित छोटे छोटे अग्निकुण्ड ठहर न सके। पर अन्त में इन सब क्रिया कलापों में भारी अवनति हो गयी—ऐसी अवनति कि उसका वर्णन भी श्रोताओं के सामने नहीं किया जा सकता। जो इस सम्बन्ध में जानने के इच्छुक हों वे इसे किंचित् परिमाण में दक्षिण भारत के नाना प्रकार के कलाशिल्प से युक्त बड़े बड़े मन्दिरों में देख लें और बौद्धों से उत्तराधिकार के रूप में हमने केवल यही पाया।

इसके बाद महान् सुधारक श्री शंकराचार्य और उनके अनुयायियों का अभ्युदय हुआ। उस समय से आज तक इन कई सौ वर्षों में भारतवर्ष की सर्वसाधारण जनता को धीरे धीरे उस मौलिक विशुद्ध वेदान्त के धर्म की ओर लाने की चेष्टा की गयी है। उन सुधारकों को बुराइयों का पूरा ज्ञान था पर उन्होंने समाज की निन्दा नहीं की। उन्होंने यह नहीं कहा कि 'जो कुछ तुम्हारे पास है वह सभी गलत है, उसे तुम फेंक दो। ऐसा कभी नहीं हो सकता था। आज मैंने पढ़ा मेरे मित्र डाक्टर बैरोज कहते हैं कि ईसाई धर्म के प्रभाव ने ३ वर्षों में यूनानी और रोमन धर्म के प्रभाव को उलट दिया। पर जिसने कभी यूरोप यूनान और रोम को देखा है वह ऐसा कभी नहीं कह सकता। रोमन और यूनानी धर्मों का प्रभाव प्रोटेस्टेन्ट देशों तक में सर्वत्र व्याप्त है। प्राचीन देवता नये वेश में वर्तमान है—केवल नाम भर बदल दिये गये हैं। देवियाँ तो हो गयी हैं 'मेरी' देवता हो गये हैं 'सन्त' (saints) और अनुष्ठानों ने नया नया रूप धारण कर लिया है। यहाँ तक कि प्राचीन उपाधि पान्टिफेक्स मैक्सिमस[1] पूर्ववत् ही विद्यमान है। अतएव अचानक परिवर्तन नहीं हो सकते। शंकराचार्य और रामानुज इसे जानते थे। इसलिए उस समय प्रचलित धर्म को धीरे धीरे उच्चतम आदर्श तक पहुँचा देना ही उनके लिए एक उपाय शेष था। यदि वे दूसरी प्रणाली का सहारा लेते तो वे पाखण्डी सिद्ध होते क्योंकि उनके धर्म का प्रधान मत ही है क्रम-विकासवाद। उनके धर्म

---

१ रोम में पुरोहित विद्यालय के प्रधानाध्यापक इसी नाम से पुकारे जाते हैं। इसका अर्थ है—प्रधान पुरोहित। अभी पोप इसी नाम से सम्बोधित किये जाते हैं।

का मूलतत्त्व यही है कि इन सब नाना प्रकार की अवस्थाओ मे से होकर आत्मा उच्चतम लक्ष्य पर पहुँचती है। अत ये सभी अवस्थाएँ आवश्यक और हमारी सहायक है। भला कौन इनकी निन्दा करने का साहस कर सकता है?

आजकल मूर्ति-पूजा को गलत बताने की प्रथा सी चल पड़ी है, और सब लोग बिना किसी आपत्ति के उसमे विश्वास भी करने लग गये है। मैंने भी एक समय ऐसा ही सोचा था और उसके दडस्वरूप मुझे ऐसे व्यक्ति के चरण कमलो मे बैठ कर दीक्षा ग्रहण करनी पडी, जिन्होने सब कुछ मूर्ति-पूजा के ही द्वारा प्राप्त किया था, मेरा अभिप्राय श्री रामकृष्ण परमहस से है। यदि मूर्ति-पूजा के द्वारा श्री रामकृष्ण जैसे व्यक्ति उत्पन्न हो सकते है, तब तुम क्या पसन्द करोगे—सुधारको का धर्म, या मूर्ति-पूजा? मैं इस प्रश्न का उत्तर चाहता हूँ। यदि मूर्ति-पूजा के द्वारा इस प्रकार श्री रामकृष्ण परमहस उत्पन्न हो सकते हो, तो और हजारो मूर्तियो की पूजा करो। प्रभु तुम्हे सिद्धि दे! जिस किसी भी उपाय से हो सके, इस प्रकार के महापुरुषो की सृष्टि करो। और इतने पर भी मूर्ति-पूजा की निन्दा की जाती है! क्यो? यह कोई नही जानता। शायद इसलिए कि हजारो वर्ष पहले किसी यहूदी ने इसकी निन्दा की थी। अर्थात् उसने अपनी मूर्ति को छोडकर और सब की मूर्तियो की निन्दा की थी। उस यहूदी ने कहा था, यदि ईश्वर का भाव किसी विशेष प्रतीक या सुन्दर प्रतिमा द्वारा प्रकट किया जाय, तो यह भयानक दोष है, एक जघन्य पाप है, परन्तु यदि उसका अकन एक सन्दूक के रूप मे किया जाय, जिसके दोनो किनारो पर दो देवदूत बैठे हैं और ऊपर बादल का एक टुकडा लटक रहा है, तो वह बहुत ही पवित्र, पवित्रतम होगा। यदि ईश्वर पेडुकी का रूप धारण करके आये, तो वह महापवित्र होगा, पर यदि वह गाय का रूप लेकर आये, तो यह मूर्ति-पूजको का कुसस्कार होगा!—उसकी निन्दा करो। दुनिया का बस यही भाव है। इसीलिए कवि ने कहा है, 'हम मर्त्य जीव कितने निर्बोध हैं!' परस्पर एक दूसरे के दृष्टिकोण से देखना और विचार करना कितना कठिन है! और यही मनुष्य समाज की उन्नति मे घोर विघ्नस्वरूप है। यही है ईर्ष्या, घृणा और लडाई-झगडे की जड। अरे बालको, अपरिपक्व बुद्धिवाले नासमझ लडको, तुम लोग कभी मद्रास के बाहर तो गये नही, और खडे होकर सहस्रो प्राचीन सस्कारो से नियन्त्रित तीस करोड मनुष्यो पर कानून चलाना चाहते हो! क्या तुम्हे लज्जा नही आती? दूर हो जाओ धर्मनिन्दा के इस कुकर्म से, और पहले खुद अपना सबक सीखो। श्रद्धाहीन बालको, तुम कागज पर कुछ पक्तियाँ घसीट सकने मे और किसी मूर्ख को पकडकर उन्हे छपवा लेने मे अपने को समर्थ समझकर सोचते हो कि तुम जगत् के शिक्षक हो, तुम्हारा मत ही भारत का जनमत है! तो

क्या ऐसी बात है? इसीलिए मैं मद्रास के समाज-सुधारकों से कहना चाहता हूँ कि मुझमें उनके प्रति बड़ी श्रद्धा और प्रेम है। उनके विशाल हृदय उनकी स्वदेश प्रीति पीड़ित और निर्धन के प्रति उनके प्रेम के कारण ही मैं उनसे प्यार करता हूँ। किन्तु भाई जैसे भाई से स्नेह करता है और साथ ही उसके दोष भी दिखा देता है ठीक इसी तरह मैं उनसे कहता हूँ कि उनकी कार्यप्रणाली ठीक नहीं है। यह प्रणाली भारत में सौ वर्ष तक आजमायी गयी पर वह कामयाब न हो सकी। अब हमें किसी नयी प्रणाली का सहारा लेना होगा।

क्या भारतवर्ष में कभी सुधारकों का अभाव था? क्या तुमने भारत का इतिहास पढ़ा है? रामानुज शंकर, नानक चैतन्य कबीर और दादू कौन थे? ये सब बड़े बड़े धर्माचार्य जो भारत-गगन में अत्यन्त उज्ज्वल नक्षत्रों की तरह एक के बाद एक उदय हुए और फिर अस्त हो गये कौन थे? क्या रामानुज के हृदय में नीच जातियों के लिए प्रेम नहीं था? क्या उन्होंने अपने सारे जीवन भर पैरिया (चाण्डाल) तक को अपने सम्प्रदाय में ले लेने का प्रयत्न नहीं किया? क्या उन्होंने अपने सम्प्रदाय में मुसलमान तक को मिला लेने की चेष्टा नहीं की? क्या नानक ने मुसलमान और हिन्दू दोनों को समान भाव से शिक्षा देकर समाज में एक नयी अवस्था लाने का प्रयत्न नहीं किया? इन सबने प्रयत्न किया और उनका काम आज भी जारी है। भेद केवल इतना है कि वे आज के समाज-सुधारकों की तरह दम्भी नहीं थे वे इनके समान अपने मुँह से कभी अभिशाप नहीं उगलते थे। उनके मुँह से केवल आशीर्वाद ही निकलता था। उन्होंने कभी भर्त्सना नहीं की। उन्होंने लोगों से कहा कि जाति को सतत उन्नतिशील होना चाहिए। उन्होंने अतीत में दृष्टि डालकर कहा "हिन्दुओ तुमने अभी तक जो किया अच्छा ही किया पर भाइयो तुम्हें अब इससे भी अच्छा करना होगा। उन्होंने यह नहीं कहा 'पहले तुम दुष्ट थे और अब तुम्हें अच्छा होना होगा। उन्होंने यही कहा 'पहले तुम अच्छे थे अब और भी अच्छे बनो। इससे जमीन-आसमान का फ़र्क पैदा हो जाता है। हम लोगों को अपनी प्रकृति के अनुसार उन्नति करनी होगी। विदेशी संस्थाओं ने बलपूर्वक जिस कृत्रिम प्रणाली को हममें प्रचलित करने की चेष्टा की है उसके अनुसार काम करना वृथा है। वह असम्भव है। जय हो प्रभु! हम लोगों को तोड़-मरोड़कर नये सिरे से दूसरे राष्ट्रों के ढाँचे में गढ़ना असम्भव है! मैं दूसरी क़ौमों की सामाजिक प्रथाओं की निन्दा नहीं करता। वे उनके लिए अच्छी हैं पर हमारे लिए नहीं। उनके लिए जो कुछ अमृत है हमारे लिए वही विष हो सकता है। पहले यही बात सीखनी होगी। अन्य प्रकार के विज्ञान अन्य प्रकार के परम्परागत संस्कार और अन्य प्रकार के आचारों से उनकी वर्तमान

सामाजिक प्रथा गठित हुई है। और हम लोगो के पीछे हैं हमारे अपने परम्परागत सस्कार और हज़ारो वर्षो के कर्म। अतएव हमे स्वभावत अपने सस्कारो के अनुसार ही चलना पडेगा, और यह हमे करना ही होगा।

तब फिर मेरी योजना क्या है? मेरी योजना है—प्राचीन महान् आचार्यो के उपदेशो का अनुसरण करना। मैंने उनके कार्य का अध्ययन किया है, और जिस प्रणाली से उन्होने कार्य किया, उनके आविष्कार करने का मुझे सौभाग्य मिला। वे सब महान् समाज-सस्थापक थे। बल, पवित्रता और जीवन-शक्ति के वे अद्भुत आधार थे। उन्होने सबसे अद्भुत कार्य किया—समाज मे बल, पवित्रता और जीवन-शक्ति सचारित की। हमे भी सबसे अद्भुत कार्य करना है। आज अवस्था कुछ बदल गयी है, इसलिए कार्यप्रणाली मे कुछ थोडा सा परिवर्तन करना होगा, बस इतना ही इससे अधिक कुछ नही। मैं देखता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति की भाँति प्रत्येक राष्ट्र का भी एक विशेष जीवनोद्देश्य है। वही उसके जीवन का केन्द्र है, उसके जीवन का प्रधान स्वर है, जिसके साथ अन्य सब स्वर मिलकर समरसता उत्पन्न करते हैं। किसी देश मे, जैसे इग्लैड मे, राजनीतिक सत्ता ही उसकी जीवन-शक्ति है। कलाकौशल की उन्नति करना किसी दूसरे राष्ट्र का प्रधान लक्ष्य है। ऐसे ही और दूसरे देशो का भी समझो। किन्तु भारतवर्ष मे धार्मिक जीवन ही राष्ट्रीय जीवन का केन्द्र है और वही राष्ट्रीय जीवनरूपी सगीत का प्रधान स्वर है। यदि कोई राष्ट्र अपनी स्वाभाविक जीवन-शक्ति को दूर फेक देने की चेष्टा करे—शताब्दियो से जिस दिशा की ओर उसकी विशेष गति हुई है, उससे मुड जाने का प्रयत्न करे—और यदि वह अपने इस कार्य मे सफल हो जाय, तो वह राष्ट्र मृत हो जाता है। अतएव यदि तुम धर्म को फेंककर राजनीति, समाज-नीति अथवा अन्य किसी दूसरी नीति को अपनी जीवन-शक्ति का केन्द्र बनाने मे सफल हो जाओ, तो उसका फल यह होगा कि तुम्हारा अस्तित्व तक न रह जायगा। यदि तुम इससे बचना चाहो, तो अपनी जीवन-शक्तिरूपी धर्म के भीतर से ही तुम्हें अपने सारे कार्य करने होंगे—अपनी प्रत्येक क्रिया का केन्द्र इस धर्म को ही बनाना होगा। तुम्हारे स्नायुओ का प्रत्येक स्पन्दन तुम्हारे इस धर्मरूपी मेरुदड के भीतर से होकर गुज़रे।

मैंने देखा है कि 'सामाजिक जीवन पर धर्म का कैसा प्रभाव पडेगा', यह बिना दिखाये मैं अमेरिकावासियो मे धर्म का प्रचार नही कर सकता था। इग्लैड मे भी, बिना यह बताये कि 'वेदान्त के द्वारा कौन कौन से आश्चर्यजनक राजनीतिक परिवर्तन हो सकेंगे,' मैं धर्म-प्रचार नही कर सका। इसी भाँति भारत मे सामाजिक सुधार का प्रचार तभी हो सकता है, जब यह दिखा दिया जाय कि उस नयी प्रथा से

आध्यात्मिक जीवन की उन्नति में कौन सी विशेष सहायता मिलेगी। राजनीति का प्रचार करने के लिए हमें दिखाना होगा कि उसके द्वारा हमारे राष्ट्रीय जीवन की आकांक्षा—आध्यात्मिक उन्नति—की कितनी अधिक पूर्ति हो सकेगी। इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति को अपना अपना मार्ग चुन लेना पड़ता है उसी भाँति प्रत्येक राष्ट्र को भी। हमने युगों पूर्व अपना पथ निर्धारित कर लिया था और अब हमें उसीसे लगे रहना चाहिए—उसीके अनुसार चलना चाहिए। फिर, हमारा यह चयन भी तो उतना कोई बुरा नहीं। जड़ के बदले चैतन्य का मनुष्य के बदले ईश्वर का चिन्तन करना क्या संसार में इतनी बुरी चीज है? परलोक में दृढ़ आस्था इस लोक के प्रति तीव्र विरक्ति प्रबल त्याग-शक्ति एवं ईश्वर और अविनाशी आत्मा में दृढ़ विश्वास तुम लोगों में सतत विद्यमान है। क्या तुम इसे छोड़ सकते हो? नहीं तुम इसे कभी नहीं छोड़ सकते। तुम कुछ दिन भौतिकवादी होकर और भौतिकवाद की चर्चा करके भले ही मुझमें विश्वास जमाने की चेष्टा करो पर मैं जानता हूँ कि तुम क्या हो। तुमको थोड़ा धर्म अच्छी तरह समझा देने भर की देर है कि तुम परम आस्तिक हो जाओगे। सोचो अपना स्वभाव भला कैसे बदल सकते हो?

अतः भारत में किसी प्रकार का सुधार या उन्नति की चेष्टा करने के पहले धर्म-प्रचार आवश्यक है। भारत को समाजवादी अथवा राजनीतिक विचारों से प्लावित करने के पहले आवश्यक है कि उसमें आध्यात्मिक विचारों की बाढ़ ला दी जाय। सर्वप्रथम हमारे उपनिषदों पुराणों और अन्य सब शास्त्रों में जो अपूर्व सत्य छिपे हुए हैं उन्हें इन सब ग्रन्थों के पन्नों से बाहर निकालकर, मठों की चहारदीवारियाँ भेदकर, वनों की शून्यता से दूर लाकर, कुछ सम्प्रदाय-विशेषों के हाथों से छीनकर देश में सर्वत्र बिखेर देना होगा ताकि ये सत्य दावानल के समान सारे देश को चारों ओर से लपेट ले—उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक सब जगह फैल जायें—हिमालय से कन्याकुमारी और सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक सर्वत्र वे धधक उठें। सबसे पहले हमें यही करना होगा। सभी को इन सब शास्त्रों में निहित उपदेश सुनाने होंगे क्योंकि उपनिषद् में कहा है 'पहले इसे सुनना होगा फिर मनन करना होगा और उसके बाद निदिध्यासन।[1] पहले लोग इन सत्यों को सुनें। और जो भी व्यक्ति अपने शास्त्र के इन महान् सत्यों को दूसरों को सुनाने में

---

[1] आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो
निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते
मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्॥ बृहदारण्यक ४।५।६॥

सहायता पहुँचायेगा, वह आज एक ऐसा कर्म करेगा, जिसके समान कोई दूसरा कर्म ही नही। महर्षि व्यास ने कहा है, "इस कलियुग मे मनुष्यो के लिए एक ही कर्म शेष रह गया है। आजकल यज्ञ और कठोर तपस्याओ से कोई फल नही होता। इस समय दान ही एकमात्र कर्म है।"[1] और दानो मे धर्मदान, अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान का दान ही सर्वश्रेष्ठ है। दूसरा दान है विद्यादान, तीसरा प्राणदान और चौथा अन्नदान। इस अपूर्व दानशील हिन्दू जाति की ओर देखो! इस निर्धन, अत्यन्त निर्धन देश मे लोग कितना दान करते हैं, इसकी ओर जरा नज़र डालो। यहाँ के लोग इतने अतिथिसेवी हैं कि एक व्यक्ति विना एक कौडी अपने पास रखे उत्तर मे दक्षिण तक यात्रा करके आ सकता है। और हर स्थान मे उसका ऐसा सत्कार होगा, मानो वह परम मित्र हो। यदि यहाँ कही पर रोटी का एक टुकडा भी है, तो कोई भिक्षुक भूख से नही मर सकता।

इस दानशील देश मे हमे पहले प्रकार के दान के लिए अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान के विस्तार के लिए साहसपूर्वक अग्रसर होना होगा। और यह ज्ञान-विस्तार भारतवर्ष की सीमा मे ही आवद्ध नही रहेगा, इसका विस्तार तो सारे ससार भर मे करना होगा। और अभी तक यही होता भी रहा है। जो लोग कहते है कि भारत के विचार कभी भारत मे बाहर नही गये, जो सोचते हैं कि मैं ही पहला सन्यासी हूँ जो भारत के बाहर धर्मप्रचार करने गये, वे अपनी जाति के इतिहास को नही जानते। यह कई वार घटित हो चुका है। जव कभी भी ससार को इसकी आवश्यकता हुई, उसी समय इस निरन्तर वहनेवाले आध्यात्मिक ज्ञान-स्रोत ने ससार को प्लावित कर दिया। राजनीति सम्वन्धी विद्या का विस्तार रणभेरियो और सुसज्जित सेनाओ के वल पर किया जा सकता है। लौकिक एव समाज सम्बन्धी विद्या का विस्तार आग और तलवारो के वल पर हो सकता है। पर आध्यात्मिक विद्या का विस्तार तो शान्ति द्वारा ही सम्भव है। जिस प्रकार चक्षु और कर्णगोचर न होता हुआ भी मृदु ओस-विन्दु गुलाव की कलियो को विकसित कर देता है, वस वैसा ही आध्यात्मिक ज्ञान के विस्तार के सम्वन्ध मे भी समझो। यही एक दान है, जो भारत दुनिया को वार वार देता आया है। जव कभी भी कोई दिग्विजयी जाति उठी, जिसने ससार के विभिन्न देशो को एक साथ ला दिया और आपस मे यातायात तथा सचार की सुविधा कर दी, त्यो ही भारत उठा और

---

१ इसी आशय की व्यवस्था निम्नलिखित श्लोक मे भी है
तप पर कृते युगे त्रेताया ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥ मनुसहिता १।८६॥

उसने संसार की समग्र उन्नति में अपना आध्यात्मिक ज्ञान का भाग भी प्रदान कर दिया। बुद्धदेव के जन्म के बहुत पहले से ही ऐसा होता आया है और इसके चिह्न आज भी चीन, एशिया माइनर और मलय द्वीप समूह में मौजूद हैं। जब उस महाबलशाली दिग्विजयी यूनानी ने उस समय के ज्ञात संसार के सब मार्गों को एक साथ ला दिया था, तब भी यही बात घटी थी—भारत के आध्यात्मिक ज्ञान की बाढ़ ने बाहर उमड़कर संसार को प्लावित कर दिया था। आज पाश्चात्य देशवासी जिस सभ्यता का गर्व करते हैं, वह उसी प्लावन का अवशेष मात्र है। आज फिर से वही सुयोग उपस्थित हुआ है। इंग्लैंड की शक्ति ने सारे संसार की जातियों को एकता के सूत्र में इस प्रकार बाँध दिया है, जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। अंग्रेजों के यातायात और संचार के साधन संसार के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक फैले हुए हैं। आज अंग्रेजों की प्रतिभा के कारण संसार अपूर्व रूप से एकता की डोर में बँध गया है। इस समय संसार के भिन्न भिन्न स्थानों में जिस प्रकार के व्यापारिक केन्द्र स्थापित हुए हैं, वैसे मानव जाति के इतिहास में पहले कभी नहीं हुए थे। अतएव इस सुयोग में भारत फौरन उठकर ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से जगत् को अपने आध्यात्मिक ज्ञान का दान दे रहा है। अब इन सब मार्गों के सहारे भारत की यह भाव राशि समस्त संसार में फैलती रहेगी। मैं जो अमेरिका गया, वह मेरी या तुम्हारी इच्छा से नहीं हुआ, वरन् भारत के भाग्य-विधाता भगवान् ने मुझे अमेरिका भेजा और वे ही इसी भाँति सैकड़ों आदमियों को संसार के अन्य सब देशों में भेजेंगे। इसे दुनिया की कोई ताकत नहीं रोक सकती। अतएव तुमको भारत के बाहर भी धर्म प्रचार के लिए जाना होगा। इसका प्रचार जगत् की सब जातियों और मनुष्यों में करना होगा। पहले यही धर्म प्रचार आवश्यक है। धर्म-प्रचार करने के बाद उसके साथ ही साथ लौकिक विद्या और अन्यान्य आवश्यक विद्याएँ आप ही आ जायेंगी। पर यदि तुम लौकिक विद्या बिना धर्म के ग्रहण करना चाहो तो मैं तुमसे साफ़ कहे देता हूँ कि भारत में तुम्हारा ऐसा प्रयास व्यर्थ सिद्ध होगा, वह लोगों के हृदयों में स्थान प्राप्त न कर सकेगा। यहाँ तक कि इतना बड़ा बौद्ध धर्म भी कुछ अंशों में इसी कारणवश यहाँ अपना प्रभाव न जमा सका।

इसलिए मेरे मित्रो, मेरा विचार है कि मैं भारत में कुछ ऐसे शिक्षालय स्थापित करूँ, जहाँ हमारे नवयुवक अपने शास्त्रों के ज्ञान में शिक्षित होकर भारत तथा भारत के बाहर अपने धर्म का प्रचार कर सकें। मनुष्य, केवल मनुष्य भर चाहिए। बाकी सब कुछ अपने आप हो जायगा। आवश्यकता है वीर्यवान, तेजस्वी, श्रद्धा-सम्पन्न और दृढ़विश्वासी निष्कपट नवयुवकों की। ऐसे सौ मिल जायँ, तो संसार का कायाकल्प हो जाय। इच्छाशक्ति संसार में सबसे अधिक बलवती है। उसके

सामने दुनिया की कोई चीज नही ठहर सकती, क्योकि वह भगवान्—साक्षात् भगवान् से आती है। विशुद्ध और दृढ इच्छाशक्ति सर्वशक्तिमान है। क्या तुम इसमे विश्वास नही करते? सबके समक्ष अपने धर्म के महान् सत्यो का प्रचार करो, ससार इनकी प्रतीक्षा कर रहा है। सैकडो वर्षो से लोगो को मनुष्य की हीनावस्था का ही ज्ञान कराया गया है। उनसे कहा गया है कि वे कुछ नही हैं। ससार भर मे सर्वत्र सर्वसाधारण से कहा गया है कि तुम लोग मनुष्य ही नही हो। शताब्दियो से इस प्रकार डराये जाने के कारण वे बेचारे सचमुच ही करीब करीब पशुत्व को प्राप्त हो गये हैं। उन्हे कभी आत्मतत्त्व के विषय मे सुनने का मौका नही दिया गया। अब उनको आत्मतत्त्व सुनने दो, यह जान लेने दो कि उनमे से नीच से नीच मे भी आत्मा विद्यमान है—वह आत्मा, जो न कभी मरती है, न जन्म लेती है, जिसे न तलवार काट सकती है न आग जला सकती है और न हवा सुखा सकती है,[1] जो अमर है, अनादि और अनन्त है, जो शुद्धस्वरूप, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है।

उन्हे अपने मे विश्वास करने दो। आखिर अग्रेजो मे और तुममे किसलिए इतना अन्तर है? उन्हे अपने धर्म अपने कर्तव्य आदि के सम्बन्ध मे कहने दो। पर मुझे अन्तर मालूम हो गया है। अन्तर यही है कि अग्रेज अपने ऊपर विश्वास करता है, और तुम नही। जब वह सोचता है कि मैं अग्रेज हूँ, तो वह उस विश्वास के बल पर जो चाहता है वही कर सकता है। इस विश्वास के आधार पर उसके अन्दर छिपा हुआ ईश्वर भाव जाग उठता है। और तब वह उसकी जो भी इच्छा होती है, वही कर सकने मे समर्थ होता है। इसके विपरीत, लोग तुमसे कहते आये हैं, तुम्हे सिखाते आये हैं कि तुम कुछ भी नही हो, तुम कुछ भी नही कर सकते, और फलस्वरूप तुम आज इस प्रकार अकर्मण्य हो गये हो। अतएव आज हम जो चाहते हैं, वह है—बल, अपने मे अटूट विश्वास।

हम लोग शक्तिहीन हो गये हैं। इसीलिए गुप्तविद्या और रहस्यविद्या —इन रोमाचक वस्तुओ ने धीरे धीरे हममे घर कर लिया है। भले ही उनमे अनेक सत्य हो, पर उन्होंने लगभग हमे नष्ट कर डाला है। अपने स्नायु बलवान बनाओ। आज हमे जिसकी आवश्यकता है, वह है—लोहे के पुट्ठे और फौलाद के स्नायु। हम लोग बहुत दिन रो चुके। अब और रोने की आवश्यकता नही। अब अपने पैरो पर खडे हो जाओ और 'मर्द' बनो। हमे ऐसे धर्म की आवश्यकता है, जिससे

---

१ नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि नैन दहति पावक।
न चैन क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत ॥ गीता २।२३॥

हम मनुष्य बन सकें। हमें ऐसे सिद्धान्तों की जरूरत है जिससे हम मनुष्य हो सकें। हमें ऐसी सर्वांगसम्पन्न शिक्षा चाहिए, जो हमें मनुष्य बना सके। और यह रही सत्य की कसौटी—जो भी तुमको शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल बनाये उसे जहर की भाँति त्याग दो उसमें जीवन-शक्ति नहीं है, वह कभी सत्य नहीं हो सकता। सत्य तो बलप्रद है, वह पवित्रता है, वह ज्ञानस्वरूप है। सत्य तो वह है जो शक्ति दे जो हृदय के अन्धकार को दूर कर दे जो हृदय में स्फूर्ति भर दे। भले ही इन रहस्य-विद्याओं में कुछ सत्य हो पर ये तो साधारणतया मनुष्य को दुर्बल ही बनाती हैं। मेरा विश्वास करो मेरा यह जीवन भर का अनुभव है। मैं भारत के लगभग सभी स्थानों में घूम चुका हूँ सभी गुफाओं का अन्वेषण कर चुका हूँ और हिमालय पर भी रह चुका हूँ। मैं ऐसे लोगों को भी जानता हूँ जो जीवन भर वहीं रहे हैं। और अन्त मे मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि इन सब रहस्य-विद्याओं से मनुष्य दुर्बल ही होता है। मैं अपने देश से प्रेम करता हूँ मैं तुम्हें और अधिक पतित और ज्यादा कमजोर नहीं देख सकता। अतएव तुम्हारे कल्याण के लिए, सत्य के लिए और जिससे मेरी जाति और अधिक अवनत न हो जाय इसलिए मैं जोर से चिल्लाकर कहने के लिए बाध्य हो रहा हूँ—बस ठहरो। अवनति की ओर और न बढ़ो—जहाँ तक गये हो बस उतना ही काफी हो चुका। अब वीर्यवान होने का प्रयत्न करो कमजोर बनानेवाली इन सब रहस्यविद्याओं को तिलांजलि दे दो और अपने उपनिषदों का—उस बलप्रद आलोकप्रद दिव्य दर्शन शास्त्र का—आश्रय ग्रहण करो। सत्य जितना ही महान् होता है उतना ही सहज बोधगम्य होता है—स्वयं अपने अस्तित्व के समान सहज। जैसे अपने अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए और किसी की आवश्यकता नहीं होती बस वैसा ही। उपनिषद् के सत्य तुम्हारे सामने है। इनका अवलम्बन करो इनकी उपलब्धि कर इन्हें कार्य में परिणत करो। बस देखोगे भारत का उद्धार निश्चित है।

एक बात और कहकर मैं समाप्त करूँगा। लोग देशभक्ति की चर्चा करते हैं। मैं भी देशभक्ति मे विश्वास करता हूँ और देशभक्ति के सम्बन्ध में मेरा भी एक आदर्श है। बड़े काम करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है। पहला है हृदय की अनुभव-शक्ति। बुद्धि या विचार-शक्ति में क्या है? वह तो कुछ दूर जाती है और बस वहीं रुक जाती है। पर हृदय तो प्रेरणा-स्रोत है? प्रेम असम्भव द्वारों को भी उद्घाटित कर देता है। यह प्रेम ही जगत् के सब रहस्यों का द्वार है। अतएव ऐ मेरे भावी सुधारको मेरे भावी देशभक्तों, तुम अनुभव करो। क्या तुम अनुभव करते हो? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि देव और ऋषियों की करोड़ों सन्तानें आज पशुतुल्य हो गयी हैं? क्या तुम हृदय

से अनुभव करते हो कि लाखो आदमी आज भूखो मर रहे है, और लाखो लोग शताब्दियो से इसी भाँति भूखो मरते आये हैं ? क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादल ने सारे भारत को ढक लिया है ? क्या तुम यह सब सोचकर बेचैन हो जाते हो ? क्या इस भावना ने तुमको निद्राहीन कर दिया है ? क्या यह भावना तुम्हारे रक्त के साथ मिलकर तुम्हारी धमनियो मे बहती है ? क्या वह तुम्हारे हृदय के स्पन्दन से मिल गयी है ? क्या उसने तुम्हे पागल सा बना दिया है ? क्या देश की दुर्दशा की चिन्ता ही तुम्हारे ध्यान का एकमात्र विषय बन बैठी है ? और क्या इस चिन्ता मे विभोर हो जाने से तुम अपने नाम-यश, पुत्र-कलत्र, धन-सम्पत्ति, यहाँ तक कि अपने शरीर की भी सुध बिसर गये हो ? क्या तुमने ऐसा किया है ? यदि 'हाँ', तो जानो कि तुमने देशभक्त होने की पहली सीढी पर पैर रखा है—हाँ, केवल पहली ही सीढी पर ! तुममे से अधिकाश जानते हैं, मैं अमेरिका धर्म-महासभा के लिए नही गया, वरन् इस भावना का दैत्य मुझमें, मेरी आत्मा मे था। मैं पूरे बारह वर्ष सारे देश भर भ्रमण करता रहा, पर अपने देशवासियो के लिए कार्य करने का मुझे कोई रास्ता ही नही मिला। यही कारण था कि मैं अमेरिका गया। तुममे से अधिकाश, जो मुझे उस समय जानते थे, इस बात को अवश्य जानते है। इस धर्म-महासभा की कौन परवाह करता था ? यहाँ मेरे देशवासी, मेरे ही रक्त-मासमय देहस्वरूप मेरे देशवासी, दिन पर दिन डूबते जा रहे थे। उनकी कौन खबर ले ? बस यही मेरा पहला सोपान था।

अच्छा, माना कि तुम अनुभव करते हो, पर पूछता हूँ, क्या केवल व्यर्थ की बातो मे शक्तिक्षय न करके इस दुर्दशा का निवारण करने के लिए तुमने कोई यथार्थ कर्तव्य-पथ निश्चित किया है ? क्या लोगो की भर्त्सना न कर उनकी सहायता का कोई उपाय सोचा है ? क्या स्वदेशवासियो को उनकी इस जीवन्मृत अवस्था से बाहर निकालने के लिए कोई मार्ग ठीक किया है ? क्या उनके दुःखो को कम करने के लिए दो सान्त्वनादायक शब्दो को खोजा है ? यही दूसरी बात है।

किन्तु इतने ही से पूरा न होगा। क्या तुम पर्वताकार विघ्न-बाधाओ को लाँघकर कार्य करने के लिए तैयार हो ? यदि सारी दुनिया हाथ में नगी तलवार लेकर तुम्हारे विरोध मे खडी हो जाय, तो भी क्या तुम जिसे सत्य समझते हो, उसे पूरा करने का साहस करोगे ? यदि तुम्हारे पुत्र-कलत्र तुम्हारे प्रतिकूल हो जायँ, भाग्य-लक्ष्मी तुमसे रूठकर चली जाय, नाम की कीर्ति भी तुम्हारा साथ छोड दे, तो भी क्या तुम उस सत्य मे सलग्न रहोगे ? फिर भी क्या तुम उसके पीछे लगे रहकर अपने लक्ष्य की ओर सतत बढते रहोगे ? जैसा कि महान् राजा भर्तृ-

हरि ने कहा है 'चाहे नीतिनिपुण लोग निन्दा करें या प्रशंसा, लक्ष्मी आय या जहाँ उसकी इच्छा हो चली जाय, मृत्यु आज हो या सौ वर्ष बाद, धीर पुरुष तो वह है जो न्याय के पथ से तनिक भी विचलित नहीं होता।'[1] क्या तुममें ऐसी दृढ़ता है? बस यही तीसरी बात है। यदि तुममें ये तीन बातें हैं तो तुममें से प्रत्येक अद्भुत कार्य कर सकता है। तब फिर तुम्हें समाचारपत्रों में छपवाने की अथवा व्याख्यान देते हुए फिरते रहने की आवश्यकता न होगी, स्वयं तुम्हारा मुख ही दीप्त हो उठेगा? फिर तुम चाहे पर्वत की कन्दरा में रहो, तो भी तुम्हारे विचार पर्वत की चट्टानों को भेदकर बाहर निकल आयेंगे और सैकड़ों वर्ष तक सारे संसार में प्रतिध्वनित होते रहेंगे। और हो सकता है, तब तक ऐसे ही रहें जब तक उन्हें किसी मस्तिष्क का आधार न मिल जाय और वे उसीके माध्यम से कार्यशील हो उठें। विचार निष्कपटता और पवित्र उद्देश्य में ऐसी ही जबरदस्त शक्ति है।

मुझे डर है कि तुम्हें देर हो रही है, पर एक बात और। ऐ मेरे स्वदेशवासियो मेरे मित्रो मेरे बच्चो राष्ट्रीय जीवनरूपी यह जहाज लाखों लोगों को जीवनरूपी समुद्र के पार करता रहा है। कई शताब्दियों से इसका यह कार्य चल रहा है और इसकी सहायता से लाखों आत्माएँ इस सागर के उस पार अमृतधाम में पहुँची हैं। पर आज शायद तुम्हारे ही दोष से इस पोत में कुछ खराबी हो गयी है, इसमें एक दो छेद हो गये हैं तो क्या तुम इसे कोसोगे? संसार में जिसने तुम्हारा सबसे अधिक उपकार किया है, उसके विरुद्ध खड़े होकर उस पर गाली बरसाना क्या तुम्हारे लिए उचित है? यदि हमारे इस समाज में इस राष्ट्रीय जीवनरूपी जहाज में छेद है, तो हम तो उसकी सन्तान हैं। आओ चलें उन छेदों को बन्द कर दें — उसके लिए हँसते हँसते अपने हृदय का रक्त बहा दें। और यदि हम ऐसा न कर सकें तो हमें मर जाना ही उचित है। हम अपना भेजा निकालकर उसकी डाट बनायेंगे और जहाज के उन छेदों में भर देंगे। पर उसकी कभी भर्त्सना न करें? इस समाज के विरुद्ध एक कड़ा शब्द तक न निकालो। उसकी अतीत की गौरव-गरिमा के लिए मेरा उस पर प्रेम है। मैं तुम सबको प्यार करता हूँ क्योंकि तुम देवताओं की सन्तान हो, महिमाशाली पूर्वजों के वंशज हो। तब भला मैं तुम्हें कैसे कोस सकता हूँ? यह असम्भव है। तुम्हारा सब प्रकार से कल्याण हो। ऐ मेरे बच्चो मैं तुम्हारे पास आया हूँ अपनी सारी योजनाएँ तुम्हारे सामने रखने के लिए। यदि तुम उन्हें सुनो तो मैं तुम्हारे साथ काम करने को तैयार हूँ। पर यदि तुम उनको

---

१ निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

न सुनो, और मुझे ठुकराकर अपने देश के बाहर भी निकाल दो, तो भी मैं तुम्हारे पास वापस आकर यही कहूँगा, "भाई, हम सब डूब रहे हैं।" मैं आज तुम्हारे बीच बैठने आया हूँ। और यदि हमे डूबना है, तो आओ, हम सब साथ ही डूबें, पर एक भी कटु शब्द हमारे ओठो पर न आने पाये।

भारतीय जीवन में वेदान्त का प्रभाव

[मद्रास में दिया हुआ भाषण]

हमारी जाति और धर्म को व्यक्त करने के लिए एक शब्द बहुत प्रचलित हो गया है। वेदान्त धर्म से मेरा क्या अभिप्राय है, इसको समझाने के लिए उक्त शब्द 'हिन्दू' की किंचित् व्याख्या करने की आवश्यकता है। प्राचीन फ़ारस देशनिवासी सिन्धु नद के लिए 'हिन्दू' इस नाम का प्रयोग करते थे। संस्कृत भाषा में जहाँ 'स' आता है प्राचीन फ़ारसी भाषा में वही 'ह' रूप में परिणत हो जाता है इसलिए सिन्धु का 'हिन्दू' हो गया। तुम सभी लोग जानते हो कि यूनानी लोग 'ह' का उच्चारण नहीं कर सकते थे इसलिए उन्होंने 'ह' को छोड़ दिया और इस प्रकार हम 'इण्डियन' नाम से जाने गये। प्राचीन काल में इस शब्द का अर्थ जो भी हो अब इस हिन्दू शब्द की जो सिन्धु नद के दूसरे किनारे के निवासियों के लिए प्रयुक्त होता था कोई सार्थकता नहीं है क्योंकि सिन्धु नद के इस ओर रहने वाले सभी एक धर्म के माननेवाले नहीं हैं। इस समय यहाँ हिन्दू, मुसलमान पारसी ईसाई, बौद्ध और जैन भी वास करते हैं। 'हिन्दू' शब्द के व्यापक अर्थ के अनुसार इन सबको हिन्दू कहना होगा किन्तु धर्म के हिसाब से इन सबको हिन्दू नहीं कहा जा सकता। हमारा धर्म भिन्न भिन्न प्रकार के धार्मिक विश्वास भाव तथा अनुष्ठान और क्रिया-कर्मों का समष्टि-स्वरूप है। सब एक साथ मिला हुआ है किन्तु यह कोई साधारण नियम से संगठित नहीं हुआ इसका कोई एक साधारण नाम भी नहीं है और न इसका कोई संघ ही है। कदाचित् केवल एक यही विषय है जहाँ सारे सम्प्रदाय एकमत हैं कि हम सभी अपने शास्त्र वेदों पर विश्वास करते हैं। यह भी निश्चित है कि जो व्यक्ति वेदों की सर्वोच्च प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करता उसे अपने को हिन्दू कहने का अधिकार नहीं है। तुम जानते हो कि ये वेद दो भागों में विभक्त हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड में नाना प्रकार के यागयज्ञ और अनुष्ठान-पद्धतियाँ हैं जिनका अधिकांश आजकल प्रचलित नहीं है। ज्ञानकाण्ड में वेदों के आध्यात्मिक उपदेश लिपिबद्ध हैं—वे उपनिषद् अथवा 'वेदान्त' के नाम से परिचित हैं और द्वैतवादी विशिष्टाद्वैतवादी अथवा अद्वैतवादी समस्त दार्शनिकों और आचार्यों ने उनको ही उच्चतम प्रमाण कहकर स्वीकार किया है। भारत

के समस्त दर्शन और सम्प्रदायो को यह प्रमाणित करना होता है कि उसका दर्शन अथवा सम्प्रदाय उपनिषद्‌रूपी नीव के ऊपर प्रतिष्ठित है। यदि कोई ऐसा करने मे समर्थ न हो सके तो वह दर्शन अथवा सम्प्रदाय धर्म-विरुद्ध गिना जाता है, इसलिए वर्तमान समय मे समग्र भारत के हिन्दुओ को यदि किसी साधारण नाम से परिचित करना हो तो उनको 'वेदान्ती' अथवा 'वैदिक' कहना उचित होगा। मैं वेदान्ती धर्म और वेदान्त इन दोनो शब्दो का व्यवहार सदा इसी अभिप्राय से करता हूँ।

मैं इसको और भी स्पष्ट करके समझाना चाहता हूँ, कारण यह है कि आजकल कुछ लोग वेदान्त दर्शन की 'अद्वैत' व्याख्या को ही 'वेदान्त' शब्द के समानार्थक रूप मे प्रयोग करते हैं। हम सब जानते है कि उपनिषदो के आधार पर जिन समस्त विभिन्न दर्शनो की सृष्टि हुई है, अद्वैतवाद उनमे से एक है। अद्वैतवादियो की उपनिषदो के ऊपर जितनी श्रद्धा-भक्ति है, विशिष्टाद्वैतवादियो की भी उतनी ही है और अद्वैतवादी अपने दर्शन को वेदान्त की भित्ति पर प्रतिष्ठित कह कर जितना अपनाते हैं, विशिष्टाद्वैतवादी भी उतना ही। द्वैतवादी और भारतीय अन्यान्य समस्त सम्प्रदाय भी ऐसा ही करते है। ऐसा होने पर भी साधारण मनुष्यो के मन मे 'वेदान्ती' और 'अद्वैतवादी' समानार्थक हो गये हैं और शायद इसका कुछ कारण भी है। यद्यपि वेद ही हमारे प्रधान शास्त्र हैं, हमारे पास वेदो के सिद्धान्तो की व्याख्या दृष्टान्त रूप से करने वाले परवर्ती स्मृति और पुराण भी निश्चित रूप से वेदो के समान प्रामाणिक नही हैं। यह शास्त्र का नियम है कि जहाँ श्रुति एव पुराण और स्मृति मे मतभेद हो, वहाँ श्रुति के मत का ग्रहण और स्मृति के मत का परित्याग करना चाहिए। इस समय हम देखते हैं कि अद्वैत दार्शनिक शकराचार्य और उनके मतावलम्बी आचार्यों की व्याख्या मे अधिक परिमाण मे उपनिषद् प्रमाण-स्वरूप उद्धृत हुए हैं। केवल जहाँ ऐसे विषय की व्याख्या का प्रयोजन हुआ, जिसको श्रुति मे किसी रूप मे पाने की आशा न हो, ऐसे थोडे से स्थानो में ही केवल स्मृति-वाक्य उद्धृत हुए हैं। अन्यान्य मतावलम्बी स्मृति के ऊपर ही अधिकाधिक निर्भर रहते हैं, श्रुति का आश्रय कम ही लेते हैं और ज्यो ज्यो हम द्वैतवादियो की ओर ध्यान देते है, हमको विदित होता है कि उनके उद्धृत स्मृति-वाक्यो के अनुपात का परिणाम इतना अधिक है कि वेदान्तियो से इस अनुपात की आशा नही की जाती। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके स्मृति-पुराणादि प्रमाणो के ऊपर इतना अधिक निर्भर रहने के कारण, अद्वैतवादी ही क्रमश विशुद्ध वेदान्ती कहे जाने लगे।

जो हो, हमने प्रथम ही यह दिखा दिया है कि वेदान्त शब्द से भारत के समस्त धर्म समष्टिरूप से समझे जाते हैं, और यह वेदान्त वेदो का एक भाग होने के कारण

सभी लोगों द्वारा स्वीकृत हमारा सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। आधुनिक विद्वानों के विचार जो भी हों, एक हिन्दू यह विश्वास करने को कभी तैयार नहीं है कि वेदों का कुछ अंश एक समय में और कुछ अन्य समय में लिखा गया है। उनका अब भी यह दृढ़ विश्वास है कि समग्र वेद एक ही समय में उत्पन्न हुए थे, अथवा यदि मैं कह सकूँ, उनकी सृष्टि कभी नहीं हुई, वे चिरकाल से सृष्टिकर्ता के मन में वर्तमान थे। 'वेदान्त' शब्द से मेरा यही अभिप्राय है और भारत के द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और अद्वैतवाद सभी उसके अन्तर्गत हैं। सम्भवतः हम बौद्ध धर्म, यहाँ तक कि जैन धर्म के भी अंशविशेषों को ग्रहण कर सकते हैं, यदि उक्त धर्मावलम्बी अनुग्रहपूर्वक हमारे मध्य में आने को सहमत हों। हमारा हृदय यथेष्ट प्रशस्त है, हम उनको ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हैं, वे ही आने को राजी नहीं हैं। हम उनको ग्रहण करने के लिए सदा प्रस्तुत हैं, कारण यह है कि विशिष्ट रूप से विश्लेषण करने पर तुम देखोगे कि बौद्ध धर्म का सार भाग इन्हीं उपनिषदों से लिया गया है, यहाँ तक कि बौद्ध धर्म का तथाकथित अद्भुत और महान् आचार-शास्त्र किसी न किसी उपनिषद् में अविकल रूप से विद्यमान है। इसी प्रकार जैन धर्म के उत्तमोत्तम सिद्धान्त भी उपनिषदों में वर्तमान हैं, केवल असंगत और मनमानी बातों को छोड़कर इसके पश्चात् भारतीय धार्मिक विचारों का जो समस्त विकास हुआ है, उसका बीज हम उपनिषदों में देखते हैं। कभी कभी इस प्रकार का निर्मूल अभियोग लगाया जाता है कि उपनिषदों में भक्ति का आदर्श नहीं है। जिन्होंने उपनिषदों का अध्ययन अच्छी तरह किया है, वे जानते हैं कि यह अभियोग बिल्कुल सत्य नहीं है। प्रत्येक उपनिषद् में अनुसन्धान करने से यथेष्ट भक्ति का विषय पाया जाता है, किन्तु इनमें से अधिकांश भाव, जो परवर्ती काल में पुराण तथा अन्यान्य स्मृतियों में इतनी पूर्णता से विकसित पाये जाते हैं, उपनिषदों में बीजरूप में विद्यमान हैं। उपनिषदों में मानो उसका ढाँचा, उसकी रूपरेखा ही वर्तमान है। किसी किसी पुराण में यह ढाँचा पूर्ण किया गया है, किन्तु कोई भी ऐसा पूर्ण विकसित भारतीय आदर्श नहीं है, जिसका मूल स्रोत उपनिषदों में खोजा न जा सकता हो। बिना उपनिषद्-विद्या के विशेष ज्ञान के अनेक व्यक्तियों ने भक्तिवाद को विदेशी स्रोत से विकसित सिद्ध करने की हास्यास्पद चेष्टा की है, किन्तु तुम सब जानते हो कि उनकी सम्पूर्ण चेष्टा विफल हुई है। तुम्हें जितनी भक्ति की आवश्यकता है, सब उपनिषदों में ही क्यों, संहिता पर्यन्त सबमें विद्यमान है—उपासना, प्रेम, भक्ति और जो कुछ आवश्यक है सब विद्यमान है। केवल भक्ति का आदर्श अधिकाधिक उच्च होता रहा है। संहिता के भागों में भय और क्लेशयुक्त धर्म के चिह्न पाये जाते हैं। संहिता के किसी किसी स्थल पर देखा जाता है कि उपासक वरुण

अथवा अन्य किसी देवता के सम्मुख भय से कांप रहा है। और कई स्थलो पर यह भी देखा जाता है कि वे अपने को पापी समझकर अधिक यत्रणा पाते हैं, किन्तु उपनिषदो मे इस प्रकार के वर्णन के लिए कोई स्थान नही है, उपनिपदो मे भय का धर्म नही है, उपनिषदो मे प्रेम और ज्ञान का धर्म है।

ये उपनिषद् ही हमारे शास्त्र हैं। इनकी व्याख्या भिन्न भिन्न रूप से हुई है और मैं तुमसे पहले कह चुका हूँ कि जहाँ परवर्ती पौराणिक ग्रन्थो और वेदो मे मतभेद होता है, वहाँ पुराणो के मत को अग्राह्य कर वेदो का मत ग्रहण करना पडेगा। किन्तु कार्यरूप मे हममे से ९० प्रतिशत मनुष्य पौराणिक और शेष १० प्रतिशत वैदिक हैं और इतने भी है या नही, इसमे भी सन्देह है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि हमारे बीच नाना प्रकार के अत्यन्त विरोधी आचार भी विद्यमान हैं—हमारे समाज मे ऐसे भी धार्मिक विचार प्रचलित हैं, जिनका हिन्दू शास्त्रो मे कोई प्रमाण नही है। शास्त्रो का अध्ययन करके हमे यह देखकर आश्चर्य होता है कि हमारे देश मे अनेक स्थानो पर ऐसे कई आचार प्रचलित हैं, जिनका प्रमाण वेद, स्मृति अथवा पुराण आदि मे कही भी नही पाया जाता, वे केवल लोकाचार है। तथापि प्रत्येक अबोध ग्रामवासी सोचता है कि यदि उसका ग्राम्य आचार उठ जाय, तो वह हिन्दू नही रह सकता। उसकी धारणा यही है कि वेदान्त धर्म और इस प्रकार के समस्त क्षुद्र लोकाचार परस्पर घुलमिल कर एकरूप हो गये हैं। शास्त्रो का अध्ययन करने पर भी वे नही समझ सकते कि वे जो करते हैं, उसमे शास्त्रो की सम्मति नही है। उनके लिए यह समझना बडा कठिन होता है कि ऐसे समस्त आचारो का परित्याग करने से उनकी कुछ क्षति नही होगी, वरन् इससे वे अधिक अच्छे मनुष्य बनेंगे। इसके अतिरिक्त एक और कठिनाई है—हमारे शास्त्र बहुत विस्तृत हैं। पतजलिप्रणीत 'महाभाष्य' नामक भाषा-विज्ञान ग्रन्थ मे लिखा है कि सामवेद की सहस्र शाखाएँ थी। वे सब कहाँ हैं? कोई नही जानता। प्रत्येक वेद का यही हाल है। इन समस्त ग्रन्थो के अधिकाश का लोप हो गया है, सामान्य अश ही हमारे निकट वर्तमान है। एक एक ऋषि परिवार ने एक एक शाखा का भार ग्रहण किया था। इन परिवारो मे से अधिकाशो का स्वाभाविक नियम के अनुसार वशलोप हो गया, अथवा विदेशी अत्याचार से मारे गये या अन्य कारणो से उनका नाश हो गया। और उन्हीके साथ साथ जिस वेद की शाखा विशेष की रक्षा का भार उन्होंने ग्रहण किया था, उसका भी लोप हो गया। यह बात हमको विशेष रूप से स्मरण रखनी चाहिए, कारण यह है कि जो कोई नये विषय का प्रचार अथवा वेदो के विरोधी भी किसी विषय का समर्थन करना चाहते हैं, उनके लिए यह युक्ति प्रधान सहायक है। जब भारत मे श्रुति और लोकाचार को लेकर तर्क

होता है अथवा जब यह सिद्ध किया जाता है कि यह लोकाचार श्रुति-विरुद्ध है तब दूसरा पक्ष यही उत्तर देता है—नहीं यह श्रुति-विरुद्ध नहीं है यह श्रुति की उस शाखा में था जिसका इस समय लोप हो गया है, अतः यह प्रथा भी वेद-सम्मत है। शास्त्रों की ऐसी समस्त टीका और टिप्पणियों में किसी ऐसे सूत्र को पाना वास्तव में बड़ा कठिन है, जो सबमें समान रूप से मिलता हो। किन्तु हमको इस बात का सहज ही में विश्वास हो जाता है कि इन नाना प्रकार के विभागों तथा उपविभागों में कहीं न कहीं अवश्य ही कोई सम्मिलित भूमि अन्तर्निहित है। भवनों के ये छोटे छोटे खंड अवश्य किसी विशेष आदर्श योजना तथा सामञ्जस्य के आधार पर निर्मित किये गये होंगे। इस प्रतीयमान निराशाजनक विभ्रम पुंज के जिसको हम अपना धर्म कहते हैं मूल में अवश्य कोई न कोई एक समन्वय निहित है। अन्यथा यह इतने समय तक कदापि खड़ा नहीं रह सकता था यह अब तक रक्षित नहीं रह सकता था।

अपने भाष्यकारों के भाष्यों को देखने से हमें एक दूसरी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। अद्वैतवादी भाष्यकार जब अद्वैत सम्बन्धी श्रुति की व्याख्या करता है उस समय वह उसके वैसे ही भाव रहने देता है, किन्तु वही भाष्यकार जब द्वैत-भावात्मक सूत्रों की व्याख्या करने में प्रवृत्त होता है, उस समय वह उसके शब्दों की खींचातानी करके अद्भुत अर्थ निकालता है। भाष्यकारों ने समय समय पर अपना अभीष्ट अर्थ व्यक्त करने के लिए 'अजा' (जन्मरहित) शब्द का अर्थ 'बकरी' भी किया है—कैसा अद्भुत परिवर्तन है! इसी प्रकार, यहाँ तक कि इससे भी बुरी तरह, द्वैतवादी भाष्यकारों ने भी श्रुति की व्याख्या की है। जहाँ उनको द्वैत के अनुकूल श्रुति मिली है, उसको उन्होंने सुरक्षित रखा है, किन्तु जहाँ भी अद्वैतवाद के अनुसार पाठ आया है वहीं उन्होंने उस श्रुति के अंश की मनमाने ढंग से विकृत करके व्याख्या की है। यह संस्कृत भाषा इतनी जटिल है, वैदिक संस्कृत इतनी प्राचीन है, संस्कृत भाषा-शास्त्र इतना पूर्ण है कि एक शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में युग युगान्तर तक तर्क चल सकता है। यदि कोई पंडित हठधर्मी हो जाय तो वह किसी व्यक्ति की बकवाद को भी युक्तिबल से अथवा शास्त्र और व्याकरण के नियम उद्धृत कर शुद्ध संस्कृत सिद्ध कर सकता है। उपनिषदों को समझने के मार्ग में इस प्रकार की कई विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं। विधाता की इच्छा से मुझे एक ऐसे व्यक्ति के साथ रहने का अवसर प्राप्त हुआ था जो जैसे ही पक्के द्वैतवादी थे वैसे ही अद्वैतवादी भी थे जैसे ही परम भक्त थे वैसे ही ज्ञानी भी थे। इसी व्यक्ति के साथ रह कर प्रथम बार मेरे मन में आया कि उपनिषद् और अन्यान्य शास्त्रों के पाठ को केवल अन्धविश्वास से भाष्यकारों का अनुसरण

न करके, स्वाधीन और उत्तम रूप से समझना चाहिए। और मैं अपने मत मे तथा अपने अनुसन्धान मे इसी सिद्धान्त पर पहुँचा हूँ कि ये समस्त शास्त्र परस्पर विरोधी नही हैं, इसलिए हमको शास्त्रो की विकृत व्याख्या का भय नही होना चाहिए। समस्त श्रुतिवाक्य अत्यन्त मनोरम हैं, अत्यन्त अद्भुत है और वे परस्पर विरोधी नही हैं, उनमे अपूर्व सामजस्य विद्यमान है, एक तत्त्व मानो दूसरे का सोपानस्वरूप है। मैंने इन समस्त उपनिषदो मे एक यही भाव देखा है कि प्रथम द्वैत भाव का वर्णन उपासना आदि से आरम्भ हुआ है, अन्त मे अपूर्व अद्वैत भाव के उच्छ्वास मे वह समाप्त हुआ है।

इसीलिए अब मैं इसी व्यक्ति के जीवन के प्रकाश मे देखता हूँ कि द्वैतवादी और अद्वैतवादियो को परस्पर विवाद करने की कोई आवश्यकता नही है, दोनो का ही राष्ट्रीय जीवन मे विशेष स्थान है। द्वैतवादी का रहना आवश्यक है, अद्वैतवादी के समान द्वैतवादी का भी राष्ट्रीय धार्मिक जीवन मे विशेष स्थान है। एक के बिना दूसरा नही रह सकता, एक दूसरे का पूरक है, एक मानो गृह है, दूसरा छत। एक मानो मूल है और दूसरा फलस्वरूप । इसलिए उपनिषदो का मनमाना विकृत अर्थ करने की चेष्टा को मैं अत्यन्त हास्यास्पद समझता हूँ। कारण, मैं देखता हूँ कि उनकी भाषा ही अपूर्व है। श्रेष्ठतम दर्शन रूप मे उनके गौरव के बिना भी, मानव जाति के मुक्ति-पथ-प्रदर्शक धर्मविज्ञान रूप मे उनके अद्भुत गौरव को छोड देने पर भी, उपनिषदो के साहित्य मे उदात्त भावो का ऐसा अत्यन्त अपूर्व चित्रण है, जैसा ससार भर मे और कही नही है। यही मानवीय मन के उस प्रबल विशेषत्व का, अन्तर्दृष्टिपरायण, अन्त प्रेरणीय उस हिन्दू मन का विशेष परिचय पाया जाता है। अन्यत्र अन्य जातियो के भीतर भी इस उदात्त भाव के चित्र को अकित करने की चेष्टा देखी जाती है, किन्तु प्राय सर्वत्र ही तुम देखोगे कि उनका आदर्श बाह्य प्रकृति के महान् भाव को ग्रहण करना है। उदाहरणस्वरूप मिल्टन, दान्ते, होमर अथवा अन्य किसी पाश्चात्य कवि को लिया जा सकता है। उनके काव्यो मे स्थान स्थान पर उदात्त भावव्यजक अपूर्व स्थल हैं, किन्तु उनमे सर्वत्र ही वाह्य प्रकृति की अनन्तता को इन्द्रियो के माध्यम से ग्रहण करने की चेष्टा है—वाह्य प्रकृति के अनन्त विस्तार, देश की अनन्तता के आदर्श को प्राप्त करने का प्रयत्न है। हम वेदो के सहिता भाग मे भी यही चेष्टा देखते हैं। कुछ अपूर्व ऋचाओ मे जहाँ सृष्टि का वर्णन है, वाह्य प्रकृति के विस्तार का उदात्त भाव, देश का अनन्तत्व, अभिव्यक्ति की उच्चतम भूमियाँ उपलब्ध कर सका है। किन्तु उन्होंने शीघ्र ही जान लिया कि इन उपायो से अनन्तत्व को प्राप्त नही किया जा सकता, उन्होंने समझ लिया कि अपने मन के जिन सकल भावो को वे भाषा मे व्यक्त करने की चेष्टा कर रहे थे,

उनको अनन्त देश, अनन्त विस्तार और अनन्त बाह्य प्रकृति प्रकाशित करने में असमर्थ है। तब उन्होंने जगत्-समस्या की व्याख्या के लिए अन्य मार्गों का अवलम्बन किया। उपनिषदों की भाषा ने नया रूप धारण किया, उपनिषदों की भाषा एक प्रकार से 'नेति' वाचक है, स्थान स्थान पर अस्फुट है, मानो वह तुम्हें अतीन्द्रिय राज्य में ले जाने की चेष्टा करती है, केवल तुम्हें एक ऐसी वस्तु दिखा देती है, जिसे तुम ग्रहण नहीं कर सकते, जिसका तुम इन्द्रियों से बोध नहीं कर पाते, फिर भी उस वस्तु के सम्बन्ध में तुमको साथ ही यह निश्चय भी है कि उसका अस्तित्व है। संसार में ऐसा स्थल कहाँ है जिसके साथ इस श्लोक की तुलना हो सके?—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ॥[1]

—'वहाँ सूर्य की किरण नहीं पहुँचती, वहाँ चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते, बिजली भी उस स्थान को प्रकाशित नहीं कर सकती, इस सामान्य अग्नि का तो कहना ही क्या?'

पुनश्च, समस्त संसार के समग्र दार्शनिक भाव की अत्यन्त पूर्ण अभिव्यक्ति संसार में और कहाँ पाओगे, हिन्दू जाति के समग्र चिन्तन का सारांश, मानव जाति की मोक्षाकांक्षा की समस्त कल्पना जिस प्रकार अद्भुत भाषा में अंकित हुई है जिस प्रकार अपूर्व रूपक में वर्णित हुई है, ऐसी तुम और कहाँ पाओगे? यथा

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥[2]

एक ही वृक्ष के ऊपर सुन्दर पंखवाली दो चिड़ियाँ रहती हैं—दोनों बड़ी मित्र हैं, उनमें एक उसी वृक्ष के फल खाती है, दूसरी फल न खाकर स्थिर भाव से चुपचाप बैठी है। नीचे की शाखा में बैठी चिड़िया कभी मीठे कभी कड़वे फल खाती है—और इसी कारण कभी सुखी अथवा कभी दुःखी होती है किन्तु ऊपर की शाखा में बैठी हुई चिड़िया स्थिर और गम्भीर है, वह अच्छे-बुरे कोई फल नहीं खाती, वह सुख और दुःख की परवाह नहीं करती, अपनी ही महिमा में मग्न है। ये दोनों पक्षी जीवात्मा और परमात्मा हैं। मनुष्य इस जीवन के मीठे और कड़वे फल खाता है, वह धन की खोज में मस्त है, वह इन्द्रिय सुख के

१ कठोपनिषद् ॥२।२।१५॥
२ मुंडकोपनिषद् ॥३।१।१-२॥

पीछे दौडता है, सासारिक क्षणिक वृथा सुख के लिए उन्मत्त होकर पागल के समान दौडता है। उपनिषदो ने एक और स्थान पर सारथि और उसके असयत दुष्ट घोडे के साथ मनुष्य के इस इन्द्रिय-सुखान्वेषण की तुलना की है। वृथा सुख के अनुसन्धान की चेष्टा मे मनुष्य का जीवन ऐसा ही बीतता है। बच्चे कितने सुनहले स्वप्न देखते हैं, अन्तत केवल यह जानने के लिए कि ये निरर्थक हैं। वृद्धावस्था मे वे अपने अतीत कर्मों की पुनरावृत्ति करते हैं, और फिर भी नही जानते कि इस जजाल से कैसे निकला जाय। ससार यही है। किन्तु सभी मनष्यो के जीवन मे समय समय पर ऐसे स्वर्णिम क्षण आते हैं—मनुष्य के अत्यन्त शोक मे, यहाँ तक कि महा आनन्द के समय ऐसे उत्तम सुअवसर आ उपस्थित होते हैं, जब सूर्य के प्रकाश को छिपानेवाला मेघखड मानो थोडी देर के लिए हट जाता है। उस समय इस क्षण-काल के लिए अपने इस सीमाबद्ध भाव के परे उस सर्वातीत सत्ता की एक झलक पा जाते हैं जो अत्यन्त दूर है, जो पचेन्द्रियाबद्ध जीवन से परे बहुत दूर है, जो इस ससार के व्यर्थ भोग और इसके सुख-दु ख से परे बहुत ही दूर है, जो प्रकृति के उस पार दूर है, जो इहलोक अथवा परलोक मे हम जिस सुख-भोग की कल्पना करते हैं उससे भी बहुत दूर है, जो धन, यश और सन्तान की तृष्णा से भी परे बहुत दूर है। मनुष्य क्षण-काल के लिए दिव्य दृश्य देखकर स्थिर होता है—और देखता है कि दूसरी चिडिया शान्त और महिमामय है, वह खट्टे या मीठे कोई भी फल नही खाती, वह अपनी महिमा मे स्वय आत्मतृप्त है, जैसा गीता मे कहा है

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानव।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥३।१७॥

—'जो आत्मा मे रत है, जो आत्मतृप्त है और जो आत्मा मे ही सन्तुष्ट है, उसके करने के लिए और कौन कार्य शेष रह गया है ?'

वह वृथा कार्य करके क्यो समय गँवाये ? एक बार अचानक ब्रह्म-दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् मनुष्य पुन भूल जाता है, पुन जीवन के खट्टे और मीठे फल खाता है—और उस समय उसको कुछ भी स्मरण नही रहता। कदाचित् कुछ दिनो के पश्चात् वह पुन ब्रह्म के दर्शन प्राप्त करता है और जितनी चोट खाता है, उतना ही नीचे का पक्षी ऊपर बैठे हुए पक्षी के निकट आता जाता है। यदि वह सौभाग्य से ससार के तीव्र आघात पाता रहे, तो वह अपने साथी, अपने प्राण, अपने सखा उसी दूसरे पक्षी के निकट क्रमश आता है। और वह जितना ही निकट आता है, उतना ही देखता है कि उस ऊपर बैठे हुए पक्षी की देह की ज्योति आकर उसके पखो के चारो ओर खेल रही है।

और वह जितना ही निकट आता जाता है उतना ही रूपान्तरण घटित होता है। धीरे धीरे वह जब अत्यन्त निकट पहुँच जाता है, तब देखता है कि मानों वह क्रमशः मिटता जा रहा है—अन्त में उसका पूर्ण रूप से लोप हो जाता है। उस समय वह समझता है कि उसका पृथक अस्तित्व भी न था वह उसी हिलते हुए पत्तों के भीतर शान्त और गम्भीर भाव से बैठे हुए दूसरे पक्षी का प्रतिबिम्ब मात्र था। उस समय वह जानता है कि वह स्वयं ही वही ऊपर बैठा हुआ पक्षी है, वह सदा से शान्त भाव में बैठा हुआ था—यह उसीकी महिमा है। वह निर्भय हो जाता है, उस समय वह सम्पूर्ण रूप से तृप्त होकर धीरे और शान्त भाव में निमग्न रहता है। इसी रूपक में उपनिषद् द्वैत भाव से आरम्भ कर पूर्ण अद्वैत भाव में हमें ले जाते हैं।

उपनिषदों के अपूर्व कवित्व उन्नत चित्रण तथा उच्चतम भावसमूह दिखलाने के लिए अनन्त उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं किन्तु इस व्याख्यान में इसके लिए समय नहीं है। तो भी एक बात और कहूँगा उपनिषदों की भाषा और भाव की गति सरल है, उनकी प्रत्येक बात तलवार की धार के समान हथौड़े की चोट के समान साक्षात् भाव से हृदय में आघात करती है। उनके अर्थ समझने में कुछ भी भूल होने की सम्भावना नहीं—उस संगीत के प्रत्येक सुर में शक्ति है और वह हृदय पर पूरा असर करता है। उनमें अस्पष्टता नहीं असम्बद्ध कथन नहीं किसी प्रकार की जटिलता नहीं जिससे दिमाग घूम जाय। उनमें अवनति के चिह्न नहीं हैं अन्योक्तियों द्वारा वर्णन की भी ज्यादा चेष्टा नहीं की गयी है। उपनिषदों में इस प्रकार के वर्णन भी नहीं मिलेंगे कि विशेषण के पश्चात् विशेषण देकर क्रमागत भाव को जटिल करने से प्रकृत विषय का पता न लगे दिमाग चक्कर खाने लगे और उस साहित्यिक गोरखधन्धे के बाहर निकलने का उपाय ही न सूझे। यदि यह मानवप्रणीत है, तो यह एक ऐसी जाति का साहित्य है जिसमें अभी अपनी जातीय तेजस्विता का ह्रास नहीं हुआ।

उपनिषदों का प्रत्येक पृष्ठ मुझे शक्ति का सन्देश देता है। यह विषय विशेष रूप से स्मरण रखने योग्य है, समस्त जीवन में मैंने यही महाशिक्षा प्राप्त की है—उपनिषद् कहते हैं, हे मानव तेजस्वी बनो वीर्यवान बनो दुर्बलता को त्यागो। मनुष्य प्रश्न करता है क्या मनुष्य में दुर्बलता नहीं है? उपनिषद् कहते हैं अवश्य है किन्तु अधिक दुर्बलता द्वारा क्या यह दुर्बलता दूर होगी? क्या तुम मैल से मैल धोने का प्रयत्न करोगे? पाप के द्वारा पाप अथवा निर्बलता द्वारा निर्बलता दूर होती है? उपनिषद् कहते हैं हे मनुष्य तेजस्वी बनो वीर्यवान बनो उठकर खड़े हो जाओ। जगत् के साहित्य में केवल इन्हीं उपनिषदों में 'अभीः' (भयशून्य) यह शब्द बार बार व्यवहृत हुआ है—और संसार के किसी शास्त्र में ईश्वर अथवा

मानव के प्रति 'अभी'—'भयशून्य' यह विशेपण प्रयुक्त नही हुआ है। 'अभी' —निर्भय वनो! और मेरे मन मे अत्यन्त अतीत काल के उस पाश्चात्य सम्राट् सिकन्दर का चित्र उदित होता है और मैं देख रहा हूँ—वह महाप्रतापी सम्राट् सिन्धु नद के तट पर खडा होकर अरण्यवासी, शिलाखड पर वैठे हुए वृद्ध, नग्न, हमारे ही एक सन्यासी के साथ वात कर रहा है। सम्राट् सन्यासी के अपूर्व ज्ञान से विस्मित होकर उसको अर्थ और मान का प्रलोभन दिखाकर यूनान देश मे आने के लिए निमन्त्रित करता है। और वह व्यक्ति उसके स्वर्ण पर मुसकराता है, उसके प्रलोभनो पर मुसकराता है और अस्वीकार कर देता है। और तव सम्राट् ने अपने अधिकार-वल से कहा, "यदि आप नही आयेंगे तो मैं आपको मार डालूँगा।" यह सुनकर सन्यासी ने खिलखिलाकर कहा, "तुमने इस समय जैसा मिथ्या भाषण किया, जीवन मे ऐसा कभी नही किया। मुझको कौन मार सकता है? जड जगत् के सम्राट्, तुम मुझको मारोगे? कदापि नही! मैं चैतन्यस्वरूप, अज और अक्षय हूँ! मेरा कभी जन्म नही हुआ और न कभी मेरी मृत्यु हो सकती है! मैं अनन्त, सर्वव्यापी और सर्वज्ञ हूँ। क्या तुम मुझको मारोगे? निरे वच्चे हो तुम!" यही सच्चा तेज है, यही सच्चा वीर्य है! हे बन्धुगण, हे स्वदेशवासियो, मैं जितना ही उपनिषदो को पढता हूँ, उतना ही मैं तुम्हारे लिए आँसू बहाता हूँ, क्योकि उपनिषदो मे वर्णित इसी तेजस्विता को ही हमको विशेष रूप से जीवन मे चरितार्थ करना आवश्यक हो गया है। शक्ति, शक्ति—यही हमको चाहिए, हमको शक्ति की बडी आवश्यकता है। कौन प्रदान करेगा हमको शक्ति? हमको दुर्बल करने के लिए सहस्रो विषय है, कहानियाँ भी बहुत हैं। हमारे प्रत्येक पुराण मे इतनी कहानियाँ हैं कि जिससे ससार मे जितने पुस्तकालय हैं, उनका तीन चौथाई भाग पूर्ण हो सकता है, जो हमारी जाति को शक्तिहीन कर सकती हैं, ऐसी दुर्बलताओ का प्रवेश हममे विगत एक हज़ार वर्ष से ही हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो विगत एक हज़ार वर्ष से हमारे जातीय जीवन का यही एकमात्र लक्ष्य था कि किस प्रकार हम अपने को दुर्वल से दुर्बलतर बना सकेंगे। अन्त मे हम वास्तव मे हर एक के पैर के पास रेंगनेवाले ऐसे केचुओ के समान हो गये हैं कि इस समय जो चाहे वही हमको कुचल सकता है। हे वन्धुगण, तुम्हारी और मेरी नसो मे एक ही रक्त का प्रवाह हो रहा है, तुम्हारा जीवन-मरण मेरा भी जीवन-मरण है। मैं तुमसे पूर्वोक्त कारणो से कहता हूँ कि हमको शक्ति, केवल शक्ति ही चाहिए। और उपनिषद् शक्ति की विशाल खान हैं। उपनिषदो मे ऐसी प्रचुर शक्ति विद्यमान है कि वे समस्त ससार को तेजस्वी वना सकते हैं। उनके द्वारा समस्त ससार पुनरुज्जीवित, सशक्त और वीर्यसम्पन्न हो सकता है। समस्त जातियो को, सकल मतो को, भिन्न भिन्न सम्प्र-

दाय के दुर्दम कुरीति पददलित लोगों को स्वयं अपने पैरों खड़े होकर मुक्त होने के लिए वे उच्च स्वर में उद्घोष कर रहे हैं। मुक्ति अथवा स्वाधीनता—दैहिक स्वाधीनता मानसिक स्वाधीनता आध्यात्मिक स्वाधीनता यही उपनिषदों के मूल मंत्र हैं।

संसार भर में ये ही एकमात्र शास्त्र हैं जिनमें उद्धार (salvation) का वर्णन नहीं किन्तु मुक्ति का वर्णन है। प्रकृति के बन्धन से मुक्त हो जाओ दुर्बलता से मुक्त हो जाओ। और उपनिषद् तुमको यह भी बतलाते हैं कि यह मुक्ति तुमम पहले से ही विद्यमान है। उपनिषदों के उपदेश की यह और भी एक विशेषता है। तुम द्वैतवादी हो—कुछ चिन्ता नहीं किन्तु तुमको यह स्वीकार करना ही होगा कि आत्मा स्वभाव ही से पूर्णस्वरूप है केवल कितने ही कार्यों के द्वारा वह संकुचित हो गयी है। आधुनिक विकासवादी (evolutionist) जिसको क्रमविकास (evolution) और क्रमसंकोच (atavism) कहते हैं रामानुज का संकोच और विकास का सिद्धान्त भी ठीक एसा ही है। आत्मा स्वाभाविक पूर्णता से भ्रष्ट होकर मानो संकोच को प्राप्त होती है, उसकी शक्ति अव्यक्त भाव धारण करती है सत्कर्म और अच्छे विचारों द्वारा वह पुनः विकास को प्राप्त होती है और उसी समय उसकी स्वाभाविक पूर्णता प्रकट हो जाती है। अद्वैतवादी के साथ द्वैतवादी का इतना ही मतभेद है कि अद्वैतवादी आत्मा के विकास को नहीं किन्तु प्रकृति के विकास को स्वीकार करता है। उदाहरणार्थ एक परदा है और इस परदे में एक छोटा सूराख। मैं इस परदे के भीतर से इस भारी जनसमुदाय को देख रहा हूँ। मैं प्रथम केवल थोड़े से मनुष्यों को देख सकूँगा। मान लो छेद बढ़ने लगा फिर जितना ही बड़ा होगा उतना ही मैं इस एकत्र व्यक्तियों में से अधिकांश को देख सकूँगा। अन्त में छिद्र बढ़ते बढ़ते परदा और छिद्र एक हो जायँगे तब इस स्थिति में तुम्हारे और मेरे बीच कुछ भी नहीं रह जायगा। यहाँ तुममें और मुझमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। जो कुछ परिवर्तन हुआ वह परदे में ही हुआ। तुम आरम्भ से अन्त तक एक से थे केवल परदे में ही परिवर्तन हुआ था। विकास के सम्बन्ध में अद्वैतवादियों का यही मत है—प्रकृति का विकास और आत्मा की आभ्यन्तर अभिव्यक्ति। आत्मा किसी प्रकार भी संकोच को प्राप्त नहीं हो सकती। यह अपरिवर्तनशील और अनन्त है। वह मानो मायारूपी परदे से ढँकी हुई है—जितना ही यह मायारूपी परदा क्षीण होता जाता है उतनी ही आत्मा की स्वयंसिद्ध स्वाभाविक महिमा अभिव्यक्त होती है और क्रमशः वह अधिकाधिक प्रकाशमान होती है। संसार इसी एक महान् तत्त्व को भारत से सीखने की अपेक्षा कर रहा है। वे चाहे जो कहें व कितना ही अहंकार करने की चेष्टा करें, पर वे क्रमशः दिन प्रतिदिन जान लेंगे

कि विना इस तत्त्व को स्वीकार किये कोई समाज टिक नही सकता। क्या तुम नही देख रहे हो कि समस्त पदार्थों मे कैसा भीपण परिवर्तन हो रहा है? क्या तुम नही जानते कि पहले यह प्रथा थी कि जव तक कोई वस्तु अच्छी कहकर प्रमाणित न हो जाय तव तक उसे निश्चित रूप से बुरी माना जाय? शिक्षाप्रणाली मे, अपराधियो की दण्ड-व्यवस्था मे, पागलो की चिकित्सा मे, यहाँ तक कि साधारण रोग की चिकित्सा पर्यन्त सबमे इसी प्राचीन नियम को लागू किया जाता था। आधुनिक नियम क्या है? आधुनिक नियम के अनुसार शरीर स्वभाव ही से स्वस्थ है, वह अपनी प्रकृति से ही रोगो को दूर करता है। औषधि अधिक से अधिक शरीर मे सार पदार्थों के सचय मे सहायता कर सकती है। अपराधियो के सम्बन्ध मे यह आधुनिक नियम क्या कहता है? आधुनिक नियम यह स्वीकार करता है कि कोई अपराधी, वह कितना ही हीन क्यो न हो, उसमे भी ईश्वरत्व है, जिसका कभी परिवर्तन नही होता है और इसलिए अपराधियो के प्रति हमको तदनुरूप व्यवहार करना चाहिए। अव पहले के ये सब भाव बदल रहे हैं और अव सुधारालय तथा प्रायश्चित्त-गृहो की स्थापना की जा रही है। ऐसा ही सर्वत्र है। जान कर कहो अथवा बिना जाने, यह भारतीय भाव कि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर ईश्वरत्व वर्तमान है, नाना भावो से व्यक्त हो रहा है। और तुम्हारे शास्त्रो मे ही इसकी व्याख्या है, उनको यह स्वीकार करना पडेगा। मनुष्य के प्रति मनुष्य के व्यवहार मे महान् परिवर्तन हो जायगा और मनुष्य की दुर्बलताओ को वतलानेवाले ये प्राचीन विचार नही रहेगे। इसी शताब्दी मे इन भावो का लोप हो जायगा। इस समय लोग हमारे विरोध मे खडे होकर हमारी आलोचना कर सकते हैं। 'ससार मे पाप नही है', इस घोर पैशाचिक सिद्धान्त के प्रचारक के रूप मे ससार के प्रत्येक भाग मे मेरी आलोचना की गयी है। बहुत अच्छा, किन्तु इस समय जिन्होने मुझको बुरा भला कहा है, उनके ही वशज मुझको अधर्म का प्रचारक नही, किन्तु धर्म का प्रचारक कहकर आशीर्वाद देंगे। मैं धर्म का प्रचारक हूँ, अधर्म का नही। मैंने अज्ञानान्धकार का प्रचार नही किया, किन्तु ज्ञान प्रकाश के विस्तार की चेष्टा की है, इसे मैं अपना गौरव समझता हूँ।

समग्र ससार का अखण्डत्व, जिसको ग्रहण करने के लिए ससार प्रतीक्षा कर रहा है, हमारे उपनिषदो का दूसरा महान् भाव है। प्राचीन काल की हदबन्दी और पार्थक्य इस समय तेजी से कम होते जा रहे हैं। बिजली और भाप की शक्ति, यातायात तथा सचार की सुविधाएँ बढाकर ससार के विभिन्न देशो का परस्पर परिचय करा रही है। इसके फलस्वरूप, हम हिन्दू इस समय अपने देश के अतिरिक्त अन्य सब देशो को केवल भूत-प्रेत, राक्षस, पिशाचो से पूर्ण नही देख रहे हैं और

दाय के दुर्बल दुःखी पददलित लोगों को स्वयं अपने पैरों खड़े होकर मुक्त होने के लिए वे उच्च स्वर में उद्घोष कर रहे हैं। मुक्ति अथवा स्वाधीनता—दैहिक स्वाधीनता मानसिक स्वाधीनता आध्यात्मिक स्वाधीनता यही उपनिषदों के मूल मंत्र हैं।

संसार भर में ये ही एकमात्र शास्त्र हैं जिनमें उद्धार (salvation) का वर्णन नहीं किन्तु मुक्ति का वर्णन है। प्रकृति के बन्धन से मुक्त हो जाओ दुर्बलता से मुक्त हो जाओ। और उपनिषद् तुमको यह भी बतलाते हैं कि यह मुक्ति तुममें पहले से ही विद्यमान है। उपनिषदों के उपदेश की यह और भी एक विशेषता है। तुम द्वैतवादी हो—कुछ चिन्ता नहीं किन्तु तुमको यह स्वीकार करना ही होगा कि आत्मा स्वभाव ही से पूर्णस्वरूप है, केवल कितने ही कार्यों के द्वारा वह संकुचित हो गयी है। आधुनिक विकासवादी (evolutionist) जिसको क्रमविकास (evolution) और क्रमसंकोच (atavism) कहते हैं, रामानुज का संकोच और विकास का सिद्धान्त भी ठीक ऐसा ही है। आत्मा स्वाभाविक पूर्णता से भ्रष्ट होकर मानो संकोच को प्राप्त होती है उसकी शक्ति अव्यक्त भाव धारण करती है सत्कर्म और अच्छे विचारों द्वारा वह पुनः विकास को प्राप्त होती है और उसी समय उसकी स्वाभाविक पूर्णता प्रकट हो जाती है। अद्वैतवादी के साथ द्वैतवादी का इतना ही मतभेद है कि अद्वैतवादी आत्मा के विकास को नहीं किन्तु प्रकृति के विकास को स्वीकार करता है। उदाहरणार्थ एक परदा है और इस परदे में एक छोटा सूराख। मैं इस परदे के भीतर से इस भारी जनसमुदाय को देख रहा हूँ। मैं प्रथम केवल थोड़े से मनुष्यों को देख सकूँगा। मान लो छेद बढ़ने लगा छिद्र जितना ही बड़ा होगा उतना ही मैं इन एकत्र व्यक्तियों में से अधिकांश को देख सकूँगा। अन्त में छिद्र बढ़ते बढ़ते परदा और छिद्र एक हो जायँगे तब इस स्थिति में तुम्हारे और मेरे बीच कुछ भी नहीं रह जायगा। यहाँ तुममें और मुझमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। जो कुछ परिवर्तन हुआ वह परदे में ही हुआ। तुम आरम्भ से अन्त तक एक से थे केवल परदे में ही परिवर्तन हुआ था। विकास के सम्बन्ध में अद्वैतवादियों का यही मत है—प्रकृति का विकास और आत्मा की आभ्यन्तर अभिव्यक्ति। आत्मा किसी प्रकार भी संकोच को प्राप्त नहीं हो सकती। वह अपरिवर्तनशील और अनन्त है। वह मानो मायारूपी परदे से ढँकी हुई है—जितना ही यह मायारूपी परदा क्षीण होता जाता है उतनी ही आत्मा की स्वयंसिद्ध स्वाभाविक महिमा अभिव्यक्त होती है और क्रमशः वह अधिकाधिक प्रकाशमान होती है। संसार इसी एक महान् तत्त्व को भारत से सीखने की अपेक्षा कर रहा है। वे चाहे जो कहें वे कितना ही अहंकार करने की चेष्टा करें, पर वे क्रमशः दिन प्रतिदिन जान लेंगे

कि विना इस तत्त्व को स्वीकार किये कोई समाज टिक नही सकता। क्या तुम नही देख रहे हो कि समस्त पदार्थों मे कैसा भीषण परिवर्तन हो रहा है? क्या तुम नही जानते कि पहले यह प्रथा थी कि जब तक कोई वस्तु अच्छी कहकर प्रमाणित न हो जाय तब तक उसे निश्चित रूप से बुरी माना जाय? शिक्षाप्रणाली मे, अपराधियो की दण्ड-व्यवस्था मे, पागलो की चिकित्सा मे, यहाँ तक कि साधारण रोग की चिकित्सा पर्यन्त सबमे इसी प्राचीन नियम को लागू किया जाता था। आधुनिक नियम क्या है? आधुनिक नियम के अनुसार शरीर स्वभाव ही से स्वस्थ है, वह अपनी प्रकृति मे ही रोगो को दूर करता है। औषधि अधिक से अधिक शरीर मे सार पदार्थों के सचय मे सहायता कर सकती है। अपराधियो के सम्बन्ध मे यह आधुनिक नियम क्या कहता है? आधुनिक नियम यह स्वीकार करता है कि कोई अपराधी, वह कितना ही हीन क्यो न हो, उसमे भी ईश्वरत्व है, जिसका कभी परिवर्तन नही होता है और इसलिए अपराधियो के प्रति हमको तदनुरूप व्यवहार करना चाहिए। अब पहले के ये सब भाव बदल रहे हैं और अब सुधारालय तथा प्रायश्चित्त-गृहो की स्थापना की जा रही है। ऐसा ही सर्वत्र है। जान कर कहो अथवा विना जाने, यह भारतीय भाव कि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर ईश्वरत्व वर्तमान है, नाना भावो से व्यक्त हो रहा है। और तुम्हारे शास्त्रो मे ही इसकी व्याख्या है, उनको यह स्वीकार करना पडेगा। मनुष्य के प्रति मनुष्य के व्यवहार मे महान् परिवर्तन हो जायगा और मनुष्य की दुर्बलताओ को बतलानेवाले ये प्राचीन विचार नही रहेगे। इसी शताब्दी मे इन भावो का लोप हो जायगा। इस समय लोग हमारे विरोध मे खडे होकर हमारी आलोचना कर सकते हैं। 'ससार मे पाप नही है', इस घोर पैशाचिक सिद्धान्त के प्रचारक के रूप मे ससार के प्रत्येक भाग मे मेरी आलोचना की गयी है। बहुत अच्छा, किन्तु इस समय जिन्होने मुझको बुरा भला कहा है, उनके ही वशज मुझको अधर्म का प्रचारक नही, किन्तु धर्म का प्रचारक कहकर आशीर्वाद देंगे। मैं धर्म का प्रचारक हूँ, अधर्म का नही। मैंने अज्ञानान्धकार का प्रचार नही किया, किन्तु ज्ञान प्रकाश के विस्तार की चेष्टा की है, इसे मैं अपना गौरव समझता हूँ।

समग्र ससार का अखण्डत्व, जिसको ग्रहण करने के लिए ससार प्रतीक्षा कर रहा है, हमारे उपनिषदो का दूसरा महान् भाव है। प्राचीन काल की हदबन्दी और पार्थक्य इस समय तेजी से कम होते जा रहे हैं। बिजली और भाप की शक्ति, यातायात तथा सचार की सुविधाएँ बढाकर ससार के विभिन्न देशो का परस्पर परिचय करा रही है। इसके फलस्वरूप, हम हिन्दू इस समय अपने देश के अतिरिक्त अन्य सब देशो को केवल भूत-प्रेत, राक्षस, पिशाचो से पूर्ण नही देख रहे हैं और

ईसाई धर्म-प्रधान देशों के लोग भी नहीं कहते कि भारत में केवल नरमांसभोजी और असभ्य लोग रहते हैं। अपने देश से बाहर जाकर हम देखते हैं कि वहीं बन्धु मानव सहायता के लिए अपना वही शक्तिशाली हाथ बढ़ा रहा है और उसी मुख से उत्साहित कर रहा है। जिस देश में हमने जन्म लिया है उसकी अपेक्षा कभी कभी अन्य देशों में अधिक अच्छे लोग मिल जाते हैं। जब वे यहाँ आते हैं वे भी यहाँ वैसा ही भ्रातृभाव उत्साह और सहानुभूति पाते हैं। हमारे उपनिषदों ने ठीक ही कहा है, अज्ञान ही सर्व प्रकार के दुःखों का कारण है। सामाजिक अथवा आध्यात्मिक अपने जीवन को चाहे जिस अवस्था में देखो यह बिल्कुल सही उतरता है। अज्ञान से ही हम परस्पर घृणा करते हैं अज्ञान से ही हम एक दूसरे को जानते नहीं और इसीलिए प्यार नहीं करते। जब हम एक दूसरे को जान लेंगे प्रेम का उदय होगा। प्रेम का उदय निश्चित है क्योंकि क्या हम सब एक नहीं हैं? इसलिए हम देखते हैं कि चेष्टा न करने पर भी हम सबका एकत्वभाव स्वभाव ही से आ जाता है। यहाँ तक कि राजनीति और समाजनीति के क्षेत्रों में भी जो समस्याएँ बीस वर्ष पहले केवल राष्ट्रीय थीं इस समय उनकी मीमांसा केवल राष्ट्रीयता के आधार पर ही नहीं की जा सकती। उक्त समस्याएँ क्रमशः कठिन हो रही हैं और विशाल आकार धारण कर रही है। केवल अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर उदार दृष्टि से विचार करने पर ही उनको हल किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अन्तर्राष्ट्रीय संघ अन्तर्राष्ट्रीय विधान ये ही आजकल के मूलमन्त्रस्वरूप हैं। सब लोगों के भीतर एकत्वभाव किस प्रकार विस्तृत हो रहा है यही उसका प्रमाण है। विज्ञान में भी जड़ तत्त्व के सम्बन्ध में ऐसे ही सार्वभौम भाव ही इस समय आविष्कृत हो रहे हैं। इस समय तुम समग्र जड़ वस्तु को समस्त संसार को एक अखण्ड वस्तुरूप मे वृहद् जड़-समुद्र सा वर्णन करते हो जिसमें तुम मैं चन्द्र सूर्य और शेष सब कुछ इसी विभिन्न क्षुद्र भँवर मात्र हैं, और कुछ नहीं। मानसिक दृष्टि से देखने पर वह एक अनन्त विचार-समुद्र प्रतीत होता है तुम और मैं उस विचार-समुद्र के अत्यन्त छोटे छोटे भँवरों के सदृश हैं। आत्मपरक दृष्टि से देखने पर समग्र जगत् एक अचल अपरिवर्तनशील सत्ता अर्थात् आत्मा प्रतीत होता है। नैतिकता का स्वर भी आ रहा है और वह भी हमारे ग्रन्थों में विद्यमान है। नैतिकता की व्याख्या और आचार-शास्त्र के मूल स्रोत के लिए भी संसार व्याकुल है यह भी हमारे शास्त्रों से ही मिलेगा।

हम भारत में क्या चाहते हैं? यदि विदेशियों को इन पदार्थों की आवश्यकता है तो हमको इनकी आवश्यकता बीस गुना अधिक है। क्योंकि हमारे उपनिषद् कितने ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हों, अन्यान्य जातियों के साथ तुलना में हम अपने

पूर्वपुरुष ऋषिगणो पर कितना ही गर्व क्यो न करे, मैं तुम लोगो से स्पष्ट भाषा मे कहे देता हूँ कि हम दुर्बल है, अत्यन्त दुर्बल है। प्रथम तो है हमारी शारीरिक दुर्बलता। यह शारीरिक दुर्बलता कम से कम हमारे एक तिहाई दुखो का कारण है। हम आलसी हैं, हम कार्य नही कर सकते, हम पारस्परिक एकता स्थापित नही कर सकते, हम एक दूसरे से प्रेम नही करते, हम बडे स्वार्थी है, हम तीन मनुष्य एकत्र होते ही एक दूसरे से घृणा करते है, ईर्ष्या करते हैं। हमारी इस समय ऐसी अवस्था है कि हम पूर्ण रूप से असगठित है, घोर स्वार्थी हो गये है, सैकडो शताब्दियो से इसीलिए झगडते है कि तिलक इस तरह धारण करना चाहिए या उस तरह। अमुक व्यक्ति की नजर पडने से हमारा भोजन दूषित होगा या नही, ऐसी गुरुतर समस्याओ के ऊपर हम बडे बडे ग्रन्थ लिखते हैं। पिछली कई शताब्दियो से हमारा यही कारनामा रहा है। जिस जाति के मस्तिष्क की समस्त शक्ति ऐसी अपूर्व सुन्दर समस्याओ और गवेषणाओ मे लगी है, उससे किसी उच्च कोटि की सफलता की क्या आशा की जाय! और क्या हमको अपने पर शर्म भी नही आती? हाँ, कभी कभी शर्मिन्दा होते भी है। यद्यपि हम उनकी निस्सारता को समझते है, पर उनका परित्याग नही कर पाते। हम अनेक बातें सोचते हैं, किन्तु उनके अनुसार कार्य नही कर सकते। इस प्रकार तोते के समान बातें करना हमारा अभ्यास हो गया है—आचरण मे हम बहुत पिछडे हुए हैं। इसका कारण क्या है? शारीरिक दौर्बल्य। दुर्बल मस्तिष्क कुछ नही कर सकता, हमको अपने मस्तिष्क को बलवान बनाना होगा। प्रथम तो हमारे युवको को बलवान बनना होगा। धर्म पीछे आयेगा। हे मेरे युवक बन्धु, तुम बलवान बनो—यही तुम्हारे लिए मेरा उपदेश है। गीता-पाठ करने की अपेक्षा तुम्हे फुटबाल खेलने से स्वर्ग-सुख अधिक सुलभ होगा। मैंने अत्यन्त साहसपूर्वक ये बातें कही हैं, और इनको कहना अत्यावश्यक है, कारण मैं तुमको प्यार करता हूँ। मैं जानता हूँ कि कंकड कहाँ चुभता है। मैंने कुछ अनुभव प्राप्त किया है। बलवान शरीर से अथवा मजबूत पुट्ठो से तुम गीता को अधिक समझ सकोगे। शरीर मे ताजा रक्त होने से तुम कृष्ण की महती प्रतिभा और महान् तेजस्विता को अच्छी तरह समझ सकोगे। जिस समय तुम्हारा शरीर तुम्हारे पैरो के बल दृढ भाव से खडा होगा, जब तुम अपने को मनुष्य समझोगे, तब तुम उपनिषद् और आत्मा की महिमा भली भाँति समझोगे। इस तरह वेदान्त को अपनी आवश्यकताओ के अनुसार काम मे लगाना होगा।

लोग मेरे अद्वैतवाद के प्रचार से बहुधा विरक्त हो जाते हैं। अद्वैतवाद, द्वैतवाद अथवा अन्य किसी वाद का प्रचार करना मेरा उद्देश्य नही है। हमे इस समय आवश्यकता है केवल आत्मा की—उसके अपूर्व तत्त्व, उसकी अनन्त शक्ति,

ईसाई धर्म-प्रधान देशों के लोग भी नहीं कहते कि भारत में केवल नरमांसभोजी और असभ्य लोग रहते हैं। अपने देश से बाहर जाकर हम देखते हैं कि वही बन्धु *मानव सहायता के लिए अपना वही शक्तिशाली हाथ बढ़ा रहा है और उसी* मुख से उत्साहित कर रहा है। जिस देश में हमने जन्म लिया है उसकी अपेक्षा कभी कभी अन्य देशों में अधिक अच्छे लोग मिल जाते हैं। जब वे यहाँ आते हैं, वे भी यहाँ वैसा ही भ्रातृभाव उत्साह और सहानुभूति पाते हैं। हमारे उपनिषदों ने ठीक ही कहा है अज्ञान ही सर्व प्रकार के दुःखों का कारण है। सामाजिक अथवा आध्यात्मिक अपने जीवन को चाहे जिस अवस्था में देखो यह बिल्कुल सही उतरता है। अज्ञान से ही हम परस्पर घृणा करते हैं, अज्ञान से ही हम एक दूसरे को जानते नहीं और इसीलिए प्यार नहीं करते। जब हम एक दूसरे को जान लेंगे प्रेम का उदय होगा। प्रेम का उदय निश्चित है क्योंकि क्या हम सब एक नहीं हैं? इसलिए हम देखते हैं कि चेष्टा न करने पर भी हम सबका एकत्वभाव स्वभाव ही से आ जाता है। यहाँ तक कि राजनीति और समाजनीति के क्षेत्रों में भी जो समस्याएँ बीस वर्ष पहले केवल राष्ट्रीय थीं इस समय उनकी मीमांसा केवल राष्ट्रीयता के आधार पर ही नहीं की जा सकती। उक्त समस्याएँ क्रमशः कठिन हो रही हैं और *विशाल आकार धारण कर रही हैं। केवल अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर उदार दृष्टि* से विचार करने पर ही उनको हल किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अन्तर्राष्ट्रीय सभ अन्तर्राष्ट्रीय विधान ये ही आजकल के मूलमन्त्रस्वरूप हैं। सब लोगों के भीतर एकत्वभाव किस प्रकार विस्तृत हो रहा है यही उसका प्रमाण है। विज्ञान में भी जड़ तत्त्व के सम्बन्ध में ऐसे ही सार्वभौम भाव ही इस समय आविष्कृत हो रहे हैं। इस समय तुम समग्र जड़ वस्तु को समस्त संसार को एक अखण्ड वस्तुरूप में वृहत् जड़-समुद्र सा वर्णन करते हो जिसमें तुम मैं चन्द्र सूर्य और शेष सब कुछ उसी विभिन्न क्षुद्र भँवर मात्र है, और कुछ नहीं। मानसिक दृष्टि से देखने पर वह एक अनन्त विचार-समुद्र प्रतीत होता है तुम और मैं उस विचार-समुद्र के अत्यन्त छोटे छोटे भँवरों के सदृश हैं। आत्मपरक दृष्टि से देखने पर समग्र जगत् एक अचल अपरिवर्तनशील सत्ता अर्थात् आत्मा प्रतीत होता है। नैतिकता का स्वर भी आ रहा है और वह भी हमारे ग्रन्थों में विद्यमान है। नैतिकता की व्याख्या और आचार-शास्त्र के मूल स्रोत के लिए भी संसार व्याकुल है वह भी हमारे शास्त्रों से ही मिलेगा।

हम भारत में क्या चाहते हैं? यदि विदेशियों को इन पदार्थों की आवश्यकता है तो हमको इनकी आवश्यकता बीस गुना अधिक है। क्योंकि हमारे उपनिषद् कितने ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हों अन्यान्य जातियों के साथ तुलना में हम अपने

पूर्वपुरुष ऋषिगणो पर कितना ही गर्व क्यो न करे, मैं तुम लोगो से स्पष्ट भाषा मे कहे देता हूँ कि हम दुर्बल हैं, अत्यन्त दुर्बल हैं। प्रथम तो है हमारी शारीरिक दुर्बलता। यह शारीरिक दुर्बलता कम से कम हमारे एक तिहाई दुःखो का कारण है। हम आलसी हैं, हम कार्य नही कर सकते, हम पारस्परिक एकता स्थापित नही कर सकते, हम एक दूसरे से प्रेम नहीं करते, हम बडे स्वार्थी है, हम तीन मनुष्य एकत्र होते ही एक दूसरे से घृणा करते है, ईर्ष्या करते है। हमारी इस समय ऐसी अवस्था है कि हम पूर्ण रूप से असगठित हैं, घोर स्वार्थी हो गये हैं, सैकडो शताब्दियो से इसीलिए झगडते हैं कि तिलक इस तरह धारण करना चाहिए या उस तरह। अमुक व्यक्ति की नजर पडने से हमारा भोजन दूषित होगा या नही, ऐसी गुरुतर समस्याओ के ऊपर हम बडे बडे ग्रन्थ लिखते हैं। पिछली कई शताब्दियो से हमारा यही कारनामा रहा है। जिस जाति के मस्तिष्क की समस्त शक्ति ऐसी अपूर्व सुन्दर समस्याओ और गवेषणाओ मे लगी है, उससे किसी उच्च कोटि की सफलता की क्या आशा की जाय! और क्या हमको अपने पर शर्म भी नही आती? हाँ, कभी कभी शर्मिन्दा होते भी हैं। यद्यपि हम उनकी निस्सारता को समझते हैं, पर उनका परित्याग नही कर पाते। हम अनेक बातें सोचते है, किन्तु उनके अनुसार कार्य नही कर सकते। इस प्रकार तोते के समान बातें करना हमारा अभ्यास हो गया है—आचरण मे हम बहुत पिछडे हुए हैं। इसका कारण क्या है? शारीरिक दौर्बल्य। दुर्बल मस्तिष्क कुछ नही कर सकता, हमको अपने मस्तिष्क को बलवान बनाना होगा। प्रथम तो हमारे युवको को बलवान बनना होगा। धर्म पीछे आयेगा। हे मेरे युवक बन्धु, तुम बलवान बनो—यही तुम्हारे लिए मेरा उपदेश है। गीता-पाठ करने की अपेक्षा तुम्हे फुटबाल खेलने से स्वर्ग-सुख अधिक सुलभ होगा। मैंने अत्यन्त साहसपूर्वक ये बाते कही हैं, और इनको कहना अत्यावश्यक है, कारण मैं तुमको प्यार करता हूँ। मैं जानता हूँ कि कंकड कहाँ चुभता है। मैंने कुछ अनुभव प्राप्त किया है। बलवान शरीर से अथवा मजबूत पुट्ठो से तुम गीता को अधिक समझ सकोगे। शरीर मे ताजा रक्त होने से तुम कृष्ण की महती प्रतिभा और महान् तेजस्विता को अच्छी तरह समझ सकोगे। जिस समय तुम्हारा शरीर तुम्हारे पैरो के बल दृढ भाव से खडा होगा, जब तुम अपने को मनुष्य समझोगे, तब तुम उपनिषद् और आत्मा की महिमा भली भाँति समझोगे। इस तरह वेदान्त को अपनी आवश्यकताओ के अनुसार काम मे लगाना होगा।

लोग मेरे अद्वैतवाद के प्रचार से बहुधा विरक्त हो जाते हैं। अद्वैतवाद, द्वैतवाद अथवा अन्य किसी वाद का प्रचार करना मेरा उद्देश्य नही है। हमे इस समय आवश्यकता है केवल आत्मा की—उसके अपूर्व तत्त्व, उसकी अनन्त शक्ति,

अनन्त वीर्य अनन्त शुद्धता और अनन्त पूर्णता के तत्त्व को जानने की। यदि मेरे कोई सन्तान होती तो मैं उसे जन्म के समय से ही सुनाता 'त्वमसि निरंजन'। तुमने अवश्य ही पुराण में रानी मदालसा की वह सुन्दर कहानी पढ़ी होगी। उसके सन्तान होते ही वह उसको अपने हाथ से झूले पर रखकर झुलाते हुए उसके निकट गाती थी 'तुम हो मेरे लाल निरंजन अतिपावन निष्पाप तुम हो सर्वशक्तिशाली तेरा है अमित प्रताप'। इस कहानी में महान् सत्य छिपा हुआ है। अपने को महान् समझो और तुम सचमुच महान् हो जाओगे। सभी लोग पूछते हैं आपने समस्त संसार में भ्रमण करके क्या अनुभव प्राप्त किया? अंग्रेज लोग पापियों की बातें करते हैं पर वास्तव में यदि सभी अंग्रेज अपने को पापी समझते तो वे अफ्रीका के मध्य भाग के रहनेवाले हब्शी जैसे हो जाते। ईश्वर की कृपा से इस बात पर वे विश्वास नहीं करते। इसके विपरीत अंग्रेज तो यह विश्वास करता है कि संसार के अधीश्वर होकर उसने जन्म धारण किया है। वह अपनी श्रेष्ठता पर पूरा विश्वास रखता है। उसकी धारणा है कि वह सब कुछ कर सकता है, इच्छा होने पर सूर्य लोक और चन्द्रलोक की भी सैर कर सकता है। इसी इच्छा के बल से वह बड़ा हुआ है। यदि वह अपने पुरोहितों के इन वाक्यों पर कि मनुष्य क्षुद्र है हतभाग्य और पापी है अनन्तकाल तक वह नरकाग्नि में दग्ध होगा विश्वास करता तो वह आज वही अंग्रेज न होता जैसा वह आज है। यही बात मैं प्रत्येक जाति के भीतर देखता हूँ। उनके पुरोहित लोग चाहे जो कुछ कहें और वे कितने ही कुसंस्कारपूर्ण क्यों न हों किन्तु उनके अभ्यन्तर का ब्रह्मभाव लुप्त नहीं होता उसका विकास अवश्य होता है। हम श्रद्धा खो बैठे हैं। क्या तुम मेरे इस कथन पर विश्वास करोगे कि हम अंग्रेजों की अपेक्षा कम आत्मश्रद्धा रखते हैं—सहस्रगुण कम आत्म श्रद्धा रखते हैं? मैं साफ-साफ कह रहा हूँ। बिना कहे दूसरा उपाय भी मैं नहीं देखता। तुम देखते नहीं?—अंग्रेज जब हमारे धर्मतत्त्व को कुछ कुछ समझने लगते हैं तब वे मानो उसीको लेकर उन्मत्त हो जाते हैं। यद्यपि वे शासक हैं, तथापि अपने देशवासियों की हँसी और उपहास की उपेक्षा करके भारत में हमारे ही धर्म का प्रचार करने के लिए वे आते हैं। तुम लोगों में से कितने ऐसे हैं जो ऐसा काम कर सकते हैं? तुम क्यों ऐसा नहीं कर सकते? क्या तुम जानते नहीं इसलिए नहीं कर सकते? उनकी अपेक्षा तुम अधिक ही जानते हो। इसीसे तो ज्ञान के अनुसार तुम काम नहीं कर सकते। जितना जानने से कल्याण होगा उससे तुम ज्यादा जानते हो यही आफ़त है। तुम्हारा रक्त पानी जैसा हो गया है, मस्तिष्क मुर्दार और शरीर दुर्बल! इस शरीर को बदलना होगा। शारीरिक दुर्बलता ही सब अनिष्टों की जड़ है और कुछ नहीं। गत कई सदियों से तुम

नाना प्रकार के सुधार, आदर्श आदि की बाते कर रहे हो और जब काम करने का समय आता है तब तुम्हारा पता ही नही मिलता। अत तुम्हारे आचरणो से सारा ससार क्रमश हताश हो रहा है और समाज-सुधार का नाम तक समस्त ससार के उपहास की वस्तु हो गयी है! इसका कारण क्या है? क्या तुम जानते नही हो? तुम अच्छी तरह जानते हो। ज्ञान की कमी तो तुम मे है ही नही! सब अनर्थो का मूल कारण यही है कि तुम दुर्बल हो, अत्यन्त दुर्बल हो, तुम्हारा शरीर दुर्बल है, मन दुर्बल है, और अपने पर आत्मश्रद्धा भी बिल्कुल नही है। सैकडो सदियो से ऊँची जातियो, राजाओ और विदेशियो ने तुम्हारे ऊपर अत्याचार करके, तुमको चकनाचूर कर डाला है। भाइयो! तुम्हारे ही स्वजनो ने तुम्हारा सब बल हर लिया है। तुम इस समय मेरुदण्डहीन और पददलित कीडो के समान हो। इस समय तुमको शक्ति कौन देगा? मैं तुमसे कहता हूँ, इसी समय हमको बल और वीर्य की आवश्यकता है। इस शक्ति को प्राप्त करने का पहला उपाय है—उपनिषदो पर विश्वास करना और यह विश्वास करना कि 'मैं आत्मा हूँ।' 'मुझे न तो तलवार काट सकती है, न बरछी छेद सकती है, न आग जला सकती है और न हवा सुखा सकती है, मैं सर्वशक्तिमान हूँ, सर्वज्ञ हूँ।"[1] इन आशाप्रद और परित्राणपद वाक्यो का सर्वदा उच्चारण करो। मत कहो—हम दुर्बल हैं। हम सब कुछ कर सकते हैं। हम क्या नही कर सकते? हमसे सब कुछ हो सकता है। हम सबके भीतर एक ही महिमामय आत्मा है। हमें इस पर विश्वास करना होगा। नचिकेता के समान श्रद्धाशील बनो। नचिकेता के पिता ने जब यज्ञ किया था, उसी समय नचिकेता के भीतर श्रद्धा का प्रवेश हुआ। मेरी इच्छा है—तुम लोगो के भीतर इसी श्रद्धा का आविर्भाव हो, तुममे से हर एक आदमी खडा होकर इशारे से ससार को हिला देनेवाला प्रतिभासम्पन्न महापुरुष हो, हर प्रकार से अनन्त ईश्वरतुल्य हो। मैं तुम लोगो को ऐसा ही देखना चाहता हूँ। उपनिषदो से तुमको ऐसी ही शक्ति प्राप्त होगी और वहीं से तुमको ऐसा विश्वास प्राप्त होगा।

प्राचीन काल मे केवल अरण्यवासी सन्यासी ही उपनिषदों की चर्चा करते थे। वे रहस्य के विषय बन गये थे। उपनिषद् सन्यासियो तक ही सीमित थे। शकर ने कुछ सदय हो कहा है, 'गृही मनुष्य भी उपनिषदो का अध्ययन कर सकते हैं, इससे उनका कल्याण ही होगा, कोई अनिष्ट न होगा।' परन्तु अभी तक यह सस्कार कि उपनिषदो मे वन, जगल अथवा एकान्तवास का ही वर्णन है, मनुष्यो के मन से

---

१ नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि नैन दहति पावक ।
न चैन क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत ।।गीता।२।२३।।

नहीं हुआ। मैंने तुम लोगों से उस दिन कहा था कि जो स्वयं वेदों के प्रकाशक हैं उन्हीं श्री कृष्ण के द्वारा वेदों की एकमात्र प्रामाणिक टीका गीता एक ही बार चिर काल के लिए बनी है यह सबके लिए और जीवन की सभी अवस्थाओं के लिए उपयोगी है। तुम कोई भी काम करो तुम्हारे लिए वेदान्त की आवश्यकता है। वेदान्त के इन सब महान् तत्त्वों का प्रचार आवश्यक है ये केवल अरण्य में अथवा गिरिगुहाओं में आबद्ध नहीं रहेंगे वकीलों और न्यायाधीशों मे प्रार्थना-मन्दिरो मे दरिद्रों की कुटियों में मछुओं के घरों में छात्रों के अध्ययन-स्थानों में—सर्वत्र ही इन तत्त्वों की चर्चा होगी और ये काम में लाये जायँगे। हर एक व्यक्ति हर एक सन्तान चाहे जो काम करे, चाहे जिस अवस्था में हो—उनकी पुकार सबके लिए है। भय का अब कोई कारण नहीं है। उपनिषदों के सिद्धान्तों को मछुए आदि साधारण जन किस प्रकार काम में लायेंगे? इसका उपाय शास्त्रो में बताया गया है। मार्ग अनन्त है, धर्म अनन्त है, कोई इसकी सीमा के बाहर नहीं जा सकता। तुम निष्कपट भाव से जो कुछ करते हो तुम्हारे लिए वही अच्छा है। अत्यन्त छोटा कर्म भी यदि अच्छे भाव से किया जाय तो उससे अद्भुत फल की प्राप्ति होती है। अतएव जो जहाँ तक अच्छे भाव से काम कर सके, करे। मछुआ यदि अपने को आत्मा समझकर चिन्तन करे, तो वह एक उत्तम मछुआ होगा। विद्यार्थी यदि अपने को आत्मा विचारे, तो वह एक श्रेष्ठ विद्यार्थी होगा। वकील यदि अपने को आत्मा समझे तो वह एक अच्छा वकील होगा। औरों के विषय में भी यही समझो। इसका फल यह होगा कि जातिविभाग अनन्त काल तक रह जायगा क्योंकि विभिन्न श्रेणियों मे विभक्त होना ही समाज का स्वभाव है। पर रहेगा क्या नहीं? विशेष अधिकारों का अस्तित्व न रह जायगा। जातिविभाग प्राकृतिक नियम है। सामाजिक जीवन मे एक विशेष काम मैं कर सकता हूँ तो दूसरा काम तुम कर सकते हो। तुम एक देश का शासन कर सकते हो तो मैं एक पुराने जूते की मरम्मत कर सकता हूँ किन्तु इस कारण तुम मुझसे बड़े नहीं हो सकते। क्या तुम मेरे जूते की मरम्मत कर सकते हो? मैं क्या देश का शासन कर सकता हूँ? यह कार्यविभाग स्वाभाविक है। मैं जूते की सिलाई करने में चतुर हूँ तुम वेदपाठ में निपुण हो। यह कोई कारण नहीं कि तुम इस विशेषता के लिए मेरे सिर पर पाँव रखो। तुम यदि हत्या भी करो तो तुम्हारी प्रशंसा और मुझे एक सेब चुराने पर ही फाँसी पर लटकना हो ऐसा नहीं हो सकता। इसको समाप्त करना ही होगा। जातिविभाग अच्छा है। जीवन-समस्या के समाधान के लिए यही एकमात्र स्वाभाविक उपाय है। मनुष्य अलग अलग वर्गों में विभक्त होंगे यह अनिवार्य है। तुम जहाँ भी जाओ जातिविभाग से छुटकारा न मिलेगा किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस प्रकार

का विशेषाधिकार भी रहेगा। इनको जड से उखाड फेंकना होगा। यदि मछुआ को तुम वेदान्त सिखलाओगे तो वह कहेगा, हम और तुम दोनो बराबर हैं। तुम दार्शनिक हो, मैं मछुआ, पर इससे क्या? तुम्हारे भीतर जो ईश्वर है, वही मुझमे भी है। हम यही चाहते हैं कि किसीको कोई विशेष अधिकार प्राप्त न हो, और प्रत्येक मनुष्य की उन्नति के लिए समान सुभीते हो। सब लोगो को उनके भीतर स्थित ब्रह्मतत्त्व सम्बन्धी शिक्षा दो। प्रत्येक व्यक्ति अपनी मुक्ति के लिए स्वय चेष्टा करेगा।

उन्नति के लिए सबसे पहले स्वाधीनता की आवश्यकता है। यदि तुम लोगो मे से कोई यह कहने का साहस करे कि मैं अमुक स्त्री अथवा अमुक लडके की मुक्ति के लिए काम करूँगा, तो यह गलत है, हजार बार गलत होगा। मुझसे बार-बार यह पूछा जाता है कि विधवाओ की समस्या के बारे मे और स्त्रियो के प्रश्न के विषय मे आप क्या सोचते हैं? मैं इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर यह देता हूँ— क्या मैं विधवा हूँ, जो तुम ऐसा निरर्थक प्रश्न मुझसे पूछते हो? क्या मैं स्त्री हूँ, जो तुम बारबार मुझसे यही प्रश्न करते हो? स्त्री जाति के प्रश्न को हल करने के लिए आगे बढनेवाले तुम हो कौन? क्या तुम हर एक विधवा और हर एक स्त्री के भाग्यविधाता भगवान् हो? दूर रहो! अपनी समस्याओ का समाधान वे स्वय कर लेंगी। अरे अत्याचारियो, क्या तुम समझते हो कि तुम सबके लिए सब कुछ कर सकते हो? हट जाओ, दूर रहो! ईश्वर सबकी चिन्ता करेंगे। अपने को सर्वज्ञ समझनेवाले तुम हो कौन? नास्तिको, तुम यह सोचने का दुस्साहस कैसे करते हो कि तुम्हारा ईश्वर पर अधिकार है? क्या तुम जानते नही कि प्रत्येक आत्मा ईश्वर ही का स्वरूप है? तुम अपना ही कर्म करो, तुम्हारे लिए तुम्हारे सिर पर बहुत से कर्मों का भार है। नास्तिको! तुम्हारी जाति तुमको आसमान पर चढा दे, तुम्हारा समाज तुम्हारी प्रशसा के पुल बाँध दे, मूर्ख लोग तुम्हारी तारीफ करें, किन्तु ईश्वर सो नही रहे हैं, इस लोक मे या परलोक मे इसका दण्ड तुम्हें अवश्य मिलेगा।

अतएव हर एक स्त्री को, हर एक पुरुष को और सभी को ईश्वर के ही समान देखो। तुम किसी की सहायता नही कर सकते, तुम्हे केवल सेवा करने का अधिकार है। प्रभु की सन्तान की, यदि भाग्यवान हो तो, स्वय प्रभु की ही सेवा करो। यदि ईश्वर के अनुग्रह से उसकी किसी सन्तान की सेवा कर सकोगे, तो तुम धन्य हो जाओगे, अपने ही को बहुत बडा मत समझो। तुम धन्य हो, क्योकि सेवा करने का तुमको अधिकार मिला और दूसरो को नही मिला। केवल ईश्वर-पूजा के भाव से सेवा कर[illegible] व्यक्तियो मे हमको भगवान् को देखना चाहिए, अपनी

नहीं हटा। मैंने तुम लोगों से उस दिन कहा था कि जो स्वयं वेदों के प्रकाशक हैं, उन्हीं श्री कृष्ण के द्वारा वेदों की एकमात्र प्रामाणिक टीका गीता एक ही बार चिर काल के लिए बनी है यह सबके लिए और जीवन की सभी अवस्थाओं के लिए उपयोगी है। तुम कोई भी काम करो तुम्हारे लिए वेदान्त की आवश्यकता है। वेदान्त के इन सब महान् तत्त्वों का प्रचार आवश्यक है, ये केवल अरण्य में अथवा गिरिगुहाओं में आबद्ध नहीं रहेंगे वकीलों और न्यायाधीशों में प्रार्थना-मन्दिरों में दरिद्रों की कुटियों में मछुओं के घरों में छात्रों के अध्ययन-स्थानों में—सर्वत्र ही इन तत्त्वों की चर्चा होगी और ये काम में लाये जायेंगे। हर एक व्यक्ति हर एक सन्तान चाहे जो काम करे, चाहे जिस अवस्था में हो—उनकी पुकार सबके लिए है। भय का अब कोई कारण नहीं है। उपनिषदों के सिद्धान्तों को मछुए आदि साधारण जन किस प्रकार काम में लायेंगे? इसका उपाय शास्त्रों में बताया गया है। मार्ग अनन्त है धर्म अनन्त है, कोई इसकी सीमा के बाहर नहीं जा सकता। *तुम निष्कपट भाव से जो कुछ करते हो तुम्हारे लिए वही अच्छा है।* अत्यन्त छोटा कर्म भी यदि अच्छे भाव से किया जाय तो उससे अद्भुत फल की प्राप्ति होती है। अतएव जो जहाँ तक अच्छे भाव से काम कर सके करे। मछुआ यदि अपने को आत्मा समझकर चिन्तन करे, तो वह एक उत्तम मछुआ होगा। विद्यार्थी यदि अपने को आत्मा विचारे, तो वह एक श्रेष्ठ विद्यार्थी होगा। वकील यदि अपने को आत्मा समझे तो वह एक अच्छा वकील होगा। औरों के विषय में भी यही समझो। इसका फल यह होगा कि जातिविभाग अनन्त काल तक रह जायगा क्योंकि विभिन्न श्रेणियों में विभक्त होना ही समाज का स्वभाव है। पर रहेगा क्या नहीं? विशेष अधिकारों का अस्तित्व न रह जायगा। जातिविभाग प्राकृतिक नियम है। सामाजिक जीवन में एक विशेष काम मैं कर सकता हूँ तो दूसरा काम तुम कर सकते हो। तुम एक देश का शासन कर सकते हो तो मैं एक पुराने जूते की मरम्मत कर सकता हूँ किन्तु इस कारण तुम मुझसे बड़े नहीं हो सकते। क्या तुम मेरे जूते की मरम्मत कर सकते हो? मैं क्या देश का शासन कर सकता हूँ? यह कार्यविभाग स्वाभाविक है। मैं जूते की सिलाई करने में चतुर हूँ तुम वेदपाठ में निपुण हो। यह कोई कारण नहीं कि तुम इस विशेषता के लिए मेरे सिर पर पाँव रखो। तुम यदि हत्या भी करो तो तुम्हारी प्रशंसा और मुझे एक सेब चुराने पर ही फाँसी पर लटकना हो ऐसा नहीं हो सकता। इसको समाप्त करना ही होगा। जातिविभाग अच्छा है। जीवन-समस्या के समाधान के लिए यही एकमात्र स्वाभाविक उपाय है। मनुष्य अलग अलग वर्गों में विभक्त होंगे यह अनिवार्य है। तुम जहाँ भी जाओ जातिविभाग से छुटकारा न मिलेगा किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि —कार

का विशेषाधिकार भी रहेगा। इनको जड से उखाड फेंकना होगा। यदि मछुआ को तुम वेदान्त सिखलाओगे तो वह कहेगा, हम और तुम दोनो वरावर हैं। तुम दार्शनिक हो, मैं मछुआ, पर इससे क्या ? तुम्हारे भीतर जो ईश्वर है, वही मुझमे भी है। हम यही चाहते हैं कि किसीको कोई विशेष अधिकार प्राप्त न हो, और प्रत्येक मनुष्य की उन्नति के लिए समान सुभीते हो। सव लोगो को उनके भीतर स्थित ब्रह्मतत्त्व सम्बन्धी शिक्षा दो। प्रत्येक व्यक्ति अपनी मुक्ति के लिए स्वय चेष्टा करेगा।

उन्नति के लिए सवसे पहले स्वाधीनता की आवश्यकता है। यदि तुम लोगो मे से कोई यह कहने का साहस करे कि मैं अमुक स्त्री अथवा अमुक लडके की मुक्ति के लिए काम करूँगा, तो यह गलत है, हजार वार गलत होगा। मुझसे वार-वार यह पूछा जाता है कि विधवाओ की समस्या के वारे मे और स्त्रियो के प्रश्न के विषय मे आप क्या सोचते हैं ? मैं इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर यह देता हूँ— क्या मैं विधवा हूँ, जो तुम ऐसा निरर्थक प्रश्न मुझसे पूछते हो ? क्या मैं स्त्री हूँ, जो तुम वारवार मुझसे यही प्रश्न करते हो ? स्त्री जाति के प्रश्न को हल करने के लिए आगे वढनेवाले तुम हो कौन ? क्या तुम हर एक विधवा और हर एक स्त्री के भाग्यविधाता भगवान् हो ? दूर रहो ! अपनी समस्याओ का समाधान वे स्वय कर लेंगी। अरे अत्याचारियो, क्या तुम समझते हो कि तुम सवके लिए सव कुछ कर सकते हो ? हट जाओ, दूर रहो ! ईश्वर सबकी चिन्ता करेंगे। अपने को सर्वज्ञ समझनेवाले तुम हो कौन ? नास्तिको, तुम यह सोचने का दुस्साहस कैसे करते हो कि तुम्हारा ईश्वर पर अधिकार है ? क्या तुम जानते नही कि प्रत्येक आत्मा ईश्वर ही का स्वरूप है ? तुम अपना ही कर्म करो, तुम्हारे लिए तुम्हारे सिर पर वहुत से कर्मों का भार है। नास्तिको ! तुम्हारी जाति तुमको आसमान पर चढा दे, तुम्हारा समाज तुम्हारी प्रशसा के पुल वाँध दे, मूर्ख लोग तुम्हारी तारीफ करें, किन्तु ईश्वर सो नही रहे हैं, इस लोक मे या परलोक मे इसका दण्ड तुम्हें अवश्य मिलेगा।

अतएव हर एक स्त्री को, हर एक पुरुष को और सभी को ईश्वर के ही समान देखो। तुम किसी की सहायता नही कर सकते, तुम्हे केवल सेवा करने का अधिकार है। प्रभु की सन्तान की, यदि भाग्यवान हो तो, स्वय प्रभु की ही सेवा करो। यदि ईश्वर के अनुग्रह से उसकी किसी सन्तान की सेवा कर सकोगे, तो तुम धन्य हो जाओगे, अपने ही को वहुत वडा मत समझो। तुम धन्य हो, क्योकि सेवा करने का तुमको अधिकार मिला और दूसरो को नही मिला। केवल ईश्वर-पूजा के भाव से सेवा करो। दरिद्र व्यक्तियो मे हमको भगवान् को देखना चाहिए, अपनी

ही मुक्ति के लिए उनके निकट जाकर हमें उनकी पूजा करनी चाहिए। अनेक दुःखी और कंगाल प्राणी हमारी मुक्ति के माध्यम हैं, ताकि हम रोगी पागल कोढ़ी पापी आदि स्वरूपों में विचरते हुए प्रभु की सेवा करके अपना उद्धार करें। मेरे शब्द बड़े गम्भीर हैं और मैं उन्हें फिर दुहराता हूँ कि हम लोगों के जीवन का सर्वश्रेष्ठ सौभाग्य यही है कि हम इन भिन्न भिन्न रूपों में विराजमान भगवान् की सेवा कर सकते हैं। प्रभुत्व से किसीका कल्याण कर सकने की धारणा त्याग दो। जिस प्रकार पौधे के बढ़ने के लिए जल मिट्टी वायु आदि पदार्थों का संग्रह कर देने पर फिर वह पौधा अपनी प्रकृति के नियमानुसार आवश्यक पदार्थों का ग्रहण आप ही कर लेता है और अपने स्वभाव के अनुसार बढ़ता जाता है उसी प्रकार दूसरों की उन्नति के साधन एकत्र करके उनका हित करो।

संसार में ज्ञान के प्रकाश का विस्तार करो प्रकाश सिर्फ प्रकाश लाओ। प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करे। जब तक सब लोग भगवान् के निकट न पहुँच जायें तब तक तुम्हारा कार्य शेष नहीं हुआ है। गरीबों में ज्ञान का विस्तार करो धनियों पर और भी अधिक प्रकाश डालो क्योंकि दरिद्रों की अपेक्षा धनियों को अधिक प्रकाश की आवश्यकता है। अपढ़ लोगों को भी प्रकाश दिखाओ। शिक्षित मनुष्यों के लिए और अधिक प्रकाश चाहिए, क्योंकि आजकल शिक्षा का मिथ्याभिमान खूब प्रबल हो रहा है। इसी तरह सबके निकट प्रकाश का विस्तार करो। और शेष सब भगवान् पर छोड़ दो क्योंकि स्वयं भगवान् के शब्दों में—

> कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
> मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥
> (गीता २।४७)

—'कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, फल में नहीं तुम इस भाव से कर्म मत करो जिससे तुम्हें फल-भोग करना पड़े। तुम्हारी प्रवृत्ति कर्म त्याग करने की ओर न हो।'

सैकड़ों युग पूर्व हमारे पूर्वपुरुषों को जिस प्रभु ने ऐसे उदात्त सिद्धान्त सिखलाये हैं, वे हमें उन आदर्शों को काम में लाने की शक्ति दें और हमारी सहायता करें।

भारत के महापुरुष

[मद्रास मे दिया हुआ भाषण]

भारतीय महापुरुषो के विषय मे कुछ कहने के पहले मुझे उस समय का स्मरण होता है, जिस समय का पता इतिहास को नही मिला, जिस अतीत के अन्धकार मे पैठकर भेद खोलने का पौराणिक परम्पराएँ वृथा प्रयत्न करती हैं। भारत मे इतने महापुरुष पैदा हुए हैं कि उनकी गणना नही हो सकती, और महापुरुष पैदा करना छोड हज़ारो वर्षों से इस हिन्दू जाति ने और किया ही क्या? अत इन महर्षियो मे से युगान्तर करनेवाले कुछ सर्वश्रेष्ठ आचार्यों का वर्णन अर्थात् उनके चरित्र की आलोचना करके जो कुछ मैंने समझा है, वही तुम्हारे समक्ष प्रस्तुत करूँगा।

पहले अपने शास्त्रो के सम्बन्ध में हमे कुछ जान लेना चाहिए। हमारे शास्त्रो मे सत्य के दो आदर्श हैं। पहला वह है, जिसे हम सनातन सत्य कहते हैं, और दूसरा वह, जो पहले की तरह प्रामाणिक न होने पर भी, विशेष विशेष देश, काल और पात्र पर प्रयुज्य है। श्रुति अथवा वेदो मे जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप का पारस्परिक सम्बन्ध वर्णित है। मन्वादि स्मृतियो मे, याज्ञवल्क्यादि सहिताओ मे, पुराणो और तन्त्रो मे दूसरे प्रकार का सत्य है। ये दूसरी कोटि के ग्रन्थ और शिक्षाएँ श्रुति के अधीन हैं, क्योकि स्मृति और श्रुति मे यदि विरोध हो तो श्रुति को ही प्रमाणस्वरूप ग्रहण करना होगा। शास्त्रसम्मति यही है। अभिप्राय यह कि श्रुति मे जीवात्मा की नियति और उसके चरम लक्ष्यविषयक मुख्य सिद्धान्तो का वर्णन है, और इनकी व्याख्या तथा विस्तार का काम स्मृतियो और पुराणो पर छोड दिया गया है—वे प्रथमोक्त सत्य के ही सविस्तर वर्णन हैं। साधारणतया मार्ग-निर्देश के लिए श्रुति ही पर्याप्त है। धार्मिक जीवन बिताने के लिए सारतत्त्व के विषय मे श्रुति के कहे उपदेशो से अधिक न और कुछ कहा जा सकता है, और न कुछ जानने की आवश्यकता ही है। इस विषय मे जो कुछ आवश्यक है, वह श्रुति मे है, जीवात्मा की सिद्धि-प्राप्ति के लिए जो जो उपदेश चाहिए, उनका सम्पूर्ण वर्णन श्रुति मे है। केवल विशेष अवस्थाओ के विधान श्रुति मे नही है। समय समय पर स्मृतियो ने इनकी व्यवस्था दी है।

श्रुति की एक अन्य विशेषता यह है कि अनेक महर्षियो ने श्रुति मे विभिन्न सत्य सकलित किये हैं, इनमे पुरुष अधिक हैं, किन्तु कुछ महिलाएँ भी हैं। उनके

ही मुक्ति के लिए उनके निकट जाकर हमें उनकी पूजा करनी चाहिए। अनेक दुःखी और कंगाल प्राणी हमारी मुक्ति के माध्यम हैं, ताकि हम रोगी पागल कोढ़ी पापी आदि स्वरूपों में विचरते हुए प्रभु की सेवा करके अपना उद्धार करें। मेरे शब्द बड़े गम्भीर हैं और मैं उन्हें फिर दुहराता हूँ कि हम लोगों के जीवन का सर्व श्रेष्ठ सौभाग्य यही है कि हम इन भिन्न भिन्न रूपों में विराजमान भगवान् की सेवा कर सकते हैं। प्रभुत्व से किसीका कल्याण कर सकने की धारणा त्याग दो। जिस प्रकार पौधे के बढ़ने के लिए जल मिट्टी वायु आदि पदार्थों का संग्रह कर देने पर फिर वह पौधा अपनी प्रकृति के नियमानुसार आवश्यक पदार्थों का ग्रहण आप ही कर लेता है और अपने स्वभाव के अनुसार बढ़ता जाता है उसी प्रकार दूसरों की उन्नति के साधन एकत्र करके उनका हित करो।

संसार में ज्ञान के प्रकाश का विस्तार करो प्रकाश सिर्फ़ प्रकाश लाओ। प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करे। जब तक सब लोग भगवान् के निकट न पहुँच जायें तब तक तुम्हारा कार्य शेष नहीं हुआ है। गरीबों में ज्ञान का विस्तार करो धनियों पर और भी अधिक प्रकाश डालो क्योंकि दरिद्रों की अपेक्षा धनियों को अधिक प्रकाश की आवश्यकता है। अपढ़ लोगों को भी प्रकाश दिखाओ। शिक्षित मनुष्यों के लिए और अधिक प्रकाश चाहिए, क्योंकि आजकल शिक्षा का मिथ्याभिमान खूब प्रबल हो रहा है। इसी तरह सबके निकट प्रकाश का विस्तार करो। और शेष सब भगवान् पर छोड़ दो क्योंकि स्वयं भगवान् के शब्दों में—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥
(गीता २।४७)

—'कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, फल में नहीं तुम इस भाव से कर्म मत करो जिससे तुम्हें फल-भोग करना पड़े। तुम्हारी प्रवृत्ति कर्म त्याग करने की ओर न हो।

सैकड़ों युग पूर्व हमारे पूर्वपुरुषों को जिस प्रभु ने ऐसे उदात्त सिद्धान्त सिखलाये हैं, वे हमें उन आदर्शों को काम में लाने की शक्ति दें और हमारी सहायता करें।

भारत के महापुरुष

[मद्रास मे दिया हुआ भाषण]

भारतीय महापुरुषो के विषय मे कुछ कहने के पहले मुझे उस समय का स्मरण होता है, जिस समय का पता इतिहास को नही मिला, जिस अतीत के अन्धकार मे पैठकर भेद खोलने का पौराणिक परम्पराएँ वृथा प्रयत्न करती हैं। भारत मे इतने महापुरुष पैदा हुए हैं कि उनकी गणना नही हो सकती, और महापुरुष पैदा करना छोड हज़ारो वर्षों से इस हिन्दू जाति ने और किया ही क्या? अत इन महर्षियो मे से युगान्तर करनेवाले कुछ सर्वश्रेष्ठ आचार्यों का वर्णन अर्थात् उनके चरित्र की आलोचना करके जो कुछ मैंने समझा है, वही तुम्हारे समक्ष प्रस्तुत करूँगा।

पहले अपने शास्त्रो के सम्बन्ध मे हमे कुछ जान लेना चाहिए। हमारे शास्त्रो मे सत्य के दो आदर्श हैं। पहला वह है, जिसे हम सनातन सत्य कहते हैं, और दूसरा वह, जो पहले की तरह प्रामाणिक न होने पर भी, विशेष विशेष देश, काल और पात्र पर प्रयुज्य है। श्रुति अथवा वेदो मे जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप का पारस्परिक सम्बन्ध वर्णित है। मन्वादि स्मृतियो मे, याज्ञवल्क्यादि सहिताओ मे, पुराणो और तन्त्रो मे दूसरे प्रकार का सत्य है। ये दूसरी कोटि के ग्रन्थ और शिक्षाएँ श्रुति के अधीन हैं, क्योकि स्मृति और श्रुति मे यदि विरोध हो तो श्रुति को ही प्रमाणस्वरूप ग्रहण करना होगा। शास्त्रसम्मति यही है। अभिप्राय यह कि श्रुति मे जीवात्मा की नियति और उसके चरम लक्ष्यविषयक मुख्य सिद्धान्तो का वर्णन है, और इनकी व्याख्या तथा विस्तार का काम स्मृतियो और पुराणो पर छोड दिया गया है—वे प्रथमोक्त सत्य के ही सविस्तर वर्णन हैं। साधारणतया मार्ग-निर्देश के लिए श्रुति ही पर्याप्त है। धार्मिक जीवन बिताने के लिए सारतत्त्व के विषय मे श्रुति के कहे उपदेशो से अधिक न और कुछ कहा जा सकता है, और न कुछ जानने की आवश्यकता ही है। इस विषय मे जो कुछ आवश्यक है, वह श्रुति मे है, जीवात्मा की सिद्धि-प्राप्ति के लिए जो जो उपदेश चाहिए, उनका सम्पूर्ण वर्णन श्रुति मे है। केवल विशेष अवस्थाओ के विधान श्रुति मे नही है। समय समय पर स्मृतियो ने इनकी व्यवस्था दी है।

श्रुति की एक अन्य विशेषता यह है कि अनेक महर्षियो ने श्रुति मे विभिन्न सत्य सकलित किये हैं, इनमे पुरुष अधिक हैं, किन्तु कुछ महिलाएँ भी हैं। उनके

व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में अथवा उनके जन्म-काल आदि के विषय में हमें बहुत कम ज्ञान है, किन्तु उनके सर्वोत्कृष्ट विचार जिन्हें श्रेष्ठ आविष्कार कहना ही उपयुक्त होगा हमारे देश के धर्म-साहित्य वेदों में लेखबद्ध और रक्षित हैं। पर स्मृतियों में ऋषियों की जीवनी और प्रायः उनके कार्यकलाप विशेष रूप से देखने को मिलते हैं, स्मृतियों में ही हम अद्भुत महाशक्तिशाली प्रभावोत्पादक और संसार को संचालित करनेवाले व्यक्तियों का सर्वप्रथम परिचय प्राप्त करते हैं। कभी कभी उनके समुन्नत और उज्ज्वल चरित्र उनके उपदेशों से भी अधिक उत्कृष्ट जान पड़ते हैं।

हमारे धर्म में निर्गुण सगुण ईश्वर की शिक्षा है यह उसकी एक विशेषता है, जिसे हमें समझना चाहिए। उसमें व्यक्तिगत सम्बन्धों से रहित अनन्त सनातन सिद्धान्तों के साथ साथ असंख्य व्यक्तियों अर्थात् अवतारों के भी उपदेश हैं परन्तु श्रुति अथवा वेद ही हमारे धर्म के मूल स्रोत हैं जो पूर्णतः अपौरुषेय हैं। बड़े बड़े आचार्यों बड़े बड़े अवतारों और महर्षियों का उल्लेख स्मृतियों और पुराणों में है। और ध्यान देने योग्य एक बात यह भी है कि केवल हमारे धर्म को छोड़कर संसार में प्रत्येक अन्य धर्म किसी धर्म-प्रवर्तक अथवा धर्म-प्रवर्तकों के जीवन से ही अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध है। ईसाई धर्म ईसा के, इस्लाम धर्म मुहम्मद के, बौद्ध धर्म बुद्ध के, जैन धर्म जिनों के और अन्यान्य धर्म अन्यान्य व्यक्तियों के जीवन के ऊपर प्रतिष्ठित हैं। इसलिए इन महापुरुषों के जीवन के ऐतिहासिक प्रमाणों को लेकर उन धर्मों में जो यथेष्ट वाद-विवाद होता है, वह स्वाभाविक है। यदि कभी इन प्राचीन महापुरुषों के अस्तित्वविषयक ऐतिहासिक प्रमाण दुर्बल होते हैं तो उनकी धर्मरूपी अट्टालिका गिरकर चूर चूर हो जाती है। हमारा धर्म व्यक्तिविशेष पर प्रतिष्ठित न होकर सनातन सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित है, अतः हम इस विपत्ति से मुक्त हैं। किसी महापुरुष, यहाँ तक कि किसी अवतार के कथन को ही तुम अपना धर्म मानते हो ऐसा नहीं है। कृष्ण के वचनों से वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती किन्तु वे वेदों के अनुगामी हैं, इसीसे कृष्ण के वे वाक्य प्रमाणस्वरूप हैं। कृष्ण वेदों के प्रमाण नहीं हैं, किन्तु वेद ही कृष्ण के प्रमाण हैं। कृष्ण की महानता इस बात में है कि वेदों के जितने प्रचारक हुए हैं, उनमें सर्वश्रेष्ठ वे ही हैं। अन्यान्य अवतार और समस्त महर्षियों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझो। हमारा प्रथम सिद्धान्त है कि मनुष्य की पूर्णता-प्राप्ति के लिए, उसकी मुक्ति के लिए, जो कुछ आवश्यक है, उसका वर्णन वेदों में है। कोई और नया आविष्कार नहीं हो सकता। समस्त ज्ञान के चरम लक्ष्यस्वरूप पूर्ण एकत्व के आगे तुम कभी बढ़ नहीं सकते। इस पूर्ण एकत्व का आविष्कार बहुत पहले ही वेदों ने किया है, इससे अधिक अग्रसर

होना असम्भव है। 'तत्त्वमसि' का आविष्कार हुआ कि आध्यात्मिक ज्ञान सम्पूर्ण हो गया। यह 'तत्त्वमसि' वेदो मे ही है। विभिन्न देश, काल, पात्र के अनुसार समय समय की केवल लोकशिक्षा शेष रह गयी। इस प्राचीन सनातन मार्ग मे मनुष्यो का चलना ही शेष रह गया, इसीलिए समय समय पर विभिन्न महापुरुषो और आचार्यों का अभ्युदय होता है। गीता मे श्री कृष्ण की इस प्रसिद्ध वाणी के अतिरिक्त उस तत्त्व का वर्णन ऐसे सुन्दर और स्पष्ट रूप से कही नही हुआ है

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम्॥
(गीता ४।७)

—'हे भारत, जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब मैं धर्म की रक्षा और अधर्म के नाश के लिए समय समय पर अवतार ग्रहण करता हूँ।' यही भारतीय धारणा है।

इससे निष्कर्ष क्या निकलता है? एक ओर ये सनातन तत्त्व हैं, जो स्वत प्रमाण हैं, जो किसी प्रकार की युक्ति के ऊपर नही टिके हैं, जो बडे से बडे ऋषियो के अथवा तेजस्वी से तेजस्वी अवतारो के वाक्यो के ऊपर नही ठहरे हैं। यहाँ हमारा कहना है कि भारतीय विचारो की उक्त विशेषता के कारण हम वेदान्त को ही ससार का एकमात्र सार्वभौम धर्म कहने का दावा कर सकते है और यह ससार का एकमात्र वर्तमान सार्वभौम धर्म है, क्योकि यह व्यक्तिविशेष के स्थान पर सिद्धान्त की शिक्षा देता है। व्यक्तिविशेष के चलाये हुए धर्म को ससार की समग्र मानव जाति ग्रहण नही कर सकती। अपने ही देश मे हम देखते है कि यहाँ कितने महापुरुष हो गये हैं। हम एक छोटे से शहर मे देखते हैं कि उस शहर के लोग अनेक व्यक्तियों को अपना आदर्श चुनते हैं। अत समस्त ससार का एकमात्र आदर्श मुहम्मद, बुद्ध अथवा ईसा मसीह ऐसा कोई एक व्यक्ति किस प्रकार हो सकता है? अथवा समस्त नैतिकता, आचरण, आध्यात्मिकता तथा धर्म का सत्य एक व्यक्ति, केवल एक व्यक्ति की आज्ञाप्ति पर किस प्रकार आधारित हो सकता है? वेदान्त धर्म मे इस प्रकार किसी व्यक्तिविशेष के वाक्यो को प्रमाण मान लेने की आवश्यकता नही। मनुष्य की सनातन प्रकृति ही इसका प्रमाण है, इसका आचार-शास्त्र मानव के सनातन आध्यात्मिक एकत्व पर प्रतिष्ठित है, जो चेष्टा द्वारा प्राप्त नही होता, किन्तु पहले ही से लब्ध है। दूसरी ओर हमारे ऋषियो ने अत्यन्त प्राचीन काल से ही समझ लिया था कि मानव जाति का अधिकाश किसी व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। उनको किसी न किसी रूप मे व्यक्तिविशेष ईश्वर अवश्य चाहिए।

जिन बुद्धदेव ने व्यक्तिविशेष ईश्वर के विरुद्ध प्रचार किया था उनके देहत्याग के पश्चात् पचास वर्ष में ही उनके शिष्यों ने उनको ईश्वर मान लिया। किन्तु व्यक्ति-विशेष ईश्वर की भी आवश्यकता है और हम जानते हैं कि किसी व्यक्तिविशेष ईश्वर की वृथा कल्पना से बढ़कर जीवित ईश्वर इस लोक में समय समय पर उत्पन्न होकर हम लोगों के साथ रहते भी हैं जब कि काल्पनिक व्यक्तिविशेष ईश्वर सौ सौ में निन्यानवे प्रतिशत उपासना के अयोग्य ही होते हैं। किसी प्रकार के काल्पनिक ईश्वर की अपेक्षा अपनी काल्पनिक रचना की अपेक्षा अर्थात् ईश्वर सम्बन्धी जो भी धारणा हम बना सकते हैं उसकी अपेक्षा वे पूजा के अधिक योग्य हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में हम लोग जो भी धारणा रख सकते हैं उसकी अपेक्षा श्री कृष्ण बहुत बड़े हैं। हम अपने मन में जितने उच्च आदर्श का विचार कर सकते हैं उसकी अपेक्षा बुद्धदेव अधिक उच्च आदर्श हैं जीवित आदर्श हैं। इसीलिए सब प्रकार के काल्पनिक देवताओं को पदच्युत करके वे चिर काल से मनुष्यों द्वारा पूजे जा रहे हैं।

हमारे ऋषि यह जानते थे इसीलिए उन्होंने समस्त भारतवासियों के लिए इन महापुरुषों की इन अवतारों की पूजा करने का मार्ग खोला है। इतना ही नहीं जो हमारे सर्वश्रेष्ठ अवतार हैं, उन्होंने और भी आगे बढ़कर कहा है

> यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
> तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
> (गीता १०।४१)

—मनुष्यों में जहाँ अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश होता है समझो वहाँ मैं वर्तमान हूँ मुझसे ही इस आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश होता है।

यह हिन्दुओं के लिए समस्त देशों के समस्त अवतारों की उपासना करने का द्वार खोल देता है। हिन्दू किसी भी देश के किसी भी साधु-महात्मा की पूजा कर सकते हैं। हम बहुधा ईसाइयों के गिरजों और मुसलमानों की मसजिदों में जाकर उपासना भी करते हैं। यह अच्छा है। हम इस तरह उपासना क्यों न करें? मैंने पहले ही कहा है हमारा धर्म सार्वभौम है। यह इतना उदार, इतना प्रशस्त है कि यह सब प्रकार के आदर्शों को आदरपूर्वक ग्रहण कर सकता है। संसार में धर्मों के जितने आदर्श हैं उनको इसी समय ग्रहण किया जा सकता है और भविष्य में जो समस्त विभिन्न आदर्श होंगे उनके लिए हम धैर्य के साथ प्रतीक्षा कर सकते हैं। उनको भी इसी प्रकार ग्रहण करना होगा वेदान्त धर्म ही अपनी विशाल भुजाओं को फैलाकर सबको हृदय से लगा लेगा।

ईश्वर के अवतारस्वरूप महान् ऋषियों के सम्बन्ध में हमारी लगभग यही

धारणा है। इनकी अपेक्षा एक प्रकार के नीचे दर्जे के महापुरुष और हैं। वेदो मे ऋषि शब्द का उल्लेख बारम्बार पाया जाता है और आजकल तो यह एक प्रचलित शब्द हो गया है। आर्ष वाक्य विशेष प्रमाण माने जाते हैं। हमे इसका भाव समझना चाहिए। ऋषि का अर्थ है मन्त्रद्रष्टा अर्थात् जिसने किसी तत्त्व का दर्शन किया हो। अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रश्न पूछा जाता है कि धर्म का प्रमाण क्या है? बाह्य इन्द्रियो मे धर्म की सत्यता प्रमाणित नही होती, यह अत्यन्त प्राचीन काल से ही ऋषियो ने कहा है **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।**—'मन के सहित वाणी जिसको न पाकर जहाँ से लौट आती है।' **न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मन।**—'जहाँ आँखो की पहुँच नही, जहाँ वाणी भी नही जा सकती और मन भी नही जा सकता।' युग युग मे यही घोषणा रही है। आत्मा का अस्तित्व, ईश्वर का अस्तित्व, अनन्त जीवन, मनुष्यो का चरम लक्ष्य आदि प्रश्नो का उत्तर बाह्य प्रकृति नही दे सकेगी। यह मन सदा परिवर्तनशील है, मानो यह सदा बहता जा रहा है। यह परिमित है, मानो इसके छोटे छोटे टुकडे कर दिये गये हैं। यह प्रकृति किस प्रकार उस अनन्त, अपरिवर्तनशील, अखड, अविभाज्य सनातन के विषय मे कुछ कह सकती है? यह कदापि सम्भव नही। इतिहास इसका साक्षी है कि चैतन्यहीन जड पदार्थ से इन प्रश्नो का उत्तर प्राप्त करने की मनुष्य जाति ने जब कभी वृथा चेष्टा की है, परिणाम कितना भयानक हुआ है। फिर यह वेदोक्त ज्ञान कहाँ से आया? ऋषि होने से यह ज्ञान प्राप्त होता है। यह ज्ञान इन्द्रियो मे नही है। पर क्या इन्द्रियाँ ही मनुष्यो के लिए सब कुछ हैं? यह कहने का किसे साहस है कि इन्द्रियाँ ही सारसर्वस्व हैं? हमारे जीवन मे, हममे से प्रत्येक के जीवन मे, सम्भवत जब हमारे सामने ही किसी प्रियजन की मृत्यु हो जाती है, जब हमको कोई आघात पहुँचता है अथवा जब अत्यधिक आनन्द हमको प्राप्त होता है, उसमे शान्ति के क्षण आते हैं। अनेक दूसरे अवसरो पर ऐसा भी होता है कि मन स्थिर होकर क्षण भर के लिए अपने सच्चे स्वरूप का अनुभव करता है, उस अनन्त की झलक पा जाता है, जहाँ न मन की पहुँच है और न शब्दो की। साधारण जनो के भी जीवन मे ऐसा होता है, पर इसको अभ्यास के द्वारा प्रगाढ, स्थिर और पूर्ण रूप देना होगा। युगो पहले ऋषियो ने आविष्कार किया था कि आत्मा न तो इन्द्रियो द्वारा ही बद्ध है और न किसी सीमा से ही घिर सकती है, केवल इतना ही नही, वह इन्द्रियग्राह्य ज्ञान के द्वारा भी सीमाबद्ध नही हो सकती। हमे समझना होगा कि ज्ञान उस आत्मारूपी अनन्त शृखला का एक क्षुद्र अश-मात्र है। सत्ता ज्ञान से अभिन्न नही है, ज्ञान उसी सत्ता का एक अश है। ऋषियो ने ज्ञान की अतीत भूमि मे निर्भय होकर

जिन बुद्धदेव ने व्यक्तिविशेष ईश्वर के विरुद्ध प्रचार किया था, उनके देहत्याग के पश्चात् पचास वर्ष में ही उनके शिष्यों ने उनको ईश्वर मान लिया। किन्तु व्यक्तिविशेष ईश्वर की भी आवश्यकता है, और हम जानते हैं कि किसी व्यक्तिविशेष ईश्वर की वृथा कल्पना से बढ़कर जीवित ईश्वर इस लोक में समय समय पर उत्पन्न होकर हम लोगों के साथ रहते भी हैं, जब कि काल्पनिक व्यक्तिविशेष ईश्वर तो सौ में निन्यानबे प्रतिशत उपासना के अयोग्य ही होते हैं। किसी प्रकार के काल्पनिक ईश्वर की अपेक्षा, अपनी काल्पनिक रचना की अपेक्षा, अर्थात् ईश्वर सम्बन्धी जो भी धारणा हम बना सकते हैं, उसकी अपेक्षा वे पूजा के अधिक योग्य हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में हम लोग जो भी धारणा रख सकते हैं, उसकी अपेक्षा भी कृष्ण बहुत बड़े हैं। हम अपने मन में जितने उच्च आदर्श का विचार कर सकते हैं, उसकी अपेक्षा बुद्धदेव अधिक उच्च आदर्श हैं, जीवित आदर्श हैं। इसीलिए सब प्रकार के काल्पनिक देवताओं को पदच्युत करके वे चिर काल से मनुष्यों द्वारा पूजे जा रहे हैं।

हमारे ऋषि यह जानते थे, इसीलिए उन्होंने समस्त भारतवासियों के लिए इन महापुरुषों की, इन अवतारों की पूजा करने का मार्ग खोला है। इतना ही नहीं, जो हमारे सर्वश्रेष्ठ अवतार हैं, उन्होंने और भी आगे बढ़कर कहा है :

> यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
> तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
> (गीता १०।४१)

—'मनुष्यों में जहाँ अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश होता है, समझो वहाँ मैं वर्तमान हूँ, मुझसे ही इस आध्यात्मिक शक्ति का प्रकाश होता है।'

यह हिन्दुओं के लिए समस्त देशों के समस्त अवतारों की उपासना करने का द्वार खोल देता है। हिन्दू किसी भी देश के किसी भी साधु-महात्मा की पूजा कर सकते हैं। हम बहुधा ईसाइयों के गिरजों और मुसलमानों की मसजिदों में जाकर उपासना भी करते हैं। यह अच्छा है। हम इस तरह उपासना क्यों न करें? मैंने पहले ही कहा है, हमारा धर्म सार्वभौम है। वह इतना उदार, इतना प्रशस्त है कि वह सब प्रकार के आदर्शों को आदरपूर्वक ग्रहण कर सकता है। संसार में धर्मों के जितने आदर्श हैं, उनको इसी समय ग्रहण किया जा सकता है और भविष्य में जो समस्त विभिन्न आदर्श होंगे, उनके लिए हम धैर्य के साथ प्रतीक्षा कर सकते हैं। उनको भी इसी प्रकार ग्रहण करना होगा, वेदान्त धर्म ही अपनी विशाल भुजाओं को फैलाकर सबको हृदय से लगा लेगा।

ईश्वर के अवतारस्वरूप महान् ऋषियों के सम्बन्ध में हमारी लगभग यही

धारणा है। इनकी अपेक्षा एक प्रकार के नीचे दर्जे के महापुरुष और हैं। वेदो मे ऋषि शब्द का उल्लेख वारम्बार पाया जाता है और आजकल तो यह एक प्रचलित शब्द हो गया है। आर्ष वाक्य विशेष प्रमाण माने जाते हैं। हमे इसका भाव समझना चाहिए। ऋषि का अर्थ है मन्त्रद्रष्टा अर्थात् जिसने किसी तत्त्व का दर्शन किया हो। अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रश्न पूछा जाता है कि धर्म का प्रमाण क्या है? बाह्य इन्द्रियो मे धर्म की सत्यता प्रमाणित नही होती, यह अत्यन्त प्राचीन काल से ही ऋषियो ने कहा है **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।** —'मन के सहित वाणी जिसको न पाकर जहाँ से लौट आती है।' **न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मन।** —'जहाँ आँखो की पहुँच नही, जहाँ वाणी भी नही जा सकती और मन भी नही जा सकता।' युग युग से यही घोषणा रही है। आत्मा का अस्तित्व, ईश्वर का अस्तित्व, अनन्त जीवन, मनुष्यो का चरम लक्ष्य आदि प्रश्नो का उत्तर बाह्य प्रकृति नही दे सकेगी। यह मन सदा परिवर्तनशील है, मानो यह सदा बहता जा रहा है। यह परिमित है, मानो इसके छोटे छोटे टुकडे कर दिये गये है। यह प्रकृति किस प्रकार उस अनन्त, अपरिवर्तनशील, अखड, अविभाज्य सनातन के विषय मे कुछ कह सकती है? यह कदापि सम्भव नही। इतिहास इसका साक्षी है कि चैतन्यहीन जड पदार्थ से इन प्रश्नो का उत्तर प्राप्त करने की मनुष्य जाति ने जब कभी वृथा चेष्टा की है, परिणाम कितना भयानक हुआ है। फिर यह वेदोक्त ज्ञान कहाँ से आया? ऋषि होने से यह ज्ञान प्राप्त होता है। यह ज्ञान इन्द्रियो मे नही है। पर क्या इन्द्रियाँ ही मनुष्यो के लिए सब कुछ हैं? यह कहने का किसे साहस है कि इन्द्रियाँ ही सारसर्वस्व हैं? हमारे जीवन मे, हममे से प्रत्येक के जीवन मे, सम्भवत जब हमारे सामने ही किसी प्रियजन की मृत्यु हो जाती है, जब हमको कोई आघात पहुँचता है अथवा जब अत्यधिक आनन्द हमको प्राप्त होता है, उसमे शान्ति के क्षण आते हैं। अनेक दूसरे अवसरो पर ऐसा भी होता है कि मन स्थिर होकर क्षण भर के लिए अपने सच्चे स्वरूप का अनुभव करता है, उस अनन्त की झलक पा जाता है, जहाँ न मन की पहुँच है और न शब्दो की। साधारण जनो के भी जीवन मे ऐसा होता है, पर इसको अभ्यास के द्वारा प्रगाढ, स्थिर और पूर्ण रूप देना होगा। युगो पहले ऋषियो ने आविष्कार किया था कि आत्मा न तो इन्द्रियो द्वारा ही बद्ध है और न किसी सीमा से ही घिर सकती है, केवल इतना ही नही, वह इन्द्रियग्राह्य ज्ञान के द्वारा भी सीमाबद्ध नही हो सकती। हमे समझना होगा कि ज्ञान उस आत्मारूपी अनन्त शृखला का एक क्षुद्र अश-मात्र है। सत्ता ज्ञान से अभिन्न नही है, ज्ञान उसी सत्ता का एक अश है। ऋषियो ने ज्ञान की अतीत भूमि मे निर्भय होकर

आत्मा का अनुसन्धान किया था। ज्ञान पंचेन्द्रियों द्वारा सीमाबद्ध है। आध्यात्मिक जगत् के सत्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्यों को ज्ञान की अतीत भूमि में इन्द्रियों के परे जाना होगा। और इस समय भी ऐसे मनुष्य हैं, जो पंचेन्द्रियों की सीमा के परे जा सकते हैं। ये ही ऋषि कहलाते हैं क्योंकि उन्होंने आध्यात्मिक सत्यों का साक्षात्कार किया है।

अपने सामने की इस मेज को जिस प्रकार हम प्रत्यक्ष प्रमाण से जानते हैं उसी तरह वेदोक्त सत्यों का प्रमाण भी प्रत्यक्ष अनुभव है। यह हम इन्द्रियों से देख रहे हैं और आध्यात्मिक सत्यों का भी हम जीवात्मा की ज्ञानातीत अवस्था में साक्षात् करते हैं। ऐसा ऋषित्व प्राप्त करना देश काल लिंग अथवा जातिविशेष के ऊपर निर्भर नहीं करता। वात्स्यायन निर्भयतापूर्वक घोषणा करते हैं कि यह ऋषित्व ऋषियों की सन्तानों आर्य-अनार्यों यहाँ तक कि म्लेच्छों की भी साधारण सम्पत्ति है।

यही वेदों का ऋषित्व है। हमको भारतीय धर्म के इस आदर्श को सर्वदा स्मरण रखना होगा और मेरी इच्छा है कि संसार की अन्य जातियाँ भी इस आदर्श को समझकर याद रखें क्योंकि इससे धार्मिक लड़ाई-झगड़े कम हो जायेंगे। शास्त्र ग्रन्थों में धर्म नहीं होता अथवा सिद्धान्तों मतवादों वक्तृताओं तथा तार्किक उक्तियों में भी धर्म की प्राप्ति नहीं होती। धर्म तो स्वयं साक्षात्कार करने की वस्तु है। ऋषि होना होगा। ऐ मेरे मित्रो जब तक तुम ऋषि नहीं बनोगे जब तक आध्यात्मिक सत्य के साथ साक्षात् नहीं होगा निश्चय है कि तब तक तुम्हारा धार्मिक जीवन आरम्भ नहीं हुआ। जब तक तुम्हारी यह अतिचेतन (ज्ञानातीत) अवस्था आरम्भ नहीं होती तब तक धर्म केवल कहने ही की बात है, तब तक यह केवल धर्म-प्राप्ति के लिए तैयार होना ही है। तुम केवल दूसरों से सुनी सुनायी बातों को दुहराते तिहराते मर हो और यहाँ बुद्ध का कुछ ब्राह्मणों से वाद-विवाद करते समय का सुन्दर कथन लागू होता है। ब्राह्मणों ने बुद्धदेव के पास आकर ब्रह्म के स्वरूप पर प्रश्न किये। उस महापुरुष ने उन्हीं से प्रश्न किया "आपने क्या ब्रह्म को देखा है?" उन्होंने कहा "नहीं हमने ब्रह्म को नहीं देखा। बुद्धदेव ने पुनः उनसे प्रश्न किया "आपके पिता ने क्या उनको देखा है?" — 'नहीं उन्होंने भी नहीं देखा। "क्या आपके पितामह ने उनको देखा है?" — हम समझते हैं कि उन्होंने भी उनको नहीं देखा। तब बुद्धदेव ने कहा 'मित्रो आपके पितृ पितामहों ने भी जिसको नहीं देखा ऐसे पुरुष के विषय पर आप किस प्रकार विचार द्वारा एक दूसरे को पराजय करने की चेष्टा कर रहे हैं? समस्त संसार यही कर रहा है। वेदान्त की भाषा में हम कहेंगे—नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

—'यह आत्मा वागाडम्बर से प्राप्त नही की जा सकती, प्रखर बुद्धि से भी नही, यहाँ तक कि बहुत वेदपाठ से भी उसकी प्राप्ति करना सम्भव नही।'

ससार की समस्त जातियो से वेदो की भाषा मे हमको कहना होगा तुम्हारा लडना और झगडना वृथा है, तुम जिस ईश्वर का प्रचार करना चाहते हो, क्या तुमने उसको देखा है ? यदि तुमने उसको नही देखा तो तुम्हारा प्रचार वृथा है, जो तुम कहते हो, वह स्वय नही जानते, और यदि तुम ईश्वर को देख लोगे तो तुम झगडा नही करोगे, तुम्हारा चेहरा चमकने लगेगा। उपनिषदो के एक प्राचीन ऋषि ने अपने पुत्र को ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरु के पास भेजा था। जव लडका वापस आया, तो पिता ने पूछा, "तुमने क्या सीखा ?" पुत्र ने उत्तर दिया, "अनेक विद्याएँ सीखी हैं।" पिता ने कहा, "यह कुछ नही है, जाओ, फिर वापस जाओ।" पुत्र गुरु के पास गया, लडके के लौट आने पर पिता ने फिर वही प्रश्न पूछा और लडके ने फिर वही उत्तर दिया। उसको एक बार और वापस जाना पडा। इस वार जव वह लौटकर आया तो उसका चेहरा चमक रहा था। तब पिता ने कहा, "वेटा, आज तुम्हारा चेहरा ब्रह्मज्ञानी के समान चमक रहा है।" जव तुम ईश्वर को जान लोगे तो तुम्हारा मुख, स्वर, सारी आकृति बदल जायगी। तव तुम मानव जाति के लिए महाकल्याणस्वरूप हो जाओगे। ऋषि की शक्ति को कोई नही रोक सकेगा। यही ऋषित्व है और यही हमारे धर्म का आदर्श। और शेष जो कुछ है—ये सव वाग्विलास, युक्ति-विचार, दर्शन, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, यहाँ तक कि वेद भी—यही ऋषित्व प्राप्त करने के सोपान मात्र है, गौण हैं। ऋषित्व प्राप्त करना ही मुख्य है। वेद, व्याकरण, ज्योतिषादि सव गौण है। जिसके द्वारा हम उस अव्यय ईश्वर की प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त करते हैं, वही चरम ज्ञान है। जिन्होंने यह प्राप्त किया है, वे ही वैदिक ऋषि हैं। हम समझते हैं कि यह ऋषि एक कोटि, एक वर्ग का नाम है, जिस ऋषित्व को यथार्थ हिन्दू होते हुए हमे अपने जीवन की किसी न किसी अवस्था मे प्राप्त करना हो होगा, और ऋषित्व प्राप्त करना ही हिन्दुओ के लिए मुक्ति है। कुछ सिद्धान्तो मे ही विश्वास करने से, सहस्रो मन्दिरो के दर्शन से अथवा ससार भर की कुल नदियो मे स्नान करने से, हिन्दू मत के अनुसार मुक्ति नही होगी। ऋषि होने पर, मत्रद्रष्टा होने पर ही मुक्ति प्राप्त होगी।

वाद के युगो पर विचार करने पर हम देखते हैं कि उस समय सारे ससार को आलोडित करनेवाले अनेक महापुरुषो तथा श्रेष्ठ अवतारो ने जन्म ग्रहण किया है। अवतारो की सख्या वहुत है। भागवत के अनुसार भी अवतारो की सख्या असख्य है, इनमे से राम और कृष्ण ही भारत मे विशेष भाव मे पूजे जाते हैं। प्राचीन वीर युगो के आदर्शस्वरूप, सत्यपरायणता और समग्र नैतिकता के साकार मूर्ति-

स्वरूप आदर्श तनय आदर्श पति आदर्श पिता सर्वोपरि आदर्श राजा राम का चरित्र हमारे सम्मुख महान् ऋषि वाल्मीकि के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। महाकवि ने जिस भाषा में रामचरित का वर्णन किया है, उसकी अपेक्षा अधिक पावन प्रांजल मधुर अथवा सरस भाषा हो ही नहीं सकती। और सीता के विषय में क्या कहा जाय! तुम संसार के समस्त प्राचीन साहित्य को छान डालो और मैं तुमसे निःसंकोच कहता हूँ कि तुम संसार के भावी साहित्य का भी मंथन कर सकते हो किन्तु उसमें से तुम सीता के समान दूसरा चरित्र नहीं निकाल सकोगे। सीता-चरित्र अद्वितीय है। यह चरित्र सदा के लिए एक ही बार चित्रित हुआ है। राम तो कदाचित् अनेक हो गये हैं, किन्तु सीता और नहीं हुई। भारतीय स्त्रियों को जैसा होना चाहिए, सीता उनके लिए आदर्श हैं। स्त्री-चरित्र के जितने भारतीय आदर्श हैं वे सब सीता के ही चरित्र से उत्पन्न हुए हैं और समस्त आर्यावर्त भूमि में सहस्रों वर्षों से वे स्त्री-पुरुष-बालक की पूजा पा रही हैं। महामहिमामयी सीता स्वयं शुद्धता से भी शुद्ध, धैर्य तथा सहिष्णुता का सर्वोच्च आदर्श सीता सदा इसी भाव से पूजी जायेंगी। जिन्होंने अविचलित भाव से ऐसे महादुःख का जीवन व्यतीत किया वही नित्य साध्वी सदा शुद्धस्वभाव सीता आदर्श पत्नी सीता मनुष्य लोक की आदर्श देवलोक की भी आदर्श नारी पुण्य चरित्र सीता सदा हमारी राष्ट्रीय देवी बनी रहेंगी। हम सभी उनके चरित्र को भली भाँति जानते हैं, इसलिए उनका विशेष वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। चाहे हमारे सब पुराण नष्ट हो जायँ यहाँ तक कि हमारे वेद भी लुप्त हो जायें हमारी संस्कृत भाषा सदा के लिए काल स्रोत में विलुप्त हो जाय किन्तु मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनो जब तक भारत में अतिशय ग्राम्य भाषा बोलनेवाले पाँच भी हिन्दू रहेंगे तब तक सीता की कथा विद्यमान रहेगी। सीता का प्रवेश हमारी जाति की अस्थि-मज्जा में हो चुका है प्रत्येक हिन्दू नर-नारी के रक्त में सीता विराजमान हैं हम सभी सीता की सन्तान हैं। हमारी नारियों को आधुनिक भावों में रँगने की जो चेष्टाएँ हो रही हैं यदि उन सब प्रयत्नों में उनको सीता चरित्र के आदर्श से भ्रष्ट करने की चेष्टा होगी तो वे सब असफल होंगे जैसा कि हम प्रतिदिन देखते हैं। भारतीय नारियों से सीता के चरण-चिह्नों का अनुसरण कराकर अपनी उन्नति की चेष्टा करनी होगी यही एकमात्र पथ है।

उसके पश्चात् हैं भगवान् श्रीकृष्ण जो नाना भाव से पूजे जाते हैं और जो पुरुष के समान ही स्त्री के बच्चों के समान ही वृद्ध के परम प्रिय इष्ट देवता हैं। मेरा अभिप्राय उनसे है जिन्हें भागवतकार अवतार कह के भी तृप्त नहीं होते अपितु कहते हैं—

"अन्यान्य अवतार उस भगवान् के अंश और फलस्वरूप है, किन्तु कृष्ण तो स्वय भगवान् हैं।"[1]

और जब हम उनके विविध भाव-समन्वित चरित्र का अवलोकन करते हैं, तब उनके प्रति प्रयुक्त ऐसे विशेषणो से हमको आश्चर्य नही होता। वे एक ही स्वरूप मे अपूर्व सन्यासी और अद्भुत गृहस्थ थे, उनमे अत्यन्त अद्भुत रजोगुण तथा शक्ति का विकास था और साथ ही वे अत्यन्त अद्भुत त्याग का जीवन बिताते थे। बिना गीता का अध्ययन किये कृष्ण-चरित्र कभी समझ मे नही आ सकता, क्योकि अपने उपदेशो के वे आकारस्वरूप थे। प्रत्येक अवतार, जिसका प्रचार करने वे आये थे, उसके जीवित उदाहरण के रूप मे अवतरित हुए। गीता के प्रचारक कृष्ण सदा भगवद्गीता के उपदेशो की साकार मूर्ति थे, वे अनासक्ति के उज्ज्वल उदाहरण थे। उन्होंने अपना सिहासन त्याग दिया और कभी उसकी चिन्ता नही की। जिनके कहने ही से राजा अपने सिहासनो को छोड देते थे, ऐसे समग्र भारत के नेता ने स्वय राजा होना नही चाहा। उन्होंने बाल्यकाल मे जिस सरल भाव से गोपियो के साथ क्रीडा की, जीवन की अन्य अवस्थाओ मे भी उनका वह सरल स्वभाव नही छूटा। उनके जीवन की उस चिरस्मरणीय घटना की याद आती है, जिसका समझना अत्यन्त कठिन है। जब तक कोई पूर्ण ब्रह्मचारी और पवित्र स्वभाव का नही बनता, तब तक उसे इसके समझने की चेष्टा करना उचित नही। उस प्रेम के अत्यन्त अद्भुत विकास को, जो उस वृन्दावन की मधुर लीला मे रूपक भाव से वर्णित हुआ है, प्रेमरूपी मदिरा के पान से जो उन्मत्त हुआ हो, उसको छोडकर और कोई नही समझ सकता। कौन उन गोपियो को प्रेम से उत्पन्न विरह-यन्त्रणा के भाव को समझ सकता है, जो प्रेम आदर्शस्वरूप है, जो प्रेम प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नही चाहता, जो प्रेम स्वर्ग की भी आकाक्षा नही करता, जो प्रेम इहलोक और परलोक की किसी भी वस्तु की कामना नही करता? और हे मित्रो, इसी गोपी-प्रेम के माध्यम से सगुण और निर्गुण ईश्वरवाद के सघर्ष का एकमात्र समाधान मिल सका है। हम जानते हैं, सगुण ईश्वर मनुष्य की उच्चतम धारणा है। हम यह भी जानते हैं कि दार्शनिक दृष्टि से समग्र जगद्व्यापी, समस्त ससार जिसकी अभिव्यक्ति है, उस निर्गुण ईश्वर मे विश्वास ही स्वाभाविक है। पर साथ ही हम साकार वस्तु की कामना करते हैं, ऐसी वस्तु चाहते है, जिसको हम पकड सकें, जिसके चरणो पर अपने हृदय को उत्सर्ग कर सकें। इसलिए सगुण ईश्वर ही मनुष्य स्वभाव की उच्चतम धारणा है। किन्तु युक्ति इस धारणा से विस्मित रह

---

१ [illegible]

स्वरूप आदर्श तनय आदर्श पति आदर्श पिता सर्वोपरि आदर्श राजा राम का चरित्र हमारे सम्मुख महान् महर्षि वाल्मीकि के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। महाकवि ने जिस भाषा में रामचरित्र का वर्णन किया है, उसकी अपेक्षा अधिक पावन प्राञ्जल मधुर अथवा सरल भाषा हो ही नहीं सकती। और सीता के विषय में क्या कहा जाय! तुम संसार के समस्त प्राचीन साहित्य को छान डालो और मैं तुमसे निःसंकोच कहता हूँ कि तुम संसार के भावी साहित्य का भी मंथन कर सकते हो किन्तु उसमें से तुम सीता के समान दूसरा चरित्र नहीं निकाल सकोगे। सीता चरित्र अद्वितीय है। यह चरित्र सदा के लिए एक ही बार चित्रित हुआ है। राम तो कदाचित् अनेक हो गये हैं किन्तु सीता और नहीं हुई। भारतीय स्त्रियों को जैसा होना चाहिए, सीता उनके लिए आदर्श है। स्त्री चरित्र के जितने भारतीय आदर्श हैं वे सब सीता के ही चरित्र से उत्पन्न हुए हैं और समस्त आर्यावर्त भूमि में सहस्रों वर्षों से वे स्त्री-पुरुष-बालक की पूजा पा रही हैं। महामहिमामयी सीता स्वयं शुद्धता से भी शुद्ध धैर्य तथा सहिष्णुता का सर्वोच्च आदर्श सीता सदा इसी भाव से पूजी जायेंगी। जिन्होंने अविचलित भाव से ऐसे महादुःख का जीवन व्यतीत किया वही नित्य साध्वी सदा शुद्धस्वभाव सीता आदर्श पत्नी सीता मनुष्य लोक की आदर्श देवलोक की भी आदर्श नारी पुण्य-चरित्र सीता सदा हमारी राष्ट्रीय देवी बनी रहेंगी। हम सभी उनके चरित्र को भली भाँति जानते हैं, इसलिए उनका विशेष वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। चाहे हमारे सब पुराण नष्ट हो जायें यहाँ तक कि हमारे वेद भी लुप्त हो जायें हमारी संस्कृत भाषा सदा के लिए काल स्रोत में विलुप्त हो जाय किन्तु मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनो जब तक भारत में अतिशय ग्राम्य भाषा बोलनेवाले पाँच भी हिन्दू रहेंगे तब तक सीता की कथा विद्यमान रहेगी। सीता का प्रवेश हमारी जाति की अस्थि-मज्जा में हो चुका है प्रत्येक हिन्दू नर-नारी के रक्त में सीता विराजमान हैं हम सभी सीता की सन्तान हैं। हमारी नारियों को आधुनिक भावों में रँगने की जो चेष्टाएँ हो रही हैं यदि उन सब प्रयत्नों में उनको सीता-चरित्र के आदर्श से भ्रष्ट करने की चेष्टा होगी तो वे सब असफल होंगे जैसा कि हम प्रतिदिन देखते हैं। भारतीय नारियों से सीता के चरण-चिह्नों का अनुसरण कराकर अपनी उन्नति की चेष्टा करनी होगी यही एकमात्र पथ है।

उनके पश्चात् हैं भगवान् श्रीकृष्ण जो नाना भाव से पूजे जाते हैं और जो पुरुष के समान ही स्त्री के बच्चों के समान ही वृद्ध के परम प्रिय इष्ट देवता हैं। मेरा अभिप्राय उनसे है जिन्हें भागवतकार अवतार कह के भी तृप्त नहीं होते बल्कि कहते हैं—

"अन्यान्य अवतार उस भगवान् के अश और फलस्वरूप है, किन्तु कृष्ण तो स्वय भगवान् है।"[1]

और जब हम उनके विविध भाव-समन्वित चरित्र का अवलोकन करते हैं, तब उनके प्रति प्रयुक्त ऐसे विशेषणो से हमको आश्चर्य नही होता। वे एक ही स्वरूप मे अपूर्व सन्यासी और अद्भुत गृहस्थ थे, उनमे अत्यन्त अद्भुत रजोगुण तथा शक्ति का विकास था और साथ ही वे अत्यन्त अद्भुत त्याग का जीवन बिताते थे। बिना गीता का अध्ययन किये कृष्ण-चरित्र कभी समझ मे नही आ सकता, क्योकि अपने उपदेशो के वे आकारस्वरूप थे। प्रत्येक अवतार, जिसका प्रचार करने वे आये थे, उसके जीवित उदाहरण के रूप मे अवतरित हुए। गीता के प्रचारक कृष्ण सदा भगवद्गीता के उपदेशो की साकार मूर्ति थे, वे अनासक्ति के उज्ज्वल उदाहरण थे। उन्होंने अपना सिंहासन त्याग दिया और कभी उसकी चिन्ता नही की। जिनके कहने ही से राजा अपने सिंहासनो को छोड देते थे, ऐसे समग्र भारत के नेता ने स्वय राजा होना नही चाहा। उन्होंने बाल्यकाल मे जिस सरल भाव से गोपियो के साथ क्रीडा की, जीवन की अन्य अवस्थाओ मे भी उनका वह सरल स्वभाव नही छूटा। उनके जीवन की उस चिरस्मरणीय घटना की याद आती है, जिसका समझना अत्यन्त कठिन है। जब तक कोई पूर्ण ब्रह्मचारी और पवित्र स्वभाव का नही बनता, तब तक उसे इसके समझने की चेष्टा करना उचित नही। उस प्रेम के अत्यन्त अद्भुत विकास को, जो उस वृन्दावन की मधुर लीला मे रूपक भाव से वर्णित हुआ है, प्रेमरूपी मदिरा के पान से जो उन्मत्त हुआ हो, उसको छोडकर और कोई नही समझ सकता। कौन उन गोपियो को प्रेम से उत्पन्न विरह-यत्रणा के भाव को समझ सकता है, जो प्रेम आदर्शस्वरूप है, जो प्रेम प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नही चाहता, जो प्रेम स्वर्ग की भी आकाक्षा नही करता, जो प्रेम इहलोक और परलोक की किसी भी वस्तु की कामना नही करता? और हे मित्रो, इसी गोपी-प्रेम के माध्यम से सगुण और निर्गुण ईश्वरवाद के सघर्ष का एकमात्र समाधान मिल सका है। हम जानते हैं, सगुण ईश्वर मनुष्य की उच्चतम धारणा है। हम यह भी जानते हैं कि दार्शनिक दृष्टि से समग्र जगद्व्यापी, समस्त ससार जिसकी अभिव्यक्ति है, उस निर्गुण ईश्वर मे विश्वास ही स्वाभाविक है। पर साथ ही हम साकार वस्तु की कामना करते हैं, ऐसी वस्तु चाहते हैं, जिसको हम पकड सकें, जिसके चरणो पर अपने हृदय को उत्सर्ग कर सकें। इसलिए सगुण ईश्वर ही मनुष्य स्वभाव की उच्चतम धारणा है। किन्तु युक्ति इस धारणा से विस्मित रह

---

१ एते चाशकला' पुस कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

जाती है। यह वही अति प्राचीन प्राचीनतम समस्या है जिसका ब्रह्मसूत्रों में विचार किया गया है वनवास के समय युधिष्ठिर के साथ द्रौपदी ने जिसका विचार किया है यदि एक सगुण सम्पूर्ण दयामय सर्वशक्तिमान ईश्वर है तो इस नारकीय संसार का अस्तित्व क्यों है? उसने उसकी सृष्टि क्यों की? उस ईश्वर को महापक्षपाती कहना ही उचित है। इसकी किसी प्रकार मीमांसा नहीं होती। इसकी मीमांसा गोपियों के प्रेम के सम्बन्ध में जो तुम पढ़ते हो मात्र उससे हो सकती है। वे कृष्ण के प्रति प्रयुक्त किसी विशेषण को घृणा करती हैं वे यह जानने की चिन्ता नहीं करतीं कि कृष्ण सृष्टिकर्ता है, वे यह जानने की चिन्ता नहीं करतीं कि वह सर्वशक्तिमान है, वे यह जानने की भी चिन्ता नहीं करतीं कि वह सर्वसमर्थवान है। वे केवल यही समझती हैं कि कृष्ण प्रेममय हैं यही उनके लिए यथेष्ट है। गोपियाँ कृष्ण को केवल वृन्दावन का कृष्ण समझती हैं। बहुत सेनाओं के नेता राजाधिराज कृष्ण उनके निकट सदा गोप ही थे।

न धनं न जनं न च सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

—हे जगदीश मैं धन जन कविता अथवा सुन्दरी—कुछ भी नहीं चाहता हे ईश्वर, आपके प्रति जन्मजन्मान्तरों में मेरी अहैतुकी भक्ति हो। यह अहैतुकी भक्ति यह निष्काम कर्म यह निरपेक्ष कर्तव्य-निष्ठा का आदर्श धर्म के इतिहास में एक नया अध्याय है। मानव-इतिहास मे प्रथम बार भारतभूमि पर सर्वश्रेष्ठ अवतार श्री कृष्ण के मुँह से पहले पहल यह तत्त्व निकला था। भय और प्रलोभनों के धर्म सदा के लिए विदा हो गये और मनुष्य-हृदय में नरक-भय और स्वर्ग-सुख-भोग के प्रलोभन होते हुए भी ऐसे सर्वोत्तम आदर्श का अभ्युदय हुआ जैसे प्रेम प्रेम के निमित्त कर्तव्य कर्तव्य के निमित्त कर्म कर्म के निमित्त।

और यह प्रेम कैसा है? मैंने तुम लोगों से कहा है कि गोपी-प्रेम को समझना बड़ा कठिन है। हमारे बीच भी ऐसे मूर्खों का अभाव नहीं है जो भी कृष्ण के जीवन के ऐसे अति अपूर्व अंश के अद्भुत तात्पर्य को समझने में असमर्थ हैं। मैं पुनः कहता हूँ कि हमारे ही रक्त से उत्पन्न अनेक अपवित्र मूर्ख हैं जो गोपी-प्रेम का नाम सुनते ही मानो उसको अत्यन्त अपावन समझकर भय से दूर भाग जाते हैं। उनसे मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि पहले अपने मन को शुद्ध करो और तुमको यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जिस इतिहासकार ने गोपियों के इस अद्भुत प्रेम का वर्णन किया है, वह आजन्म पवित्र नित्य शुद्ध व्यासपुत्र शुकदेव हैं। जब तक हृदय में स्वार्थपरता रहेगी तब तक भगवत्प्रेम असम्भव है। यह केवल दुकानदारी

है कि 'मैं आपको कुछ देता हूँ, भगवान् आप भी मुझको कुछ दीजिए।' और भगवान् कहते हैं, "यदि तुम ऐसा न भी करोगे, तो तुम्हारे मरने पर मैं तुम्हे देख लूंगा—चिरकाल तक तुम्हे जलाकर मारूँगा।" सकाम व्यक्ति की ईश्वर-धारणा ऐसी ही होती है। जब तक मस्तिष्क मे ऐसे भाव रहेगे, तब तक गोपियो की प्रेमजनित विरह की उन्मत्तता मनुष्य किस प्रकार समझेंगे! 'एक बार, केवल एक ही बार यदि उन मधुर अधरो का चुम्बन प्राप्त हो! जिसका तुमने एक बार चुम्बन किया है, चिरकाल तक तुम्हारे लिए उसकी पिपासा बढती जाती है, उसके सकल दु ख दूर हो जाते हैं, तब अन्यान्य विषयो की आसक्ति दूर हो जाती है, केवल तुम्ही उस समय प्रीति की वस्तु हो जाते हो।"

पहले काचन, नाम तथा यश और क्षुद्र मिथ्या ससार के प्रति आसक्ति को छोडो। तभी, केवल तभी तुम गोपी-प्रेम को समझोगे। यह इतना विशुद्ध है कि बिना सब कुछ छोडे इसको समझने की चेष्टा करना ही अनुचित है। जब तक अन्त करण पूर्ण रूप से पवित्र नही होता, तव तक इसको समझने की चेष्टा करना वृथा है। हर समय जिनके हृदय मे काम, धन, यशोलिप्सा के वुलबुले उठते हैं, ऐसे लोग गोपी-प्रेम की आलोचना करने तथा समझने का साहस करते हैं! कृष्ण-अवतार का मुख्य उद्देश्य यही गोपी-प्रेम की शिक्षा है, यहाँ तक कि गीता का महान् दर्शन भी उस प्रेमोन्मत्तता की बराबरी नही कर सकता। क्योकि गीता मे साधक को धीरे धीरे उसी चरम लक्ष्य मुक्ति के साधन का उपदेश दिया गया है, किन्तु इसमे रसास्वाद की उन्मत्तता, प्रेम की मदोन्मत्तता विद्यमान है, यहाँ गुरु और शिष्य, शास्त्र और उपदेश, ईश्वर और स्वर्ग सब एकाकार हैं, भय के भाव का चिह्न-मात्र नही है, सब बह गया है—शेष रह गयी है केवल प्रेमोन्मत्तता। उस समय ससार का कुछ भी स्मरण नही रहता, भक्त उस समय ससार मे उसी कृष्ण, एकमात्र उसी कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ नही देखता, उस समय वह समस्त प्राणियो मे कृष्ण के ही दर्शन करता है, उसका मुंह भी उस समय कृष्ण के ही समान दीखता है, उसकी आत्मा उस समय कृष्णमय हो जाती है। यह है कृष्ण की महिमा!

छोटी छोटी वातो मे समय वृथा मत गँवाओ, उनके जीवन के जो मुख्य चरित्र हैं, जो तात्त्विक अश हैं, उन्हीका सहारा लेना चाहिए। कृष्ण के जीवन-चरित्र मे वहुत से ऐतिहासिक अन्तर्विरोध मिल सकते हैं, कृष्ण के चरित्र मे वहुत से प्रक्षेप हो सकते हैं। ये सभी सत्य हो सकते हैं, किन्तु फिर भी उस समय समाज मे जो एक

---

१ सुरतवर्धन शोकनाशन स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारण नृणा वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥ श्रीमद्भागवत॥

अपूर्व नये भाव का उदय हुआ था उसका कुछ आधार अवश्य था। अन्य किसी भी महापुरुष या पैगम्बर के जीवन पर विचार करने पर यह जान पड़ता है कि वह पैगम्बर अपने पूर्ववर्ती कितने ही भावों का विकास मात्र है हम देखते हैं कि उसने अपने देश में यहाँ तक कि उस समय जैसी शिक्षा प्रचलित थी केवल उसीका प्रचार किया है यहाँ तक कि उस महापुरुष के अस्तित्व पर भी सन्देह हो सकता है, किन्तु मैं चुनौती देता हूँ कि कोई यह साबित कर दे कि कृष्ण के निष्काम कर्म निरपेक्ष कर्तव्य निष्ठा और निष्काम प्रेम-तत्त्व के ये उपदेश संसार में मौलिक आविष्कार नहीं है। यदि ऐसा नहीं कर सकते तो यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि किसी एक व्यक्ति ने निश्चय ही इन तत्त्वों को प्रस्तुत किया है। यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि ये तत्त्व किसी दूसरे मनुष्य से लिये गये हैं। कारण यह कि कृष्ण के उत्पन्न होने के समय सर्वसाधारण में इन तत्त्वों का प्रचार नहीं था। भगवान् श्री कृष्ण ही इनके प्रथम प्रचारक हैं उनके शिष्य वेदव्यास ने पूर्वोक्त तत्त्वों का साधारण जनों में प्रचार किया। ऐसा श्रेष्ठ आदर्श और कभी चित्रित नहीं हुआ। हम उनके ग्रन्थ में गोपीजनवल्लभ वृन्दावन-विहारी से और कोई उच्च तर आदर्श नहीं पाते। जब तुम्हारे हृदय में इस उन्मत्तता का प्रवेश होगा जब तुम भाग्यवती गोपियों के भाव को समझोगे तभी तुम जानोगे कि प्रेम क्या वस्तु है! जब समस्त संसार तुम्हारी दृष्टि से अन्तर्धान हो जायेगा जब तुम्हारे हृदय में और कोई कामना नहीं रहेगी जब तुम्हारा चित्त पूर्णरूप से शुद्ध हो जायेगा अन्य कोई लक्ष्य न होगा यहाँ तक कि जब तुममें सत्यानुसन्धान की वासना भी नहीं रहेगी तभी तुम्हारे हृदय में उस प्रेमोन्मत्तता का आविर्भाव होगा तभी तुम गोपियों की अनन्त अहैतुकी प्रेम-भक्ति की महिमा समझोगे। यही लक्ष्य है। यदि तुमको वह प्रेम मिला तो सब कुछ मिल गया।

इस बार हम नीचे की तहों में प्रवेश करते हुए गीता-प्रचारक कृष्ण की विवेचना करेंगे। भारत में इस समय कितने ही लोगों में ऐसी चेष्टा दिखायी पड़ती है, जो घोड़े के आगे गाड़ी जोतनेवालों की सी होती है। हममें से बहुतों की यह धारणा है कि श्री कृष्ण का गोपियों के साथ प्रेमलीला करना बड़ी ही खटकनेवाली बात है। यूरोप के लोग भी इसे पसन्द नहीं करते। अमुक पंडित इस गोपी-प्रेम को अच्छा नहीं समझते अतएव अवश्य गोपियों को बहा दो! बिना यूरोप के साहबों के अनुमोदन के कृष्ण कैसे टिक सकते हैं? कदापि नहीं टिक सकते। महाभारत में दो-एक स्थानों को छोड़कर, वे भी वैसे उल्लेखनीय नहीं गोपियों का प्रसग तो है ही नहीं। केवल द्रौपदी की प्रार्थना में और शिशुपाल-वध के समय शिशुपाल की वक्तृता में वृन्दावन का वर्णन आया है। ये सब प्रक्षेप अंश हैं।

यूरोप के साहब लोग जिसको नही चाहते, वह सब फेक देना चाहिए। गोपियो का वर्णन, यहाँ तक कि कृष्ण का वर्णन भी प्रक्षिप्त है ! जो लोग ऐसी घोर वाणिज्य-वृत्ति के हैं, जिनके धर्म का आदर्श भी व्यवसाय ही से उत्पन्न हुआ है, उनका विचार यही है कि वे इस ससार मे कुछ करके स्वर्ग प्राप्त करेंगे। व्यवसायी सूद दर सूद चाहते हैं, वे यहाँ ऐसा कुछ पुण्य-सचय करना चाहते है, जिसके फल से स्वर्ग मे जाकर सुख-भोग करेंगे। इनके धर्ममत मे गोपियो के लिए अवश्य स्थान नही है। अब हम उस आदर्श-प्रेमी श्री कृष्ण का वर्णन छोडकर और भी नीचे की तह मे प्रवेश करके गीता-प्रचारक श्री कृष्ण की विवेचना करेंगे। यहाँ भी हम देखते है कि गीता के समान वेदो का भाष्य कभी नही वना है और वनेगा भी नही। श्रुति अथवा उपनिषदो का तात्पर्य समझना बडा कठिन है, क्योकि नाना भाष्यकारो ने अपने अपने मतानुसार उनकी व्याख्या करने की चेष्टा की है। अन्त मे जो स्वय श्रुति के प्रेरक है, उन्ही भगवान् ने आविर्भूत होकर गीता के प्रचारक रूप से श्रुति का अर्थ समझाया और आज भारत मे उस व्याख्या-प्रणाली की जैसी आवश्यकता है, सारे ससार मे इसकी जैसी आवश्यकता है, वैसी किसी और वस्तु की नही। यह बडे ही आश्चर्य की बात है कि परवर्ती शास्त्र-व्याख्याता गीता तक की व्याख्या करने मे बहुधा भगवान् के वाक्यो का अर्थ और भाव-प्रवाह नही समझ सके। गीता मे क्या है और आधुनिक भाष्यकारो मे हम क्या देखते है ? एक अद्वैतवादी भाष्यकार ने किसी उपनिषद् की व्याख्या की, जिसमे बहुत से द्वैतभाव के वाक्य है। उसने उनको तोड-मरोडकर कुछ अर्थ ग्रहण किया और उन सबका अपनी व्याख्या के अनुरूप मनमाना अर्थ लगा लिया। फिर द्वैतवादी भाष्यकार ने भी व्याख्या करनी चाही, उसमे अनेक अद्वैतमूलक अश हैं, जिनकी खीचतान उसने उनसे द्वैतमूलक अर्थ ग्रहण करने के लिए की। परन्तु गीता मे इस प्रकार के किसी अर्थ के विगाडने की चेष्टा तुमको नही मिलेगी। भगवान् कहते हैं, ये सव सत्य हैं, जीवात्मा धीरे धीरे स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से अति सूक्ष्म सीढियो पर चढती जाती है, इस प्रकार क्रमश. वह उस चरम लक्ष्य अनन्त पूर्णस्वरूप को प्राप्त होती है। गीता मे इसी भाव को समझाया गया है, यहाँ तक कि कर्मकाड भी गीता मे स्वीकृत हुआ है और यह दिखलाया गया है कि यद्यपि कर्मकाड साक्षात् मुक्ति का साधन नही है, किन्तु गौण भाव से मुक्ति का साधन है, तथापि वह सत्य है, मूर्ति-पूजा भी सत्य है, सव प्रकार के अनुष्ठान और क्रिया-कर्म भी सत्य हैं, केवल एक विषय पर ध्यान रखना होगा—वह है चित्त की शुद्धि। यदि हृदय शुद्ध और निष्कपट हो, तभी उपासना ठीक उतरती है और हमे चरम लक्ष्य तक पहुँचा देती है। ये विभिन्न

अपूर्व नये भाव का उदय हुआ था उसका कुछ आधार अवश्य था। अन्य किसी भी महापुरुष या पैग़म्बर के जीवन पर विचार करने पर यह जान पड़ता है कि वह पैग़म्बर अपने पूर्ववर्ती कितने ही भावों का विकास मात्र है हम देखते हैं कि उसने अपने देश में यहाँ तक कि उस समय जैसी शिक्षा प्रचलित थी केवल उसीका प्रचार किया है यहाँ तक कि उस महापुरुष के अस्तित्व पर भी सन्देह हो सकता है, किन्तु मैं चुनौती देता हूँ कि कोई यह साबित कर दे कि कृष्ण के निष्काम कर्म निरपेक्ष कर्तव्य-निष्ठा और निष्काम प्रेम-तत्त्व के ये उपदेश संसार में मौलिक आविष्कार नहीं है। यदि ऐसा नहीं कर सकते तो यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि किसी एक व्यक्ति ने निश्चय ही इन तत्त्वों को प्रस्तुत किया है। यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि ये तत्त्व किसी दूसरे मनुष्य से लिये गये हैं। कारण यह कि कृष्ण के उत्पन्न होने के समय सर्वसाधारण में इन तत्त्वों का प्रचार नहीं था। भगवान् भी कृष्ण ही इनके प्रथम प्रचारक है उनके शिष्य वेदव्यास ने पूर्वोक्त तत्त्वों का साधारण जनों में प्रचार किया। ऐसा श्रेष्ठ आदर्श और कभी चित्रित नहीं हुआ। हम उनके ग्रन्थ में गोपीजनवल्लभ वृन्दावन-विहारी से और कोई उच्च तर आदर्श नहीं पाते। जब तुम्हारे हृदय में इस उन्मत्तता का प्रवेश होगा जब तुम भाग्यवती गोपियों के भाव को समझोगे तभी तुम जानोगे कि प्रेम क्या वस्तु है! जब समस्त संसार तुम्हारी दृष्टि से अन्तर्धान हो जायेगा जब तुम्हारे हृदय में और कोई कामना नहीं रहेगी जब तुम्हारा चित्त पूर्णरूप से शुद्ध हो जायेगा अन्य कोई लक्ष्य न होगा यहाँ तक कि जब तुममें सत्यानुसन्धान की वासना भी नहीं रहेगी तभी तुम्हारे हृदय में उस प्रेमोन्मत्तता का आविर्भाव होगा तभी तुम गोपियों की अनन्त अहैतुकी प्रेम-भक्ति की महिमा समझोगे। यही लक्ष्य है। यदि तुमको यह प्रेम मिला तो सब कुछ मिल गया।

इस बार हम नीचे की तहों में प्रवेश करते हुए गीता-प्रचारक कृष्ण की विवेचना करेंगे। भारत में इस समय कितने ही लोगों में ऐसी चेष्टा दिखायी पड़ती है, जो घोड़े के आगे गाड़ी जोतनेवालों की सी होती है। हममें से बहुतों की यह धारणा है कि श्री कृष्ण का गोपियों के साथ प्रेमलीला करना बड़ी ही खटकनेवाली बात है। यूरोप के लोग भी इसे पसन्द नहीं करते। अमुक पंडित इस गोपी-प्रेम को अच्छा नहीं समझते अतएव अवश्य गोपियों को बहा दो! बिना यूरोप के साहबों के अनुमोदन के कृष्ण कैसे टिक सकते हैं? कदापि नहीं टिक सकते। महाभारत में दो-एक स्थानों को छोड़कर, वे भी वैसे उल्लेखनीय नहीं गोपियों का प्रसंग तो है ही नहीं। केवल द्रौपदी की प्रार्थना में और शिशुपाल-वध के समय शिशुपाल की वक्तृता में वृन्दावन का वर्णन आया है। ये सब प्रक्षेप अंश हैं।

हमारे शाक्यमुनि गौतम हैं। उनके उपदेशो और प्रचार-कार्य से तुम सभी अवगत हो। हम उनको ईश्वरावतार समझकर उनकी पूजा करते हैं, नैतिकता का इतना वडा निर्भीक प्रचारक समार मे और उत्पन्न नही हुआ, कर्मयोगियो मे सर्वश्रेष्ठ स्वय कृष्ण ही मानो शिष्यरूप से अपने उपदेशो को कार्यरूप मे परिणत करने के लिए उत्पन्न हुए। पुन वही वाणी सुनाई दी, जिसने गीता मे शिक्षा दी थी, **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।** (गीता २।४०)—'इस धर्म का थोडा सा अनुष्ठान करने पर भी महाभय से रक्षा होती है।' **स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परा गतिम्।** (गीता ९।३२)—'स्त्री, वैश्य और शूद्र तक परमगति को प्राप्त होते हैं। गीता के वाक्य, श्री कृष्ण की वज्र के समान गम्भीर और महती वाणी, सवके वन्धन, सवकी शृखला तोड देती है और सभी को उस परम पद पाने का अधिकारी कर देती है।

इहैव तैर्जित सर्गो येषा साम्ये स्थित मनः।
निर्दोष हि सम ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिता ॥
(गीता ५।१९)

—'जिनका मन साम्य भाव मे अवस्थित है, उन्होंने यही सारे ससार को जीत लिया है। ब्रह्म समस्वभाव और निर्दोष है, इसलिए वे ब्रह्म मे ही अवस्थित हैं।'

सम पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मान ततो याति परा गतिम्॥
(गीता १३।२८)

—'परमेश्वर को सर्वत्र तुल्य रूप से अवस्थित देखकर ज्ञानी आत्मा से आत्मा की हिंसा नही करता, इसलिए वह परम गति को प्राप्त होता है।'

गीता के उपदेशो के जीते-जागते उदाहरणस्वरूप, गीता के उपदेशक दूसरे रूप मे पुन इस मर्त्य लोक मे पधारे, जिससे जनता द्वारा उसका एक कण भी कार्य-रूप मे परिणत हो सके। ये ही शाक्यमुनि हैं। ये दीन-दु खियो को उपदेश देने लगे। सर्वसाधारण के हृदय तक पहुँचने के लिए देवभाषा संस्कृत को भी छोड ये लोकभापा मे उपदेश देने लगे। राजसिंहासन को त्यागकर ये दु खी, गरीव, पतित, भिखमगो के साथ रहने लगे। इन्होंने दूसरे राम के समान चाडाल को भी छाती से लगा लिया।

तुम सभी उनके महान् चरित्र और अद्भुत प्रचार-कार्य को जानते हो। किन्तु इस प्रचार-कार्य मे एक भारी त्रुटि थी, जिसके लिए हम आज तक दु ख

उपासना-प्रणालियाँ सत्य है, क्योंकि यदि वे सत्य न होतीं तो उनकी सृष्टि ही क्यों हुई? विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय कुछ पाखंडी एवं दुष्ट लोगों द्वारा नहीं बनाये गये है, और न उन्होंने धन के लोभ से इन धर्मों और सम्प्रदायों की सृष्टि की है, जैसा कि कुछ आधुनिक लोगों का मत है। बाह्यदृष्टि से उनकी व्याख्या कितनी ही युक्तियुक्त क्यों न प्रतीत हो पर यह बात सत्य नहीं है, इनकी सृष्टि इस तरह नहीं हुई। जीवात्मा की स्वाभाविक आवश्यकता के लिए इन सबका अभ्युदय हुआ है। विभिन्न श्रेणियों के मनुष्यों की धर्म-पिपासा को परितृप्त करने के लिए इनका अभ्युदय हुआ है इसलिए तुम्हें इनके विरुद्ध शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं। जिस दिन इनकी आवश्यकता नहीं रहेगी उस दिन उस आवश्यकता के अभाव के साथ साथ इनका भी लोप हो जायगा। पर जब तक उनकी आवश्यकता रहेगी तब तक तुम्हारी आलोचना और तुम्हारी शिक्षा के बावजूद ये अवश्य विद्यमान रहेंगे। तलवार और बन्दूक के जोर से तुम संसार को खून में नहा दे सकते हो किन्तु जब तक मूर्तियों की आवश्यकता रहेगी तब तक मूर्ति-पूजा अवश्य रहेगी। ये विभिन्न अनुष्ठान-पद्धतियाँ और धर्म के विभिन्न सोपान अवश्य रहेंगे और हम भगवान् श्री कृष्ण के उपदेश से समझ सकते हैं कि इनकी क्या आवश्यकता है।

इसके बाद ही भारतीय इतिहास का एक शोकजनक अध्याय शुरू होता है। हम गीता में भी भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के विरोध के कोलाहल की दूर से आती हुई आवाज सुन पाते हैं और देखते हैं कि समन्वय के वे अद्भुत प्रचारक भगवान् श्री कृष्ण बीच में पड़कर विरोध को हटा रहे हैं। वे कहते हैं, सारा जगत् मुझमें उसी तरह गुँथा हुआ है, जिस तरह तागे में मणि गुँथी रहती है।[1] साम्प्रदायिक झगड़ों की दूर से सुनायी देनेवाली धीमी आवाज हम तभी से सुन रहे हैं। सम्भव है कि भगवान् के उपदेश से ये झगड़े कुछ देर के लिए रुक गये हों तथा समन्वय और शान्ति का संचार हुआ हो किन्तु यह विरोध फिर उत्पन्न हुआ। केवल धर्ममत ही पर नहीं सम्भवतः वर्ण के आधार पर भी यह विवाद चलता रहा—हमारे समाज के दो प्रबल अंग ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों राजाओं तथा पुरोहितों के बीच विवाद आरम्भ हुआ था। और एक हजार वर्ष तक जिस विवाद तरंग ने समग्र भारत को सराबोर कर दिया था उसके सर्वोच्च शिखर पर हम एक और महामहिम मूर्ति को देखते हैं और वे

---

१ मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ गीता ७।७॥

हमारे शाक्यमुनि गौतम हैं। उनके उपदेशो और प्रचार-कार्य से तुम सभी अवगत हो। हम उनको ईश्वरावतार समझकर उनकी पूजा करते है, नैतिकता का इतना बडा निर्भीक प्रचारक ससार मे और उत्पन्न नही हुआ, कर्मयोगियो मे सर्वश्रेष्ठ स्वय कृष्ण ही मानो शिष्यरूप से अपने उपदेशो को कार्यरूप मे परिणत करने के लिए उत्पन्न हुए। पुन वही वाणी सुनाई दी, जिसने गीता मे शिक्षा दी थी, **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।** (गीता २।४०)—'इस धर्म का थोडा सा अनुष्ठान करने पर भी महाभय से रक्षा होती है।' **स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परा गतिम्।** (गीता ९।३२)—'स्त्री, वैश्य और शूद्र तक परमगति को प्राप्त होते हैं। गीता के वाक्य, श्री कृष्ण की वज्र के समान गम्भीर और महती वाणी, सबके वन्धन, सबकी शृखला तोड देती है और सभी को उस परम पद पाने का अधिकारी कर देती है।

इहैव तैर्जित सर्गो येषा साम्ये स्थित मन।
निर्दोष हि सम ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिता ॥
(गीता ५।१९)

—'जिनका मन साम्य भाव मे अवस्थित है, उन्होने यही सारे ससार को जीत लिया है। ब्रह्म समस्वभाव और निर्दोष है, इसलिए वे ब्रह्म मे ही अवस्थित हैं।'

सम पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मान ततो याति परां गतिम् ॥
(गीता १३।२८)

—'परमेश्वर को सर्वत्र तुल्य रूप से अवस्थित देखकर ज्ञानी आत्मा से आत्मा की हिंसा नही करता, इसलिए वह परम गति को प्राप्त होता है।'

गीता के उपदेशो के जीते-जागते उदाहरणस्वरूप, गीता के उपदेशक दूसरे रूप मे पुन इस मर्त्य लोक मे पधारे, जिससे जनता द्वारा उसका एक कण भी कार्य-रूप मे परिणत हो सके। ये ही शाक्यमुनि हैं। ये दीन-दु खियो को उपदेश देने लगे। सर्वसाधारण के हृदय तक पहुँचने के लिए देवभाषा संस्कृत को भी छोड ये लोकभाषा मे उपदेश देने लगे। राजसिंहासन को त्यागकर ये दु खी, ग़रीब, पतित, भिखमगो के साथ रहने लगे। इन्होंने दूसरे राम के समान चाडाल को भी छाती से लगा लिया।

तुम सभी उनके महान् चरित्र और अद्भुत प्रचार-कार्य को जानते हो। किन्तु इस प्रचार-कार्य मे एक भारी त्रुटि थी, जिसके लिए हम आज तक दु ख

भोग रहे हैं। भगवान् बुद्ध का कुछ दोष नहीं है उनका चरित्र परम विशुद्ध और उज्ज्वल है। खेद का विषय है कि बौद्ध धर्म के प्रचार से जो विभिन्न असभ्य और अशिक्षित जातियाँ धर्म में घुसने लगीं वे बुद्धदेव के उच्च आदर्शों का ठीक अनुसरण न कर सकीं। इन जातियों में नाना प्रकार के कुसंस्कार और वीभत्स उपासना-पद्धतियाँ थीं उनके झुंड के झुंड आर्यों के समाज में घुसने लगे। कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत हुआ कि वे सभ्य बन गये किन्तु एक ही शताब्दी म उन्होंने अपने सर्प भूत प्रेत आदि निकाल लिये जिनकी उपासना उनके पूर्वज किया करते थे और इस प्रकार सारा भारत कुसंस्कारों का लीलाक्षेत्र बनकर और अवनति को पहुँचा। पहले बौद्ध प्राणिहिंसा की निन्दा करते हुए वैदिक यज्ञों के घोर विरोधी हो गये थे। उस समय घर घर इन यज्ञों का अनुष्ठान होता था। हर एक घर पर यज्ञ के लिए आग जलती थी—बस उपासना के लिए और कुछ ठाट-बाट न था। बौद्ध धर्म के प्रचार से इन यज्ञों का लोप हो गया। उनकी जगह बड़े बड़े ऐश्वर्ययुक्त मन्दिर, आडम्बरी अनुष्ठान-पद्धतियाँ ढोंगबाज पुरोहित तथा वर्तमान काल में भारत में और जो कुछ दिखायी देता है सबका आविर्भाव हुआ। कितने ही ऐसे आधुनिक पंडितों के जिनसे अधिक ज्ञान की अपेक्षा की जाती है ग्रन्थों को पढ़ने से यह विदित होता है कि बुद्ध ने ब्राह्मणों की मूर्ति-पूजा उठा दी थी। मुझे यह पढ़कर हँसी आ जाती है। वे नहीं जानते कि बौद्ध धर्म ही ने भारत म ब्राह्मण-धर्म और मूर्ति-पूजा की सृष्टि की थी।

एक ही दो वर्ष हुए, रूस-निवासी एक प्रतिष्ठित पुरुष ने एक पुस्तक प्रकाशित की। उसमें उन्होंने लिखा कि उन्हें ईसा मसीह के एक अद्भुत जीवन चरित का पता लगा है। उसी पुस्तक में एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि ईसा धर्म शिक्षार्थ ब्राह्मणों के पास जगन्नाथ जी के मन्दिर में गये थे किन्तु उनकी संकीर्णता और मूर्ति-पूजा से तंग आकर वे वहाँ से तिब्बत के लामाओं के पास गये और वहाँ से सिद्ध होकर स्वदेश लौटे। जिन्हें भारत के इतिहास का थोड़ा भी ज्ञान है व इसी विवरण से जान सकते हैं कि पुस्तक में आद्योपान्त कैसा छल-प्रपंच भरा हुआ है क्योंकि जगन्नाथ जी का मन्दिर तो एक प्राचीन बौद्ध मन्दिर है। हमने इसको एवं अन्यान्य बौद्ध मन्दिरों को हिन्दू मन्दिर बना लिया। इस प्रकार के कार्य हम इस समय भी बहुत करते रहेंगे। यही जगन्नाथ का इतिहास है और उस समय वहाँ एक भी ब्राह्मण न था फिर भी कहा जा रहा है कि ईसा मसीह वहाँ ब्राह्मणों से उपदेश लेने के लिए गये थे। हमारे दिग्गज रूसी पुरातत्त्ववेत्ता की ऐसी ही राय है।

इस प्रकार प्राणिमात्र के प्रति दया में सिवा अपूर्व आचारनिष्ठ धर्म और

नित्य आत्मा के अस्तित्व या अनस्तित्व सम्बन्धी बाल की खाल निकालनेवाले विचारो के होते हुए भी समग्र बौद्ध धर्मरूपी प्रासाद चूर चूर होकर गिर गया और उसका खँडहर बडा ही वीभत्स है। बौद्ध धर्म की अवनति से जिन घृणित आचारो का आविर्भाव हुआ, उनका वर्णन करने के लिए मेरे पास न समय है, न इच्छा ही। अति कुत्सित अनुष्ठान-पद्धतियाँ, अत्यन्त भयानक और अश्लील ग्रन्थ— जो मनुष्यो द्वारा न तो कभी लिखे गये थे, और न मनुष्य ने जिनकी कभी कल्पना तक की थी, अत्यन्त भीषण पाशव अनुष्ठान-पद्धतियाँ, जो और कभी धर्म के नाम से प्रचलित नही हुई थी—ये सभी गिरे हुए बौद्ध धर्म की सृष्टि हैं।

परन्तु भारत को जीवित रहना ही था, इसीलिए पुन भगवान् का आविर्भाव हुआ। जिन्होंने कहा था, "जब कभी धर्म की हानि होती है, तभी मैं आता हूँ"— वे फिर से आये। इस बार दक्षिण देश मे भगवान् का आविर्भाव हुआ। उस ब्राह्मण युवक का, जिसके बारे मे कहा गया है कि उसने सोलह वर्ष की उम्र मे ही अपनी सारी ग्रन्थ-रचना समाप्त की थी, उसी अद्भुत प्रतिभाशाली शकराचार्य का अभ्युदय हुआ। इस सोलह वर्ष के बालक के लेखो से आधुनिक सभ्य ससार विस्मित हो रहा है, वह अद्भुत बालक था। उसने सकल्प किया था कि समग्र भारत को उसके प्राचीन विशुद्ध मार्ग मे ले जाऊँगा। पर यह कार्य कितना कठिन और विशाल था, इसका विचार भी करो। उस समय भारत की जैसी अवस्था थी, इसका भी तुम लोगो को दिग्दर्शन कराता हूँ। जिन भीषण आचारो का सुधार करने को तुम लोग अग्रसर हो रहे हो, वे उसी अध पतन के युग के फल हैं। तातार, बलूची आदि भयानक जातियो के लोग भारत मे आकर बौद्ध बने और हमारे साथ मिल गये। अपने राष्ट्रीय आचारो को भी वे साथ लाये। इस तरह हमारा राष्ट्रीय जीवन अत्यन्त भयानक पाशव आचारो से भर गया। उक्त ब्राह्मण युवक को बौद्धो से विरासत मे यही मिला था और उसी समय से अब तक भारत भर मे इसी अध पतित बौद्ध धर्म पर वेदान्त की पुनर्विजय का कार्य सम्पन्न हो रहा है। अब भी यही काम जारी है, अब भी उसका अन्त नही हुआ। महा-दार्शनिक शकर ने आकर दिखलाया कि बौद्ध धर्म और वेदान्त के साराश मे विशेष अन्तर नही है। किन्तु उनके शिष्य अपने आचार्य के उपदेशो का मर्म न समझ हीन हो गये और आत्मा तथा ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार करके नास्तिक हो गये। शकर ने यही दिखलाया और तब सभी बौद्ध अपने प्राचीन धर्म का अवलम्बन करने लगे। पर वे उन अनुष्ठानो के आदी बन गये थे। इन अनुष्ठानो के लिए क्या किया जाय, यह कठिन समस्या उठ खडी हुई।

तब मतिमान रामानुज का अभ्युदय हुआ। शंकर की प्रतिभा प्रखर थी किन्तु उनका हृदय रामानुज के समान उदार नहीं था। रामानुज का हृदय शंकर की अपेक्षा अधिक विशाल था। उन्होंने पददलितों की पीड़ा का अनुभव किया और उनसे सहानुभूति की। उस समय की प्रचलित अनुष्ठान-पद्धतियों में उन्होंने यथाशक्ति सुधार किया और नयी अनुष्ठान-पद्धतियाँ नयी उपासना-प्रणालियों की सृष्टि उन लोगों के लिए की जिनके लिए ये अत्यावश्यक थी। इसीके साथ साथ उन्होंने ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक सबके लिए सर्वोच्च आध्यात्मिक उपासना का द्वार खोल दिया। यह था रामानुज का कार्य! उनके कार्य का प्रभाव चारों ओर फैलने लगा उत्तर भारत तक उसका प्रसार हुआ वहाँ भी कई आचार्य इसी तरह कार्य करने लगे किन्तु यह बहुत देर में मुसलमानों के शासन-काल में हुआ। उत्तर भारत के इन अपेक्षाकृत आधुनिक आचार्यों में से चैतन्य सर्वश्रेष्ठ हुए। रामानुज के समय से धर्म-प्रचार की एक विशेषता की ओर ध्यान दो—तब से धर्म का द्वार सर्वसाधारण के लिए खुला रहा। शंकर के पूर्ववर्ती आचार्यों का यह जैसा मूल मन्त्र था रामानुज के परवर्ती आचार्यों का भी यह वैसा ही मूल मन्त्र रहा। मैं नहीं जानता कि लोग शंकर को अनुदार मत के पोषक क्यों कहते हैं। उनके लिखे ग्रन्थों में ऐसा कुछ भी नहीं मिलता जो उनकी संकीर्णता का परिचय दे। जिस तरह भगवान् बुद्धदेव के उपदेश उनके शिष्यों के हाथ बिगड़ गये हैं, उसी तरह शंकराचार्य के उपदेशों पर संकीर्णता का जो दोष लगाया जाता है, सम्भवतः वह उनकी शिक्षा के कारण नहीं वरन् उनके शिष्यों की अयोग्यता के कारण है। उत्तर भारत के महान् सन्त चैतन्य गोपियों के प्रेमोन्मत्त भाव के प्रतिनिधि थे। चैतन्यदेव स्वयं एक ब्राह्मण थे उस समय के एक प्रसिद्ध नैयायिक वंश में उनका जन्म हुआ था। वे न्याय के अध्यापक थे तर्क द्वारा सबको परास्त करते थे—यही उन्होंने बचपन से जीवन का सर्वोच्च आदर्श समझ रखा था। किसी महापुरुष की कृपा से इनका सम्पूर्ण जीवन बदल गया तब इन्होंने वाद विवाद तर्क न्याय का अध्यापन सब कुछ छोड़ दिया। संसार में भक्ति के जितने बड़े बड़े आचार्य हुए हैं प्रेमोन्मत्त चैतन्य उनमें से एक श्रेष्ठ आचार्य हैं। उनकी भक्ति-तरंग सारे बंगाल में फैल गयी जिससे सबके हृदय को शान्ति मिली। उनके प्रेम की सीमा न थी। साधु, असाधु, हिन्दू, मुसलमान पवित्र अपवित्र वेश्या पतित—सभी उनके प्रेम के भागी थे वे सब पर दया रखते थे। यद्यपि काल के प्रभाव से सभी अवनति को प्राप्त होते हैं और उनका चलाया हुआ सम्प्रदाय घोर अवनति की दशा को पहुँच गया है। फिर भी आज तक वह दरिद्र दुर्बल जातिच्युत पतित किसी भी समाज में जिनका स्थान नहीं है ऐसे लोगों का

आश्रयस्थान है। परन्तु साथ ही सत्य के लिए मुझे स्वीकार करना ही होगा कि दार्शनिक सम्प्रदायो मे ही हम अद्भुत उदार भाव देखते है। शकर-मतावलम्बी कोई भी यह बात स्वीकार नही करेगा कि भारत के विभिन्न सम्प्रदायो मे वास्तव मे कोई भेद है, किन्तु जाति-भेद के विषय मे शकर अत्यन्त सकीर्णता का भाव रखते थे। इसके विपरीत, प्रत्येक वैष्णवाचार्य मे हम जातिविषयक प्रश्नो की शिक्षा के बारे मे अद्भुत उदारता देखते है, जब कि उनमे धार्मिक प्रश्नो के विषय मे अत्यन्त सकीर्णता पाते है।

एक का था अद्भुत मस्तिष्क, दूसरे का था विशाल हृदय। अब एक ऐसे अद्भुत पुरुष के जन्म लेने का समय आ गया था, जिसमे ऐसा ही हृदय और मस्तिष्क दोनो एक साथ विराजमान हो, जो शकर के प्रतिभा-सम्पन्न मस्तिष्क एव चैतन्य के अद्भुत, विशाल, अनन्त हृदय का एक ही साथ अधिकारी हो, जो देखे कि सब सम्प्रदाय एक ही आत्मा, एक ही ईश्वर की शक्ति से चालित हो रहे है और प्रत्येक प्राणी मे वही ईश्वर विद्यमान है, जिसका हृदय भारत मे अथवा भारत के बाहर दरिद्र, दुर्बल, पतित सबके लिए द्रवित हो, लेकिन साथ ही जिसकी विशाल बुद्धि ऐसे महान् तत्त्वो की परिकल्पना करे, जिनसे भारत मे अथवा भारत के बाहर सब विरोधी सम्प्रदायो मे समन्वय साधित हो और इस अद्भुत समन्वय द्वारा वह एक हृदय और मस्तिष्क के सार्वभौम धर्म को प्रकट करे। एक ऐसे ही पुरुष ने जन्म ग्रहण किया और मैंने वर्षों तक उनके चरणो तले बैठकर शिक्षा-लाभ का सौभाग्य प्राप्त किया। ऐसे एक पुरुष के जन्म लेने का समय आ गया था, इसकी आवश्यकता पडी थी, और वह उत्पन्न हुआ। सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह थी कि उसका समग्र जीवन एक ऐसे शहर के पास व्यतीत हुआ, जो पाश्चात्य भावो से उन्मत्त हो रहा था, जो भारत के सब शहरो की अपेक्षा विदेशी भावो से अधिक भरा हुआ था। वहाँ पुस्तकीय ज्ञान से हर प्रकार से अनभिज्ञ वह रहता था, यह महाप्रतिभासम्पन्न व्यक्ति अपना नाम तक लिखना नही जानता था।[1] किन्तु हमारे विश्वविद्यालय के बडे बडे अत्यन्त प्रतिभावान स्नातको ने उसको एक महान् बौद्धिक प्रतिभा के रूप मे स्वीकार किया। वे अद्भुत महा-पुरुष थे—श्री रामकृष्ण परमहस । यह तो एक बडी लम्बी कहानी है, आज रात को तुम्हे उनके विषय मे कुछ भी बताने का समय नही है। इसलिए मुझे भारतीय

---

१ सामान्यत यह प्रचलित है कि वे बिल्कुल निरक्षर थे, पर बाद मे अनुसधान से पता चला कि वे थोड़ा बहुत लिखना-पढ़ना भी जानते थे।—सपादक।

तब मतिमान रामानुज का अभ्युदय हुआ। शंकर की प्रतिभा प्रखर थी, किन्तु उनका हृदय रामानुज के समान उदार नहीं था। रामानुज का हृदय शंकर की अपेक्षा अधिक विशाल था। उन्होंने पददलितों की पीड़ा का अनुभव किया और उनसे सहानुभूति की। उस समय की प्रचलित अनुष्ठान-पद्धतियों में उन्होंने यथाशक्ति सुधार किया और नयी अनुष्ठान-पद्धतियाँ, नयी उपासना-प्रणालियों की सृष्टि उन लोगों के लिए की, जिनके लिए वे अत्यावश्यक थीं। साथ साथ उन्होंने ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक सबके लिए सर्वोच्च आध्यात्मिक उपासना का द्वार खोल दिया। यह था रामानुज का कार्य। उनके कार्य का प्रभाव चारों ओर फैलने लगा, उत्तर भारत तक उसका प्रसार हुआ, वहाँ भी कई आचार्य इसी तरह कार्य करने लगे, किन्तु यह बहुत देर में मुसलमानों के शासन-काल में हुआ। उत्तर भारत के इन अपेक्षाकृत आधुनिक आचार्यों में से चैतन्य सर्वश्रेष्ठ हुए। रामानुज के समय से धर्म प्रचार की एक विशेषता की ओर ध्यान दो—तब से धर्म का द्वार सर्वसाधारण के लिए खुला रहा। शंकर के पूर्ववर्ती आचार्यों का यह जैसा मूल मन्त्र था, रामानुज के परवर्ती आचार्यों का भी यह वैसा ही मूल मन्त्र रहा। मैं नहीं जानता कि लोग शंकर को अनुदार मत के पोषक क्यों कहते हैं। उनके लिखे ग्रन्थों में ऐसा कुछ भी नहीं मिलता, जो उनकी संकीर्णता का परिचय दे। जिस तरह भगवान् बुद्धदेव के उपदेश उनके शिष्यों के हाथ बिगड़ गये हैं, उसी तरह शंकराचार्य के उपदेशों पर संकीर्णता का जो दोष लगाया जाता है, सम्भवतः वह उनकी शिक्षा के कारण नहीं, वरन् उनके शिष्यों की अयोग्यता के कारण है। उत्तर भारत के महान् सन्त चैतन्य गोपियों के प्रेमोन्मत्त भाव के प्रतिनिधि थे। चैतन्यदेव स्वयं एक ब्राह्मण थे, उस समय के एक प्रसिद्ध नैयायिक वंश में उनका जन्म हुआ था। वे न्याय के अध्यापक थे, तर्क द्वारा सबको परास्त करते थे—यही उन्होंने बचपन से जीवन का उच्चतम आदर्श समझ रखा था। किसी महापुरुष की कृपा से इनका सम्पूर्ण जीवन बदल गया, तब इन्होंने वाद विवाद, तर्क न्याय का अध्यापन सब कुछ छोड़ दिया। संसार में भक्ति के जितने बड़े बड़े आचार्य हुए हैं, प्रेमोन्मत्त चैतन्य उनमें से एक श्रेष्ठ आचार्य हैं। उनकी भक्ति-तरंग सारे बंगाल में फैल गयी, जिससे सबके हृदय को शान्ति मिली। उनके प्रेम की सीमा न थी। साधु, असाधु, हिन्दू, मुसलमान, पवित्र अपवित्र वेश्या पतित—सभी उनके प्रेम के भागी थे, वे सब पर दया रखते थे। यद्यपि काल के प्रभाव से सभी अवनति को प्राप्त होते हैं और उनका चलाया हुआ सम्प्रदाय घोर अवनति की दशा को पहुँच गया है, फिर भी आज तक वह दरिद्र, दुर्बल जातिच्युत पतित किसी भी समाज में जिनका स्थान नहीं है, ऐसे लोगों का

आश्रयस्थान है। परन्तु साथ ही सत्य के लिए मुझे स्वीकार करना ही होगा कि दार्शनिक सम्प्रदायों में ही हम अद्भुत उदार भाव देखते हैं। शकर-मतावलम्बी कोई भी यह बात स्वीकार नहीं करेगा कि भारत के विभिन्न सम्प्रदायों में वास्तव में कोई भेद है, किन्तु जाति-भेद के विषय में शकर अत्यन्त सकीर्णता का भाव रखते थे। इसके विपरीत, प्रत्येक वैष्णवाचार्य में हम जातिविषयक प्रश्नों की शिक्षा के बारे में अद्भुत उदारता देखते है, जब कि उनमें धार्मिक प्रश्नों के विषय में अत्यन्त सकीर्णता पाते हैं।

एक का था अद्भुत मस्तिष्क, दूसरे का था विशाल हृदय। अब एक ऐसे अद्भुत पुरुष के जन्म लेने का समय आ गया था, जिसमें ऐसा ही हृदय और मस्तिष्क दोनो एक साथ विराजमान हो, जो शकर के प्रतिभा-सम्पन्न मस्तिष्क एव चैतन्य के अद्भुत, विशाल, अनन्त हृदय का एक ही साथ अधिकारी हो, जो देखे कि सब सम्प्रदाय एक ही आत्मा, एक ही ईश्वर की शक्ति से चालित हो रहे हैं और प्रत्येक प्राणी में वही ईश्वर विद्यमान है, जिसका हृदय भारत में अथवा भारत के बाहर दरिद्र, दुर्बल, पतित सबके लिए द्रवित हो, लेकिन साथ ही जिसकी विशाल बुद्धि ऐसे महान् तत्त्वो की परिकल्पना करे, जिनसे भारत मे अथवा भारत के बाहर सब विरोधी सम्प्रदायो मे समन्वय साबित हो और इस अद्भुत समन्वय द्वारा वह एक हृदय और मस्तिष्क के सार्वभौम धर्म को प्रकट करे। एक ऐसे ही पुरुष ने जन्म ग्रहण किया और मैंने वर्षो तक उनके चरणो तले बैठकर शिक्षा-लाभ का सौभाग्य प्राप्त किया। ऐसे एक पुरुष के जन्म लेने का समय आ गया था, इसकी आवश्यकता पडी थी, और वह उत्पन्न हुआ। सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह थी कि उसका समग्र जीवन एक ऐसे शहर के पास व्यतीत हुआ, जो पाश्चात्य भावो से उन्मत्त हो रहा था, जो भारत के सब शहरो की अपेक्षा विदेशी भावो से अधिक भरा हुआ था। वहाँ पुस्तकीय ज्ञान से हर प्रकार से अनभिज्ञ वह रहता था, यह महाप्रतिभासम्पन्न व्यक्ति अपना नाम तक लिखना नही जानता था।[1] किन्तु हमारे विश्वविद्यालय के बडे बडे अत्यन्त प्रतिभावान स्नातको ने उसको एक महान् बौद्धिक प्रतिभा के रूप मे स्वीकार किया। वे अद्भुत महा-पुरुष थे—श्री रामकृष्ण परमहस। यह तो एक बडी लम्बी कहानी है, आज रात को तुम्हे उनके विषय मे कुछ भी बताने का समय नही है। इसलिए मुझे भारतीय

---

१ सामान्यत यह प्रचलित है कि वे बिल्कुल निरक्षर थे, पर बाद मे अनुसधान से पता चला कि वे थोड़ा बहुत लिखना-पढना भी जानते थे।—सपादक।

सब महापुरुषों के पूर्णप्रकाशस्वरूप युगाचार्य श्री रामकृष्ण का उल्लेख भर करके बात समाप्त करना होगा। उनके उपदेश आजकल हमारे लिए विशेष कल्याण कारी हैं। उनके भीतर जो ईश्वरीय शक्ति थी उस पर विशेष ध्यान दो। वे एक दरिद्र ब्राह्मण के लड़के थे। उनका जन्म बंगाल के सुदूर, अज्ञात अपरिचित किसी एक गाँव में हुआ था। आज यूरोप अमेरिका के सहस्रों व्यक्ति वास्तव में उनकी पूजा कर रहे हैं भविष्य में और भी सहस्रों मनुष्य उनकी पूजा करेंगे। ईश्वर की लीला कौन समझ सकता है?

भाइयो तुम यदि इसमें विधाता का हाथ नहीं देखते तो अन्धे हो, सचमुच जन्मान्ध हो। यदि समय मिला यदि दूसरा अवसर मिल सका तो इनके सम्बन्ध मे विस्तारपूर्वक कहूँगा। इस समय केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि यदि मैंने जीवन भर में एक भी सत्य वाक्य कहा है तो वह उन्हीका केवल उनका ही वाक्य है पर यदि मैंने ऐसे वाक्य कहे हैं जो असत्य भ्रमपूर्ण अथवा मानव जाति के लिए हितकारी न हों तो वे सब मेरे ही वाक्य हैं और उनके लिए पूरा उत्तरदायी मैं ही हूँ।

हमारा प्रस्तुत कार्य

यह व्याख्यान ट्रिप्लिकेन, मद्रास की साहित्य-समिति मे दिया गया था। अमेरिका जाने के पहले स्वामी विवेकानन्द जी का इस समिति के सदस्यो से परिचय हुआ था। इन सदस्यो के साथ स्वामी जी ने अनेक विषयो पर चर्चा की थी। इससे वे सदस्यगण तथा मद्रास की जनता बहुत ही प्रभावित हुई थी। अन्त मे इन सज्जनो के विशेष आग्रह एव प्रयत्न से ही वे अमेरिका की शिकागो धर्म-महासभा मे हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप मे भेजे गये थे। अतएव इस व्याख्यान का एक विशेष महत्त्व है।

स्वामी जी का भाषण

ससार ज्यो ज्यो आगे बढ रहा है, त्यो त्यो जीवन-समस्या गहरी और व्यापक हो रही है। उस पुराने ज़माने मे जब कि समस्त जगत् के अखडत्वरूप वेदान्ती सत्य का प्रथम आविष्कार हुआ था, तभी से उन्नति के मूल मत्रो और सार तत्त्वो का प्रचार होता आ रहा है। विश्वब्रह्माड का एक परमाणु सारे ससार को अपने साथ बिना घसीटे तिल भर भी नही हिल सकता। जब तक सारे ससार को साथ साथ उन्नति के पथ पर आगे नही बढाया जायगा, तब तक ससार के किसी भी भाग मे किसी भी प्रकार की उन्नति सम्भव नही है। और दिन प्रति दिन यह और भी स्पष्ट हो रहा है कि किसी प्रश्न की मीमासा सिर्फ जातीय, राष्ट्रीय या किन्हीं सकीर्ण भूमियो पर नही टिक सकती। हर एक विषय को तथा हर एक भाव को तब तक बढाना चाहिए, जब तक उसमे सारा ससार न आ जाय, हर एक आकाक्षा को तब तक बढाते रहना चाहिए, जब तक वह समस्त मनुष्य जाति को ही नही, वरन् समस्त प्राणिजगत् को आत्मसात् न कर ले। इससे विदित होगा कि क्यो हमारा देश गत कई सदियो से वैसा महान् नही रह गया है, जैसा वह प्राचीन काल मे था। हम देखते हैं कि जिन कारणो से वह गिर गया है, उनमे से एक कारण है, दृष्टि की सकीर्णता तथा कार्यक्षेत्र का सकोच।

जगत् मे ऐसे दो आश्चर्यजनक राष्ट्र हो गये हैं, जो एक ही जाति से प्रस्फुटित हुए हैं, परन्तु भिन्न परिस्थितियो और घटनाओ मे स्थापित रहकर हर एक ने जीवन की समस्याओ को अपने ही निराले ढग से हल कर लिया है—मेरा मतलब

प्राचीन हिन्दू और प्राचीन यूनानी जातियों से है। भारतीय आर्यों की उत्तरी सीमा हिमालय की उन बर्फीली चोटियों से घिरी हुई है जिनके तल में सम भूमि पर समुद्र सी स्वच्छतोया सरिताएँ हिलोरें मार रही हैं और वहाँ वे अनंत अरण्य वर्तमान हैं, जो आर्यों को संसार के अन्तिम छोर से प्रतीत हुए। इन सब मनोरम दृश्यों को देखकर आर्यों का मन सहज ही अन्तर्मुख हो उठा। आर्यों का मस्तिष्क सूक्ष्म भावग्राही था और चारों ओर घिरी हुई महान् दृश्यावली देखने का यह स्वाभाविक फल हुआ कि आर्य मनस्तत्त्व के अनुसंधान में लग गये चित्त का विश्लेषण भारतीय आर्यों का मुख्य ध्येय हो गया। दूसरी ओर, यूनानी जाति संसार के एक दूसरे भाग में पहुँची जो उदात्त की अपेक्षा सुन्दर अधिक था। यूनानी टापुओं के भीतर के वे सुन्दर दृश्य उनके चारों ओर की वह हास्यमयी किन्तु निराभरण प्रकृति देखकर यूनानियों का मन स्वभावतः बहिर्मुख हुआ और उसने बाह्य संसार का विश्लेषण करना चाहा। परिणामतः हम देखते हैं कि समस्त विश्लेषणात्मक विज्ञानों का विकास भारत से हुआ और सामान्यीकरण के विज्ञानों का विकास यूनान से। हिन्दुओं का मानस अपनी ही कार्य-विधा में अग्रसर हुआ और उसने अद्भुत परिणाम प्राप्त किये हैं। यहाँ तक कि वर्तमान समय में भी हिन्दुओं की वह विचार-शक्ति —वह अपूर्व शक्ति जिसे भारतीय मस्तिष्क अब तक धारण करता है बेजोड़ है। हम सभी जानते हैं कि हमारे लड़के दूसरे देश के लड़कों से प्रतियोगिता में सदा ही विजय प्राप्त करते हैं। परन्तु साथ ही शायद मुसलमानों के विजय प्राप्त करने के दो शताब्दी पहले ही जब हमारी जातीय शक्ति क्षीण हुई, उस समय हमारी यह जातीय प्रतिभा ऐसी अतिरंजित हुई कि वह स्वयं ही अधःपतन की ओर अग्रसर हुई थी और वही अध:पतन अब भारतीय शिल्प संगीत विज्ञान आदि हर विषय में दिखायी दे रहा है। शिल्प में अब वह व्यापक परिकल्पना नहीं रह गयी भावों की वह उदात्तता तथा रूपाकार के सौष्ठव की वह चेष्टा अब और नहीं रह गयी किन्तु उसकी जगह अत्यधिक अलंकरण तथा भड़कीलेपन का समावेश हो गया। जाति की सारी मौलिकता नष्ट हो चली। संगीत में चित्त को मस्त कर देनेवाले वे गम्भीर भाव जो प्राचीन संस्कृत में पाये जाते हैं अब नहीं रहे—पहले की तरह उनमें से प्रत्येक स्वर अब अपने पैरों नहीं खड़ा हो सकता वह अपूर्व एकतानता नहीं छेड़ सकता। हर एक स्वर अपनी विशिष्टता खो बैठा। हमारे समग्र आधुनिक संगीत में नाना प्रकार के स्वर-ग्रामों की खिचड़ी हो गयी है उसकी बहुत ही बुरी दशा हो गयी है। संगीत की अवनति का यही चिह्न है। इसी प्रकार यदि तुम अपनी भावात्मक परिकल्पनाओं का विश्लेषण करके देखो तो तुमको वही अतिरंजना और अलंकरण की ही चेष्टा और मौलिकता का नाश मिलेगा। और, यहाँ तक कि

तुम्हारे विशेष क्षेत्र धर्म मे भी, वही भयानक अवनति हुई है। उस जाति मे तुम क्या आशा कर सकते हो, जो सैकडो वर्ष तक यह जटिल प्रश्न हल करती रह गयी कि पानी भरा लोटा दाहिने हाथ से पीना चाहिए या बाये हाथ से। इससे और अधिक अवनति क्या हो सकती है कि देश के बडे बडे मेधावी मनुष्य भोजन के प्रश्न को लेकर तर्क करते हुए सैकडो वर्ष बिता दे, इस बात पर वाद-विवाद करते हुए कि तुम हमे छूने लायक हो या हम तुम्हें, और इस छून-अछून के कारण कौन सा प्रायश्चित्त करना पडेगा? वेदान्त के वे तत्त्व, ईश्वर और आत्मा सम्बन्धी सबसे उदात्त तथा महान् सिद्धान्त, जिनका सारे ससार मे प्रचार हुआ था, प्राय नष्ट हो गये, निबिड अरण्यनिवासी कुछ सन्यासियो द्वारा रक्षित होकर वे छिपे रहे और शेष सब लोग केवल छूत-अछूत, खाद्य-अखाद्य और वेशभूषा जैसे गुरुतर प्रश्नो को हल करने मे व्यस्त रहे! हमे मुसलमानो से कई अच्छे विषय मिले, इसमे कुछ सन्देह नही। ससार मे हीनतम मनुष्य भी श्रेष्ठ मनुष्यो को कुछ न कुछ शिक्षा अवश्य दे सकते है, किन्तु वे हमारी जाति मे शक्ति-सचार नही कर सके।

इसके पश्चात् शुभ के लिए हो, चाहे अशुभ के लिए, भारत मे अग्रेज़ो की विजय हुई। किसी जाति के लिए विजित होना नि सदेह बुरी चीज़ है, विदेशियो का शासन कभी भी कल्याणकारी नही होता। किन्तु तो भी, अशुभ के माध्यम से कभी कभी शुभ का आगमन होता है। अतएव अग्रेज़ो की विजय का शुभ फल यह है इग्लैण्ड तथा समग्र यूरोप को सभ्यता के लिए यूनान के प्रति ऋणी होना चाहिए, क्योकि यूरोप के सभी भावो मे मानो यूनान की ही प्रतिध्वनि सुनाई दे रही है, यहाँ तक कि उसके हर एक मकान मे, मकान के हर एक फरनीचर मे यूनान की ही छाप दीख पडती है। यूरोप के विज्ञान, शिल्प आदि सभी यूनान ही के प्रतिबिम्ब हैं। आज वही प्राचीन यूनान तथा प्राचीन हिन्दू भारतभूमि पर मिल रहे हैं। इस प्रकार धीर और नि स्तब्ध भाव से एक परिवर्तन आ रहा है और आज हमारे चारो ओर जो उदार, जीवनप्रद पुनरुत्थान का आन्दोलन दिखाई दे रहा है, वह सब इन दोनो विभिन्न भावो के सम्मिलन का ही फल है। अब मानव जीवन सम्बन्धी अधिक व्यापक और उदार धारणाएँ हमारे सम्मुख हैं। यद्यपि हम पहले कुछ भ्रम मे पड गये थे और भावो को सकीर्ण करना चाहते थे, पर अब हम देखते हैं कि आजकल ये जो महान् भाव और जीवन की ऊँची धारणाएँ काम कर रही हैं, हमारे प्राचीन ग्रन्थो मे लिखे हुए तत्त्वो की स्वाभाविक परिणति ही है। ये उन बातो का यथार्थ न्यायसगत कार्यान्वय मात्र हैं, जिनका हमारे पूर्वजो ने पहले ही प्रचार किया था। विशाल बनना, उदार बनना, क्रमश सार्वभौम भाव मे उपनीत होना—यही

हमारा लक्ष्य है। परन्तु हम ध्यान न देकर अपने शास्त्रोपदेशों के विरुद्ध दिनों दिन अपने को संकीर्ण से संकीर्णतर करते जा रहे हैं।

हमारी उन्नति के मार्ग मे कुछ विघ्न हैं और उनमें प्रधान है हमारी यह धारणा कि ससार में हम प्रमुख जाति के है। मैं हृदय से भारत को प्यार करता हूँ स्वदेश के हितार्थ मैं सदा कमर कसे तैयार रहता हूँ पूर्वजों पर मेरी आन्तरिक श्रद्धा और भक्ति है फिर भी मैं अपना यह विचार नही त्याग सकता कि संसार से हमें भी बहुत कुछ शिक्षा प्राप्त करनी है शिक्षाग्रहणार्थ हमें सबके पैरो तले बैठना चाहिए, क्योंकि ध्यान इस बात पर देना आवश्यक है कि सभी हमें महान् शिक्षा दे सकते है। हमारे महान् श्रेष्ठ स्मृतिकार मनु महाराज की उक्ति है 'नीच जातियों से भी श्रद्धा के साथ हितकारी विद्या ग्रहण करनी चाहिए, और निम्नतम अन्त्यज ही क्यों न हो सेवा द्वारा उससे भी श्रेष्ठ धर्म की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए।'[1]

अतएव यदि हम मनु की सच्ची सन्तान है तो हमें उनके आदेशों का अवश्य ही प्रतिपालन करना चाहिए और जो कोई हमें शिक्षा देने के योग्य है, उसीसे *ऐहिक या पारमार्थिक विषयो में शिक्षा ग्रहण करने के लिए हमें सदा तैयार रहना* चाहिए। किन्तु साथ ही यह भी न भूलना चाहिए कि संसार को हम भी कोई विशेष शिक्षा दे सकते है। भारत का बाहर के देशों से सम्बन्ध जोड़े बिना हमारा काम नही चल सकता। किसी समय हम लोगों ने जो इसके विपरीत सोचा था वह हमारी मूर्खता मात्र थी और उसीकी सजा का फल है कि हजारों वर्षों से हम दासता के बन्धनों मे बँध गये हैं। हम लोग दूसरी जातियों से अपनी तुलना करने के लिए विदेश नहीं गये और हमने ससार की गति पर ध्यान रखकर चलना नही सीखा। यही है भारतीय मन की अवनति का प्रधान कारण। हमे यथेष्ट सजा मिल चुकी अब हमे ऐसा नही करना चाहिए। भारत से बाहर जाना भारतीयों के लिए अनुचित है—इस प्रकार की वाहियात बातें बच्चों की ही हैं। उन्हे दिमाग से बिल्कुल निकाल फेंकनी चाहिए। जितना ही तुम भारत से बाहर अन्यान्य देशों में घूमोगे उतना ही तुम्हारा और तुम्हारे देश का कल्याण होगा। यदि तुम पहले ही से—कई सदियों के पहले ही से—ऐसा करते तो तुम आज उन राष्ट्रों से पदाक्रान्त न होते जिन्होंने तुम्हे दबाने की कोशिश की। जीवन का पहला और स्पष्ट लक्षण है विस्तार। अगर तुम जीवित रहना चाहते हो तो तुम्हे विस्तार करना ही होगा। जिस क्षण से तुम्हारे जीवन का विस्तार बन्द हो जायेगा उसी

---

१ श्रद्दधानो शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ।।

क्षण से जान लेना कि मृत्यु ने तुम्हें घेर लिया है, विपत्तियाँ तुम्हारे सामने हैं। मैं यूरोप और अमेरिका गया था, इसका तुम लोगो ने सहृदयतापूर्ण उल्लेख किया है। मुझे वहाँ जाना पडा, क्योकि यही विस्तार या राष्ट्रीय जीवन के पुनर्जागरण का पहला चिह्न है। इस फिर से जगनेवाले राष्ट्रीय जीवन ने भीतर ही भीतर विस्तार प्राप्त करके मुझे मानो दूर फेक दिया था और इस तरह और भी हजारो लोग फेंके जायँगे। मेरी बात ध्यान से सुनो। यदि राष्ट्र को जीवित रहना है, तो ऐसा होना आवश्यक है। अतएव यह विस्तार राष्ट्रीय जीवन के पुनरभ्युदय का सर्वप्रधान लक्षण है और मनुष्य की सारी ज्ञानसमष्टि तथा समग्र जगत् की उन्नति के लिए हमारा जो कुछ योगदान होना चाहिए, वह भी इस विस्तार के साथ भारत से वाहर दूसरे देशो को जा रहा है। परन्तु यह कोई नया काम नही। तुम लोगो मे से जिनकी यह धारणा है कि हिन्दू अपने देश की चहारदीवारी के भीतर ही चिर काल से पडे हैं, वे बडी ही भूल करते है। तुमने अपने प्राचीन शास्त्र पढे नही, तुमने अपने जातीय इतिहास का ठीक ठीक अध्ययन नही किया। हर एक जाति को अपनी प्राण-रक्षा के लिए दूसरी जातियो को कुछ देना ही पडेगा। प्राण देने पर ही प्राणो की प्राप्ति होती है, दूसरो से कुछ लेना होगा तो वदले मे मूल्य के रूप मे उन्हें कुछ देना ही होगा। हम जो हज़ारो वर्षों से जीवित हैं, यह हमको विस्मित करता है, और इसका समाधान यही है कि हम ससार के दूसरे देशो को सदा देते रहे हैं, अनजान लोग भले ही जो सोचें।

भारत का दान है धर्म, दार्शनिक ज्ञान और आध्यात्मिकता। धर्म-प्रचार के लिए यह आवश्यक नही कि सेना उसके आगे आगे मार्ग निष्कटक करती हुई चले। ज्ञान और दार्शनिक तत्त्व को शोणित-प्रवाह पर से ढोने की आवश्यकता नही। ज्ञान और दार्शनिक तत्त्व खून से भरे जख्मी आदमियो के ऊपर से सदर्प विचरण नही करते। वे शान्ति और प्रेम के पखो से उडकर शान्तिपूर्वक आया करते हैं, और सदा हुआ भी यही। अतएव ससार के लिए भारत को सदा कुछ देना पडा है। लन्दन मे किसी युवती ने मुझसे पूछा, "तुम हिन्दुओ ने क्या किया? तुमने कभी किसी भी जाति को नही जीत पाया है।" अंग्रेज़ जाति की दृष्टि मे—वीर साहसी, क्षत्रियप्रकृति अंग्रेज जाति की दृष्टि मे—दूसरे व्यक्ति पर विजय प्राप्त करना ही एक व्यक्ति के लिए सर्वश्रेष्ठ गौरव की बात समझी जाती है। यह उनके दृष्टिविन्दु से सत्य भले ही हो, किन्तु हमारी दृष्टि इसके बिल्कुल विपरीत है। जब मैं अपने मन से यह प्रश्न करता हूँ कि भारत के श्रेष्ठत्व का क्या कारण है, तब मुझे यह उत्तर मिलता है कि हमने कभी दूसरी जाति पर विजय प्राप्त नही की, यही हमारा महान् गौरव है। तुम लोग आजकल सदा यह निन्दा सुन रहे हो

कि हिन्दुओं का धर्म दूसरों के धर्म को जीत लेने में सचेष्ट नहीं और मैं बड़े दुःख से कहता हूँ कि यह बात ऐसे ऐसे व्यक्तियों के मुँह की होती है जिनसे हम अधिकतर ज्ञान की अपेक्षा करते हैं। मुझे यह जान पड़ता है कि हमारा धर्म दूसरे धर्मों की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट है। इस तथ्य के समर्थन की प्रधान युक्ति यही है कि हमारे धर्म ने कभी दूसरे धर्मों पर विजय प्राप्त नहीं की उसने कभी खून की नदियाँ नहीं बहायीं उसने सदा आशीर्वाद और शान्ति के शब्द कहे सबको उसने प्रेम और सहानुभूति की कथा सुनायी। यहीं केवल यहीं दूसरे धर्म से द्वेष न रखने के भाव सबसे पहले प्रचारित हुए, केवल यहीं परधर्म-सहिष्णुता तथा सहानुभूति के ये भाव कार्यरूप में परिणत हुए। अन्य देशों में यह केवल सिद्धान्त-चर्चा मात्र है। यहीं केवल यहीं यह देखने में आता है कि हिन्दू मुसलमानों के लिए मसजिदें और ईसाइयों के लिए गिरजे बनवाते हैं।

अतएव भाइयो तुम समझ गये होगे कि किस तरह हमारे भाव धीरे धीरे शान्त और अज्ञात रूप से दूसरे देशों में गये हैं। भारत के सब विषयों में यही बात है। भारतीय विचार का सबसे बड़ा लक्षण है उसका शान्त स्वभाव और उसकी नीरवता। जो प्रचण्ड शक्ति इसके पीछे है, उसका प्रकाश जबरदस्ती से नहीं होता। भारतीय विचार सदा जादू सा असर करता है। जब कोई विदेशी हमारे साहित्य का अध्ययन करता है तो पहले वह उसे अरुचिपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें उसके निज के साहित्य जैसी उद्दीपना नहीं तीव्र गति नहीं जिससे उसका हृदय सहज ही उछल पड़े। यूरोप के दुःखान्त नाटकों की हमारे करुण नाटकों से तुलना करो पश्चिमी नाटक कार्य-प्रधान हैं वे कुछ देर के लिए उद्दीप्त तो कर देते हैं किन्तु समाप्त होते ही तुरन्त प्रतिक्रिया शुरू हो जाती है और तुम्हारे मस्तिष्क से उसका सम्पूर्ण प्रभाव निकल जाता है। भारत के करुण नाटकों में मानो सम्मोहन की शक्ति भरी हुई है। वे मन्दगति से चुपचाप अपना काम करते हैं, किन्तु तुम ज्यों ज्यों उनका अध्ययन करते हो त्यों त्यों तुम्हें मुग्ध करने लगते हैं। फिर तुम टस से मस नहीं हो सकते तुम बँध जाते हो हमारे साहित्य में जिस किसीने प्रवेश किया उसे उसका बन्धन अवश्य ही स्वीकार करना पड़ा और चिर काल के लिए हमारे साहित्य से उसका अनुराग हो गया। अनदेखे और अनसुने गिरनेवाला कोमल ओस कण जिस प्रकार सुन्दरतम गुलाब की कलियों को खिला देता है, वैसा ही असर भारत के दान का संसार की विचारधारा पर पड़ता रहता है। शांत अज्ञेय किन्तु महाशक्ति के अदम्य बल से उसने सारे जगत् की विचार-राशि में क्रान्ति मचा दी है—एक नया ही युग खड़ा कर दिया है किन्तु तो भी कोई नहीं जानता कब ऐसा हुआ। किसी ने प्रसंगवशात् मुझसे कहा था 'भारत के किसी

प्राचीन ग्रन्थकार का नाम ढूंढ निकालना कितना कठिन काम है!" इसपर मैंने यह उत्तर दिया कि यही भारतीयो का स्वभाव है। भारत के लेखक आजकल के लेखको जैसे नही थे, जो ग्रन्थो का ९० फीसदी भाव दूसरे लेखको से साफ उडा लेते हैं और जिनका अपना केवल दशमाश होता है, किन्तु तो भी जो ग्रन्थारम्भ मे भूमिका लिखते हुए यह कहते नही चूकते कि इन मत-मतान्तरो का पूरा उत्तर-दायित्व मुझ पर है। मनुष्य जाति के हृदय मे उच्च भाव भरनेवाले वे महामनीषी उन ग्रन्थो की रचना करके ही सन्तुष्ट थे, उन्होंने ग्रन्थो मे अपना नाम तक नही दिया, और अपने ग्रन्थ भावी पीढियो को सौपकर वे शान्तिपूर्वक इस ससार से चल बसे। हमारे दर्शनकारो या पुराणकारो के नाम कौन जानता है? वे सभी व्यास, कपिल आदि उपाधियो ही से परिचित है, वे ही श्री कृष्ण के योग्य सपूत हैं, वे ही गीता के यथार्थ अनुयायी हैं, उन्होंने ही श्रीकृष्ण के इस महान उपदेश—'कर्म मे ही तुम्हारा अधिकार है, फल मे कदापि नही'[1]—का पालन कर दिखाया।

मित्रो, इस प्रकार भारत ने ससार मे अपना कर्म किया, परन्तु इसके लिए भी एक बात अत्यन्त आवश्यक है। वाणिज्य-द्रव्य की भाँति, विचारो का समूह भी किसीके बनाये हुए मार्ग से ही चलता है। विचार-राशि के एक देश से दूसरे देश को जाने के पहले, उसके जाने का मार्ग तैयार होना चाहिए। ससार के इतिहास मे, जब कभी किसी बडे दिग्विजयी राष्ट्र ने ससार के भिन्न भिन्न देशो को एक सूत्र मे बाँधा है, तब उसके बनाये हुए मार्ग से भारत की विचारधारा वह चली है और प्रत्येक जाति की नस नस मे समा गयी है। आये दिन इस प्रकार के प्रमाण जुटते जा रहे है कि बुद्ध के जन्म के पहले ही भारत के विचार सारे ससार मे फैल चुके थे। बौद्ध धर्म के उदय के पहले ही चीन, फारस और पूर्वी द्वीप-समूहो[2] मे वेदान्त का प्रवेश हो चुका था। फिर जब यूनान की प्रवल शक्ति ने पूर्वी भूखडो को एक ही सूत्र मे बांधा था, तब वहाँ भारत की विचार धारा प्रवाहित हुई थी, और ईसाई धर्मावलम्वी जिस सभ्यता की डीग हाँक रहे हैं, वह भी भारतीय विचारो के छोटे छोटे कणो के सग्रह के सिवा और कुछ नही। बौद्ध धर्म, अपनी समस्त महानता के साथ जिसकी विद्रोही सन्तान है और ईसाई धर्म जिसकी नगण्य नकल मात्र है, वही हमारा धर्म है। युगचक्र फिर घूमा है, वैसा ही समय फिर आया है, इग्लैण्ड की प्रचड शक्ति ने भूमडल के भिन्न भिन्न भागो को फिर एक दूसरे से जोड दिया है। अग्रेजो के मार्ग रोमन जाति के मार्गों की तरह केवल स्थल भाग मे ही

---

१. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन॥ गीता २।४७॥

२ सुमात्रा, जावा, वोर्नियो आदि।

नहीं अतल महासागरों के सब भागों में भी दौड़ रहे हैं। संसार के सभी भाग एक दूसरे से जुड़ गये हैं और विद्युत् शक्ति नव संदेश-वाहक की भाँति अपना अद्भुत नाटक खेल रही है। इन अनुकूल अवस्थाओं को प्राप्त कर भारत फिर जाग रहा है और संसार की उन्नति तथा सारी सभ्यता को अपने योगदान के लिए वह तैयार हो रहा है। इसीके फलस्वरूप प्रकृति ने मानो जबरदस्ती मुझे धर्म का प्रचार करने के लिए इंग्लैण्ड और अमेरिका भेजा। हममें से हर एक को यह अनुभव करना चाहिए था कि प्रचार का समय आ गया है। चारों ओर शुभ लक्षण दीख रहे हैं और भारतीय आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारों को फिर से सारे संसार पर विजय होगी। अतएव हमारे सामने समस्या दिन दिन बृहत्तर आकार धारण कर रही है। क्या हमें केवल अपने ही देश को जगाना होगा? नहीं यह तो एक तुच्छ बात है, मैं एक कल्पनाशील मनुष्य हूँ—मेरी यह भावना है कि हिन्दू जाति सारे संसार पर विजय प्राप्त करेगी।

जगत् में बड़ी बड़ी विजयी जातियाँ हो चुकी हैं हम भी महान् विजेता रह चुके हैं। हमारी विजय की कथा को भारत के महान् सम्राट् अशोक ने धर्म और आध्यात्मिकता ही की विजय बताया है। फिर से भारत को जगत् पर विजय प्राप्त करना होगा। यही मेरे जीवन का स्वप्न है और मैं चाहता हूँ कि तुममें से प्रत्येक जो कि मेरी बातें सुन रहा है अपने अपने मन में उसी स्वप्न का पोषण करे, और उसे कार्य रूप में परिणत किये बिना न छोड़े। लोग हर रोज तुमसे कहेंगे कि पहले अपने घर को सँभालो बा" मे विदेशों में प्रचार करना। पर मैं तुम लोगों से स्पष्ट शब्दों मे कह देता हूँ कि तुम सबसे अच्छा काम तभी करते हो जब दूसरे के लिए करते हो। अपने लिए सबसे अच्छा काम तुमने तभी किया जब कि तुमने औरों के लिए काम किया। अपने विचारो का समुद्रो के उस पार विदेशी भाषाओं में प्रचार करने का प्रयत्न किया और यह सभा ही इस बात का प्रमाण है कि तुम्हारा अन्यान्य देशों को अपने विचारों से शिक्षित करने का प्रयत्न तुम्हारे अपने देश को भी लाभ पहुँचा रहा है। यदि मैं अपने विचारो को भारत ही में सीमाबद्ध रखता तो उस प्रभाव का एक चौथाई भी न हो पाता जो कि मेरे इंग्लैंड और अमेरिका जाने से इस देश मे हुआ। हमारे सामने यही एक महान् आदर्श है, और हर एक को इसके लिए तैयार रहना चाहिए—वह आदर्श है भारत की विश्व पर विजय—उससे छोटा कोई आदर्श न चलेगा और हम सभी को इसके लिए तैयार होना चाहिए और भरसक कोशिश करनी चाहिए। अगर विदेशी आकर इस देश को अपनी सेनाओं से प्लावित कर दें तो कुछ परवाह नहीं। उठो भारत तुम अपनी आध्यात्मिकता द्वारा जगत् पर विजय प्राप्त करो। जैसा कि इसी देश में पहले पहल

प्रचार किया गया है, प्रेम ही घृणा पर विजय प्राप्त करेगा, घृणा घृणा को नही जीत सकती, हमे भी वैसा ही करना पडेगा। भौतिकवाद और उससे उत्पन्न क्लेश भौतिकवाद से कभी दूर नही हो सकते। जब एक सेना दूसरी सेना पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करती है तो वह मानव जाति को पशु बना देती है और इस प्रकार वह पशुओ की सख्या बढा देती है। आध्यात्मिकता पाश्चात्य देशो पर अवश्य विजय प्राप्त करेगी। धीरे धीरे पाश्चात्यवासी यह अनुभव कर रहे हैं कि उन्हें राष्ट्र के रूप मे बने रहने के लिए आध्यात्मिकता की आवश्यकता है। वे इसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, चाव से इसकी बाट जोह रहे है। उसकी पूर्ति कहाँ से होगी ? वे आदमी कहाँ हैं, जो भारतीय महर्षियो का उपदेश जगत् के सब देशो मे पहुँचाने के लिए तैयार हो ? कहाँ है वे लोग, जो इसलिए सब कुछ छोडने को तैयार हो कि ये कल्याणकर उपदेश ससार के कोने कोने तक फैल जायँ ? सत्य के प्रचार के लिए ऐसे ही वीर हृदय लोगो की आवश्यकता है। वेदान्त के महासत्यो को फैलाने के लिए ऐसे वीर कर्मियो को वाहर जाना चाहिए। जगत् को इसकी चाहना है, इसके बिना जगत् विनष्ट हो जायगा। सारा पाश्चात्य जगत् मानो एक ज्वालामुखी पर स्थित है, जो कल ही फूटकर उसे चूर चूर कर सकता है। उन्होने सारी दुनियाँ छान डाली, पर उन्हें तनिक भी शान्ति नही मिली। उन्होने इन्द्रिय-सुख का प्याला पीकर खाली कर डाला, पर फिर भी उससे उन्हे तृप्ति नही मिली। भारत के धार्मिक विचारो को पाश्चात्य देशो की नस नस मे भर देने का यही समय है। इसलिए मद्रासी नवयुवको, मैं विशेषकर तुम्हीको इसे याद रखने को कहता हूँ। हमे वाहर जाना ही पडेगा, अपनी आध्यात्मिकता तथा दार्शनिकता से हमे जगत् को जीतना होगा। दूसरा कोई उपाय ही नही है, अवश्यमेव इसे करो, या मरो। राष्ट्रीय जीवन, सतेज और प्रबुद्ध राष्ट्रीय जीवन के लिए बस यही एक शर्त है कि भारतीय विचार विश्व पर विजय प्राप्त करें।

साथ ही हमे न भूलना चाहिए कि आध्यात्मिक विचारो की विश्व-विजय से मेरा मतलब है उन सिद्धान्तो के प्रचार से, जिनसे जीवन-सचार हो, न कि उन सैकडो कुसस्कारो से, जिन्हें हम सदियो से अपनी छाती से लगाते आये हैं। इनको तो इस भारत-भूमि से भी उखाडकर दूर फेक देना चाहिए, जिससे वे सदा के लिए नष्ट हो जायँ। इस जाति के अध पतन के ये ही कारण है और ये दिमाग को कमज़ोर वना देते हैं। हमे उस दिमाग से वचना चाहिए, जो उच्च और महान् चिन्तन नही कर सकता, जो निस्तेज होकर मौलिक चिन्तन की सारी शक्तियाँ खो वैठता है, और जो धर्म के नाम पर चले आनेवाले सब प्रकार के छोटे-छोटे कुसस्कारो के विष से अपने को जर्जरित कर रहा है। हमारी दृष्टि मे भारत के लिए कई आपदाएँ

खड़ी हैं। इनमें से दो स्काइला और चेरीबाडिस से घोर भौतिकवाद और इसकी प्रतिक्रिया से पैदा हुए घोर कुसंस्कार से अवश्य बचना चाहिए। आज हमें एक तरफ वह मनुष्य दिखायी पड़ता है, जो पाश्चात्य ज्ञान रूपी मदिरा-पान से मत्त होकर अपने को सर्वज्ञ समझता है। वह प्राचीन ऋषियों की हँसी उड़ाया करता है। उसके लिए हिन्दुओं के सब विचार बिल्कुल वाहियात चीज़ हैं, हिन्दू दर्शन-शास्त्र बच्चों का कलरव मात्र है और हिन्दू धर्म मूर्खों का मात्र अंधविश्वास। दूसरी तरफ वह आदमी है जो शिक्षित तो है पर जिस पर किसी एक चीज़ की सनक सवार है और वह उल्टी राह लेकर हर एक छोटी सी बात का अलौकिक अर्थ निकालने की कोशिश करता है। अपनी विशेष जाति या देव-देवियों या गाँव से सम्बन्ध रखनेवाले जितने कुसंस्कार हैं उनको उचित सिद्ध करने के लिए दार्शनिक आध्यात्मिक तथा बच्चों को सुहानेवाले न जाने क्या क्या अर्थ उसके पास सर्वदा ही मौजूद हैं। उसके लिए प्रत्येक ग्राम्य कुसंस्कार वेदों की आज्ञा है और उसकी समझ में उसे कार्य रूप में परिणत करने पर ही जातीय जीवन निर्भर है। तुम्हें इन सबसे बचना चाहिए।

तुममें से प्रत्येक मनुष्य कुसंस्कारपूर्ण मूर्ख होने के बदले यदि घोर नास्तिक भी हो जाय तो मुझे पसन्द है, क्योंकि नास्तिक तो जीवन्त है, तुम उसे किसी तरह परिवर्तित कर सकते हो। परन्तु यदि कुसंस्कार घुस जायँ तो मस्तिष्क बिगड़ जायगा, कमज़ोर हो जायगा और मनुष्य विनाश की ओर अग्रसर होने लगेगा। तो इन दो संकटों से बचो। हमें निर्भीक साहसी मनुष्यों का ही प्रयोजन है। हमें खून में तेजी और स्नायुओं में बल की आवश्यकता है—लोहे के पुट्ठे और फ़ौलाद के स्नायु चाहिए, न कि दुर्बलता लानेवाले वाहियात विचार। इन सबको त्याग दो, सब प्रकार के रहस्यों से बचो। धर्म में कोई बात छिपी नहीं है। क्या वेदान्त वेद संहिता अथवा पुराण में कोई ऐसी रहस्य की बात है? प्राचीन ऋषियों ने अपने धर्म प्रचार के लिए कौन सी गोपनीय समितियाँ स्थापित की थीं? क्या ऐसा कोई लेख है कि अपने महान् सत्यों को मानव जाति में प्रचारित करने के लिए उन्होंने ऐसे ऐसे जादूगरी के से हथकण्डों का उपयोग किया था? हर बात को रहस्यमय बनाना और कुसंस्कार—ये सदा दुर्बलता के ही चिह्न होते हैं। ये अवनति और मृत्यु के ही चिह्न हैं। इसलिए उनसे बचे रहो। बलवान् बनो और अपने पैरों पर खड़े हो जाओ। संसार में अनेक अद्भुत एवं आश्चर्यजनक वस्तुएँ हैं। प्रकृति के बारे में आज हमारी जो धारणाएँ हैं, उनकी तुलना में हम उन्हें अतिप्राकृतिक कह सकते हैं, परन्तु उनमें से एक भी रहस्यमय नहीं है। इस भारतभूमि पर यह कभी प्रचारित नहीं हुआ कि धर्म के सत्य गोपनीय विषय हैं अथवा यह कि वे हिमालय की बर्फीली चोटियों पर बसनेवाली गुप्त समितियों की ही विशेष सम्पत्ति

है। मैं हिमालय मे गया था, तुम लोग वहाँ पर नही गये होगे, वह स्थान तुम्हारे घरो से कई सौ मील दूर है। मैं सन्यासी हूँ और गत चौदह वर्षों से मैं पैदल घूम रहा हूँ। ये गुप्त समितियाँ कही भी नही है। इन अवविश्वासो के पीछे मत दौडो। तुम्हारे और जाति के लिए वेहतर होगा कि तुम घोर नास्तिक वन जाओ—क्योकि कम से कम उससे तुम्हारा कुछ वल वना रहेगा, पर इस प्रकार कुसस्कारपूर्ण होना तो अवनति तथा मृत्यु है। मानव जाति को धिक्कार है कि शक्तिशाली लोग इन अधविश्वासो पर अपना समय गँवा रहे है, दुनिया के सडे से सडे कुसस्कारो की व्याख्या के लिए रूपको के आविष्कार करने मे अपना सारा समय नष्ट कर रहे है। साहसी वनो, सब विषयो की उस तरह व्याख्या करने की कोशिश मत करो। वात यह है कि हमारे वहुतेरे कुसस्कार है, हमारी देह पर वहुत से वुरे धव्वे तथा घाव हैं—इनको काट और चीर-फाडकर एकदम निकाल देना होगा—नष्ट कर देना होगा। इनके नष्ट होने से हमारा धर्म, हमारा जातीय जीवन हमारी आध्यात्मिकता नष्ट नही होगी। प्रत्येक धर्म का मूल तत्त्व सुरक्षित है और जितनी जल्दी ये धव्वे मिटाये जायँगे, उतने ही अधिक ये मूल तत्त्व चमकेंगे। इन्ही पर डटे रहो।

तुम लोग सुनते हो कि हर एक धर्म जगत् का सार्वभौम धर्म होने का दावा करता है। मैं तुमसे पहले ही कह देता हूँ कि शायद कभी भी ऐसी कोई चीज़ नही हो सकेगी, पर यदि कोई धर्म यह दावा कर सके तो वह तुम्हारा ही धर्म है—दूसरा कोई नही, क्योकि दूसरा हर एक धर्म किसी व्यक्ति या व्यक्तियो के समूह पर निर्भर है। अन्यान्य सभी धर्म किन्ही व्यक्तियो के जीवन पर अवलम्बित होकर बने हैं, जिन्हें उनके अनुयायी ऐतिहासिक पुरुष समझते है, और जिसको वे धर्म की शक्ति समझते हैं, वह वास्तव मे उनकी निर्बलता है, क्योकि यदि इन पुरुषो की ऐतिहासिकता का खडन किया जाय तो उनके धर्मरूपी प्रासाद गिरकर धूलि मे मिल जायँगे। इन महान् धर्म-सस्थापको के जीवन-चरित्रो मे से आधा अश तो उडा दिया गया है और वाकी आधे के विषय मे घोर सन्देह उपस्थित किया गया है। अतएव हर एक सत्य, जिसकी प्रामाणिकता इन्हींके शब्दो पर निर्भर थी, हवा मे मिला जा रहा है। पर हमारे धर्म के सत्य किसी व्यक्ति विशेष पर निर्भर नही हैं, यद्यपि हमारे धर्म मे महापुरुषो की सख्या यथेष्ट है। कृष्ण की महिमा यह नही है कि वे कृष्ण थे, पर यह कि वे वेदान्त के महान् आचार्य थे। यदि ऐसा न होता तो उनका नाम भी भारत से उसी तरह उठ जाता जैसे कि बुद्ध का नाम उठ गया है।

अत चिर काल से हमारी निष्ठा धर्म के तत्त्वो के प्रति ही रही है, न कि व्यक्तियो के प्रति। व्यक्ति केवल तत्त्वो के प्रकट रूप हैं—उनके उदाहरणस्वरूप हैं। यदि

तत्त्व बने रहे तो व्यक्ति एक नहीं हजारों और लाखों की संख्या में पैदा होंगे। यदि तत्त्व बचा रहा तो बुद्ध जैसे सैकड़ों और हजारों पुरुष पैदा होंगे परन्तु यदि तत्त्व का नाश हुआ और वह भुला दिया गया एवं सारी जाति का जीवन तथाकथित ऐतिहासिक व्यक्ति पर ही निर्भर रहने में प्रयत्नशील रहे तो उस धर्म के सामने आपदाएँ और खतरे हैं। हमारा धर्म ही एकमात्र ऐसा है, जो किन्हीं व्यक्ति या व्यक्तियों पर निर्भर नहीं वह तत्त्वों पर प्रतिष्ठित है। पर साथ ही उसमें लाखों के लिए स्थान है। नय लोगों को स्थान देने के लिए उसमें काफी गुंजायश है पर उनमें से प्रत्येक को उन तत्त्वों का एक उदाहरणस्वरूप होना चाहिए। हमें यह न भूलना चाहिए। हमारे धर्म के ये तत्त्व अब तक सुरक्षित हैं और इनमें से प्रत्येक का जीवन-व्रत यही होना चाहिए कि हम उन्हीं की रक्षा करें, उन्हें युग-युगान्तर से जमा होनेवाले मैल और गर्द से बचावें। यह एक अद्भुत बात है कि हमारी जाति के बारंबार अवनति के गर्त में गिरने पर भी वेदान्त के ये तत्त्व कभी मलिन नहीं हुए। किसीने वह कितना ही दुष्ट क्यों न हो उन्हें दूषित करने का साहस नहीं किया। संसार भर में अन्य सब शास्त्रों की अपेक्षा हमारे शास्त्र सर्वाधिक सुरक्षित रहे हैं। अन्यान्य शास्त्रों की तुलना में इनमें कोई भी प्रक्षिप्त अंश नहीं घुस पाया है पाठों की तोड़मरोड़ नहीं हुई है उनके विचारों का सारभाग नष्ट नहीं हो पाया है। वह ज्यों का त्यों बना रहा है और मानव मनवा मन को आदर्श लक्ष्य की ओर परिचालित करता रहा है।

तुम देखते हो कि इन ग्रन्थों के भाष्य भिन्न भिन्न भाष्यकारों ने किये उनका प्रचार बड़े बड़े आचार्यों ने किया और उन्हीं पर सम्प्रदायों की नींव डाली गयी और तुम देखते हो कि इन वेद ग्रन्थों में ऐसे अनेक तत्त्व हैं जो आपाततः परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। कुछ ऐसे पाठांश हैं जो सम्पूर्ण द्वैतभाव के हैं और कितने ही बिल्कुल अद्वैत भाव के। द्वैतवाद के भाष्यकार द्वैतवाद छोड़कर और कुछ समझ नहीं पाते अतएव वे अद्वैतवाद के पाठांशों पर बुरी तरह वार करने की कोशिश करते हैं। सभी द्वैतवादी धर्माचार्य तथा पुरोहितगण उन्हें द्वैतात्मक अर्थ देना चाहते हैं। अद्वैतवाद के भाष्यकार द्वैतवाद के सूत्रों की वही दशा करते हैं, परन्तु यह वेदों का दोष नहीं। यह चेष्टा करना कोरी मूर्खता है कि सम्पूर्ण वेद द्वैत भावात्मक हैं। उसी प्रकार समग्र वेदों को अद्वैत भाव समर्थक प्रमाणित करने की चेष्टा भी निरी मूर्खता है। वेदों में द्वैतवाद अद्वैतवाद दोनों ही हैं। आजकल के नये भावों के प्रकाश में हम उन्हें पहले से कुछ अच्छी तरह समझ सकते हैं। ये विभिन्न धारणाएँ जिनकी गति द्वैतवाद और अद्वैतवाद दोनों ओर है मन की क्रमोन्नति के लिए आवश्यक हैं, और इसी कारण वेद उनका प्रचार करते हैं। समग्र मनुष्य

जाति पर कृपा करके वेद उच्चतम लक्ष्य के भिन्न भिन्न सोपानो का निर्देश करते हैं। यह नही कि वे एक दूसरे के विरोधी हो। बच्चे जैसे अबोध मनुष्यो को मोहने के लिए वेदो ने वृथा वाक्यो का प्रयोग नही किया है। उनकी जरूरत है और वह केवल बच्चो के लिए नही, वरन् प्रौढ बुद्धिवालो के लिए भी। जब तक शरीर है और जब तक हम इस शरीर से ही अपनी तद्रूपता स्थापित करने के विभ्रम मे पडे रहेंगे, जब तक हमारी पाँच इन्द्रियाँ हैं और जब तक हम इस स्थूल जगत् को देखते हैं, हमारे लिए व्यक्तिविशेष ईश्वर या सगुण ईश्वर आवश्यक है। यदि हमारे ये सभी भाव हैं, तो जैसा कि महामनीषी रामानुज ने प्रमाणित किया है, हमको ईश्वर, जीव और जगत् इनमे से एक को स्वीकार करने पर शेष सबको स्वीकार करना ही पडेगा। अतएव जब तक हम बाहरी ससार देख रहे हैं, तब तक सगुण ईश्वर और जीवात्मा को स्वीकार न करना निरा पागलपन है। परन्तु महापुरुषो के जीवन मे वह समय आ सकता है, जब जीवात्मा अपने सब बंधनो से अतीत होकर, प्रकृति के परे, उस सर्वातीत प्रदेश मे चला जाता है, जिसके बारे मे श्रुति कहती है :

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।[1]
न तत्र चक्षुर्गच्छति न वागगच्छति नो मन ।[2]
नाह मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।[3]

—'मन के साथ वाणी जिसे न पाकर लौट आती है।' 'वहाँ न नेत्र पहुँचते है, न वाक्य, न मन।' 'मैं उसे जानता हूँ, न यही कह सकता हूँ। और नहीं जानता, न यही।' तभी जीवात्मा सारे बन्धनो को पार कर जाता है, तभी, केवल तभी उसके हृदय मे अद्वैतवाद का यह मूल तत्त्व प्रकाशित होता है कि समस्त ससार और मैं एक हूँ, मैं और ब्रह्म एक हूँ। और तुम देखोगे कि यह सिद्धान्त न केवल शुद्ध ज्ञान और दर्शन ही से प्राप्त हुआ है, किन्तु प्रेम के द्वारा भी उसकी कुछ झलक पायी गयी है। तुमने भागवत मे पढ़ा होगा कि जब श्री कृष्ण अन्तर्धान हो गये और गोपियाँ उनके वियोग से विकल हो गयी, तो अन्त तक श्री कृष्ण की भावना का गोपियो के चित्त पर इतना प्रभाव पडा कि हर एक गोपी अपनी देह को भूल गयी और सोचने लगी कि वही श्री कृष्ण है, और अपने को उसी तरह सज्जित करके क्रीडा करने लगी, जिस तरह श्री कृष्ण करते थे। अतएव हमने यह समझ लिया कि यह एकत्व का अनुभव प्रेम से भी होता है। फारस के एक पुराने सूफी कवि अपनी

---

१ तैत्तिरीयोपनिषद् ॥ २।९ ॥
२ केनोपनिषद् ॥ १।३ ॥
३ कठोपनिषद् ॥ २।२ ॥

एक कविता में कहते हैं— "मैं अपने प्यारे के पास गया और देखा तो द्वार बन्द था मैंने दरवाजे पर धक्का लगाया तो भीतर से आवाज आयी 'कौन है? मैंने उत्तर दिया—'मैं हूँ। द्वार न खुला। मैंने दूसरी बार आकर दरवाजा खड़खड़ाया तो उसी स्वर से फिर पूछा कि कौन है, मैंने उत्तर दिया—'मैं अमुक हूँ। फिर भी द्वार न खुला। तीसरी बार मैं गया और वही ध्वनि हुई—'कौन है? मैंने कहा 'मैं तुम हूँ मेरे प्यारे। द्वार खुल गया।"

अतएव हमें समझना चाहिए कि ब्रह्म प्राप्ति के अनेक सोपान हैं और यद्यपि पुराने भाष्यकारों में जिन्हें हमें श्रद्धा की दृष्टि से देखना चाहिए, एक दूसरे से विवाद होता रहा हमें विवाद न करना चाहिए क्योंकि ज्ञान की कोई सीमा नहीं है। क्या प्राचीन काल में क्या वर्तमान समय में सर्वज्ञत्व पर किसी एक का सर्वाधिकार नहीं है। यदि अतीत काल में अनेक ऋषि महापुरुष हो गये हैं, तो निश्चय जानो कि वर्तमान समय में भी अनेक होंगे। यदि व्यास वाल्मीकि और शंकराचार्य आदि पुराने जमाने में हो गये हैं तो क्या कारण है कि अब भी तुममें हर एक शंकराचार्य न हो सकेगा? हमारे धर्म में एक विशेषता और है, जिसे तुम्हें याद रखना चाहिए। अन्यान्य शास्त्रों में भी ईश्वरी प्रेरणा को प्रमाणस्वरूप बतलाया जाता है। परन्तु इन प्रेरितों की संख्या उनके मत में एक दो अथवा बहुत ही कम व्यक्तियों तक सीमित है। उन्हींके माध्यम से सर्व साधारण जनता में इस सत्य का प्रचार हुआ और हम सभी को उनकी बात माननी ही पड़ेगी। नाजरथ के ईसा में सत्य का प्रकाश हुआ था और हम सभी को उसे मान लेना होगा। परन्तु भारत के मंत्रद्रष्टा ऋषियों के हृदय में उसी सत्य का आविर्भाव हुआ था। और सभी ऋषियों में उस सत्य का भविष्य में भी आविर्भाव होगा किन्तु वह न बातूनियों में होगा न पुस्तकें चाट जानेवालों में न बड़े विद्वानों में न भाषावेत्ताओं में वह केवल तत्त्वदर्शियों में ही संभव है।

'आत्मा ज्यादा बातें बकने से नहीं प्राप्त होती न वह बड़ी बुद्धिमत्ता से ही सुलभ है और न वह वेदों के पठन से ही मिल सकती है।'[१] वेद स्वयं यह बात कहते हैं। क्या तुम किन्हीं दूसरे शास्त्रों में इस प्रकार की निर्भीक वाणी पाते हो कि शास्त्र पाठ द्वारा भी आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती? तुम्हारे लिए हृदय को मुक्त करना आवश्यक है। धर्म का अर्थ न गिरजे में जाना है, न ललाट रँगना है न विचित्र ढंग का भेष धरना है। इन्द्रधनुष के सब रंगों से तुम अपने को चाहे भले ही रँग

---

१ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
—कठोपनिषद् ॥१।२।२३॥

लो, किन्तु यदि तुम्हारा हृदय उन्मुक्त नही हुआ है, यदि तुमने ईश्वर का साक्षात्कार नही किया है, तब यह सब व्यर्थ है। जिसने हृदय को रँग लिया है, उसके लिए दूसरे रग की आवश्यकता नही। यही धर्म का सच्चा अनुभव है। परन्तु हमे यह न भूलना चाहिए कि रग और ऊपर कही गयी कुल बातें अच्छी तब तक मानी जा सकती हैं, जब तक वे हमे धर्ममार्ग मे सहायता दें, तभी तक उनका हम स्वागत करते हैं। परन्तु वे प्राय अध पतित कर देती हैं और सहायता की जगह विघ्न ही खडा करती हैं, क्योंकि इन्ही बाह्योपचारो को मनुष्य धर्म समझ लेता है। फिर मन्दिर का जाना आध्यात्मिक जीवन और पुरोहित को कुछ देना ही धर्मजीवन माना जाने लगता है। ये बातें बडी भयानक और हानिकारक हैं, इन्हें दूर करना चाहिए। हमारे शास्त्रो मे बार बार कहा गया है कि बहिरिन्द्रियो के ज्ञान के द्वारा धर्म कभी प्राप्त नही हो सकता। धर्म वही है, जो हमे उस अक्षर पुरुष का साक्षात्कार कराता है, और हर एक के लिए धर्म यही है। जिसने इस इन्द्रियातीत सत्ता का साक्षात्कार कर लिया, जिसने आत्मा का स्वरूप उपलब्ध कर लिया, जिसने भगवान् को प्रत्यक्ष देखा—हर वस्तु मे देखा, वही ऋषि हो गया। और तब तक तुम्हारा जीवन धर्मजीवन नही, जब तक तुम ऋषि नही हो जाते। तभी तुम्हारे प्रकृत धर्म का आरम्भ होगा और अभी तो ये सब तैयारियाँ ही हैं। तभी तुम्हारे भीतर धर्म का प्रकाश फैलेगा, अभी तो तुम केवल मानसिक व्यायाम कर रहे हो और शारीरिक कष्ट झेल रहे हो।

अतएव हमे अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि हमारा धर्म स्पष्ट रूप से यह कह रहा है कि जो कोई मुक्ति-प्राप्ति की इच्छा रखे, उसे ही इस ऋषित्व का लाभ करना होगा, मन्त्रद्रष्टा होना होगा, ईश्वर-साक्षात्कार करना होगा। यही मुक्ति है और यही हमारे शास्त्रो के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त। इसके बाद अपने शास्त्रो का अपने आप अवलोकन करना आसान हो जाता है, हम स्वय ही अपने शास्त्रो का अर्थ समझ सकते हैं। उनमे से हमारे लिए जितना आवश्यक है, उतना ग्रहण कर सकते हैं तथा स्वय ही सत्य को समझ सकते हैं। साथ ही हमे उन प्राचीन ऋषियो के प्रति, उनके कार्य के लिए, पूर्ण सम्मान प्रदर्शित करना चाहिए। वे प्राचीन ऋषिगण महान् थे, परन्तु हमे और भी महान् होना है। अतीत काल मे उन्होंने बडे बडे काम किये, परन्तु हमे उनसे भी बडा काम कर दिखाना है। प्राचीन भारत मे सैकडो ऋषि थे, और अब हमारे बीच लाखो होंगे—निश्चय ही होंगे। इस बात पर तुममे से हर एक जितनी जल्दी विश्वास करेगा, भारत का और समग्र ससार का उतना ही अधिक हित होगा। तुम जो कुछ विश्वास करोगे, तुम वही हो जाओगे। यदि तुम अपने को महापुरुष समझोगे तो कल ही तुम महापुरुष हो जाओगे। तुम्हें

रोक दे ऐसी कोई चीज नहीं है। आपातविरोधी सम्प्रदायों के बीच यदि कोई साधारण मत है, तो वह यही है कि आत्मा में पहले से ही महिमा तेज और पवित्रता वर्तमान हैं। केवल रामानुज के मत में आत्मा कभी कभी संकुचित हो जाती है और कभी कभी विकसित परन्तु शंकराचार्य के मतानुसार संकोच-विकास भ्रम मात्र है। इस मतभेद पर ध्यान मत दो। सभी तो यह स्वीकार करते हैं कि व्यक्त या अव्यक्त चाहे जिस भाव में रहे वह शक्ति है जरूर। और जितनी शीघ्रता से उस पर विश्वास कर सकोगे उतना ही तुम्हारा कल्याण होगा। समस्त शक्ति तुम्हारे भीतर है तुम कुछ भी कर सकते हो और सब कुछ कर सकते हो, यह विश्वास करो। मत विश्वास करो कि तुम दुर्बल हो। आजकल हममें से अधिकांश जैसे अपने को अधपागल समझते हैं तुम अपने को वैसा मत समझो। इतना ही नहीं तुम कुछ भी और हर एक काम बिना किसी की सहायता के ही कर सकते हो। तुममे सब शक्ति है। तत्पर हो जाओ। तुममें जो देवत्व छिपा हुआ है उसे प्रकट करो।

भारत का भविष्य

मद्रास का यह अन्तिम व्याख्यान एक विशाल मडप मे लगभग चार हज़ार श्रोताओ के सम्मुख दिया गया था

स्वामी जी का भाषण

यह वही प्राचीन भूमि है, जहाँ दूसरे देशो को जाने से पहले तत्त्व ज्ञान ने आकर अपनी वासभूमि बनायी थी, यह वही भारत है, जहाँ के आध्यात्मिक प्रवाह का स्थूल प्रतिरूप उसके बहनेवाले समुद्राकार नद है, जहाँ चिरन्तन हिमालय श्रेणीबद्ध उठा हुआ अपने हिमशिखरो द्वारा मानो स्वर्गराज्य के रहस्यो की ओर निहार रहा है। यह वही भारत है, जिसकी भूमि पर ससार के सर्वश्रेष्ठ ऋषियो की चरण-रज पड चुकी है। यही सबसे पहले मनुष्य-प्रकृति तथा अन्तर्जगत् के रहस्योद्घाटन की जिज्ञासाओ के अकुर उगे थे। आत्मा का अमरत्व, अन्तर्यामी ईश्वर एव जगत्प्रपच तथा मनुष्य के भीतर सर्वव्यापी परमात्मा विषयक मतवादो का पहले पहल यही उद्भव हुआ था। और यही धर्म और दर्शन के आदर्शों ने अपनी चरम उन्नति प्राप्त की थी। यह वही भूमि है, जहाँ से उमडती हुई बाढ की तरह धर्म तथा दार्शनिक तत्त्वो ने समग्र ससार को बार बार प्लावित कर दिया, और यही भूमि है, जहाँ से पुन ऐसी ही तरगे उठकर निस्तेज जातियो मे शक्ति और जीवन का सचार कर देंगी। यह वही भारत है जो शताब्दियो के आघात, विदेशियो के शत शत आक्रमण और सैकडो आचार व्यवहारो के विपर्यय सहकर भी अक्षय बना हुआ है। यह वही भारत है जो अपने अविनाशी वीर्य और जीवन के साथ अब तक पर्वत से भी दृढतर भाव से खडा है। आत्मा जैसे अनादि, अनन्त और अमृतस्वरूप है, वैसे ही हमारी भारतभूमि का जीवन है, और हम इसी देश की सन्तान हैं।

भारत की सतानो, तुमसे आज मैं यहाँ कुछ व्यावहारिक बाते कहूँगा, और तुम्हें तुम्हारे पूर्व गौरव की याद दिलाने का उद्देश्य केवल इतना ही है कितनी ही बार मुझसे कहा गया है कि अतीत की ओर नज़र डालने से सिर्फ मन की अवनति ही होती है और इससे कोई फल नही होता, अत हमे भविष्य की ओर दृष्टि रखनी चाहिए। यह सच है। परन्तु अतीत से ही भविष्य का निर्माण होता है। अत

ठीक वे ऐसी कोई चीज नहीं है। आपातविरोधी सम्प्रदायों के बीच यदि कोई साधारण मत है, तो वह यही है कि आत्मा में पहले से ही महिमा तेज और पवित्रता वर्तमान हैं। केवल रामानुज के मत मे आत्मा कभी कभी संकुचित हो जाती है और कभी कभी विकसित परन्तु शंकराचार्य के मतानुसार संकोच-विकास भ्रम मात्र है। इस मतभेद पर ध्यान मत दो। सभी तो यह स्वीकार करते हैं कि व्यक्त या अव्यक्त चाहे जिस भाव में रहे वह शक्ति है जरूर। और जितनी शीघ्रता से उस पर विश्वास कर सकोगे उतना ही तुम्हारा कल्याण होगा। समस्त शक्ति तुम्हारे भीतर है तुम कुछ भी कर सकते हो और सब कुछ कर सकते हो यह विश्वास करो। मत विश्वास करो कि तुम दुर्बल हो। आजकल हममें से अधिकांश जैसे अपने को अधपागल समझते हैं तुम अपने को वैसा मत समझो। इतना ही नहीं तुम कुछ भी और हर एक काम बिना किसी की सहायता के ही कर सकते हो। तुममे सब शक्ति है। तत्पर हो जाओ। तुममें जो देवत्व छिपा हुआ है उसे प्रकट करो।

भारत का भविष्य

मद्रास का यह अन्तिम व्याख्यान एक विशाल मडप मे लगभग चार हज़ार श्रोताओ के सम्मुख दिया गया था

स्वामी जी का भाषण

यह वही प्राचीन भूमि है, जहाँ दूसरे देशो को जाने से पहले तत्त्व ज्ञान ने आकर अपनी वासभूमि बनायी थी, यह वही भारत है, जहाँ के आध्यात्मिक प्रवाह का स्थूल प्रतिरूप उसके बहनेवाले समुद्राकार नद है, जहाँ चिरन्तन हिमालय श्रेणीबद्ध उठा हुआ अपने हिमशिखरो द्वारा मानो स्वर्गराज्य के रहस्यो की ओर निहार रहा है। यह वही भारत है, जिसकी भूमि पर ससार के सर्वश्रेष्ठ ऋषियो की चरण-रज पड चुकी है। यही सबसे पहले मनुष्य-प्रकृति तथा अन्तर्जगत् के रहस्योद्‌घाटन की जिज्ञासाओ के अकुर उगे थे। आत्मा का अमरत्व, अन्तर्यामी ईश्वर एव जगत्प्रपच तथा मनुष्य के भीतर सर्वव्यापी परमात्मा विषयक मतवादो का पहले पहल यही उद्‌भव हुआ था। और यही धर्म और दर्शन के आदर्शों ने अपनी चरम उन्नति प्राप्त की थी। यह वही भूमि है, जहाँ से उमडती हुई बाढ की तरह धर्म तथा दार्शनिक तत्त्वो ने समग्र ससार को बार बार प्लावित कर दिया, और यही भूमि है, जहाँ से पुन ऐसी ही तरगे उठकर निस्तेज जातियो मे शक्ति और जीवन का सचार कर देंगी। यह वही भारत है जो शताब्दियो के आघात, विदेशियो के शत शत आक्रमण और सैकडो आचार व्यवहारो के विपर्यय सहकर भी अक्षय बना हुआ है। यह वही भारत है जो अपने अविनाशी वीर्य और जीवन के साथ अब तक पर्वत से भी दृढतर भाव से खडा है। आत्मा जैसे अनादि, अनन्त और अमृतस्वरूप है, वैसे ही हमारी भारतभूमि का जीवन है, और हम इसी देश की सन्तान हैं।

भारत की सतानो, तुमसे आज मैं यहाँ कुछ व्यावहारिक बातें कहूँगा, और तुम्हे तुम्हारे पूर्व गौरव की याद दिलाने का उद्देश्य केवल इतना ही है कितनी ही बार मुझसे कहा गया है कि अतीत की ओर नजर डालने से सिर्फ मन की अवनति ही होती है और इससे कोई फल नही होता, अत हमे भविष्य की ओर दृष्टि रखनी चाहिए। यह सच है। परन्तु अतीत से ही भविष्य का निर्माण होता है। अत

यहाँ तक हो सके अतीत की ओर देखो पीछे जो चिरन्तन निर्झर बह रहा है आकंठ उसका जल पिओ और उसके बाद सामने देखो और भारत को उज्ज्वलतर, महत्तर और पहले से और भी ऊँचा उठाओ। हमारे पूर्वज महान् थे। पहले यह बात हमें याद करनी होगी। हमें समझना होगा कि हम किन उपादानों से बने हैं, कौन सा खून हमारी नसों में बह रहा है। उस खून पर हमें विश्वास करना होगा। और अतीत के उसके कृतित्व पर भी इस विश्वास और अतीत गौरव के ज्ञान से हम अवश्य एक ऐसे भारत की नींव डालेंगे जो पहले से श्रेष्ठ होगा। अवश्य ही यहाँ बीच बीच में दुर्दशा और अवनति के युग भी रहे हैं पर उनको मैं अधिक महत्त्व नहीं देता। हम सभी उसके विषय में जानते हैं। ऐसे युगों का होना आवश्यक था। किसी विशाल वृक्ष से एक सुन्दर पका हुआ फल पैदा हुआ फल जमीन पर गिरा मुरझाया और सड़ा इस विनाश से जो अंकुर उगा सम्भव है वह पहले के वृक्ष से बड़ा हो जाय। अवनति के जिस युग के भीतर से हमें गुजरना पड़ा वे सभी आवश्यक थे। इसी अवनति के भीतर से भविष्य का भारत आ रहा है वह अंकुरित हो चुका है, उसके नये पल्लव निकल चुके हैं और उस शक्तिधर विशालकाय ऊर्ध्वमूल वृक्ष का निकलना शुरू हो चुका है। और उसीके सम्बन्ध में मैं तुमसे कहने जा रहा हूँ।

किसी भी दूसरे देश की अपेक्षा भारत की समस्याएँ अधिक जटिल और गुरुतर हैं। जाति धर्म भाषा शासन-प्रणाली—ये ही एक साथ मिलकर एक राष्ट्र की सृष्टि करते हैं। यदि एक एक जाति को लेकर हमारे राष्ट्र से तुलना की जाय तो हम देखेंगे कि जिन उपादानों से संसार के दूसरे राष्ट्र संगठित हुए हैं वे संख्या में यहाँ के उपादानों से कम हैं। यहाँ आर्य हैं द्रविड़ हैं तातार हैं तुर्क हैं मुगल हैं यूरोपीय है, —मानो संसार की सभी जातियाँ इस भूमि में अपना अपना खून मिला रही हैं। भाषा का यहाँ एक विचित्र ढंग का जमावड़ा है आचार-व्यवहारों के सम्बन्ध में दो भारतीय जातियों में जितना अन्तर है, उतना पूर्वी और यूरोपीय जातियों में नहीं।

हमारे पास एकमात्र सम्मिलन भूमि है हमारी पवित्र परम्परा हमारा धर्म। एकमात्र सामान्य आधार वही है और उसी पर हमें संगठन करना होगा। यूरोप में राजनीतिक विचार ही राष्ट्रीय एकता का कारण है। किन्तु एशिया में राष्ट्रीय ऐक्य का आधार धर्म ही है अतः भारत के भविष्य संगठन की पहली शर्त के तौर पर उसी धार्मिक एकता की ही आवश्यकता है। देश भर में एक ही धर्म सबको स्वीकार करना होगा। एक ही धर्म से मेरा क्या मतलब है? यह उस तरह का एक ही धर्म नहीं जिसका ईसाइयों, मुसलमानों या बौद्धों में प्रचार है। हम जानते

है, हमारे विभिन्न सम्प्रदायो के सिद्धान्त तथा दावे चाहे कितने ही विभिन्न क्यो न हो, हमारे धर्म मे कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं जो सभी सम्प्रदायो द्वारा मान्य हैं। इस तरह हमारे सम्प्रदायो के ऐसे कुछ सामान्य आधार अवश्य हैं, उनको स्वीकार करने पर हमारे धर्म मे अद्भुत विविधता के लिए गुजाइश हो जाती है, और साथ ही विचार और अपनी रुचि के अनुसार जीवन निर्वाह के लिए हमे सम्पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हो जाती है। हम लोग, कम से कम वे जिन्होंने इस पर विचार किया है, यह बात जानते है। और अपने धर्म के ये जीवनप्रद सामान्य तत्त्व हम सबके सामने लाये और देश के सभी स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, उन्हे जाने-समझें तथा जीवन मे उतारें—यही हमारे लिए आवश्यक है। सर्वप्रथम यही हमारा कार्य है।

अत हम देखते हैं कि एशिया मे और विशेषत भारत मे जाति, भाषा, समाज सम्बन्धी सभी बाधाएँ धर्म की इस एकीकरण शक्ति के सामने उड जाती हैं। हम जानते हैं कि भारतीय मन के लिए धार्मिक आदर्श से बडा और कुछ भी नही है। धर्म ही भारतीय जीवन का मूल मत्र है, और हम केवल सबसे कम बाधावाले मार्ग का अनुसरण करके ही कार्य मे अग्रसर हो सकते हैं। यह केवल सत्य ही नही कि धार्मिक आदर्श यहाँ सबसे बडा आदर्श है, किन्तु भारत के लिए कार्य करने का एकमात्र सम्भाव्य उपाय यही है। पहले उस पथ को सुदृढ किये बिना, दूसरे मार्ग से कार्य करने पर उसका फल घातक होगा। इसीलिए भविष्य के भारत निर्माण का पहला कार्य, वह पहला सोपान, जिसे युगो के उस महाचल पर खोद कर बनाना होगा, भारत की यह धार्मिक एकता ही है। यह शिक्षा हम सबको मिलनी चाहिए कि हम हिन्दू—द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी या अद्वैतवादी, अथवा दूसरे सम्प्रदाय के लोग, जैसे शैव, वैष्णव, पाशुपत आदि भिन्न भिन्न मतो के होते हुए भी आपस मे कुछ सामान्य भाव भी रखते हैं, और अब वह समय आ गया है कि अपने हित के लिए, अपनी जाति के हित के लिए हम इन तुच्छ भेदो और विवादो को त्याग दें। सचमुच ये झगडे बिल्कुल वाहियात हैं, हमारे शास्त्र इनकी निन्दा करते हैं, हमारे पूर्व पुरुषो ने इनके बहिष्कार का उपदेश दिया है, और वे महापुरुष गण, जिनके वशज हम अपने को बताते हैं और जिनका खून हमारी नसो मे बह रहा है, अपनी सतानो को छोटे छोटे भेदो के लिए झगडते हुए देखकर उनको घोर घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

लडाई झगडे छोडने के साथ ही अन्य विषयो की उन्नति अवश्य होगी, यदि जीवन का रक्त सशक्त एव शुद्ध है तो शरीर मे विषैले कीटाणु नही रह सकते। हमारी आध्यात्मिकता ही हमारा जीवन-रक्त है। यदि यह साफ बहता रहे,

यदि यह शुद्ध एवं सशक्त बना रहे तो सब कुछ ठीक है। राजनीतिक सामाजिक चाहे जिस किसी तरह की ऐहिक त्रुटियाँ हों चाहे देश की निर्धनता ही क्यों न हो, यदि खून शुद्ध है तो सब सुधर जायेंगे। क्योंकि यदि रोगवाले कीटाणु शरीर से निकाल दिये जायें तो फिर दूसरी कोई बुराई खून में नहीं समा सकती। उदाहरणार्थ आधुनिक चिकित्सा शास्त्र की एक उपमा लो। हम जानते हैं कि किसी बीमारी के फैलने के दो कारण होते हैं—एक तो बाहर से कुछ विषैले कीटाणुओं का प्रवेश दूसरा शरीर की अवस्था विशेष। यदि शरीर की अवस्था ऐसी न हो जाय कि वह कीटाणुओं को घुसने दे यदि शरीर की जीवनी शक्ति इतनी क्षीण न हो जाय कि कीटाणु शरीर में घुसकर बढ़ते रहें तो संसार में किसी भी कीटाणु में इतनी शक्ति नहीं जो शरीर में पैठकर बीमारी पैदा कर सके। वास्तव में प्रत्येक मनुष्य के शरीर के भीतर सदा करोड़ों कीटाणु प्रवेश करते रहते हैं परन्तु जब तक शरीर बलवान् है हमें उनकी कोई खबर नहीं रहती। जब शरीर कमजोर हो जाता है, तभी ये विषैले कीटाणु उस पर अधिकार कर लेते हैं और रोग पैदा करते हैं। राष्ट्रीय जीवन के बारे में भी यही बात है। जब राष्ट्रीय जीवन कमजोर हो जाता है, तब हर तरह के रोग के कीटाणु उसके शरीर में इकट्ठे जमकर उसकी राजनीति समाज शिक्षा और बुद्धि को रुग्ण बना देते हैं। अतएव उसकी चिकित्सा के लिए हमें इस बीमारी की जड़ तक पहुँचकर रक्त से कुल दोषों को निकाल देना चाहिए। तब उद्देश्य यह होगा कि मनुष्य बलवान् हो खून शुद्ध हो और शरीर तेजस्वी जिससे वह सब बाहरी विषों को दबा और हटा देने लायक हो सके।

हमने देखा है कि हमारा धर्म ही हमारे तेज हमारे बल नहीं नहीं हमारे जातीय जीवन की भी मूल भित्ति है। इस समय मैं यह तर्क वितर्क करने नहीं जा रहा हूँ कि धर्म उचित है या नहीं सही है या नहीं और अन्त तक यह लाभदायक है या नहीं। किन्तु अच्छा हो या बुरा धर्म ही हमारे जातीय जीवन का प्राण है तुम उससे निकल नहीं सकते। अभी और चिर काल के लिए भी तुम्हें उसीका अवलम्ब ग्रहण करना होगा और तुम्हें उसीके आधार पर खड़ा होना होगा चाहे तुम्हें इस पर उतना विश्वास हो या न हो जो मुझे है। तुम इसी धर्म में बँधे हुए हो और अगर तुम इसे छोड़ दो तो चूर चूर हो जाओगे। वही हमारी जाति का जीवन है और उसे अवश्य ही सशक्त बनाना होगा। तुम जो युगों के धक्के सहकर भी अक्षय हो इसका कारण केवल यही है कि धर्म के लिए तुमने बहुत कुछ प्रयत्न किया था उस पर सब कुछ निछावर किया था। तुम्हारे पूर्वजों ने धर्म-रक्षा के लिए सब कुछ साहसपूर्वक सहन किया था मृत्यु को भी उन्होंने हृदय

से लगाया था। विदेशी विजेताओ द्वारा मन्दिर के बाद मन्दिर तोडे गये, परन्तु उस बाढ के बह जाने मे देर नही हुई कि मन्दिर के कलश फिर खडे हो गये। दक्षिण के ये ही कुछ पुराने मन्दिर और गुजरात के सोमनाथ के जैसे मन्दिर तुम्हें राशि राशि ज्ञान प्रदान करेंगे। वे जाति के इतिहास के भीतर वह गहरी अन्तर्दृष्टि देंगे, जो ढेरो पुस्तको से भी नही मिल सकती। देखो कि किस तरह ये मन्दिर सैकडो आक्रमणो और सैकडो पुनरुत्थानो के चिह्न धारण किये हुए हैं, ये बार बार नष्ट हुए और बार बार ध्वसावशेष से उठकर नया जीवन प्राप्त करते हुए अब पहले ही की तरह अटल भाव से खडे है। इसलिए इस धर्म मे ही हमारा जातीय मन है, हमारा जातीय जीवन प्रवाह है। इसका अनुसरण करोगे तो यह तुम्हें गौरव की ओर ले जायगा। इसे छोडोगे तो मृत्यु निश्चित है। अगर तुम उस जीवन प्रवाह से बाहर निकल आये तो मृत्यु ही एकमात्र परिणाम होगा और पूर्ण नाश ही एकमात्र परिणति। मेरे कहने का यह मतलब नही कि दूसरी चीज की आवश्यकता ही नही। मेरे कहने का यह अर्थ नही कि राजनीतिक या सामाजिक उन्नति अनावश्यक है, किन्तु मेरा तात्पर्य यही है और मैं तुम्हें सदा इसकी याद दिलाना चाहता हूँ कि ये सब यहाँ गौण विषय हैं, मुख्य विषय धर्म है। भारतीय मन पहले धार्मिक है, फिर कुछ और। अत धर्म को ही सशक्त बनाना होगा। पर यह किया किस तरह जाय ? मै तुम्हारे सामने अपने विचार रखता हूँ। बहुत दिनो से, यहाँ तक कि अमेरिका के लिए मद्रास का समुद्री तट छोडने के वर्षों पहले से ये मेरे मन मे थे और उन्हीको प्रचारित करने के लिए मैं अमेरिका और इग्लैण्ड गया था। धर्म-महासभा या किसी और वस्तु की मुझे बिल्कुल परवाह नही थी, वह तो एक सुयोग मात्र था। वस्तुत मेरे ये सकल्प ही थे जो सारे ससार मे मुझे लिये फिरते रहे।

मेरा विचार है, पहले हमारे शास्त्र ग्रन्थो मे भरे पडे आध्यात्मिकता के रत्नो को, जो कुछ ही मनुष्यो के अधिकार मे मठो और अरण्यो मे छिपे हुए हैं, बाहर लाना है। जिन लोगो के अधिकार मे ये छिपे हुए हैं, केवल उन्हींसे इस ज्ञान का उद्धार करना नही, वरन् उससे भी दुर्भेद्य पेटिका अर्थात् जिस भाषा मे ये सुरक्षित हैं, उन शताब्दियो के पर्त खाये हुए सस्कृत शब्दो से उन्हें निकालना होगा। तात्पर्य यह है कि मै उन्हें सबके लिए सुलभ कर देना चाहता हूँ। मैं इन तत्त्वो को निकालकर सबकी, भारत के प्रत्येक मनुष्य की, सामान्य सम्पत्ति बनाना चाहता हूँ, चाहे वह सस्कृत जानता हो या नही। इस मार्ग की बहुत बडी कठिनाई हमारी गौरवशाली भाषा सस्कृत ही है, यह कठिनाई तब तक दूर नही हो सकती, जब तक यदि सम्भव हो तो हमारी जाति के सभी मनुष्य सस्कृत के अच्छे विद्वान् न हो जायँ। यह कठिनाई

यदि यह पूरा एवं सशक्त बना रहे तो सब कुछ ठीक है। राजनीतिक सामाजिक चाहे जिस किसी तरह की ऐहिक त्रुटियाँ हों चाहे देश की निर्धनता ही क्यों न हो यदि खून शुद्ध है तो सब सुधर जायेंगे। क्योंकि यदि रोगवाले कीटाणु शरीर से निकाल दिये जायें तो फिर दूसरी कोई बुराई खून मे नहीं समा सकती। उदाहरणार्थ आधुनिक चिकित्सा शास्त्र की एक उपमा लो। हम जानते हैं कि किसी बीमारी के फैलने के दो कारण होते हैं—एक तो बाहर से कुछ विषैले कीटाणुओं का प्रवेश दूसरा शरीर की अवस्था विशेष। यदि शरीर की अवस्था ऐसी न हो जाय कि वह कीटाणुओं को घुसने दे यदि शरीर की जीवनी शक्ति इतनी क्षीण न हो जाय कि कीटाणु शरीर में घुसकर बढ़ते रहें तो संसार में किसी भी कीटाणु में इतनी शक्ति नहीं जो शरीर म पैठकर बीमारी पैदा कर सके। वास्तव में प्रत्येक मनुष्य के शरीर के भीतर सदा करोड़ों कीटाणु प्रवेश करते रहते हैं परन्तु जब तक शरीर बलवान् है हमें उनकी कोई खबर नहीं रहती। जब शरीर कमजोर हो जाता है, तभी ये विषैले कीटाणु उस पर अधिकार कर लेते हैं और रोग पैदा करते हैं। राष्ट्रीय जीवन के बारे मे भी यही बात है। जब राष्ट्रीय जीवन कमजोर हो जाता है तब हर तरह के रोग के कीटाणु उसके शरीर में इकट्ठे जमकर उसकी राजनीति समाज शिक्षा और बुद्धि को रुग्ण बना देते हैं। अतएव उसकी चिकित्सा के लिए हम इस बीमारी की जड़ तक पहुँचकर रक्त से कुल दोषों को निकाल देना चाहिए। तब उद्देश्य यह होगा कि मनुष्य बलवान् हो खून शुद्ध हो और शरीर तेजस्वी जिससे वह सब बाहरी विषों को दबा और हटा देने लायक हो सके।

हमने देखा है कि हमारा धर्म ही हमारे तेज हमारे बल यही नहीं हमारे जातीय जीवन की भी मूल भित्ति है। इस समय मैं यह तर्क वितर्क करने नहीं जा रहा हूँ कि धर्म उचित है या नहीं सही है या नहीं और अन्त तक यह लाभदायक है या नहीं। किन्तु अच्छा हो या बुरा धर्म ही हमारे जातीय जीवन का प्राण है तुम उससे निकल नहीं सकते। अभी और चिर काल के लिए भी तुम्हें उसीका अवलम्ब ग्रहण करना होगा और तुम्हें उसीके आधार पर खड़ा होना होगा चाहे तुम्हें इस पर उतना विश्वास हो या न हो जो मुझे है। तुम इसी धर्म म बँधे हुए हो और अगर तुम इसे छोड़ दो तो चूर चूर हो जाओगे। वही हमारी जाति का जीवन है और उसे अवश्य ही सशक्त बनाना होगा। तुम जो युगों के धक्के सहकर भी अक्षय हो इसका कारण केवल यही है कि धर्म के लिए तुमने बहुत कुछ प्रयत्न किया था उस पर सब कुछ निछावर किया था। तुम्हारे पूर्वजों ने धर्म-रक्षा के लिए सब कुछ साहसपूर्वक सहन किया था मृत्यु को भी उन्होंने हृदय

से लगाया था। विदेशी विजेताओ द्वारा मन्दिर के बाद मन्दिर तोडे गये, परन्तु उस बाढ के बह जाने मे देर नही हुई कि मन्दिर के कलश फिर खडे हो गये। दक्षिण के ये ही कुछ पुराने मन्दिर और गुजरात के सोमनाथ के जैसे मन्दिर तुम्हें राशि राशि ज्ञान प्रदान करेंगे। वे जाति के इतिहास के भीतर वह गहरी अन्तर्दृष्टि देंगे, जो ढेरो पुस्तको से भी नही मिल सकती। देखो कि किस तरह ये मन्दिर सैकडो आक्रमणो और सैकडो पुनरुत्थानो के चिह्न धारण किये हुए हैं, ये बार बार नष्ट हुए और बार बार ध्वसावशेष से उठकर नया जीवन प्राप्त करते हुए अब पहले ही की तरह अटल भाव से खडे हैं। इसलिए इस धर्म मे ही हमारा जातीय मन है, हमारा जातीय जीवन प्रवाह है। इसका अनुसरण करोगे तो यह तुम्हें गौरव की ओर ले जायगा। इसे छोडोगे तो मृत्यु निश्चित है। अगर तुम उस जीवन प्रवाह से बाहर निकल आये तो मृत्यु ही एकमात्र परिणाम होगा और पूर्ण नाश ही एकमात्र परिणति। मेरे कहने का यह मतलब नही कि दूसरी चीज़ की आवश्यकता ही नही। मेरे कहने का यह अर्थ नही कि राजनीतिक या सामाजिक उन्नति अनावश्यक है, किन्तु मेरा तात्पर्य यही है और मैं तुम्हें सदा इसकी याद दिलाना चाहता हूँ कि ये सब यहाँ गौण विषय हैं, मुख्य विषय धर्म है। भारतीय मन पहले धार्मिक है, फिर कुछ और। अत धर्म को ही सशक्त बनाना होगा। पर यह किया किस तरह जाय? मैं तुम्हारे सामने अपने विचार रखता हूँ। बहुत दिनो से, यहाँ तक कि अमेरिका के लिए मद्रास का समुद्री तट छोडने के वर्षों पहले से ये मेरे मन मे थे और उन्हीको प्रचारित करने के लिए मैं अमेरिका और इग्लैण्ड गया था। धर्म-महासभा या किसी और वस्तु की मुझे बिल्कुल परवाह नही थी, वह तो एक सुयोग मात्र था। वस्तुत मेरे ये सकल्प ही थे जो सारे ससार मे मुझे लिये फिरते रहे।

मेरा विचार है, पहले हमारे शास्त्र ग्रन्थो मे भरे पडे आध्यात्मिकता के रत्नो को, जो कुछ ही मनुष्यो के अधिकार मे मठो और अरण्यो मे छिपे हुए हैं, बाहर लाना है। जिन लोगो के अधिकार मे ये छिपे हुए है, केवल उन्हींसे इस ज्ञान का उद्धार करना नही, वरन् उससे भी दुर्भेद्य पेटिका अर्थात् जिस भाषा मे ये सुरक्षित हैं, उन शताब्दियो के पर्त खाये हुए सस्कृत शब्दो से उन्हें निकालना होगा। तात्पर्य यह है कि मै उन्हें सबके लिए सुलभ कर देना चाहता हूँ। मैं इन तत्त्वो को निकालकर सबकी, भारत के प्रत्येक मनुष्य की, सामान्य सम्पत्ति बनाना चाहता हूँ, चाहे वह सस्कृत जानता हो या नही। इस मार्ग की बहुत बडी कठिनाई हमारी गौरवशाली भाषा सस्कृत ही है, यह कठिनाई तब तक दूर नही हो सकती, जब तक यदि सम्भव हो तो हमारी जाति के सभी मनुष्य सस्कृत के अच्छे विद्वान् न हो जायँ। यह कठिनाई

तुम्हारी समझ में आ जायगी जब मैं कहूँगा कि आजीवन का अध्ययन करने पर भी जब मैं इसकी कोई नयी पुस्तक उठाता हूँ, तो वह मुझे बिल्कुल नयी जान पड़ती है। अब सोचो कि जिन लोगों ने कभी विशेष रूप से इस भाषा का अध्ययन करने का समय नहीं पाया उनके लिए यह भाषा कितनी अधिक क्लिष्ट होगी। अतः मनुष्यों की बोलचाल की भाषा में उन विचारों की शिक्षा देनी होगी। साथ ही संस्कृत की भी शिक्षा अवश्य होती रहनी चाहिए, क्योंकि संस्कृत शब्दों की ध्वनि मात्र से ही जाति को एक प्रकार का गौरव, शक्ति और बल प्राप्त हो जाता है। महान् रामानुज, चैतन्य और कबीर ने भारत की नीची जातियों को उठाने का जो प्रयत्न किया था, उसमें उन महान् धर्माचार्यों को अपने ही जीवन-काल में अद्भुत सफलता मिली थी। किन्तु फिर उनके बाद उस कार्य का जो शोचनीय परिणाम हुआ, उसकी व्याख्या होनी चाहिए, और जिस कारण उन बड़े बड़े धर्माचार्यों के तिरोभाव के प्रायः एक ही शताब्दी के भीतर वह उन्नति रुक गयी, उसकी भी व्याख्या करनी होगी। इसका रहस्य यह है—उन्होंने नीची जातियों को उठाया था। वे सब चाहते थे कि ये उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हो जायँ, परन्तु उन्होंने जनता में संस्कृत का प्रचार करने में अपनी शक्ति नहीं लगायी। यहाँ तक कि भगवान् बुद्ध ने भी यह भूल की कि उन्होंने जनता में संस्कृत शिक्षा का अध्ययन बंद कर दिया। वे तुरन्त फल पाने के इच्छुक थे, इसीलिए उस समय की भाषा पाली में संस्कृत से अनुवाद कर उन्होंने उन विचारों का प्रचार किया। यह बहुत ही सुन्दर हुआ था, जनता ने उनका अभिप्राय समझा, क्योंकि वे जनता की बोलचाल की भाषा में उपदेश देते थे। यह बहुत ही अच्छा हुआ था, इससे उनके भाव बहुत शीघ्र फैले और बहुत दूर दूर तक पहुँचे। किन्तु इसके साथ साथ संस्कृत का भी प्रचार होना चाहिए था। ज्ञान का विस्तार हुआ सही, पर उसके साथ साथ प्रतिष्ठा नहीं बनी, संस्कार नहीं बना। संस्कृति ही युग के आघातों को सहन कर सकती है, मात्र ज्ञान-राशि नहीं। तुम संसार के सामने प्रभूत ज्ञान रख सकते हो, परन्तु इससे उसका विशेष उपकार न होगा। संस्कार को रक्त में व्याप्त हो जाना चाहिए। वर्तमान समय में हम कितने ही राष्ट्रों के सम्बन्ध में जानते हैं, जिनके पास विशाल ज्ञान का भाण्डार है, परन्तु इससे क्या? वे बाघ की तरह नृशंस हैं, वे बर्बरों के सदृश हैं, क्योंकि उनका ज्ञान संस्कार में परिणत नहीं हुआ है। सभ्यता की तरह ज्ञान भी चमड़े की ऊपरी सतह तक ही सीमित है, छिछला है, और एक खरोंच लगते ही वह पुरानी नृशंसता जग उठती है। ऐसी घटनाएँ हुआ करती हैं। यही भय है। जनता को उसकी बोलचाल की भाषा में शिक्षा दो, उसको भाव दो, वह बहुत कुछ जान जायगी, परन्तु साथ ही

कुछ और भी जरूरी है उसको संस्कृति का बोध दो। जब तक तुम यह नही कर सकते, तब तक उनकी उन्नत दशा कदापि स्थायी नही हो सकती। एक ऐसे नवीन वर्ण की सृष्टि होगी, जो संस्कृत भाषा सीखकर शीघ्र ही दूसरे वर्णों के ऊपर उठेगी और पहले की तरह उनपर अपना प्रभुत्व फैलायेगी। ऐ पिछडी जाति के लोगो, मैं तुम्हें बतलाता हूँ कि तुम्हारे बचाव का, तुम्हारी अपनी दशा को उन्नत करने का एकमात्र उपाय संस्कृत पढना है, और यह लडना-झगडना और उच्च वर्णों के विरोध मे लेख लिखना व्यर्थ है। इससे कोई उपकार न होगा, इससे लडाई-झगडे और बढेंगे, और यह जाति, दुर्भाग्यवश पहले ही से जिसके टुकडे टुकडे हो चुके हैं, और भी टुकडो मे बँटती रहेगी। जातियो मे समता लाने के लिए एक-मात्र उपाय उस संस्कार और शिक्षा का अर्जन करना है, जो उच्च वर्णों का बल और गौरव है। यदि यह तुम कर सको तो जो कुछ तुम चाहते हो, वह तुम्हें मिल जायगा।

इसके साथ मैं एक और प्रश्न पर विचार करना चाहता हूँ, जो खासकर मद्रास से सम्बन्ध रखता है। एक मत है कि दक्षिण भारत मे द्राविड नाम की एक जाति के मनुष्य थे, जो उत्तर भारत की आर्य नामक जाति से बिल्कुल भिन्न थे और दक्षिण भारत के ब्राह्मण ही उत्तर भारत से आये हुए आर्य हैं, अन्य जातियाँ दक्षिणी ब्राह्मणो से बिल्कुल ही पृथक् जाति की हैं। भाषा-वैज्ञानिक महाशय, मुझे क्षमा कीजिएगा, यह मत बिलकुल निराधार है। इसका एकमात्र प्रमाण यह है कि उत्तर और दक्षिण की भाषा मे भेद है। दूसरा भेद मेरी नज़र मे नही आता। हम यहाँ उत्तर भारत के इतने लोग हैं, मैं अपने यूरोपीय मित्रो से कहता हूँ कि वे इस सभा के उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत के लोगो को चुनकर अलग कर दें। भेद कहाँ है? ज़रा सा भेद भाषा मे है। पूर्वोक्त मतवादी कहते है कि दक्षिणी ब्राह्मण जब उत्तर से आये थे, तब वे संस्कृत बोलते थे, अभी यहाँ आकर द्राविड भाषा बोलते बोलते संस्कृत भूल गये। यदि ब्राह्मणो के सम्बन्ध मे ऐसी बात है तो फिर दूसरी जातियो के सम्बन्ध मे भी यही बात क्यो न होगी? क्यो न कहा जाय कि दूसरी जातियाँ भी एक एक करके उत्तर भारत से आयी हैं, उन्होंने द्राविड भाषा को अपनाया और संस्कृत भूल गयी? यह युक्ति तो दोनो ओर लग सकती है। ऐसी वाहियात बातो पर विश्वास न करो। यहाँ ऐसी कोई द्राविड जाति रही होगी, जो यहाँ से लुप्त हो गयी है, और उनमे से जो कुछ थोडे से रह गये थे, वे जगलो और दूसरे दूसरे स्थानो मे बस गये। यह बिलकुल सम्भव है कि संस्कृत के बदले वह द्राविड भाषा ले ली गयी हो, परन्तु ये सब आर्य ही हैं, जो उत्तर से आये। सारे भारत के मनुष्य आर्यों के सिवा और कोई नही।

मे वडे ही सुन्दर ढग से पेश किया है, जहाँ कि उन्होंने ब्राह्मणत्व की रक्षा के लिए प्रचारक के रूप मे कृष्ण के आने का कारण वतलाया है। यही उनके अवतरण का महान् उद्देश्य था। इस ब्राह्मण का, इस ब्रह्मज्ञ पुरुप का, इस आदर्श और सिद्ध पुरुप का रहना परमावश्यक है, इसका लोप कदापि नही होना चाहिए। और इस समय इस जाति-भेद की प्रथा मे जितने दोष हैं, उनके रहते हुए भी, हम जानते है कि हमें ब्राह्मणो को यह श्रेय देने के लिए तैयार रहना होगा कि दूसरी जातियो की अपेक्षा उन्हीमे से अधिसख्यक मनुष्य यथार्थ ब्राह्मणत्व को लेकर आये हैं। यह सच है। दूसरी जातियो को उन्हे यह श्रेय देना ही होगा, यह उनका प्राप्य है। हमे वहुत स्पष्टवादी होकर साहस के साथ उनके दोषो की आलोचना करनी चाहिए। पर साथ ही उनका प्राप्य श्रेय भी उन्हे देना चाहिए। अग्रेज़ी की पुरानी कहावत याद रखो—'हर एक मनुष्य को उसका प्राप्य दो।' अत मित्रो, जातियो का आपस मे झगडना वेकार है। इससे क्या लाभ होगा ? इससे हम और भी वँट जायँगे, और भी कमज़ोर हो जायँगे, और भी गिर जायँगे। एकाधिकार तथा उसके दावे के दिन लद गये, भारतभूमि से वे चिर काल के लिए अन्तर्हित हो गये और यह भारत मे ब्रिटिश शासन का एक सुफल है। यहाँ तक कि मुसलमानो के शासन से भी हमारा उपकार हुआ था, उन्होने भी इस एकाधिकार को तोडा था। सव कुछ होने पर भी वह शासन सर्वांशत बुरा नही था, कोई भी वस्तु सर्वांशत न वुरी होती है और न अच्छी ही। मुसलमानो की भारत-विजय पददलितो और गरीवो का मानो उद्धार करने के लिए हुई थी। यही कारण है कि हमारी एक पचमाश जनता मुसलमान हो गयी। यह सारा काम तलवार से ही नही हुआ। यह सोचना कि यह सभी तलवार और आग का काम था, बेहद पागलपन होगा। अगर तुम सचेत न होगे तो मद्रास के तुम्हारे एक पचमाश—नही, अर्धांश लोग ईसाई हो जायँगे। जैसा मैंने मलावार प्रदेश मे देखा, क्या वैसी वाहियात बातें ससार मे पहले भी कभी थी ? जिस रास्ते से उच्च वर्ण के लोग चलते हैं, गरीब पैरिया उससे नही चलने पाता। परन्तु ज्यो ही उसने कोई बेढव अग्रेजी नाम या कोई मुसलमानी नाम रख लिया कि बस, सारी वातें सुधर जाती हैं। यह सब देखकर इसके सिवा तुम और क्या निष्कर्प निकाल सकते हो कि सब मलाबारी पागल हैं, और उनके घर पागलखाने हैं ? और जव तक वे होश सँभाल कर अपनी प्रथाओ का सशोधन न कर लें, तब तक भारत की सभी जातियो को उनकी खिल्ली उडानी चाहिए। ऐसी वुरी और नृशस प्रथाओ को आज भी जारी रखना क्या उनके लिए लज्जा का विपय नही ? उनके अपने वच्चे तो भूखो मरते हैं, परन्तु ज्यो ही उन्होने किसी दूसरे धर्म का आश्रय लिया कि फिर उन्हें

जाति-भेद कितना भी कठोर क्यो न हो, वह इसी रूप मे ही सृष्ट हुआ है। कल्पना करो कि यहाँ कुछ जातियाँ हैं, जिनमे हर एक की जन-सख्या दस हजार है। अगर ये सब इकट्ठी होकर अपने को ब्राह्मण कहने लगे तो इन्हे कौन रोक सकता है? ऐसा मैंने अपने ही जीवन मे देखा है। कुछ जातियाँ ज़ोरदार हो गयी, और ज्योही उन सब की एक राय हुई, फिर उनसे 'नहीं' भला कौन कह सकता है? —क्योकि और कुछ भी हो, हर एक जाति दूसरी जाति से सम्पूर्ण पृथक् है। कोई जाति किसी दूसरी जाति के कामो मे, यहाँ तक कि एक ही जाति की भिन्न भिन्न शाखाएँ भी एक दूसरे के कार्यों मे हस्तक्षेप नही करती। और शकराचार्य आदि शक्तिशाली युग-प्रवर्तक ही बडे बडे वर्ण-निर्माता थे। उन लोगो ने जिन अद्भुत बातो का आविष्कार किया था, वे सब मै तुमसे नहीं कह सकता, और सम्भव है कि तुममे से कोई कोई उससे अपना रोष प्रकट करे। किन्तु अपने भ्रमण और अनुभव से मैंने उनके सिद्धात ढूंढ निकाले, और इससे मुझे अद्भुत परिणाम प्राप्त हुए। कभी कभी उन्होंने दल के दल बलूचियो को लेकर क्षण भर मे उन्हें क्षत्रिय बना डाला, दल के दल धीवरो को लेकर क्षण भर मे ब्राह्मण बना दिया। वे सब ऋषि-मुनि थे और हमे उनकी स्मृति के सामने सिर झुकाना होगा। तुम्हे भी ऋषि-मुनि बनना होगा, कृतकार्य होने का यही गूढ रहस्य है। न्यूनाधिक सबको ही ऋषि होना होगा। ऋषि के क्या अर्थ हैं? ऋषि का अर्थ है पवित्र आत्मा। पहले पवित्र बनो, तभी तुम शक्ति पाओगे। 'मैं ऋषि हूँ', कहने मात्र ही से न होगा, किन्तु जब तुम यथार्थ ऋषित्व लाभ करोगे तो देखोगे, दूसरे आप ही आप तुम्हारी आज्ञा मानते हैं। तुम्हारे भीतर से कुछ रहस्यमय वस्तु नि सृत होती है, जो दूसरो को तुम्हारा अनुसरण करने को बाध्य करती है, जिससे वे तुम्हारी आज्ञा का पालन करते हैं। यहाँ तक कि अपनी इच्छा के विरुद्ध अज्ञात भाव से वे तुम्हारी योजनाओ की कार्यसिद्धि मे सहायक होते हैं। यही ऋषित्व है।

विस्तृत कार्यप्रणाली के बारे मे यही कहना है कि पीढ़ियो तक उसका अनुसरण करना होगा। मैंने तुमसे जो कुछ कहा है, वह एक सुझाव मात्र है। जिसका उद्देश्य यह दिखाना है कि ये लडाई-झगडे बन्द हो जाने चाहिए। मुझे विशेष दु ख इस बात पर होता है कि वर्तमान समय मे भी जातियो के बीच मे इतना मतभेद चलता रहता है। इसका अन्त हो जाना चाहिए। यह दोनो ही पक्षो के लिए व्यर्थ है, खासकर ब्राह्मणो के लिए, क्योकि इस तरह के एकाधिकार और विशेष दावो के दिन लद गये। हर एक अभिजात वर्ग का कर्तव्य है कि अपने कुलीन तत्र की कब्र वह आप ही खोदे, और जितना शीघ्र इसे कर सके, उतना ही अच्छा है। जितनी ही वह देर करेगा, उतनी ही वह सडेगी और उसकी मृत्यु भी

अच्छा भोजन मिल जाता है। अब जातियों में आपसी झगड़े बिलकुल नहीं होने चाहिए।

उच्च वर्णों को नीचे उतारकर इस समस्या की मीमांसा न होगी, किन्तु नीची जातियों को ऊँची जातियों के बराबर उठाना होगा। और यद्यपि कुछ लोगों को, जिनका अपने शास्त्रों का ज्ञान और अपने पूर्वजों के महान् उद्देश्यों के समझने की शक्ति शून्य से अधिक नहीं, तुम कुछ का कुछ कहते हुए सुनते हो, फिर भी मैं जो कुछ कहता हूँ हमारे शास्त्रों में वर्णित कार्य-प्रणाली वही है। वे नहीं समझते, समझते वे हैं जिनके मस्तिष्क है तथा पूर्वजों के कार्यों का समस्त प्रयोजन समझने की क्षमता रखते हैं। वे तटस्थ होकर युग-युगान्तरों से गुजरते हुए जातीय जीवन की विचित्र गति को लक्ष्य करते हैं। वे नये और पुराने सभी शास्त्रों में क्रमशः इसकी परम्परा देख पाते हैं। अच्छा तो यह योजना—यह प्रणाली क्या है? उस आदर्श का एक छोर ब्राह्मण है और दूसरा छोर चांडाल और सम्पूर्ण कार्य चांडाल को उठाकर ब्राह्मण बनाना है। शास्त्रों में धीरे धीरे तुम देख पाते हो कि नीची जातियों को अधिकाधिक अधिकार दिये जाते हैं। कुछ ग्रन्थ भी हैं जिनमें तुम्हें ऐसे कठोर वाक्य पढ़ने को मिलते हैं—'अगर शूद्र वेद सुन ले तो उसके कानों में सीसा गलाकर भर दो और अगर वह वेद की एक भी पंक्ति याद कर ले तो उसकी जीभ काट डालो। यदि वह किसी ब्राह्मण को 'ऐ ब्राह्मण' कह दे तो भी उसकी जीभ काट लो।' यह पुराने जमाने की नृशंस बर्बरता है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं, परन्तु स्मृतिकारों को दोष न दो क्योंकि उन्होंने समाज के किसी अंश में प्रचलित प्रथाओं को ही सिर्फ लिपिबद्ध किया है। ऐसे आसुरी प्रकृति के लोग प्राचीन काल में कभी कभी पैदा हो गये थे। ऐसे असुर लोग कमोबेश सभी युगों में होते आये हैं। इसलिए बाद के समय में तुम देखोगे कि इस स्वर में थोड़ी नरमी आ गयी है, जैसे 'शूद्रों को तंग न करो, परन्तु उन्हें उच्च शिक्षा भी न दो।' फिर धीरे धीरे हम दूसरी स्मृतियों में—खासकर उन स्मृतियों में जिनका आजकल पूरा प्रभाव है, यह लिखा पाते हैं कि अगर शूद्र ब्राह्मणों के आचार-व्यवहारों का अनुकरण करें तो वे अच्छा करते हैं, उन्हें उत्साहित करना चाहिए। इस प्रकार यह सब होता जा रहा है। तुम्हारे सामने इन सब कार्य-पद्धतियों का विस्तृत वर्णन करने का मुझे समय नहीं है और न ही इसका कि इनका विस्तृत विवरण कैसे प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु प्रत्यक्ष घटनाओं का विचार करने से हम देखते हैं, सभी जातियाँ धीरे धीरे उठेंगी। आज जो हजारों जातियाँ हैं, उनमें से कुछ तो ब्राह्मणों में शामिल भी हो रही हैं। कोई जाति अगर अपने को ब्राह्मण कहने लगे तो इस पर कोई क्या कह सकता है?'

साधारण जनता के लिए वह खज़ाना खोल नही दिया। हम इसीलिए अवनत हो गये। और हमारा पहला कार्य यही है कि हम अपने पूर्वजो के बटोरे हुए धर्मरूपी अमोल रत्न जिन तहखानो मे छिपे हुए है, उन्हे तोडकर बाहर निकाले और उन्हे सबको दे। यह कार्य सबसे पहले ब्राह्मणो को ही करना होगा। बगाल मे एक पुराना अधविश्वास है कि जिस गोखुरे साँप ने काटा हो, यदि वह खुद अपना विष खीच ले तो रोगी ज़रूर बच जायगा। अतएव ब्राह्मणो को ही अपना विष खीच लेना होगा। ब्राह्मणेतर जातियो से मैं कहता हूँ, ठहरो, जल्दी मत करो, ब्राह्मणो से लडने का मौका मिलते ही उसका उपयोग न करो, क्योकि मैं पहले दिखा चुका हूँ कि तुम अपने ही दोष से कष्ट पा रहे हो। तुम्हे आध्यात्मिकता का उपार्जन करने और सस्कृत सीखने से किसने मना किया था? इतने दिनो तक तुम क्या करते रहे? क्यो तुम इतने दिनो तक उदासीन रहे? और दूसरो ने तुमसे बढकर मस्तिष्क, वीर्य, साहस और क्रिया-शक्ति का परिचय दिया, इस पर अब चिढ क्यो रहे हो? समाचार पत्रो मे इन सब व्यर्थ वाद-विवादो और झगडो मे शक्ति क्षय न करके, अपने ही घरो मे इस तरह लडते-झगडते न रहकर—जो कि पाप हैं—ब्राह्मणो के समान ही सस्कार प्राप्त करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दो। बस तभी तुम्हारा उद्देश्य सिद्ध होगा। तुम क्यो सस्कृत के पडित नही होते? भारत की सभी जातियो मे सस्कृत शिक्षा का प्रचार करने के लिए तुम क्यो नही करोडो रुपये खर्च करते? मेरा प्रश्न तो यही है। जिस समय तुम यह कार्य करोगे, उसी क्षण तुम ब्राह्मणो के बराबर हो जाओगे। भारत मे शक्तिलाभ का रहस्य यही है।

सस्कृत मे पाडित्य होने से ही भारत मे सम्मान प्राप्त होता है। सस्कृत भाषा का ज्ञान होने से ही कोई भी तुम्हारे विरुद्ध कुछ कहने का साहस न करेगा। यही एकमात्र रहस्य है, अत इसे जान लो और सस्कृत पढो। अद्वैतवादी की प्राचीन उपमा दी जाय तो कहना होगा कि समस्त जगत् अपनी माया से आप ही सम्मोहित हो रहा है। इच्छाशक्ति ही जगत् मे अमोघ शक्ति है। प्रबल इच्छाशक्ति का अधिकारी मनुष्य एक ऐसी ज्योतिर्मयी प्रभा अपने चारो ओर फैला देता है कि दूसरे लोग स्वत उस प्रभा से प्रभावित होकर उसके भाव से भावित हो जाते है। ऐसे महापुरुष अवश्य ही प्रकट हुआ करते हैं। और इसके पीछे भावना क्या है? जब वे आविर्भूत होते हैं, तब उनके विचार हम लोगो के मस्तिष्क मे प्रवेश करते हैं और हममे से कितने ही आदमी उनके विचारो तथा भावो को अपना लेते हैं और शक्तिशाली बन जाते हैं। किसी सगठन या सघ मे इतनी शक्ति क्यो होती है? सगठन को केवल भौतिक या जड शक्ति मत मानो। इसका क्या कारण है, अथवा

इसके सिवा हमारे भीतर एक और वडा भारी दोप है। महिलाएँ मुझे क्षमा करेंगी, पर असल वात यह है कि सदियो से गुलामी करते करते हम औरतो के राष्ट्र के समान वन गये हैं। चाहे इस देश मे हो या किसी अन्य देश मे, कही भी तुम तीन स्त्रियो को शायद ही कभी एक साथ पाँच मिनट से अधिक देर तक झगडा किये विना देख पाओगे। यूरोपीय देशो मे स्त्रियाँ वहुत वडी वडी सभा-समितियाँ स्थापित करती हैं और अपनी शक्ति की वडी वडी घोषणाएँ करती है। इसके वाद वे आपस मे झगडा करने लग जाती है। इसी वीच कोई पुरुष आता है और उन पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है। सारे ससार मे उन पर शासन करने के लिए अव भी पुरुषो की आवश्यकता होती है। हमारी भी ठीक वही हालत है। हम भी स्त्रियो के समान हो गये है। यदि कोई स्त्री स्त्रियो का नेतृत्व करने चलती है, तो सव मिलकर फौरन उसकी खरी आलोचना करना शुरू कर देती हैं—उसकी खिल्लियाँ उडाने लग जाती है, और अन्त मे उसे नेतृत्व से हटाकर, उसे बैठाकर ही दम लेती है। यदि कोई पुरुष आता है और उनके साथ ज़रा सख्त वर्ताव करता है और वीच वीच मे डाँट फटकार सुना देता है, तो वस ठीक हो जाती हैं, इस प्रकार के वशीकरण की वे अभ्यस्त हो गयी हैं। सारा ससार ही इस प्रकार के वशीकरण एव सम्मोहन करनेवालो से भरा है। ठीक इसी तरह यदि हम लोगो मे से किसीने आगे वढना चाहा, हमे रास्ता दिखाने की कोशिश की, तो हम फौरन उसकी टाँग पकडकर पीछे खीचेंगे और उसे विठा देंगे। परन्तु यदि कोई विदेशी हमारे वीच मे कूद पडे और हमे पैरो से ठोकर मारे, तो हम वडी खुशी से उसके पैर सहलाने लग जायँगे। हम लोग इसके अभ्यस्त हो गये हैं। क्या ऐसी बात नही है? और कही गुलाम स्वामी वन सकता है, इसलिए गुलाम बनना छोडो।

आगामी पचास वर्ष के लिए यह जननी जन्मभूमि भारतमाता ही मानो आराध्य देवी बन जाय। तव तक के लिए हमारे मस्तिष्क से व्यर्थ के देवी-देवताओ के हट जाने मे कुछ भी हानि नही है। अपना सारा ध्यान इसी एक ईश्वर पर लगाओ, हमारा देश ही हमारा जाग्रत देवता है। सर्वत्र उसके हाथ हैं, सर्वत्र उसके पैर है और सर्वत्र उसके कान हैं। समझ लो कि दूसरे देवी-देवता सो रहे हैं। जिन व्यर्थ के देवी-देवताओ को हम देख नही पाते, उनके पीछे तो हम बेकार दौडें और जिस विराट् देवता को हम अपने चारो ओर देख रहे हैं, उसकी पूजा ही न करे? जव हम इस प्रत्यक्ष देवता की पूजा कर लेंगे, तभी हम दूसरे देव-देवियो की पूजा करने योग्य होंगे, अन्यथा नही। आध मील चलने की हमे शक्ति ही नही और हम हनुमान जी की तरह एक ही छलाँग मे समुद्र पार करने की इच्छा करें, ऐसा नही हो सकता। जिसे देखो वही योगी वनने की धुन मे है, जिसे देखो वही समाधि

वह कौन सी वस्तु है, जिसके द्वारा कुल चार करोड़ अंग्रेज पूरे तीस करोड़ भारत-वासियों पर शासन करते हैं? इस प्रश्न का मनोवैज्ञानिक समाधान क्या है? यही कि वे चार करोड़ मनुष्य अपनी अपनी इच्छाशक्ति को समवेत कर देते हैं अर्थात् शक्ति का अनन्त भांडार बना लेते हैं और तुम तीस करोड़ मनुष्य अपनी अपनी इच्छाओं को एक दूसरे से पृथक किये रहते हो। बस यही इसका रहस्य है कि वे कम होकर भी तुम्हारे ऊपर शासन करते हैं। अतः यदि भारत को महान् बनाना है, उसका भविष्य उज्ज्वल बनाना है, तो इसके लिए आवश्यकता है संगठन की शक्ति-संग्रह की और बिखरी हुई इच्छाशक्ति को एकत्र कर उसमें समन्वय लाने की।

अथर्ववेद संहिता की एक विलक्षण ऋचा याद आ गयी जिसमें कहा गया है 'तुम सब लोग एक मन हो जाओ सब लोग एक ही विचार के बन जाओ क्योंकि प्राचीन काल में एक मन होने के कारण ही देवताओं ने बलि पायी है।'[1] देवता मनुष्य द्वारा इसीलिए पूजे गये कि वे एकचित्त थे एक मन हो जाना ही समाज गठन का रहस्य है। और यदि तुम 'आर्य' और 'द्राविड़' 'ब्राह्मण' और 'अब्राह्मण' जैसे तुच्छ विषयों को लेकर 'तू तू मैं मैं' करोगे—झगड़े और पारस्परिक विरोध भाव को बढ़ाओगे—तो समझ लो कि तुम उस शक्ति-संग्रह से दूर हटते जाओगे जिसके द्वारा भारत का भविष्य बनने जा रहा है। इस बात को याद रखो कि भारत का भविष्य सम्पूर्णतः उसी पर निर्भर करता है। बस इच्छा-शक्ति का संचय और उनका समन्वय कर उन्हें एकमुखी करना ही वह सारा रहस्य है। प्रत्येक चीनी अपनी शक्तियों को भिन्न भिन्न मार्गों से परिचालित करता है तथा मुट्ठी भर जापानी अपनी इच्छा-शक्ति एक ही मार्ग से परिचालित करते हैं, और उसका फल क्या हुआ है यह तुम लोगों से छिपा नहीं है। इसी तरह की बात सारे संसार में देखने में आती है। यदि तुम संसार के इतिहास पर दृष्टि डालो तो तुम देखोगे कि सर्वत्र छोटे छोटे सुगठित राष्ट्र बड़े बड़े असंगठित राष्ट्रों पर शासन कर रहे हैं। ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि छोटे संगठित राष्ट्र अपने भावों को आसानी के साथ केन्द्रीभूत कर सकते हैं। और इस प्रकार वे अपनी शक्ति को विकसित करने में समर्थ होते हैं। दूसरी ओर जितना बड़ा राष्ट्र होगा उतना ही संगठित करना कठिन होगा। वे मानो असंगठित लोगों की भीड़ मात्र हैं वे कभी परस्पर सम्बद्ध नहीं हो सकते। इसलिए ये सब मतभेद के झगड़े एकदम बन्द हो जाने चाहिए।

---

१ संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ ६।६४।१॥

इसके सिवा हमारे भीतर एक और वडा भारी दोष है। महिलाएँ मुझे क्षमा करेंगी, पर असल वात यह है कि सदियो से गुलामी करते करते हम औरतो के राष्ट्र के समान वन गये हैं। चाहे इस देश मे हो या किसी अन्य देश मे, कही भी तुम तीन स्त्रियो को शायद ही कभी एक साथ पाँच मिनट से अविक देर तक झगडा किये विना देख पाओगे। यूरोपीय देशो मे स्त्रियाँ वहुत वडी वडी सभा-समितियाँ स्थापित करती हैं और अपनी शक्ति की वडी वडी घोषणाएँ करती हैं। इसके वाद वे आपस मे झगडा करने लग जाती हैं। इसी बीच कोई पुरुष आता है और उन पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है। सारे ससार मे उन पर शासन करने के लिए अव भी पुरुषो की आवश्यकता होती है। हमारी भी ठीक वही हालत है। हम भी स्त्रियो के समान हो गये है। यदि कोई स्त्री स्त्रियो का नेतृत्व करने चलती है, तो सव मिलकर फौरन उसकी खरी आलोचना करना शुरू कर देती हैं—उसकी खिल्लियाँ उडाने लग जाती हैं, और अन्त मे उसे नेतृत्व से हटाकर, उसे बैठाकर ही दम लेती हैं। यदि कोई पुरुप आता है और उनके साथ ज़रा सख्त वर्ताव करता है और बीच बीच मे डाँट फटकार सुना देता है, तो वस ठीक हो जाती है, इस प्रकार के वशीकरण की वे अभ्यस्त हो गयी हैं। सारा ससार ही इस प्रकार के वशीकरण एव सम्मोहन करनेवालो से भरा है। ठीक इसी तरह यदि हम लोगो मे से किसीने आगे बढना चाहा, हमे रास्ता दिखाने की कोशिश की, तो हम फौरन उसकी टाँग पकडकर पीछे खीचेंगे और उसे बिठा देंगे। परन्तु यदि कोई विदेशी हमारे बीच मे कूद पडे और हमे पैरो से ठोकर मारे, तो हम वडी खुशी से उसके पैर सहलाने लग जायँगे। हम लोग इसके अभ्यस्त हो गये हैं। क्या ऐसी बात नही है? और कही गुलाम स्वामी वन सकता है, इसलिए गुलाम बनना छोडो।

आगामी पचास वर्ष के लिए यह जननी जन्मभूमि भारतमाता ही मानो आराध्य देवी बन जाय। तब तक के लिए हमारे मस्तिष्क से व्यर्थ के देवी-देवताओ के हट जाने मे कुछ भी हानि नही है। अपना सारा ध्यान इसी एक ईश्वर पर लगाओ, हमारा देश ही हमारा जाग्रत देवता है। सर्वत्र उसके हाथ हैं, सर्वत्र उसके पैर हैं और सर्वत्र उसके कान हैं। समझ लो कि दूसरे देवी-देवता सो रहे हैं। जिन व्यर्थ के देवी-देवताओ को हम देख नही पाते, उनके पीछे तो हम बेकार दौडें और जिस विराट् देवता को हम अपने चारो ओर देख रहे हैं, उसकी पूजा ही न करें? जब हम इस प्रत्यक्ष देवता की पूजा कर लेंगे, तभी हम दूसरे देव-देवियो की पूजा करने योग्य होंगे, अन्यथा नही। आध मील चलने की हमे शक्ति ही नही और हम हनुमान जी की तरह एक ही छलाँग मे समुद्र पार करने की इच्छा करें, ऐसा नही हो सकता। जिसे देखो वही योगी बनने की धुन मे है, जिसे देखो वही समाधि

भगाने जा रहा है! ऐसा नहीं होने का। दिन भर तो दुनिया के सैकड़ों प्रपंचों में लिप्त रहोगे कर्मकांड में व्यस्त रहोगे और शाम को आँख मूँदकर, नाक दबाकर साँस चढ़ाओ-उतारोगे। क्या योग की सिद्धि और समाधि को इतना सहज समझ रखा है कि ऋषि लोग तुम्हारे तीन बार नाक फड़फड़ाने और साँस चढ़ाने से हवा में मिलकर तुम्हारे पेट में घुस जायेंगे? क्या इसे तुमने कोई हँसी मजाक मान लिया है? ये सब विचार वाहियात हैं। जिसे ग्रहण करने या अपनाने की आवश्यकता है, वह है चित्तशुद्धि। और उसकी प्राप्ति कैसे होती है? इसका उत्तर यह है कि सबसे पहले उस विराट की पूजा करो जिसे तुम अपने चारों ओर देख रहे हो—'उसकी' पूजा करो। 'वर्शिप' ही इस संस्कृत शब्द का ठीक समानार्थक है, अंग्रेजी के किसी अन्य शब्द से काम नहीं चलेगा। ये मनुष्य और पशु, जिन्हें हम आस-पास और आगे-पीछे देख रहे हैं ये ही हमारे ईश्वर हैं। इनमें सबसे पहले पूज्य हैं हमारे अपने देशवासी। परस्पर ईर्ष्या-द्वेष करने और झगड़ने के बजाय हमें उनकी पूजा करनी चाहिए। यह अत्यन्त भयावह कर्म है, जिसके लिए हम क्लेश झेल रहे हैं। फिर भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं।

अस्तु यह विषय इतना विस्तृत है कि मेरी समझ में ही नहीं आता कि मैं कहाँ पर अपना वक्तव्य समाप्त करूँ। इसलिए मद्रास में मैं किस प्रकार काम करना चाहता हूँ इस विषय में संक्षेप में अपना मत व्यक्त कर व्याख्यान समाप्त करता हूँ। सबसे पहले हमें अपनी जाति की आध्यात्मिक और लौकिक शिक्षा का भार ग्रहण करना होगा। क्या तुम इस बात की सार्थकता को समझ रहे हो? तुम्हें इस विषय पर सोचना विचारना होगा इस पर तर्क वितर्क और आपस में परामर्श करना होगा दिमाग लगाना होगा और अन्त में उसे कार्य रूप में परिणत करना होगा। जब तक तुम यह काम पूरा नहीं करते हो तब तक तुम्हारी जाति का उद्धार होना असम्भव है। जो शिक्षा तुम अभी पा रहे हो, उसमें कुछ अच्छा अंश भी है और बुराइयाँ बहुत हैं। इसलिए ये बुराइयाँ उसके भले अंश को दबा देती हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि यह शिक्षा मनुष्य बनानेवाली नहीं कही जा सकती। यह शिक्षा केवल तथा सम्पूर्णतः निषेधात्मक है। निषेधात्मक शिक्षा या निषेध की बुनियाद पर आधारित शिक्षा मृत्यु से भी भयानक है। कोमल मति बालक पाठशाला में भर्ती होता है और सबसे पहली बात जो उसे सिखायी जाती है, वह यह कि तुम्हारा बाप मूर्ख है। दूसरी बात जो वह सीखता है वह यह है कि

---

१ अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा॥ श्रीमद्भागवत ३।२९।२७॥

तुम्हारा दादा पागल है। तीसरी बात है कि तुम्हारे जितने शिक्षक और आचार्य हैं, वे पाखडी है। और चौथी बात है कि तुम्हारे जितने पवित्र धर्म ग्रन्थ है, उनमे झूठी और कपोलकल्पित बाते भरी हुई है। इस प्रकार की निषेधात्मक बाते सीखते सीखते जब बालक सोलह वर्ष की अवस्था को पहुँचता है, तब वह निषेधो की खान बन जाता है—उसमे न जान रहती है और न रीढ। अत इसका जैसा परिणाम होना चाहिए था, वैसा ही हुआ है। पिछले पचास वर्षों से दी जानेवाली इस शिक्षा ने तीनो प्रान्तो मे एक भी स्वतंत्र विचारो का मनुष्य पैदा नही किया, और जो स्वतत्र विचार के लोग हैं, उन्होने यहाँ शिक्षा नही पायी है, विदेशो मे पायी है, अथवा अपने भ्रममूलक कुसस्कारो का निवारण करने के लिए पुन अपने पुराने शिक्षालयो मे जाकर अध्ययन किया है। शिक्षा का मतलब यह नही है कि तुम्हारे दिमाग मे ऐसी बहुत सी बातें इस तरह ठूँस दी जायँ कि अन्तर्द्वन्द्व होने लगे और तुम्हारा दिमाग उन्हे जीवन भर पचा न सके। जिस शिक्षा से हम अपना जीवन निर्माण कर सके, मनुष्य बन सके, चरित्र गठन कर सकें और विचारो का सामजस्य कर सके, वही वास्तव मे शिक्षा कहलाने योग्य है। यदि तुम पाँच ही भावो को पचा कर तदनुसार जीवन और चरित्र गठित कर सके हो, तो तुम्हारी शिक्षा उस आदमी की अपेक्षा बहुत अधिक है, जिसने एक पूरे पुस्तकालय को कठस्थ कर रखा है। कहा भी है—**यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।** अर्थात्—'वह गधा, जिसके ऊपर चन्दन की लकडियो का बोझ लाद दिया गया हो, बोझ की ही बात जान सकता है, चन्दन के मूल्य को वह नही समझ सकता।' यदि बहुत तरह की खबरों का सचय करना ही शिक्षा है, तब तो ये पुस्तकालय ससार मे सर्वश्रेष्ठ मुनि और विश्वकोश ही ऋषि हैं। इसलिए हमारा आदर्श यह होना चाहिए कि अपने देश की समग्र आध्यात्मिक और लौकिक शिक्षा के प्रचार का भार अपने हाथो मे ले लें और जहाँ तक सम्भव हो, राष्ट्रीय रीति से राष्ट्रीय सिद्धान्तो के आधार पर शिक्षा का विस्तार करें। हाँ, यह ठीक है कि यह एक बहुत बडी योजना है। मैं नही कह सकता कि यह कभी भी कार्य रूप मे परिणत होगी या नही, पर इसका विचार छोडकर हमे यह काम फौरन शुरू कर देना चाहिए। लेकिन कैसे? किस तरह से काम मे हाथ लगाया जाय? उदाहरण के लिए मद्रास का ही काम ले लो। सबसे पहले हमे एक मन्दिर की आवश्यकता है, क्योकि सभी कार्यों मे प्रथम स्थान हिन्दू लोग धर्म को ही देते हैं। तुम कहोगे कि ऐसा होने से हिन्दुओ के विभिन्न मतावलम्बियो मे परस्पर झगडे होने लगेंगे। पर मैं तुमको किसी मत विशेष के अनुसार वह मन्दिर बनाने को नही कहता। वह इन साम्प्रदायिक भेद भावो के परे होगा। उसका एकमात्र प्रतीक होगा ॐ, जो कि हमारे किसी भी धर्म सम्प्रदाय के

लिए महानतम प्रतीक है। यदि हिन्दुओं में कोई ऐसा सम्प्रदाय हो जो इस ओंकार को न माने तो समझ लो कि वह हिन्दू कहलाने योग्य नहीं है। वहाँ सब लोग अपने अपने सम्प्रदाय के अनुसार ही हिन्दुत्व की व्याख्या कर सकेंगे पर मन्दिर हम सब के लिए एक ही होना चाहिए। अपने सम्प्रदाय के अनुसार जो देवी देवताओं की प्रतिमा-पूजा करना चाहें अन्यत्र जाकर करें, पर इस मन्दिर में वे औरों से झगड़ा न करें। इस मन्दिर में वे ही धार्मिक तत्त्व समझाये जायँगे जो सब सम्प्रदायों में समान हैं। साथ ही हर एक सम्प्रदायवाले को अपने मत की शिक्षा देने का यहाँ पर अधिकार रहेगा पर एक प्रतिबन्ध रहेगा कि वे अन्य सम्प्रदायों से झगड़ा नहीं करने पायेंगे। बोलो तुम क्या कहते हो? संसार तुम्हारी राय जानना चाहता है, उसे यह सुनने का समय नहीं है कि तुम औरों के विषय में क्या विचार प्रकट कर रहे हो। औरों की बात छोड़ तुम अपनी ही ओर ध्यान दो।

इस मन्दिर के सम्बन्ध में एक दूसरी बात यह है कि इसके साथ ही एक और संस्था हो जिससे धार्मिक शिक्षक और प्रचारक तैयार किये जायँ और वे सभी घूम-फिरकर धर्म प्रचार करने को भेजे जायँ। परन्तु वे केवल धर्म का ही प्रचार न करें, वरन् उसके साथ साथ लौकिक शिक्षा का भी प्रचार करें। जैसे हम धर्म का प्रचार द्वार द्वार जाकर करते हैं वैसे ही हमें लौकिक शिक्षा का भी प्रचार करना पड़ेगा। यह काम आसानी से हो सकता है। शिक्षकों तथा धर्म प्रचारकों के द्वारा हमारे कार्य का विस्तार होता जायगा और क्रमशः अन्य स्थानों में ऐसे ही मन्दिर प्रतिष्ठित होंगे और इस प्रकार समस्त भारत में यह कार्य फैल जायगा। यही मेरी धारणा है। तुमको यह बड़ी भारी मालूम होगी पर इसकी इस समय बहुत आवश्यकता है। तुम पूछ सकते हो, इस काम के लिए धन कहाँ से आयेगा? धन की जरूरत नहीं। धन कुछ नहीं है। पिछले बारह वर्षों से मैं ऐसा जीवन व्यतीत कर रहा हूँ कि मैं यह नहीं जानता कि आज यहाँ खा रहा हूँ तो कल कहाँ खाऊँगा। और न मैंने कभी इसकी परवाह ही की। धन या किसी भी वस्तु की जब मुझे इच्छा होगी तभी वह प्राप्त हो जायगी, क्योंकि वे सब मेरे गुलाम हैं न कि मैं उनका गुलाम हूँ। जो मेरा गुलाम है उसे मेरी इच्छा होते ही मेरे पास आना पड़ेगा। अतः उसकी कोई चिन्ता न करो।

अब प्रश्न यह है कि काम करनेवाले लोग कहाँ हैं? मद्रास के नवयुवको तुम्हारे ऊपर ही मेरी आशा है। क्या तुम अपनी जाति और [illegible] की पुकार सुनोगे? यदि तुम मुझ पर विश्वास करो तो मैं कहता हूँ कि तुममें से प्रत्येक का भविष्य उज्ज्वल है। अपने आप पर अगाध [illegible] विश्वास रखो, वैसा ही विश्वास जैसा मैं बाल्यावस्था से अपने ऊपर रखता था और जिसे मैं अब कार्यरूप में परिणत कर रहा हूँ। तुममें से प्रत्येक

अपने आप पर विश्वास रखो। यह विश्वास रखो कि प्रत्येक की आत्मा मे अनन्त शक्ति विद्यमान है। तभी तुम सारे भारतवर्ष को पुनरुज्जीवित कर सकोगे। फिर तो हम दुनिया के सभी देशो मे खुले आम जायँगे और आगामी दस वर्षों मे हमारे भाव उन सब विभिन्न शक्तियो के एक अशस्वरूप हो जायँगे, जिनके द्वारा ससार का प्रत्येक राष्ट्र सगठित हो रहा है। हमे भारत मे बसनेवाली और भारत के बाहर बसनेवाली सभी जातियो के अन्दर प्रवेश करना होगा। इसके लिए हमे कर्म करना होगा। और इस काम के लिए मुझे युवक चाहिए। वेदो मे कहा है, 'युवक, बलशाली, स्वस्थ, तीव्र मेधावाले और उत्साहयुक्त मनुष्य ही ईश्वर के पास पहुँच सकते हैं।' तुम्हारे भविष्य को निश्चित करने का यही समय है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि अभी इस भरी जवानी मे, इस नये जोश के ज़माने मे ही काम करो, जीर्ण शीर्ण हो जाने पर काम नही होगा। काम करो, क्योकि काम करने का यही समय है। सबसे अधिक ताजे, बिना स्पर्श किये हुए और बिना सूँघे फूल ही भगवान् के चरणो पर चढाये जाते हैं और वे उसे ही ग्रहण करते हैं। अपने पैरो आप खडे हो जाओ, देर न करो, क्योकि जीवन क्षणस्थायी है। वकील बनने की अभिलाषा आदि से कही अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करने हैं। तथा इससे भी ऊँची अभिलाषा रखो और अपनी जाति, देश, राष्ट्र और समग्र मानव समाज के कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग करना सीखो। इस जीवन मे क्या है? तुम हिन्दू हो और इसलिए तुम्हारा यह सहज विश्वास है कि तुम अनन्त काल तक रहनेवाले हो। कभी कभी मेरे पास नास्तिकता के विषय पर वार्तालाप करने के लिए कुछ युवक आया करते हैं। पर मेरा विश्वास है कि कोई हिन्दू नास्तिक नही हो सकता। सम्भव है कि किसीने पाश्चात्य ग्रन्थ पढे हो और अपने को भौतिकवादी समझने लग गया हो। पर ऐसा केवल कुछ समय के लिए होता है। यह बात तुम्हारे खून के भीतर नहीं है। जो बात तुम्हारी रग रग मे रमी हुई है, उसे तुम निकाल नही सकते और न उसकी जगह और किसी धारणा पर तुम्हारा विश्वास ही हो सकता है। इसीलिए वैसी चेष्टा करना व्यर्थ होगा। मैंने भी बाल्यावस्था मे ऐसी चेष्टा की थी, पर वैसा नही हो सकता। जीवन की अवधि अल्प है, पर आत्मा अमर और अनन्त है, और मृत्यु अनिवार्य है। इसलिए आओ, हम अपने आगे एक महान् आदर्श खडा करें और उसके लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दें। यही हमारा निश्चय हो और वे भगवान्, जो हमारे शास्त्रो के अनुसार साधुओ के परित्राण के लिए ससार मे बार बार आविर्भूत होते हैं, वे ही महान् कृष्ण हमको आशीर्वाद दें एव हमारे उद्देश्य की सिद्धि मे सहायक हो।

दान

जब स्वामी जी मद्रास में थे उस समय एक बार उनके सभापतित्व में 'चिंगापुरी अन्नदान समाजम्' नामक एक दातव्य संस्था का वार्षिक समारोह मनाया गया। उस अवसर पर उन्होंने एक संक्षिप्त भाषण दिया जिसमें उन्होंने उसी समारोह के एक पूर्व वक्ता महोदय के विचारों पर कुछ प्रकाश डाला। इन वक्ता महोदय ने कहा था कि यह अनुचित है कि अन्य सब जातियों की अपेक्षा केवल ब्राह्मण को ही विशेष दान दिया जाता है। इसी प्रसंग में स्वामी जी ने कहा कि इस बात के दो पहलू हैं—एक अच्छा दूसरा बुरा। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो प्रतीत होगा कि राष्ट्र की समस्त शिक्षा एवं सभ्यता अधिकतर ब्राह्मणों में ही पायी जाती है साथ ही ब्राह्मण ही समाज के विचारशील तथा मननशील व्यक्ति रहे हैं। यदि थोड़ी देर के लिए मान लो कि तुम उनके वे साधन छीन लो जिनके सहारे वे चिन्तन मनन करते हैं तो परिणाम यह होगा कि सारे राष्ट्र को धक्का लगेगा। इसके बाद स्वामी जी ने यह बतलाया कि यदि हम भारत के दान की शैली की जो बिना विचार अथवा भेदभाव के होती है तुलना दूसरे राष्ट्रों की उस शैली से करें जिसका एक प्रकार से कानूनी रूप होता है, तो हमें यह प्रतीत होगा कि हमारे यहाँ एक भिखमंगा भी बस उतने से सन्तुष्ट हो जाता है जो उसे तुरन्त दे दिया जाय और उतने में ही वह अपनी सब की जिन्दगी बसर करता है। परन्तु इसके विपरीत पाश्चात्य देशों में पहली बात तो यह है कि कानून भिखमंगों को सेवाश्रम में जाने के लिए बाध्य करता है। परन्तु मनुष्य भोजन की अपेक्षा स्वतन्त्रता अधिक पसन्द करता है, इसलिए वह सेवाश्रम में न जाकर समाज का दुश्मन डाकू बन जाता है। और फिर इसी कारण हमें इस बात की जरूरत पड़ती है कि हम अदालत पुलिस जेल तथा अन्य साधनों का निर्माण करें। यह निश्चित है कि समाज के शरीर में जब तक 'सभ्यता' नामक बीमारी बनी रहेगी तब तक उसके साथ साथ गरीबी रहेगी और इसीलिए गरीबों को सहायता देने की आवश्यकता भी रहेगी। यही कारण है कि भारत वासियों की बिना भेदभाव की दान शैली और पाश्चात्य देशों की विभेदमूलक दान शैली में उनको चुनना पड़ेगा। भारतीय दान शैली में जहाँ तक संन्यासियों की बात है उनका तो यह हाल है कि भले ही उनमें से कोई सच्चे संन्यासी न हों परन्तु फिर भी उन्हें भिक्षाटन करने के लिए अपने शास्त्रों के कम से कम कुछ अंशों को

आपका कार्य बढा। अनेक राज्यो के भिन्न भिन्न शहरो से आपके पास निमत्रण पर निमत्रण आते रहे और उन्हे भी आपको स्वीकार करना पडता था, कितने ही प्रकार की शकाओ का समाधान करना होता था, प्रश्नो का उत्तर देना पडता था, लोगो की अनेक समस्याओ को हल करना पडता था और हम जानते हैं कि यह सारा कार्य आपने वडे उत्साह एव योग्यता तथा सच्चाई के साथ किया। इस सबका फल भी चिरस्थायी ही निकला। आपकी शिक्षाओ का अमरीकी राष्ट्रमडल के अनेक प्रबुद्ध क्षेत्रो पर बडा गहरा असर पडा और उसीके कारण उन लोगो मे अनेक दिशाओ मे विचार विनिमय, मनन तथा अन्वेषण का भी बीजारोपण हुआ। अनेक लोगो की हिन्दू धर्म के प्रति जो प्राचीन गलत धारणाएँ थी, वे भी बदल गयी और हिन्दू धर्म के प्रति उनकी श्रद्धा एव भक्ति बढ गयी। उसके बाद शीघ्र ही धर्म सम्बन्धी तुलनात्मक अध्ययन तथा आध्यात्मिक तत्त्वो के अन्वेषण के लिए जो अनेक नये नये क्लब तथा समितियाँ स्थापित हुईं, वे इस बात की स्पष्ट द्योतक हैं कि दूर पाश्चात्य देशो मे आपके प्रयत्नो का फल क्या हुआ तथा कैसा हुआ। आप तो लन्दन मे वेदान्त-दर्शन की शिक्षा प्रदान करनेवाले विद्यालय के सस्थापक कहे जा सकते हैं। आपके नियमित रूप से व्याख्यान होते रहे, जनता भी उन्हे ठीक समय पर सुनने आयी तथा उनकी व्यापक रूप से प्रशसा हुई। निश्चय ही उनका प्रभाव व्याख्यान-भवन तक ही सीमित नही रहा, वरन् उसके वाहर भी हुआ। आपकी शिक्षाओ द्वारा जनता मे जिस प्रीति तथा श्रद्धा का उद्रेक हुआ, उसका द्योतक वह भावनापूर्ण मान-पत्र है, जो आपको लन्दन छोडते समय वहाँ के वेदान्त-दर्शन के विद्यार्थियो ने दिया था।

वेदान्ताचार्य के नाते आपको जो सफलता प्राप्त हुई, उसका कारण केवल यही नही रहा है कि आप आर्य धर्म के सत्य सिद्धान्तो से गहन रूप से परिचित हैं, और न यही कि आपके भाषण तथा लेख इतने सुन्दर तथा जोशीले होते हैं, वरन् इसका कारण मुख्यत स्वय आपका व्यक्तित्व ही रहा है। आपके भाषण, निवन्ध तथा पुस्तको मे आध्यात्मिकता तथा साहित्यिक दोनो प्रकार की विशेषताएँ हैं और इसलिए अपना पूरा असर किये विना वे कभी रह ही नही सकते। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इनका प्रभाव यदि और भी अधिक पडा है तो उसका कारण है, आपका सादा, परोपकारी तथा नि स्वार्थ जीवन, आपकी नम्रता, आपकी भक्ति तथा आपकी लगन।

यहाँ पर जब हम आपकी उन सेवाओ का उल्लेख कर रहे हैं जो आपने हिन्दू धर्म के उदात्त सत्य सिद्धान्तो के आचार्य होने के नाते की हैं, तो हम अपना यह परम कर्तव्य समझते हैं कि हम आपके पूज्य गुरुदेव तथा पथप्रदर्शक श्री रामकृष्ण परमहस

कलकत्ता-अभिनन्दन का उत्तर

स्वामी जी जब कलकत्ता पहुँचे तो लोगों ने उनका स्वागत बड़े जोश खरोश के साथ किया। शहर के अनेक सजे सजाये रास्तों से उनका बड़ा भारी जुलूस निकला और रास्ते के चारों ओर जनता की जबरदस्त भीड़ थी जो उनका दर्शन पाने के लिए उत्सुक थी। उनका औपचारिक स्वागत एक सप्ताह बाद शोभा बाजार के स्व० राजा राधाकान्तदेव बहादुर के निवासस्थान पर हुआ जिसका सभापतित्व राजा विनयकृष्ण देव बहादुर ने किया। सभापति द्वारा कुछ संक्षिप्त परिचय के साथ स्वामी जी की सेवा में निम्नलिखित मान-पत्र एक सुन्दर चाँदी की मंजूषा में रखकर भेंट किया गया—

सेवा में

श्रीमत् स्वामी विवेकानन्द जी

प्रिय बन्धु,

हम कलकत्ता तथा बंगाल के अन्य स्थानों के हिन्दू निवासी आज आपके अपनी जन्मभूमि में वापस आने के अवसर पर आपका हृदय से स्वागत करते हैं। महाराज आपका स्वागत करते समय हम अत्यन्त गर्व तथा कृतज्ञता का अनुभव करते हैं क्योंकि आपने महान् कर्म तथा आदर्श द्वारा संसार के भिन्न भिन्न भागों में केवल हमारे धर्म को ही गौरवान्वित नहीं किया है, वरन् हमारे देश और विशेषतः हमारे बंगाल प्रान्त का सिर ऊँचा किया है।

सन् १८९३ ई० में शिकागो शहर में जो विश्व-मेला हुआ था उसकी अंगभूत धर्म-महासभा के अवसर पर आपने आर्य धर्म के तत्त्वों का विशेष रूप से वर्णन किया। आपके भाषण का सार अधिकतर श्रोताओं के लिए बड़ा शिक्षाप्रद तथा रहस्योद्घाटन करनेवाला था और ओज तथा माधुर्य के कारण वह उसी प्रकार हृदयग्राही भी था। सम्भव है कि आपके उस भाषण को कुछ लोगों ने सन्देह की दृष्टि से सुना हो तथा कुछ ने उस पर तर्क वितर्क भी किया हो परन्तु इसका सामान्य प्रभाव तो यही हुआ कि उसके द्वारा अधिकांश शिक्षित अमरीकी जनता के धार्मिक विचारों में क्रान्ति हो गयी। उनके मन में जो एक नया प्रकाश पड़ा उसका उन्होंने अपनी स्वाभाविक निष्कपटता तथा सत्य के प्रति अनुराग के वश हो अधिक से अधिक लाभ उठाने का निश्चय किया। फलतः आपको विस्तृत सुयोग प्राप्त हुआ और

स्वामी जी ने इसका निम्नलिखित उत्तर दिया

स्वामी जी का भाषण

मनुष्य अपनी व्यक्ति-चेतना को सार्वभौम चेतना मे लीन कर देना चाहता है, वह जगत् प्रपच का कुल सम्बन्ध छोड देना चाहता है, वह अपने समस्त सम्बन्धो की माया काटकर ससार से दूर भाग जाना चाहता है। वह सम्पूर्ण दैहिक पुराने सस्कारो को छोडने की चेष्टा करता है। यहाँ तक कि वह एक देहधारी मनुष्य है, इसे भी भूलने का भरसक प्रयत्न करता है। परन्तु अपने अन्तर के अन्तर मे सदा ही एक मृदु अस्फुट ध्वनि उसे सुनायी पडती है, उसके कानो मे सदा ही एक स्वर बजता रहता है, न जाने कौन दिन रात उसके कानो मे मधुर स्वर से कहता रहता है, पूर्व मे हो या पश्चिम मे, **जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी**। भारत साम्राज्य की राजधानी के अधिवासियो, तुम्हारे पास मैं सन्यासी के रूप मे नही, धर्मप्रचारक की हैसियत से भी नही, बल्कि पहले की तरह कलकत्ते के उसी बालक के रूप मे बातचीत करने के लिए आया हुआ हूँ। हाँ, मेरी इच्छा होती है कि आज इस नगर के रास्ते की धूल पर बैठकर बालक की तरह सरल अन्त करण से तुमसे अपने मन की सब बाते खोल कर कहूँ। तुम लोगो ने मुझे अनुपम शब्द 'भाई' सम्बोधित किया है, इसके लिए तुम्हे हृदय से धन्यवाद देता हूँ। हाँ, मैं तुम्हारा भाई हूँ, तुम भी मेरे भाई हो। पश्चिमी देशो से लौटने के कुछ ही समय पहले एक अंग्रेज मित्र ने मुझसे पूछा था, 'स्वामी जी, चार वर्षों तक विलास की लीलाभूमि गौरवशाली महाशक्तिमान् पश्चिमी भूमि पर भ्रमण कर चुकने पर आपकी मातृभूमि अब आपको कैसी लगेगी ? मैं बस यही कह सका, 'पश्चिम मे आने से पहले भारत को मैं प्यार ही करता था, अब तो भारत की धूलि ही मेरे लिए पवित्र है, भारत की हवा अब मेरे लिए पावन है, भारत अब मेरे लिए तीर्थ है।'

कलकत्तावासियो, मेरे भाइयो, तुम लोगो ने मेरे प्रति जो अनुग्रह दिखाया है, उसके लिए तुम्हारे प्रति कृतज्ञता प्रकट करने मे मैं असमर्थ हूँ। अथवा तुम्हे धन्यवाद ही क्या दूँ, क्योकि तुम मेरे भाई हो—तुमने भाई का, एक हिन्दू भाई का ही कर्तव्य निभाया है, क्योकि ऐसा पारिवारिक बन्धन, ऐसा सम्बन्ध, ऐसा प्रेम हमारी मातृभूमि की सीमा के बाहर और कही नही है।

शिकागो की धर्म-महासभा निस्सन्देह एक विराट् समारोह थी। भारत के कितने ही नगरो से हम लोगो ने इस सभा के आयोजक महानुभावो को धन्यवाद दिया है। हम लोगो के प्रति उन्होने जैसी अनुकम्पा प्रदर्शित की है, उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं, परन्तु इस धर्म-महासभा का यथार्थ इतिहास मैं तुम्हे सुना

को भी अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करें। मुख्यतः उन्हींके कारण हमें आपकी प्राप्ति हुई है। अपनी अद्वितीय रहस्यमयी अन्तर्दृष्टि द्वारा उन्होंने आपमें उस दैवी ज्योति का अंश शीघ्र ही पहचान लिया था और आपके लिए उस उज्ज्वल जीवन की भविष्य वाणी कर दी थी जिसे आज हम हर्षपूर्वक सफल होते देख रहे हैं। वह वे ही थे जिन्होंने आपकी छिपी हुई दैवी शक्ति तथा दिव्य दृष्टि को आपके लिए खोल दिया आपके विचारों एवं जीवन के उद्देश्यों को दैवी झुकाव दे दिया तथा उस अदृश्य राज्य के तत्त्वों के अन्वेषण में आपको सहायता प्रदान की। भावी पीढ़ियों के लिए उनकी अमूल्य विरासत आप ही हैं।

हे महात्मन् दृढ़ता और बहादुरी के साथ उसी मार्ग पर बढ़े चलिए, जो आपने अपने कार्य के लिए चुना है। आपके सम्मुख सारा संसार जीतने को है। आपको हिन्दू धर्म की व्याख्या करनी है और उसका संदेश अनभिज्ञ से लेकर नास्तिक तथा जानबूझकर बने अंधे तक पहुँचाना है। जिस उत्साह से आपने कार्य आरम्भ किया उससे हम मुग्ध हो गये हैं और आपने जो सफलता प्राप्त कर ली है, वह कितने ही देशों को ज्ञात है। परन्तु अभी भी कार्य का काफी अंश शेष है और उसके लिए हमारा देश बल्कि हम कह सकते हैं आपका ही देश आपकी ओर निहार रहा है। हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन तथा प्रचार अभी कितने ही हिन्दुओं के निकट आपको करना है। अतएव आप इस महान् कार्य में संलग्न हों। हमें आपमें तथा अपने इस सत्कार्य के ध्येय में पूर्ण विश्वास है। हमारा जातीय धर्म इस बात का इच्छुक नहीं है कि उसे कोई भौतिक विजय प्राप्त हो। इसका ध्येय सदैव आध्यात्मिकता रहा है, और इसका साधन सदैव सत्य रहा है, जो इन चर्मचक्षुओं से परे है तथा जो केवल ज्ञान-दृष्टि से ही देखा जा सकता है। आप समग्र संसार को और *जहाँ आवश्यक हो हिन्दुओं को भी जगा दीजिए, ताकि वे अपने ज्ञान चक्षु खोलें* इन्द्रियों से परे हो धार्मिक ग्रन्थों का उचित रूप से अध्ययन करें, परम सत्य का साक्षात्कार करें और मनुष्य होने के नाते अपने कर्तव्य तथा स्थान का अनुभव करें। इस प्रकार की जागृति कराने या उद्बोधन के लिए आपसे बढ़कर अधिक योग्य कोई नहीं है। अपनी ओर से हम आपको यह सदैव ही पूर्ण विश्वास दिलाते हैं कि आपके इस सत्कार्य में जिसका बीड़ा आपने स्पष्टतः दैवी प्रेरणा से उठाया है हमारा सदैव ही हार्दिक भक्तिपूर्ण तथा सेवारूप मे विनम्र सहयोग रहेगा।

परम प्रिय बन्धु

हम हैं,

आपके प्रिय मित्र तथा भक्तगण

स्वामी जी ने इसका निम्नलिखित उत्तर दिया.

स्वामी जी का भाषण

मनुष्य अपनी व्यक्ति-चेतना को सार्वभौम चेतना मे लीन कर देना चाहता है, वह जगत् प्रपच का कुल सम्बन्ध छोड देना चाहता है, वह अपने समस्त सम्वन्धो की माया काटकर ससार से दूर भाग जाना चाहता है। वह सम्पूर्ण दैहिक पुराने सस्कारो को छोडने की चेष्टा करता है। यहाँ तक कि वह एक देहधारी मनुष्य है, इसे भी भूलने का भरसक प्रयत्न करता है। परन्तु अपने अन्तर के अन्तर मे सदा ही एक मृदु अस्फुट ध्वनि उसे सुनायी पडती है, उसके कानो मे सदा ही एक स्वर वजता रहता है, न जाने कौन दिन रात उसके कानो मे मधुर स्वर से कहता रहता है, पूर्व मे हो या पश्चिम मे, **जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी**। भारत साम्राज्य की राजधानी के अधिवासियो, तुम्हारे पास मैं सन्यासी के रूप मे नही, धर्मप्रचारक की हैसियत से भी नही, बल्कि पहले की तरह कलकत्ते के उसी बालक के रूप मे बातचीत करने के लिए आया हुआ हूँ। हाँ, मेरी इच्छा होती है कि आज इस नगर के रास्ते की धूल पर बैठकर बालक की तरह सरल अन्त करण से तुमसे अपने मन की सब बातें खोल कर कहूँ। तुम लोगो ने मुझे अनुपम शब्द 'भाई' सम्बोधित किया है, इसके लिए तुम्हे हृदय से धन्यवाद देता हूँ। हाँ, मैं तुम्हारा भाई हूँ, तुम भी मेरे भाई हो। पश्चिमी देशो से लौटने के कुछ ही समय पहले एक अग्रेज मित्र ने मुझसे पूछा था, 'स्वामी जी, चार वर्षों तक विलास की लीलाभूमि गौरवशाली महाशक्तिमान् पश्चिमी भूमि पर भ्रमण कर चुकने पर आपकी मातृभूमि अब आपको कैसी लगेगी? मैं बस यही कह सका, 'पश्चिम मे आने से पहले भारत को मैं प्यार ही करता था, अब तो भारत की धूलि ही मेरे लिए पवित्र है, भारत की हवा अब मेरे लिए पावन है, भारत अब मेरे लिए तीर्थ है।'

कलकत्तावासियो, मेरे भाइयो, तुम लोगो ने मेरे प्रति जो अनुग्रह दिखाया है, उसके लिए तुम्हारे प्रति कृतज्ञता प्रकट करने मे मैं असमर्थ हूँ। अथवा तुम्हे धन्यवाद ही क्या दूं, क्योकि तुम मेरे भाई हो—तुमने भाई का, एक हिन्दू भाई का ही कर्तव्य निभाया है, क्योकि ऐसा पारिवारिक वन्धन, ऐसा सम्वन्ध, ऐसा प्रेम हमारी मातृभूमि की सीमा के बाहर और कही नही है।

शिकागो की धर्म-महासभा निस्सन्देह एक विराट् समारोह थी। भारत के कितने ही नगरो से हम लोगो ने इस सभा के आयोजक महानुभावो को धन्यवाद दिया है। हम लोगो के प्रति उन्होंने जैसी अनुकम्पा प्रदर्शित की है, उसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं, परन्तु इस धर्म-महासभा का यथार्थ इतिहास मैं तुम्हे सुना-

देना चाहता हूँ। उनकी इच्छा थी कि वे अपनी प्रभुता की प्रतिष्ठा करें। महासभा के कुछ व्यक्तियों की इच्छा थी कि ईसाई धर्म की प्रतिष्ठा करें और दूसरे धर्मों को हास्यास्पद सिद्ध करें। परन्तु फल कुछ और ही हुआ। विधाता के विधान में वैसा ही होना था। मेरे प्रति अनेक लोगों ने सदय व्यवहार किया था। उन्हें यथेष्ट धन्यवाद दिया जा चुका है।

सच्ची बात यह है कि मैं धर्म-महासभा का उद्देश्य लेकर अमेरिका नहीं गया। वह सभा तो मेरे लिए एक गौण वस्तु थी, उससे हमारा रास्ता बहुत कुछ साफ हो गया और कार्य करने की बहुत कुछ सुविधा हो गयी, इसमें सन्देह नहीं। इसके लिए हम महासभा के सदस्यों के विशेष रूप से कृतज्ञ हैं। परन्तु वास्तव में हमारा धन्यवाद संयुक्त राज्य अमेरिका के निवासी, सहृदय, आतिथेय, महान् अमरीकी जाति को मिलना चाहिए, जिसमें दूसरी जातियों की अपेक्षा भ्रातृभाव का अधिक विकास हुआ है। रेलगाड़ी पर पाँच मिनट किसी अमेरिकन के साथ बातचीत करने से वह तुम्हारा मित्र हो जायगा, दूसरे ही क्षण तुम्हें अपने घर पर अतिथि के रूप में निमन्त्रित करेगा और अपने हृदय की सारी बात खोलकर रख देगा। यही अमरीकी जाति का चरित्र है और हम इसे खूब पसन्द करते हैं। मेरे प्रति उन्होंने जो अनुकम्पा दिखलायी, उसका वर्णन नहीं हो सकता। मेरे साथ उन्होंने कैसा अपूर्व स्नेहपूर्ण व्यवहार किया, उसे प्रकट करने में मुझे कई वर्ष लग जायेंगे। इसी तरह अटलान्टिक महासागर के दूसरे पार रहने वाली अंग्रेज जाति को भी हम धन्यवाद देना चाहिए। ब्रिटिश भूमि पर अंग्रेजों के प्रति मुझसे अधिक घृणा का भाव लेकर कभी किसी ने पैर न रखा होगा। इस मंच पर जो अंग्रेज बन्धु हैं, वे ही इसके साक्षी देंगे। परन्तु जितना ही मैं उन लोगों के साथ रहने लगा, जितना ही उनसे मैं मिलने लगा, जितना ही ब्रिटिश जाति के जीवन-यन्त्र की गति लक्ष्य करने लगा— उस जाति का हृदय-स्पन्दन किस जगह हो रहा है, यह जितना ही समझने लगा, उतना ही उन्हें प्यार करने लगा। अब मेरे भाइयो, यहाँ ऐसा कोई न होगा जो मुझसे अधिक अंग्रेजों को प्यार करता हो। [illegible]

[illegible]

अंग्रेज या कोई दूसरे पश्चिमी महाशय भारत आते है और यहाँ दु ख और दारिद्रय का अबाध राज्य देखते हैं तो वे तुरन्त इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस देश मे धर्म नही टिक सकता, नैतिकता नही टिक सकती। उनका अपना अनुभव निस्सन्देह सत्य है। यूरोप की निष्ठुर जलवायु और दूसरे अनेक कारणो से वहाँ दारिद्रय और पाप एक जगह रहते देखे जाते हैं, परन्तु भारत मे ऐसा नही है। मेरा अनुभव है कि भारत मे जो जितना दरिद्र है वह उतना ही अधिक साधु है। परन्तु इसको जानने के लिए समय की जरूरत है। भारत के राष्ट्रीय जीवन का यह रहस्य समझने के लिए कितने विदेशी दीर्घ काल तक भारत मे रहकर प्रतीक्षा करने के लिए तैयार हैं? इस राष्ट्र के चरित्र का धैर्य के साथ अध्ययन करें और समझें ऐसे मनुष्य थोडे ही हैं। यही, केवल यही ऐसी जाति का वास है, जिसके निकट गरीबी का मतलब अपराध और पाप नही है। यही एक ऐसी जाति है, जहाँ न केवल गरीबी का मतलब अपराध नहीं लगाया जाता, वल्कि उसे यहाँ बडा ऊँचा आसन दिया जाता है। यहाँ दरिद्र सन्यासी के वेश को ही सबसे ऊँचा स्थान मिलता है। इसी तरह हमे भी पश्चिमी सामाजिक रीति रिवाजो का अध्ययन बडे धैर्य के साथ करना होगा। उनके सम्बन्ध मे एकाएक कोई उन्मत्त धारणा बना लेना ठीक न होगा। उनके स्त्री-पुरुषो का आपस मे हेलमेल और उनके आचार व्यवहार सब एक खास अर्थ रखते है, सबमे एक पहलू अच्छा भी होता है। तुम्हे केवल यत्नपूर्वक धैर्य के साथ उसका अध्ययन करना होगा। मेरे इस कथन का यह अर्थ नही कि हमे उनके आचार व्यवहारो का अनुकरण करना है, अथवा वे हमारे आचारो का अनुकरण करेंगे। सभी जातियो के आचार व्यवहार शताब्दियो के मन्द गति से होनेवाले क्रमविकास के फलस्वरूप हैं, और सभी मे एक गम्भीर अर्थ रहता है। इसलिए न हमे उनके आचार व्यवहारो का उपहास करना चाहिए और न उन्हे हमारे आचार व्यवहारो का।

मैं इस सभा के समक्ष एक और बात कहना चाहता हूँ। अमेरिका की अपेक्षा इग्लैड मे मेरा काम अधिक सतोषजनक हुआ है। निर्भीक, साहसी एव अध्यवसायी अंग्रेज जाति के मस्तिष्क मे यदि किसी तरह एक वार कोई भाव सचारित किया जा सके—यद्यपि उसकी खोपडी दूसरी जातियो की अपेक्षा स्थूल है, उसमे कोई भाव सहज ही नही समाता—तो फिर वह वही दृढ हो जाता है, कभी वाहर नही होता। उस जाति की असीम व्यावहारिकता और शक्ति के कारण वीजरूप से समाये हुए उस भाव से अकुर का उद्गम होता है और वहुत शीघ्र फल देता है। ऐसा किसी दूसरे देश मे नही है। इस जाति की जैसी असीम व्यावहारिकता और जीवनी शक्ति है, वैसी तुम अन्य किसी जाति मे न देखोगे। इस जाति मे कल्पना

कम है और कर्मण्यता अधिक। और कौन जान सकता है कि इस अंग्रेज जाति के भावों का मूक स्रोत कहाँ है! उसके हृदय के गहन प्रदेश में कौन समझ सकता है कितनी कल्पनाएँ और भावोच्छ्वास छिपे हुए हैं! यह वीरों की जाति है वे यथार्थ क्षत्रिय हैं भाव छिपाना—उन्हें कभी प्रकट न करना उनको शिक्षा है, बचपन से उन्हें यही शिक्षा मिली है। बहुत कम अंग्रेज देखने को मिलेंगे जिन्होंने कभी अपने हृदय का भाव प्रकट किया होगा। पुरुषों की तो बात ही क्या अंग्रेज स्त्रियाँ भी कभी हृदय के उच्छ्वास को जाहिर नहीं होने देती। मैंने अंग्रेज महिलाओं को ऐसे भी कार्य करते हुए देखा है जिन्हें करने में अत्यन्त साहसी बंगाली भी लड़खड़ा जायेंगे। किन्तु बहादुरी के इस ठाटबाट के साथ ही इस क्षत्रियोचित कवच के भीतर अंग्रेज हृदय की भावनाओं का गम्भीर प्रस्रवण छिपा हुआ है। यदि एक बार भी अंग्रेजों के साथ तुम्हारी घनिष्ठता हो जाय यदि उनके साथ तुम घुल मिल गये यदि उनसे एक बार भी अपने सम्मुख उनके हृदय की बात व्यक्त करवा सके तो वे तुम्हारे परम मित्र हो जायेंगे सदा के लिए तुम्हारे दास हो जायेंगे। इसलिए मेरी राय में दूसरे स्थानों की अपेक्षा इंग्लैंड में मेरा प्रचार-कार्य अधिक संतोषजनक हुआ है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि अगर कल मेरा शरीर छूट जाय तो मेरा प्रचार कार्य इंग्लैंड में अक्षुण्ण रहेगा और क्रमशः विस्तृत होता जायगा।

भाइयो तुम लोगों ने मेरे हृदय के एक दूसरे तार—सबसे अधिक कोमल तार को स्पर्श किया है—वह है मेरे गुरुदेव मेरे आचार्य मेरे जीवनादर्श मेरे इष्ट मेरे प्राणों के देवता श्री रामकृष्ण परमहंस का उल्लेख। यदि मनसा वाचा कर्मणा मैंने कोई सत्कार्य किया हो यदि मेरे मुँह से कोई ऐसी बात निकली हो जिससे संसार के किसी भी मनुष्य का कुछ उपकार हुआ हो तो उसमें मेरा कुछ भी गौरव नहीं वह उनका है। परन्तु यदि मेरी जिह्वा ने कभी अभिशाप की वर्षा की हो यदि मुझसे कभी किसीके प्रति घृणा का भाव निकला हो तो वे मेरे हैं, उनके नहीं। जो कुछ दुर्बल है, वह सब मेरा है पर जो कुछ भी जीवनप्रद है, बलप्रद है, पवित्र है वह सब उन्हींकी शक्ति का खेल है, उन्हींकी वाणी है और वे स्वयं हैं। मित्रो यह सत्य है कि संसार अभी तक उन महापुरुष से परिचित नहीं हुआ। हम लोग संसार के इतिहास में शत शत महापुरुषों की जीवनी पढ़ते हैं। इसमें उनके शिष्यों के लेखन एवं कार्य-सञ्चालन का हाथ रहा है। हजारों वर्ष तक लगातार उन लोगों ने उन प्राचीन महापुरुषों के जीवन-चरितों को काट-छाँटकर सँवारा है। परन्तु इतने पर भी जो जीवन मैंने अपनी आँखों देखा है जिसकी छाया में मैं रह चुका हूँ जिनके चरणों में बैठकर मैंने सब सीखा है उन श्री रामकृष्ण परमहंस का जीवन जैसा उज्ज्वल और महिमान्वित है, वैसा मेरे विचार में और किसी महापुरुष का नहीं।

भाइयो, तुम सभी गीता की वह प्रसिद्ध वाणी जानते हो—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

—'जब जब धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब तब मैं शरीर धारण करता हूँ। साधुओं का परित्राण करने, असाधुओं का नाश करने और धर्म की स्थापना करने के लिए विभिन्न युगों में मैं आया करता हूँ।'

इसके साथ एक और बात तुम्हें समझनी होगी, वह यह कि आज ऐसी ही वस्तु हमारे सामने मौजूद है। इस तरह की एक आध्यात्मिकता की बाढ़ के प्रबल वेग से आने के पहले समाज में कुछ छोटी छोटी तरंगें उठती दीख पड़ती हैं। इन्हींमें से एक अज्ञात, अनजान, अकल्पित तरंग आती है, क्रमशः प्रबल होती जाती है, दूसरी छोटी छोटी तरंगों को मानो निगल कर वह अपने में मिला लेती है। और इस तरह अत्यन्त विपुलाकार और प्रबल होकर वह एक बहुत बड़ी बाढ़ के रूप में समाज पर वेग से गिरती है कि कोई उसकी गति को रोक नहीं सकता। इस समय भी वैसा ही हो रहा है। यदि तुम्हारे पास आँखें हैं तो तुम उसे अवश्य देखोगे। यदि तुम्हारा हृदय-द्वार खुला है तो तुम उसको अवश्य ग्रहण करोगे। यदि तुममें सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति है तो तुम उसे अवश्य प्राप्त करोगे। अंधा, बिल्कुल अंधा है वह, जो समय के चिह्न नहीं देख रहा है, नहीं समझ रहा है। क्या तुम नहीं देखते हो, वह दरिद्र ब्राह्मण बालक जो एक दूर गाँव में—जिसके बारे में तुममें से बहुत कम ही लोगों ने सुना होगा—जन्मा था, इस समय सम्पूर्ण संसार में पूजा जा रहा है, और उसे वे पूजते हैं, जो शताब्दियों से मूर्ति-पूजा के विरोध में आवाज़ उठाते आये हैं? यह किसकी शक्ति है? यह तुम्हारी शक्ति है या मेरी? नहीं, यह और किसीकी शक्ति नहीं। जो शक्ति यहाँ श्री रामकृष्ण परमहंस के रूप में आविर्भूत हुई थी, यह वही शक्ति है, और मैं, तुम, साधु, महापुरुष, यहाँ तक कि अवतार और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी उसी न्यूनाधिक रूप में पुंजीभूत शक्ति की लीला मात्र हैं। इस समय हम लोग उस महाशक्ति की लीला का आरम्भ मात्र देख रहे हैं। वर्तमान युग का अन्त होने के पहले ही तुम लोग इसकी अधिकाधिक आश्चर्यमयी लीलाएँ देख पाओगे। भारत के पुनरुत्थान के लिए इस शक्ति का आविर्भाव ठीक ही समय पर हुआ है। क्योंकि जो मूल जीवनी शक्ति भारत को सदा स्फूर्ति प्रदान करेगी, उसकी बात कभी कभी हम लोग भूल जाते हैं।

प्रत्येक जाति के लिए उद्देश्य-साधन की अलग अलग कार्यप्रणालियाँ हैं। कोई राजनीति कोई समाज-सुधार और कोई किसी दूसरे विषय को अपना प्रधान आधार बनाकर कार्य करती है। हमारे लिए धर्म की पृष्ठभूमि लेकर कार्य करने के सिवा दूसरा उपाय नहीं है। अंग्रेज राजनीति के माध्यम से धर्म भी समझ सकते हैं। अमरीकी शायद समाज-सुधार के माध्यम से भी धर्म समझ सकते हैं। परन्तु हिन्दू राजनीति समाज-विज्ञान और दूसरा जो कुछ है सबको धर्म के माध्यम से ही समझ सकते हैं। जातीय जीवन-संगीत का मानो यही प्रधान स्वर है, दूसरे तो उसीमें कुछ परिवर्तित किये हुए मात्र गौण स्वर हैं और उसी प्रधान स्वर के नष्ट होने की शंका हो रही थी। ऐसा लगता था मानो हम लोग अपने जातीय जीवन के इस मूल भाव को हटाकर उसकी जगह एक दूसरा भाव स्थापित करने जा रहे थे हम लोग जिस मेरुदण्ड के बल से खड़े हुए हैं, मानो उसकी जगह दूसरा कुछ स्थापित करने जा रहे थे अपने जातीय जीवन के धर्मरूप मेरुदंड की जगह राजनीति का मेरुदंड स्थापित करने जा रहे थे। यदि इसमें हमें सफलता मिलती तो इसका फल पूर्ण विनाश होता परन्तु ऐसा होनेवाला नहीं था। यही कारण है कि इस महाशक्ति का आविर्भाव हुआ। मुझे इस बात की चिन्ता नहीं है कि तुम इस महापुरुष को किस अर्थ में ग्रहण करते हो और उसके प्रति कितना आदर रखते हो किन्तु मैं तुम्हें यह चुनौती के रूप में अवश्य बता देना चाहता हूँ कि अनेक शताब्दियों से भारत में विद्यमान अद्भुत शक्ति का यह प्रकट रूप है और एक हिन्दू के नाते तुम्हारा यह कर्तव्य है कि तुम इस शक्ति का अध्ययन करो तथा भारत के कल्याण उसके पुनरुत्थान और समस्त मानव जाति के हित के लिए इस शक्ति के द्वारा क्या कार्य किये गये हैं इसका पता लगाओ। मैं तुमको विश्वास दिलाता हूँ कि संसार के किसी भी देश में सार्वभौम धर्म और विभिन्न सम्प्रदायों में भ्रातृभाव के उत्थापित और पर्यालोचित होने के बहुत पहले ही इस नगर के पास एक ऐसे महापुरुष थे जिनका सम्पूर्ण जीवन एक आदर्श धर्म-महासभा का स्वरूप था।

हमारे शास्त्रों में सबसे बड़ा आदर्श निर्गुण ब्रह्म है, और ईश्वर की इच्छा से यदि सभी निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त कर सकते तब तो बात ही कुछ और थी परन्तु चूंकि ऐसा नहीं हो सकता इसलिए सगुण आदर्श का रहना मनुष्य जाति के बहु संख्यक वर्ग के लिए बहुत आवश्यक है। इस तरह के किसी महान् आदर्श पुरुष पर हार्दिक अनुराग रखते हुए उनकी पताका के नीचे आश्रय लिये बिना न कोई जाति उठ सकती है न बढ़ सकती है, न कुछ कर सकती है। राजनीतिक यहाँ तक कि सामाजिक या व्यापारिक आदर्शों का प्रतिनिधित्व करनेवाले कोई भी

पुरुष सर्वसाधारण भारतवासियो के ऊपर कभी भी अपना प्रभाव नही जमा सकते। हमे चाहिए आध्यात्मिक आदर्श। आध्यात्मिक महापुरुषो के नाम पर हमे सोत्साह एक हो जाना चाहिए। हमारे आदर्श पुरुष आध्यात्मिक होने चाहिए। श्री रामकृष्ण परमहस हमे एक ऐसा ही आदर्श पुरुष मिला है। यदि यह जाति उठना चाहती है, तो मैं निश्चयपूर्वक कहूँगा कि इस नाम के चारो ओर उत्साह के साथ एकत्र हो जाना चाहिए। श्री रामकृष्ण परमहस का प्रचार हम, तुम या चाहे जो कोई करे, इससे प्रयोजन नही। तुम्हारे सामने मैं इस महान् आदर्श पुरुष को रखता हूँ, और अब इस पर विचार करने का भार तुम पर है। इस महान् आदर्श पुरुष को लेकर क्या करोगे, इसका निश्चय तुम्हें अपनी जाति, अपने राष्ट्र के कल्याण के लिए अभी कर डालना चाहिए। एक बात हमे याद रखनी चाहिए कि तुम लोगो ने जितने महापुरुष देखे हैं और मैं स्पष्ट रूप से कहूँगा कि जितने भी महापुरुषो के जीवन-चरित पढे है, उनमे इनका जीवन सबसे पवित्र था, और तुम्हारे सामने यह तो स्पष्ट ही है कि आध्यात्मिक शक्ति का ऐसा अद्भुत आविर्भाव तुम्हारे देखने की तो बात ही अलग, इसके बारे मे तुमने कभी पढा भी न होगा। उनके तिरोभाव के दस वर्ष के भीतर ही इस शक्ति ने सम्पूर्ण ससार को घेर लिया है, यह तुम प्रत्यक्ष देख रहे हो। अतएव कर्तव्य की प्रेरणा से अपनी जाति और धर्म की भलाई के लिए मैं यह महान् आध्यात्मिक आदर्श तुम्हारे सामने प्रस्तुत करता हूँ। मुझे देखकर उसकी कल्पना न करना। मैं एक बहुत ही दुर्बल माध्यम मात्र हूँ। उनके चरित्र का निर्णय मुझे देखकर न करना। वे इतने बडे थे कि मैं या उनके शिष्यो मे से कोई दूसरा सैकडो जीवन तक चेष्टा करते रहने के बावजूद भी उनके यथार्थ स्वरूप के एक करोडवें अश के तुल्य भी न हो सकेगा। तुम लोग स्वय ही अनुमान करो। तुम्हारे हृदय के अन्तस्तल मे वे 'सनातन साक्षी' वर्तमान हैं, और मैं हृदय से प्रार्थना करता हूँ कि हमारी जाति के कल्याण के लिए, हमारे देश की उन्नति के लिए तथा समग्र मानव जाति के हित के लिए वही श्री रामकृष्ण परमहस तुम्हारा हृदय खोल दें, और इच्छा-अनिच्छा के बावजूद भी जो महायुगान्तर अवश्यम्भावी है, उसे कार्यान्वित करने के लिए वे तुम्हें सच्चा और दृढ बनावे। तुम्हें और हमे रुचे या न रुचे, इससे प्रभु का कार्य रुक नही सकता, अपने कार्य के लिए वे धूलि से भी सैकडो और हजारो कर्मी पैदा कर सकते हैं। उनकी अधीनता मे कार्य करने का अवसर मिलना ही हमारे परम सौभाग्य और गौरव की बात है। इससे आदर्श का विस्तार होता है। जैसा तुम लोगो ने कहा है, हमे सम्पूर्ण ससार जीतना है। हाँ, यह हमे करना ही होगा। भारत को अवश्य ही ससार पर विजय प्राप्त करनी है। इसकी अपेक्षा किसी छोटे आदर्श से मुझे कभी

भी सन्तोष न होगा। यह आदर्श सम्भव है बहुत बड़ा हो और तुममें से अनेक को इसे सुनकर आश्चर्य होगा किन्तु हमें इसे ही अपना आदर्श बनाना है। या तो हम सम्पूर्ण संसार पर विजय प्राप्त करेंगे या मिट जायेंगे। इसके सिवा और कोई विकल्प नहीं है। जीवन का चिह्न है विस्तार। हमें संकीर्ण सीमा के बाहर जाना होगा हृदय का प्रसार करना होगा और यह दिखाना होगा कि हम जीवित हैं अन्यथा हमें इसी पतन की दशा में सड़कर मरना होगा इसके सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं है। इन दोनों में एक चुन लो फिर जिओ या मरो। छोटी छोटी बातों को लेकर हमारे देश में जो द्वेष और कलह हुआ करता है, वह हम लोगों में सभी को मालूम है। परन्तु मेरी बात मानो ऐसा सभी देशों में है। जिन सब राष्ट्रों के जीवन का मेरुदंड राजनीति है, वे सब राष्ट्र आत्मरक्षा के लिए वैदेशिक नीति का सहारा लिया करते हैं। जब उनके अपने देश में आपस में बहुत अधिक लड़ाई-झगड़ा आरम्भ हो जाता है तब वे किसी विदेशी राष्ट्र से झगड़ा मोल ले लेते हैं इस तरह तत्काल घरेलू लड़ाई बन्द हो जाती है, हमारे भीतर भी गृहविवाद है, परन्तु उसे रोकने के लिए कोई वैदेशिक नीति नहीं है। संसार के सभी राष्ट्रों में अपने शास्त्रों का सत्य प्रचार ही हमारी सनातन वैदेशिक नीति होनी चाहिए, यह हमें एक अखंड जाति के रूप में संगठित करेगी। तुम राजनीति में विशेष रुचि लेनेवालों से मेरा प्रश्न है कि क्या इसके लिए तुम कोई और प्रमाण चाहते हो? आज की इस सभा से ही मेरी बात का यथेष्ट प्रमाण मिल रहा है।

दूसरे, इन सब स्वार्थपूर्ण विचारों को छोड़ देने पर भी हमारे पीछे नि स्वार्थ महान् और सजीव दृष्टान्त पाये जाते हैं। भारत के पतन और दारिद्र्य-दुःख का प्रधान कारण यह है कि घोंघे की तरह अपना सर्वांग समेटकर उसने अपना कार्यक्षेत्र संकुचित कर लिया था तथा आर्येतर दूसरी मानव जातियों के लिए, जिन्हें सत्य की तृष्णा थी अपने जीवनप्रद सत्य-रत्नों का भांडार नहीं खोला था। हमारे पतन का एक और प्रधान कारण यह भी है कि हम लोगों ने बाहर जाकर दूसरे राष्ट्रों से अपनी तुलना नहीं की और तुम लोग जानते हो जिस दिन से राजा राममोहन राय ने संकीर्णता की वह दीवार तोड़ी उसी दिन से भारत में थोड़ा सा जीवन दिखायी देने लगा जिसे आज तुम देख रहे हो। उसी दिन से भारत के इतिहास ने एक दूसरा मोड़ लिया और इस समय वह क्रमश उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। अतीत काल में यदि छोटी छोटी नदियाँ ही यहाँ वालों ने देखी हों तो समझना कि अब बहुत बड़ी बाढ़ आ रही है और कोई भी उसकी गति रोक न सकेगा। अत तुम्हें विदेश जाना होगा आदान-प्रदान ही अभ्युदय का रहस्य है। क्या हम दूसरों से सदा लेते ही रहेंगे? क्या हम लोग सदा ही पश्चिमवासियों

के पद-प्रान्त मे बैठकर ही सब बाते, यहाँ तक कि धर्म भी सीखेंगे? हाँ, हम उन लोगो से कल-कारखाने के काम सीख सकते है, और भी दूसरी बहुत सी बाते उनसे सीख सकते है, परन्तु हमे भी उन्हें कुछ सिखाना होगा। और वह है हमारा धर्म, हमारी आध्यात्मिकता। ससार सर्वांगीण सभ्यता की अपेक्षा कर रहा है। शत शत शताब्दियो की अवनति, दु ख और दुर्भाग्य के आवर्त मे पडकर भी हिन्दू जाति उत्तराधिकार मे प्राप्त धर्मरूपी जिन अमूल्य रत्नो को यत्नपूर्वक अपने हृदय से लगाये हुए है, उन्ही रत्नो की आशा से ससार उसकी ओर आग्रहभरी दृष्टि से निहार रहा है। तुम्हारे पूर्वजो के उन्ही अपूर्व रत्नो के लिए भारत से बाहर के मनुष्य किस तरह उद्ग्रीव हो रहे हैं, यह मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ? यहाँ हम अनर्गल बकवास किया करते हैं, आपस मे झगडते रहते हैं, श्रद्धा के जितने गभीर विषय हैं उन्हें हँसकर उडा देते है, यहाँ तक कि इस समय प्रत्येक पवित्र वस्तु को हँसकर उडा देने की प्रवृत्ति एक जातीय दुर्गुण हो गयी है। इसी भारत मे हमारे पूर्वज जो सजीवक अमृत रख गये हैं, उसका एक कण मात्र पाने के लिए भी भारत से बाहर के लाखो मनुष्य कितने आग्रह के साथ हाथ फैलाये हुए हैं, यह हमारी समझ मे भला कैसे आ सकता है! इसलिए हमे भारत के बाहर जाना ही होगा। हमारी आध्यात्मिकता के बदले मे वे जो कुछ दें, वही हमे लेना होगा। चैतन्यराज्य के अपूर्व तत्त्वसमूहो के बदले हम जड राज्य के अद्भुत तत्त्वो को प्राप्त करेंगे। चिर काल तक शिष्य रहने से हमारा काम न होगा, हमे आचार्य भी होना होगा। समभाव के न रहने पर मित्रता सभव नही। और जब एक पक्ष सदा ही आचार्य का आसन पाता रहता है और दूसरा पक्ष सदा ही उसके पदप्रान्त मे बैठकर शिक्षा ग्रहण किया करता है, तब दोनो मे कभी भी समभाव की स्थापना नही हो सकती। यदि अग्रेज और अमरीकी जाति से समभाव रखने की तुम्हारी इच्छा हो, तो जिस तरह तुम्हें उनसे शिक्षा प्राप्त करनी है, उसी तरह उन्हें शिक्षा देनी भी होगी, और अब भी कितनी ही शताब्दियो तक ससार को शिक्षा देने की सामग्री तुम्हारे पास यथेष्ट है। इस समय यही करना होगा। उत्साह की आग हमारे हृदय मे जलनी चाहिए। हम बगालियों को कल्पना शक्ति के लिए प्रसिद्धि मिल चुकी है और मुझे विश्वास है कि यह शक्ति हममे है भी। कल्पनाप्रिय भावुक जाति कहकर हमारा उपहास भी किया गया है। परन्तु, मित्रो! मैं तुमसे कहना चाहूँगा कि निस्सदेह बुद्धि का आसन ऊँचा है, परन्तु यह अपनी परिमित सीमा के बाहर नही बढ सकती। हृदय—केवल हृदय के भीतर से ही दैवी प्ररणा का स्फुरण होता है, और उसकी अनुभव शक्ति से ही उच्चतम जटिल रहस्यो की मीमासा होती है, और इसीलिए 'भावुक' बगालियो को ही यह काम करना होगा। **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरा-**

निबोधत।[1]—'उठो जागो जब तक अभीप्सित वस्तु को प्राप्त नहीं कर लेते तब तक बराबर उसकी ओर बढ़ते जाओ।' कलकत्ता निवासी युवको! उठो जागो शुभ मुहूर्त आ गया है। सब चीजें अपने आप तुम्हारे सामने खुलती जा रही हैं। हिम्मत करो और डरो मत। केवल हमारे ही शास्त्रों में ईश्वर के लिए 'अभी' विशेषण का प्रयोग किया गया है। हमें 'अभी' निर्भय होना होगा तभी हम अपने कार्य में सिद्धि प्राप्त करेंगे। उठो जागो तुम्हारी मातृभूमि को इस महाबलि की आवश्यकता है। इस कार्य की सिद्धि युवकों से ही हो सकेगी। 'युवा आशिष्ठ द्रढिष्ठ बलिष्ठ, मेधावी'[2] उन्हीं के लिए यह कार्य है। और ऐसे सैकड़ों—हजारों युवक कलकत्ते में हैं। जैसा कि तुम लोग कहते हो यदि मैंने कुछ किया है, तो याद रखना मैं वही एक नगण्य बालक हूँ जो किसी समय कलकत्ते की सड़कों पर खेला करता था। अगर मैंने इतना किया तो इससे कितना अधिक तुम कर सकोगे! उठो—जागो संसार तुम्हें पुकार रहा है। भारत के अन्य भागों में बुद्धि है धन भी है, परन्तु उत्साह की आग केवल हमारी ही जन्मभूमि में है। उसे बाहर आना ही होगा इसलिए कलकत्ते के युवको अपने रक्त में उत्साह भरकर जाओ। मत सोचो कि तुम गरीब हो मत सोचो कि तुम्हारे मित्र नहीं हैं। अरे, क्या कभी तुमने देखा है कि रुपया मनुष्य का निर्माण करता है? नहीं मनुष्य ही सदा रुपये का निर्माण करता है। यह सम्पूर्ण संसार मनुष्य की शक्ति से उत्साह की शक्ति से विश्वास की शक्ति से निर्मित हुआ है।

तुममें से जिन लोगों ने उपनिषदों में सबसे अधिक सुन्दर कठोपनिषद् का अध्ययन किया है उन्हें स्मरण होगा कि किस तरह वे राजा एक महायज्ञ का अनुष्ठान करने चले थे और दक्षिणा में अच्छी अच्छी चीजें न देकर अनुपयोगी गायें और घोड़े दे रहे थे और कथा के अनुसार उसी समय उनके पुत्र नचिकेता के हृदय में श्रद्धा का आविर्भाव हुआ। मैं तुम्हारे लिए इस 'श्रद्धा' शब्द का अंग्रेजी अनुवाद न करूँगा क्योंकि यह गलत होगा। समझने के लिए अर्थ की दृष्टि से यह एक अद्भुत शब्द है और बहुत कुछ तो इसके समझने पर निर्भर करता है। हम देखेंगे कि यह किस तरह शीघ्र ही फल देनेवाली है। श्रद्धा के आविर्भाव के साथ ही हम नचिकेता को आप ही आप इस तरह बातचीत करते हुए देखते हैं 'मैं बहुतों से श्रेष्ठ हूँ कुछ लोगों से छोटा भी हूँ परन्तु कहीं भी ऐसा नहीं हूँ कि सबसे छोटा

१ कठोपनिषद् १।३।१४॥

२ युवा स्यात्साधुयुवाध्यायकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् ॥ तैत्तिरीयोपनिषद्।२।८॥

होऊँ, अत मैं भी कुछ कर सकता हूँ।' उसका यह आत्मविश्वास और साहस बढता गया और जो समस्या उसके मन मे थी, उस बालक ने उसे हल करना चाहा, —वह समस्या मृत्यु की समस्या थी। इसकी मीमासा यम के घर जाने पर ही हो सकती थी, अत वह बालक वही गया। निर्भीक नचिकेता यम के घर जाकर तीन दिन तक प्रतीक्षा करता रहा, और तुम जानते हो कि किस तरह उसने अपना अभीप्सित प्राप्त किया। हमे जिस चीज की आवश्यकता है, वह यह श्रद्धा ही है। दुर्भाग्यवश भारत से इसका प्राय लोप हो गया है, और हमारी वर्तमान दुर्दशा का कारण भी यही है। एकमात्र इस श्रद्धा के भेद से ही मनुष्य मनुष्य मे अन्तर पाया जाता है? इसका और दूसरा कारण नही। यह श्रद्धा ही है, जो एक मनुष्य को बडा और दूसरे को कमज़ोर और छोटा बनाती है। हमारे गुरुदेव कहा करते थे, जो अपने को दुर्बल सोचता है, वह दुर्बल ही हो जाता है, और यह बिल्कुल ठीक ही है। इस श्रद्धा को तुम्हें पाना ही होगा। पश्चिमी जातियो द्वारा प्राप्त की हुई जो भौतिक शक्ति तुम देख रहे हो, वह इस श्रद्धा का ही फल है, क्योकि वे अपने दैहिक बल के विश्वासी हैं, और यदि तुम अपनी आत्मा पर विश्वास करो तो वह और कितना अधिक कारगर होगा? उस अनन्त आत्मा, उस अनन्त शक्ति पर विश्वास करो, तुम्हारे शास्त्र और तुम्हारे ऋषि एक स्वर से उसका प्रचार कर रहे है। वह आत्मा अनन्त शक्ति का आधार है, कोई उसका नाश नही कर सकता, उसकी वह अनन्त शक्ति प्रकट होने के लिए केवल आह्वान की प्रतीक्षा कर रही है। यहाँ दूसरे दर्शनो और भारत के दर्शनो मे महान् अन्तर पाया जाता है। द्वैतवादी हो, चाहे विशिष्टद्वैतवादी या अद्वैतवादी हो, सभी को यह दृढ विश्वास है कि आत्मा मे सम्पूर्ण शक्ति अवस्थित है, केवल उसे व्यक्त करना होता है। इसके लिए हमे श्रद्धा की ही ज़रूरत है, हमे, यहाँ जितने भी मनुष्य हैं, सभी को इसकी आवश्यकता है। इसी श्रद्धा को प्राप्त करने का महान् कार्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है। हमारे जातीय खून मे एक प्रकार के भयानक रोग का बीज समा रहा है, और वह है प्रत्येक विषय को हँसकर उडा देना, गाम्भीर्य का अभाव, इस दोष का सम्पूर्ण रूप से त्याग करो। वीर बनो, श्रद्धा सम्पन्न होओ, और सब कुछ तो इसके बाद आ ही जायगा।

अब तक मैंने कुछ भी नही किया, यह कार्य तुम्हें करना होगा। अगर कल मैं मर जाऊँ तो इस कार्य का अन्त नही होगा। मुझे दृढ विश्वास है, सर्वसाधारण जनता के भीतर से हज़ारो मनुष्य आकर इस व्रत को ग्रहण करेंगे और इस कार्य की इतनी उन्नति तथा विस्तार करेंगे, जिसकी आशा मैंने कभी कल्पना मे भी न की होगी। मुझे अपने देश पर विश्वास है—विशेषत अपने देश के युवको पर।

बंगाल के युवकों पर सबसे बड़ा भार है। इतना बड़ा भार किसी दूसरे प्रान्त के युवकों पर कभी नहीं आया। पिछले दस वर्षों तक मैंने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। इससे मेरी दृढ़ धारणा हो गयी है कि बंगाल में युवकों के भीतर से ही उस शक्ति का प्रकाश होगा, जो भारत को उसके आध्यात्मिक अधिकार पर फिर से प्रतिष्ठित करेगी। मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ, इन हृदयवान् उत्साही बंगाली युवकों के भीतर से ही सैकड़ों वीर उठेंगे, जो हमारे पूर्वजों द्वारा प्रचारित सनातन आध्यात्मिक सत्यों का प्रचार करने और शिक्षा देने के लिए संसार के एक छोर से दूसरे छोर तक भ्रमण करेंगे। और तुम्हारे सामने यही महान् कर्तव्य है। अतएव एक बार और तुम्हें उस उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत की महान् आदर्श वाक्य का स्मरण दिलाकर मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ। डरना नहीं, क्योंकि मनुष्य जाति के इतिहास में देखा जाता है कि जितनी शक्तियों का विकास हुआ है, सभी साधारण मनुष्यों के भीतर से ही हुआ है। संसार में बड़े बड़े जितने प्रतिभाशाली मनुष्य हुए हैं, सभी साधारण मनुष्यों के भीतर से ही हुए हैं और इतिहास की घटनाओं की पुनरावृत्ति होगी ही। किसी बात से मत डरो। तुम अद्भुत कार्य करोगे। जिस क्षण तुम डर जाओगे, उसी क्षण तुम बिल्कुल शक्तिहीन हो जाओगे। संसार में दुःख का मुख्य कारण भय ही है, यही सबसे बड़ा कुसंस्कार है, यह भय हमारे दुःखों का कारण है और यह निर्भीकता है जिससे क्षण भर में स्वर्ग प्राप्त होता है। अतएव उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

महानुभावो, मेरे प्रति आप लोगों ने जो अनुग्रह प्रकट किया है, उसके लिए आप लोगों को मैं फिर से धन्यवाद देता हूँ। मैं आप लोगों से इतना ही कह सकता हूँ कि मेरी इच्छा, मेरी प्रबल और आन्तरिक इच्छा यह है कि मैं संसार की और सर्वोपरि अपने देश और देशवासियों की थोड़ी सी भी सेवा कर सकूँ।

सर्वाङ्ग वेदान्त

[स्टार थिएटर, कलकत्ता मे दिया हुआ भाषण]

स्वामी जी का भाषण

बहुत दूर—जहाँ न तो लिपिबद्ध इतिहास और न परम्पराओ का मन्द प्रकाश ही प्रवेश कर पाता है, अनन्त काल से वह स्थिर उजाला हो रहा है, जो बाह्य परिस्थितिवश कभी तो कुछ धीमा पड जाता है और कभी अत्यन्त उज्ज्वल, किन्तु वह सदा शाश्वत और स्थिर रहकर अपना पवित्र प्रकाश केवल भारत मे ही नही, बल्कि सम्पूर्ण विचार-जगत् मे अपनी मौन अननुभाव्य, शान्त फिर भी सर्वसक्षम शक्ति से उसी प्रकार भरता रहा है, जिस प्रकार प्रात काल के शिशिरकण लोगो की दृष्टि बचाकर चुपचाप गुलाब की सुन्दर कलियो को खिला देते है—यह प्रकाश उपनिषदो के तत्त्वो का, वेदान्त दर्शन का रहा है। कोई नही जानता कि इसका पहले पहल भारतभूमि मे कब उद्भव हुआ। इसका निर्णय अनुमान के बल से कभी नही हो सका। विशेषत, इस विषय के पश्चिमी लेखको के अनुमान एक दूसरे के इतने विरोधी है कि उनकी सहायता से इन उपनिषदो के समय का निश्चय नही किया जा सकता। हम हिन्दू आध्यात्मिक दृष्टि से उनकी उत्पत्ति नही स्वीकार करते। मैं बिना किसी सकोच के कहता हूँ कि यह वेदान्त, उपनिषद्-प्रतिपाद्य दर्शन अध्यात्म राज्य का प्रथम और अन्तिम विचार है, जो मनुष्य को अनुग्रह के रूप मे प्राप्त हुआ है।

इस वेदान्तरूपी महासमुद्र से ज्ञान की प्रकाश-तरगें उठ उठकर समय समय पर पश्चिम और पूर्व की ओर फैलती रही हैं। पुराकाल मे वे पश्चिम मे प्रवाहित हुई और एथेन्स, सिकन्दरिया और अन्तियोक जाकर उन्होने यूनानवालो के विचारो को बल प्रदान किया। इसमे कोई सन्देह नही कि प्राचीन यूनानवालो पर सांख्य दर्शन की विशेष छाप पडी थी। और सांख्य तथा भारत के अन्यान्य सब दार्शनिक मत, उपनिषद् या वेदान्त पर ही प्रतिष्ठित हैं। भारत मे भी प्राचीन काल मे और आज भी कितने ही विरोधी सम्प्रदायो के रहने पर भी सभी उपनिषद् या वेदान्तरूप एकमात्र प्रमाण पर ही प्रतिष्ठित है। तुम द्वैतवादी हो, चाहे विशिष्टाद्वैतवादी, शुद्धाद्वैतवादी हो, चाहे अद्वैतवादी अथवा चाहे और जिस प्रकार के अद्वैत-

वादी या द्वैतवादी हो या तुम अपने को चाहे जिस नाम से पुकारो तुम्हें अपने शास्त्र उपनिषदों का प्रामाण्य स्वीकार करना ही होगा। यदि भारत का कोई सम्प्रदाय उपनिषदों का प्रामाण्य न माने तो वह 'सनातन' मत का अनुयायी नहीं कहा जा सकता। और जैनों-बौद्धों के मत भी उपनिषदों का प्रमाण न स्वीकार करने के कारण ही भारतभूमि से हटा दिये गये थे। इसलिए चाहे हम जानें या न जानें वेदान्त भारत के सब सम्प्रदायों में प्रविष्ट है और हम जिसे हिन्दू धर्म कहते हैं—यह अनगिनती शाखाओंवाला महान् वट वृक्ष के समान हिन्दू धर्म—वेदान्त के ही प्रभाव से खड़ा है। चाहे हम जानें चाहे न जानें परन्तु हम वेदान्त का ही विचार करते हैं वेदान्त ही हमारा जीवन है वेदान्त ही हमारी साँस है, मृत्यु तक हम वेदान्त ही के उपासक हैं और प्रत्येक हिन्दू का यही हाल है। अतः भारत भूमि में भारतीय श्रोताओं के सामने वेदान्त का प्रचार करना मानो एक असंगति है। परन्तु यदि किसी का प्रचार करना है तो वह इसी वेदान्त का विशेषतः इस युग में इसका प्रचार अत्यन्त आवश्यक हो गया है। क्योंकि हमने तुमसे अभी अभी कहा है कि भारत के सब सम्प्रदायों को उपनिषदों का प्रामाण्य मानकर चलना चाहिए, परन्तु इन सब सम्प्रदायों में हमें ऊपर ऊपर अनेक विरोध देखने को मिलते हैं। बहुत बार प्राचीन बड़े बड़े ऋषि भी उपनिषदों में निहित अपूर्व समन्वय को नहीं समझ सके। बहुधा मुनियों ने भी आपस के मतभेद के कारण विवाद किया है। यह मतविरोध किसी समय इतना बढ़ गया था कि यह एक कहावत हो गयी थी कि जिसका मत दूसरे से भिन्न न हो वह मुनि ही नहीं—नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्। परन्तु अब ऐसा विरोध नहीं चल सकता। अब उपनिषदों के मंत्रों में गूढ़ रूप से जो समन्वय छिपा हुआ है, उसकी विशद व्याख्या और प्रचार की आवश्यकता सभी के लिए आन पड़ी है, फिर चाहे कोई द्वैतवादी हो विशिष्टाद्वैतवादी हो या अद्वैतवादी उसे संसार के सामने स्पष्ट रूप से रखना चाहिए। और यह काम सिर्फ़ भारत में ही नहीं उसके बाहर भी होना चाहिए। मुझे ईश्वर की कृपा से इस प्रकार के एक महापुरुष के पैरों तले बैठकर शिक्षा ग्रहण करने का महासौभाग्य मिला था जिनका सम्पूर्ण जीवन ही उपनिषदों का महासमन्वयस्वरूप था—जिनका जीवन उनके उपदेशों की अपेक्षा हजार गुना बढ़कर उपनिषदों का जीवन्त भाष्य स्वरूप था। उन्हें देखने पर मालूम होता था मानो उपनिषद् के भाव वास्तव में मानवरूप धारण करके प्रकट हुए हों। उस समन्वय का कुछ अंश शायद मुझे भी मिला है। मैं नहीं जानता कि इसको प्रकट करने में मैं समर्थ हो सकूँगा या नहीं। परन्तु मेरा प्रयत्न यही है। अपने जीवन में मैं यह दिखाने की कोशिश करूँगा कि वैदान्तिक सम्प्रदाय एक दूसरे के विरोधी नहीं वे एक दूसरे के अवश्यम्भावी

परिणाम हैं, एक दूसरे के पूरक हैं, वे एक से दूसरे पर चढने के सोपान हैं, जब तक कि वह अद्वैत—**तत्त्वमसि**—लक्ष्य प्राप्त न हो जाय।

भारत मे एक वह समय था जब कर्मकाड का बोलबाला था। वेदो के इस अश मे अनेक ऊँचे आदर्श हैं, इसमे कोई सन्देह नही। हमारी वर्तमान नित्य पूजाओ मे से कुछ यद्यपि अभी भी वैदिक कर्मकाड के अनुसार ही की जाती हैं, इतना होते हुए भी भारत मे वैदिक कर्मकाड का प्राय लोप हो गया है। अब हमारा जीवन वेदो के कर्मकाड के अनुसार बहुत ही कम नियमित और अनुशासित होता है। अपने दैनिक जीवन मे हम प्राय पौराणिक अथवा तात्रिक हैं, यहाँ तक कि जहाँ कही भारत के ब्राह्मण वैदिक मत्रो को काम मे लाते हैं, वहाँ अधिकाशत उनका विचार वेदो के अनुसार नही, किन्तु तत्रो या पुराणो के अनुसार होता है। अतएव वेदो के कर्मकाड के विचार से अपने को वैदिक बताना हमारी समझ मे युक्तिपूर्ण नही जँचता, परन्तु यह असदिग्ध है कि हम सभी वेदान्ती हैं। जो लोग अपने को हिन्दू कहते है, अच्छा होता यदि वे अपने को वेदान्ती कहते। और जैसा कि हमने तुम्हें पहले ही बतलाया है कि उसी वेदान्ती नाम के भीतर सब सम्प्रदाय—द्वैतवादी हो, चाहे अद्वैतवादी—आ जाते हैं।

वर्तमान समय मे भारत मे जितने सम्प्रदाय हैं, उनके मुख्यत दो भाग किये जा सकते हैं—द्वैतवादी और अद्वैतवादी। इनमे से कुछ सम्प्रदाय जिन छोटे छोटे मतभेदो पर अधिक बल देते हैं और जिनकी सहायता से वे विशुद्धाद्वैतवादी और विशिष्टाद्वैतवादी आदि नये नये नाम लेना चाहते हैं, उनसे विशेष कुछ बनता बिगडता नही। उन्हें या तो द्वैतवादियो की श्रेणी मे शामिल किया जा सकता है अथवा अद्वैतवादियो की श्रेणी मे। और जो सम्प्रदाय वर्तमान समय के है, उनमे से कुछ तो बिल्कुल नये है और दूसरे पुराने सम्प्रदायो के नवीन सस्करण जान पडते हैं। पहली श्रेणी के प्रतिनिधि स्वरूप मैं रामानुजाचार्य का जीवन और दर्शन प्रस्तुत करूँगा और दूसरी के प्रतिनिधि रूप मे शकराचार्य का जीवन और दर्शन।

रामानुज उत्तरकालीन भारत के प्रधान द्वैतवादी दार्शनिक हैं। अन्य द्वैतवादियो ने प्रत्यक्षत या परोक्षत अपने तत्त्व-प्रचार मे और अपने सम्प्रदायो के सगठन मे, यहाँ तक कि अपने सगठन की छोटी छोटी बातो मे भी उन्हीका अनुसरण किया है। रामानुज और उनके प्रचार-कार्य के साथ भारत के दूसरे द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदायो की तुलना करो तो आश्चर्य होगा, कि उनके आपस के उपदेशो, साधना-प्रणालियो और साम्प्रदायिक नियमो मे बडा सादृश्य है। अन्यान्य वैष्णवाचार्यो मे दाक्षिणात्य आचार्य मध्व मुनि और उनके बाद हमारे बगदेश के महाप्रभु श्री चैतन्य का नाम उल्लेख योग्य है, जिन्होंने मध्वाचार्य के दर्शन का बगाल

से प्रचार किया था। दक्षिण में कई सम्प्रदाय और हैं जैसे विशिष्टाद्वैतवादी शैव। शैव प्रायः अद्वैतवादी होते हैं। सिंहल और दक्षिण के कुछ स्थानों को छोड़कर भारत में सर्वत्र शैव अद्वैतवादी हैं। विशिष्टाद्वैतवादी शैवों ने 'विष्णु' नाम की जगह सिर्फ 'शिव' नाम बैठाया है और आत्मा विषयक सिद्धान्त को छोड़ अन्यान्य सब विषयों में रामानुज के ही मत को ग्रहण किया है। रामानुज के अनुयायी आत्मा को अणु अर्थात् अत्यन्त छोटा कहते हैं, परन्तु शंकराचार्य के मतानुयायी उसे विभु अर्थात् सर्वव्यापी स्वीकार करते हैं। प्राचीन काल में अद्वैत मत के कई सम्प्रदाय थे। ऐसा लगता है कि प्राचीन समय में ऐसे अनेक सम्प्रदाय थे जिन्हें शंकराचार्य के सम्प्रदाय ने पूर्णतया आत्मसात् कर अपने में मिला लिया था। वेदान्त के किसी किसी भाष्य में विशेषतः विज्ञानभिक्षु के भाष्य में शंकर पर बीच बीच में कटाक्ष किया गया दिखायी देता है। विज्ञानभिक्षु यद्यपि अद्वैतवादी थे फिर भी उन्होंने शंकर के मायावाद को उड़ा देने की कोशिश की थी। अतः साफ जान पड़ता है कि ऐसे अनेक सम्प्रदाय थे जिनका मायावाद पर विश्वास न था यहाँ तक कि उन्होंने शंकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहने में भी संकोच नहीं किया। उनकी यह धारणा थी कि मायावाद को बौद्धों से लेकर शंकर ने वेदान्त के भीतर रखा है। जो कुछ भी हो वर्तमान समय में सभी अद्वैतवादी शंकराचार्य के अनुगामी हैं और शंकराचार्य तथा उनके शिष्य उत्तर भारत और दक्षिण भारत दोनों स्थानों में अद्वैतवाद के विशेष प्रचारक रहे हैं। शंकराचार्य का प्रभाव हमारे बंगाल में और पंजाब तथा काश्मीर में ज्यादा नहीं फैला परन्तु दक्षिण के सभी स्मार्त शंकराचार्य के अनुयायी हैं और वाराणसी अद्वैतवाद का एक केन्द्र होने के कारण उत्तर भारत के अनेक स्थानों में उनका प्रभाव बहुत ज्यादा है।

परन्तु मौलिक तत्त्व के आविष्कार करने का दावा न शंकराचार्य ने किया है और न रामानुज ने। रामानुज ने तो साफ कहा है कि हमने बोधायन के भाष्य का अनुसरण करके तदनुसार ही वेदान्त सूत्रों की व्याख्या की है। भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते।—'भगवान् बोधायन ने ब्रह्मसूत्र पर विस्तारपूर्वक भाष्य लिखा था जिसे पूर्व आचार्यों ने संक्षिप्त कर दिया। उनके मतानुसार मैं सूत्र के शब्दों की व्याख्या कर रहा हूँ।' अपने 'श्रीभाष्य' के आरम्भ में ही रामानुज ने ये बातें लिख दी हैं। उन्होंने बोधायनकृत ब्रह्मसूत्र भाष्य को लिया और उसे संक्षिप्त कर दिया और वही संक्षिप्त रूप आजकल हमें उपलब्ध है। बोधायन भाष्य देखने का अवसर मुझे कभी नहीं मिला। उसे अभी तक देख नहीं सका हूँ। पर-

लोकगत स्वामी दयानन्द मरस्वती व्याससूत्रों के वोधायन भाष्य के सिवा अन्य सभी भाष्यो को अस्वीकार कर देना चाहते थे, और यद्यपि वे अवसर मिलने पर रामानुज के ऊपर कटाक्ष किये विना न रहते थे, वे भी। कभी वोवायन भाष्य को सर्वसाधारण के सामने नही रख सके। परन्तु रामानुज ने स्पष्टत कहा है कि वोधायन के विचार, और कही कही तो उसके अश तक, लेकर हमने अपने वेदान्त-भाष्य की रचना की है। यह अनुमान किया जा सकता है कि शकराचार्य ने भी प्राचीन भाष्यकारो के ग्रथो का अवलम्बन कर अपने भाष्य का प्रणयन किया होगा। उनके भाष्य मे कई जगह प्राचीन भाष्यो के नाम आये हैं। और जव कि उनके गुरु और गुरु के गुरु स्वय उन्हीके जैसे एक ही अद्वैत मत के प्रवर्तक और वेदान्ती थे—और कभी कभी किसी विषय मे वे शकर की अपेक्षा अद्वैत तत्त्व के प्रकाशन मे अधिक अग्रसर एव साहसी थे—तव यह साफ समझ मे आ जाता है कि शकर ने भी किसी नये भाव तत्त्व का प्रचार नही किया। रामानुज ने जिस प्रकार वोवायन भाष्य के सहारे अपना भाष्य लिखा था, अपनी भाष्य-रचना मे शकर ने भी वैसा ही किया। परन्तु अभी तक यह निर्णय नही किया जा सका है कि शकर ने किस भाष्य को आधार मानकर भाष्य लिखा।

जिन दर्शनो को तुमने पढा है या जिनके नाम सुने हैं, वे सव के सव उपनिषद् के प्रमाण पर आधारित हैं। जव भी उन्होंने श्रुति की दुहाई दी है, तब उपनिपदो को ही लक्ष्य किया है। जब वे श्रुति को उद्धृत करते हैं, उनका मतलव उपनिपदो से रहता है। भारत मे उपनिषदो के वाद अन्य कई दर्शनो का जन्म हुआ, परन्तु व्यास द्वारा लिखे गये वेदान्त दर्शन की तरह किसी दूसरे दर्शन की प्रतिष्ठा भारत मे नही हो सकी। पर वेदान्त दर्शन भी प्राचीन साख्य दर्शन का ही विकसित रूप है। और सारे भारत के, यहाँ तक कि सारे ससार के सभी दर्शन और सभी मत कपिल के विशेष रूप से ऋणी हैं। मनस्तात्त्विक और दार्शनिक विपयो का कपिल जैसा महान् व्याख्याता भारत के इतिहास मे शायद ही दूसरा हुआ हो। मसार में सर्वत्र ही कपिल का प्रभाव दीख पडता है। जहाँ कोई मान्यताप्राप्त दार्शनिक मत विद्यमान है, वही उनका प्रभाव खोजा जा सकता है। वह हज़ार वर्ष पहले का चाहे भले ही हो, किन्तु वहाँ वे ही कपिल—वे ही तेजस्वी, गौरवयुक्त, अपूर्व प्रतिभाशाली कपिल दृष्टिगोचर होते हैं। उनके मनस्तत्त्व और दर्शन के अधिकाश को थोडा सा फेर-फार करके भारत के भिन्न भिन्न सभी सम्प्रदायो ने ग्रहण किया है। हमारी जन्मभूमि वगाल के नैयायिक भारत के दार्शनिक क्षेत्र मे विशेष प्रभाव फैलाने मे समर्थ नही हो सके। वे सामान्य, विशेप, जाति, द्रव्य, गुण आदि वोझिल पारिभाषिक क्षुद्र शब्दो मे उलझ गये, जिन्हें कोई अच्छी तरह समझना

चाहे तो सारी उम्र बीत जाय। वे दर्शनालोचन का भार वेदान्तियों पर छोड़कर स्वयं 'न्याय' लेकर बैठे। परन्तु आधुनिक काल में भारत के सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने बंग देश के नैयायिकों की तर्क सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली ग्रहण की है। जगदीश, गदाधर और शिरोमणि के नाम मलाबार देश में कहीं कहीं उसी प्रकार प्रसिद्ध है जिस प्रकार नदिया में। किन्तु व्यास का दर्शन वेदान्तसूत्र भारत में सब जगह सुप्रतिष्ठ है, और दर्शन ने वेदान्त-प्रतिपाद्य ब्रह्म को (युक्तिपूर्ण ढंग से) मनुष्य के लिए व्यक्त करने का उसका जो उद्देश्य रहा है उसे साधित करके उसमें स्थायित्व लाभ किया। इस वेदान्त दर्शन में युक्ति को पूर्णतया श्रुति के अधीन रखा गया है, शंकराचार्य ने भी एक जगह घोषित किया है कि व्यास ने युक्ति-विचार का यत्न नहीं किया। उनके सूत्रप्रणयन का एकमात्र उद्देश्य यह था कि वेदान्त मंत्ररूपी पुष्पों को एक ही सूत्र में गूँथकर एक माला तैयार करें। उनके सूत्र वहीं तक मान्य हैं जहाँ तक वे उपनिषदों के अधीन हैं, इसके आगे नहीं।

इस समय भारत के सभी सम्प्रदाय व्याससूत्रों को प्रामाणिक ग्रन्थों में श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं। और जब यहाँ कोई नवीन सम्प्रदाय प्रारम्भ होता है तो वह व्याससूत्रों पर अपने ज्ञानानुकूल नया भाष्य लिखकर अपनी जड़ जमाता है। कभी कभी इन भाष्यकारों के मत में बहुत फ़र्क आता दीख पड़ता है। कभी कभी तो मूल सूत्रों की अर्थविकृति देखकर जी ऊब जाता है। अस्तु। व्याससूत्रों को इस समय भारत में सबसे अच्छे प्रमाण ग्रन्थ का आसन मिल गया है और व्याससूत्रों पर एक नया भाष्य बिना किये भारत में कोई सम्प्रदाय संस्थापन की आशा नहीं कर सकता।

व्याससूत्रों के बाद ही विश्वप्रसिद्ध गीता का प्रामाण्य है। शंकराचार्य का गौरव गीता के प्रचार से ही बढ़ा। इस महापुरुष ने अपने महान् जीवन में जो बड़े बड़े कर्म किये गीता का प्रचार और उसकी एक सुन्दर भाष्य रचना भी उन्हीं में है। और भारत के सनातनमार्गी सम्प्रदाय-संस्थापकों में से हर एक ने उनका अनुगमन किया और तदनुसार गीता पर एक एक भाष्य की रचना की।

उपनिषद् अनेक हैं। कोई कोई यह कहते हैं कि उनकी संख्या एक सौ आठ है और कोई कोई और भी अधिक कहते हैं। उनमें से कुछ स्पष्ट ही आधुनिक हैं यथा अल्लोपनिषद्। उसमें अल्लाह की स्तुति है और मुहम्मद को रसूलल्ला कहा गया है। मैंने सुना है कि यह अकबर के राज्यकाल में हिन्दू और मुसलमानों में मेल कराने के लिए रचा गया था। कभी कभी संहिता विभाग में अल्ला इल्ला जैसे किसी शब्द को बरबस ग्रहण कर, उसके आधार पर उपनिषद् रच लिया

गया है। इस प्रकार इस अल्लोपनिषद् मे मुहम्मद रसूलल्ला हुए। इसका तात्पर्य चाहे जो कुछ हो, किन्तु इस प्रकार के और भी अनेक साम्प्रदायिक उपनिषद् है। यह स्पष्ट समझ मे आ जाता है कि वे विल्कुल आवुनिक हैं और उपनिषदो की ऐसी रचना बहुत कठिन भी नही थी, क्योकि वेदो के सहिता भाग की भाषा इतनी पुरानी है कि उसमे व्याकरण के नियम नही माने गये। कई साल हुए, वैदिक व्याकरण पढने की मेरी इच्छा हुई और मैंने वडे आग्रह से पाणिनि और महाभाष्य पढना आरम्भ किया। परन्तु मुझे वडा आश्चर्य हुआ, जव मैंने देखा कि वैदिक व्याकरण के प्रधान भाग केवल साधारण नियमो के अपवाद ही है। व्याकरण मे एक साधारण विधान माना गया, परन्तु इसके वाद ही यह बतलाया गया कि वेदो मे यह नियम अपवादस्वरूप होगा। अत हम देखते हैं कि वचाव के लिए यास्क की निरुक्ति का उपयोग कर कोई भी मनुष्य चाहे जो कुछ लिखकर वडी आसानी से उसे वेद कहकर प्रचार कर सकता है। साथ ही इसके अधिकाश भाग मे वहुसख्यक पर्याय शब्द रखे गये हैं। जहाँ इतने सुभीते है, वहाँ तुम जितना चाहो उपनिषद् लिख सकते हो। यदि सस्कृत का कुछ ज्ञान हो तो प्राचीन वैदिक शब्दो की तरह कुछ शब्द गढ लेने ही से काम हो जायगा, व्याकरण का तो कुछ भय रहा ही नही। फिर तो रसूलल्ला हो, चाहे जो सुल्ला हो, उसे अपने ग्रन्थ मे तुम अनायास रख सकते हो। इस प्रकार अनेक उपनिषदो की रचना हो गयी है और सुनते हैं कि अब भी होती है। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि भारत के कुछ भागो मे भिन्न भिन्न सम्प्रदायो के लोग अव भी ऐसे उपनिषदो का प्रणयन करते है, परन्तु इन उपनिषदो मे कुछ ऐसे हैं, जो स्पष्टत अपनी प्रामाणिकता की गवाही देते हैं, और इन्हीको शकर, वाद मे रामानुज और दूसरे बडे वडे भाष्यकारो ने स्वीकार किया है तथा इनका भाष्य किया है।

उपनिषदो के और भी दो एक तत्त्वो की ओर मैं तुम्हारा ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ, क्योकि ये उपनिषद् ज्ञानसमुद्र है और मुझ जैसा अयोग्य मनुष्य यदि उनके सम्पूर्ण तत्त्वो की व्याख्या करना चाहे तो वर्षों बीत जायेंगे, एक व्याख्यान मे कुछ न होगा। अतएव उपनिपदो के अध्ययन के प्रसग मे मेरे मन मे जो दो एक वातें आयी हैं, उनकी ओर तुम्हारा ध्यान दिलाना चाहता हूँ। पहले तो ससार मे इनकी तरह अपूर्व काव्य और नही हैं। वेदो के सहिता भाग को पढते समय उसमे भी जगह जगह अपूर्व काव्य-सौन्दर्य का परिचय मिलता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद सहिता के नासदीय सूक्तो को पढो। उसमे प्रलय के गम्भीर अन्वकार के वर्णन मे है—**तम आसीत् तमसा गूढमग्रे** इत्यादि—'जव अन्वकार से अन्धकार ढँका हुआ था।' इसके पाठ ही से यह जान पडता है कि कवित्व का अपूर्व गाम्भीर्य

इसमें भरा है। तुमने क्या इस ओर दृष्टि डाली है कि भारत के बाहर के देशों में तथा भारत में भी गम्भीर भावों के चित्र खींचने के अनेक प्रयत्न किये गये हैं? भारत के बाहरी देशों में यह प्रयत्न सदा जड़ प्रकृति के अनन्त भावों के वर्णन में ही हुआ है—केवल अनन्त बहिःप्रकृति अनन्त जड़ अनन्त देश का वर्णन हुआ है। जब भी मिल्टन या दाँते या किसी दूसरे प्राचीन अथवा आधुनिक यूरोपीय बड़े कवि ने अनन्त के चित्र खींचने की कोशिश की है तभी उन्होंने कवित्व-पर्खों के सहारे अपने बाहर दूर आकाश में विचरते हुए, बाह्य अनन्त प्रकृति का कुछ कुछ आभास देने की चेष्टा की है। यह चेष्टा यहाँ भी हुई है। बाह्य प्रकृति का अनन्त विस्तार जिस प्रकार वेद संहिता में चित्रित होकर पाठकों के सामने रखा गया है वैसा अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलता। संहिता के इस 'तम आसीत् तमसा गूढम्' वाक्य को याद रखकर तीन भिन्न भिन्न कवियों के अन्धकार वर्णन के साथ इसकी तुलना करके देखो। हमारे कालिदास ने कहा है—'सूचीभेद्य अन्धकार' उधर मिल्टन कहते हैं 'उजाला नहीं है दृश्यमान अन्धकार है।' परन्तु ऋग्वेद संहिता में है—अन्धकार से अन्धकार ढँका हुआ है, अन्धकार के भीतर अन्धकार छिपा हुआ है। हम उष्ण कटिबन्ध के रहनेवाले सहज ही में समझ सकते हैं कि जब सहसा नवीन वर्षागम होता है, तब सम्पूर्ण दिङ्मंडल अन्ध कारच्छन्न हो जाता है और उमड़ती हुई काली घटाएँ दूसरे बादलों को घेर लेती हैं। इसी प्रकार कविता चलती है, परन्तु संहिता के इस अंश में भी बाहरी प्रकृति का वर्णन किया गया है। बाहरी प्रकृति का विश्लेषण करके मानव-जीवन की महान् समस्याएँ अन्यत्र जैसे हल की गयी हैं, वैसे ही यहाँ भी। जिस प्रकार प्राचीन यूनान अथवा आधुनिक यूरोप जीवन-समस्या का समाधान पाने के लिए तथा जगत्कारण सम्बन्धी पारमार्थिक तत्त्वों की खोज के लिए बाह्य प्रकृति के अन्वेषण में संलग्न हुए, उसी प्रकार हमारे पूर्वजों ने भी किया और पाश्चात्यों के समान वे भी असफल हुए। परन्तु पश्चिमी जातियों ने इस विषय में और कोई प्रयत्न नहीं किया वहीं वे थीं वहीं पड़ी रहीं। बहिर्जगत् में जीवन और मृत्यु की महान् समस्याओं के समाधान में व्यर्थ प्रयास होने पर वे आगे नहीं बढ़ीं। हमारे पूर्वजों ने भी इसे असम्भव समझा था परन्तु उन्होंने इस समाधान की प्राप्ति में इन्द्रियों की पूरी असमर्थता संसार के सामने निर्भय होकर घोषित की। उपनिषद् से अच्छा उत्तर कहीं नहीं मिलेगा।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

'मन के साथ वाणी जिसे न पाकर वहाँ से लौट आती है।'

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः।

'वहाँ न आँखो की पहुंच है, न वाणी की।'

ऐसे अनेक वाक्य हैं, जिन्होंने इन्द्रियों को इस महासमस्या के समाधान के लिए सर्वथा अक्षम वताया है, किन्तु वे पूर्वज इतना ही कहकर रुक नही गये। वाह्य प्रकृति से लौटकर वे मनुष्य की अन्त प्रकृति की ओर प्रवृत्त हुए। इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए वे स्वय अपनी आत्मा के निकट गये, वे अन्तर्मुख हुए। वे समझ गये थे कि प्राणहीन जड से कभी सत्य की प्राप्ति न होगी। उन्होने देखा कि वहि प्रकृति से प्रश्न करने पर कोई उत्तर नही मिलता, न उससे कोई आशा की जा सकती है, अतएव वाहर सत्य की खोज की चेष्टा वृथा जानकर वहि प्रकृति का त्याग करके वे उसी ज्योतिर्मय जीवात्मा की ओर मुडे और वहाँ उन्हे उत्तर भी मिला **तमेवैक जानथ आत्मान अन्या वाचो विमुचथ।**—'एकमात्र उसी आत्मा का ज्ञान प्राप्त करो और दूसरे वृथा वाक्य छोडो।' उन्होंने आत्मा मे ही सारी समस्याओ का समाधान पाया। वही उन्होंने विश्वेश्वर परमात्मा को जाना और जीवात्मा के साथ उसका सम्बन्ध, उसके प्रति हमारा कर्तव्य और उसके आधार पर हमारा पारस्परिक सम्बन्ध—आदि ज्ञान प्राप्त किया। और इस आत्मतत्त्व के वर्णन के सदृश उदात्त ससार मे और दूसरी कविता नही है। जड के वर्णन की भाषा मे इस आत्मा को चित्रित करने की चेष्टा न रही, यहाँ तक कि आत्मा के वर्णन मे उन्होने गुणो का निर्देश करना विल्कुल छोड दिया। तव अनन्त की धारणा के लिए इन्द्रियो की सहायता की आवश्यकता नही रही। वाह्य इन्द्रिय-ग्राह्य, अचेतन, मृत, जड स्वभाव, अवकाशरूपी अनन्त का वर्णन लुप्त हो गया। वरन् इसके स्थान पर आत्मतत्त्व का ऐसा वर्णन मिलता है, जो इतना सूक्ष्म है, जैसा कि इस कथन मे निर्दिष्ट है

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति॥[1]

ससार मे और कौन सी कविता इसकी अपेक्षा अधिक उदात्त होगी? 'वहाँ न सूर्य का प्रकाश है, न चन्द्रतारकाओ का, यह बिजली उसे प्रकाशित नही कर सकती, तो मृत्युलोक की इस अग्नि की वात ही क्या? उसीके प्रकाश से सव कुछ प्रकाशित होता है।'

ऐसी कविता तुमको कही नही मिल सकती और कही न पाओगे। उस अपूर्व कठोपनिषद् को लो। इस काव्य का रचना-चमत्कार कैसा सर्वांग सुन्दर है। किस

---

१ मुण्डकोपनिषद् ॥२।२।१७॥

मनोहर रीति से यह आरम्भ किया गया है। उस छोटे से बालक नचिकेता के हृदय में श्रद्धा का आविर्भाव, उसकी यमदर्शन की अभिलाषा और सबसे बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि यम स्वयं उसे जीवन और मृत्यु का महान् पाठ पढ़ा रहे हैं। और वह बालक उनसे क्या जानना चाहता है?—मृत्यु-रहस्य।

उपनिषदों के सम्बन्ध की जिस दूसरी बात पर तुम्हें ध्यान देना चाहिए, वह है उनका अपौरुषेयत्व। यद्यपि उनमें हमें अनेक आचार्यों और वक्ताओं के नाम मिलते हैं पर उनमें से एक भी उपनिषदों के प्रमाणस्वरूप नहीं गिने जाते। उपनिषदों का एक भी मंत्र उनमें से किसीके जीवन के ऊपर निर्भर नहीं है। ये सब आचार्य और वक्ता मानो छायामूर्ति की भाँति रंगमंच के पीछे अवस्थित हैं। उन्हें मानो कोई स्पष्टतया नहीं देख पाता, उनकी सत्ता मानो साफ समझ में नहीं आती। यथार्थ शक्ति उपनिषदों के उन अपूर्व महिमामय ज्योतिर्मय तेजोमय मंत्रों के भीतर निहित है, जो बिल्कुल व्यक्तिनिरपेक्ष हैं। बीसियों याज्ञवल्क्य आयें रहें और चले जायें इससे कोई हानि नहीं, मंत्र तो बने ही रहेंगे। किन्तु फिर भी वे किसी व्यक्तिविशेष के विरोधी नहीं हैं। वे इतने विशाल और उदार हैं कि संसार में अब तक जितने महापुरुष या आचार्य पैदा हुए और भविष्य में जितने आयेंगे उन सबको समाहित कर सकते हैं। उपनिषद् अवतारों या महापुरुषों की उपासना के विरोधी नहीं हैं बल्कि उसका समर्थन करते हैं। किन्तु साथ ही वे सम्पूर्ण रूप से व्यक्तिनिरपेक्ष हैं। उपनिषद् का ईश्वर जिस प्रकार निर्गुण अर्थात् व्यक्तिनिरपेक्ष है, उसी प्रकार समग्र उपनिषद् व्यक्तिनिरपेक्षता-रूप अपूर्व तत्त्व के ऊपर प्रतिष्ठित है। ज्ञानी चिन्तनशील दार्शनिक तथा युक्तिवादी उसमें इतनी व्यक्तिनिरपेक्षता पाते हैं जितना कोई आधुनिक विज्ञानवेत्ता चाह सकता है।

और ये ही हमारे शास्त्र हैं। तुम्हें याद रखना चाहिए कि ईसाइयों के लिए जैसे बाइबिल है, मुसलमानों के लिए क़ुरान, बौद्धों के लिए त्रिपिटक, पारसियों के लिए जन्द-अवस्ता, वैसे ही हमारे लिए उपनिषद् हैं। ये ही हमारे शास्त्र हैं, दूसरे नहीं। पुराण, तन्त्र और अन्यान्य ग्रन्थ, यहाँ तक कि व्याससूत्र भी गौण हैं, हमारे मुख्य प्रमाण हैं वेद। मन्वादि स्मृतियों और पुराणों का जितना अंश उपनिषदों से मेल खाता है, उतना ही ग्रहणीय है, यदि असहमति प्रकट करें तो उन्हें निर्दयतापूर्वक छोड़ देना चाहिए। हमें यह सदा स्मरण रखना होगा, परन्तु भारत के दुर्भाग्य से वर्तमान समय में हम यह बिलकुल भूल गये हैं। इस समय छोटे छोटे ग्राम्य आचारों को मानो उपनिषदों के उपदेशों के स्थान पर प्रामाण्य प्राप्त हो गया है। बंगाल के सुदूर देहातों में जो आचार प्रचलित हैं वे मानो वेद-वाक्य हैं। नहीं, उनसे भी बढ़कर हैं। और 'सनातन-मतावलम्बी' इस

शव्द का प्रभाव भी कितना विचित्र है! एक देहाती की निगाह मे वही सच्चा हिन्दू है, जो कर्मकाड की हर एक छोटी छोटी वात का पालन करता है और जो नही करता, उसे अहिन्दू कहकर दुत्कार दिया जाता है। दुर्भाग्य से हमारी मातृभूमि मे ऐसे अनेक लोग हैं, जो किसी तत्रविशेष का अवलम्बन कर सर्वसाधारण जनता को उसी तत्र-मत का अनुसरण करने का उपदेश देते है। जो वैसा नही करते, वे उनके मत मे सच्चे हिन्दू नही हैं। अत हमारे लिए यह स्मरण रखना अत्यन्त आवश्यक है कि उपनिषद् ही मुख्य प्रमाण हैं। गृह्य और श्रौत सूत्र भी वेदो के प्रमाणाधीन हैं। यही उपनिषद् हमारे पूर्वपुरुप ऋषियो के वाक्य हैं और यदि तुम हिन्दू होना चाहो तो तुम्हे यह विश्वास करना ही होगा। तुम ईश्वर के वारे मे जैसा चाहो विश्वास कर सकते हो, परन्तु वेदो का प्रामाण्य यदि नही मानते तो तुम घोर नास्तिक हो। ईसाई, वौद्ध या दूसरे शास्त्रो तथा हमारे शास्त्रो मे यही अन्तर है। उन्हें शास्त्र न कहकर पुराण कहना चाहिए, क्योकि उनमे जलप्लावन का इतिहास, राजाओ और राजवशधरो का इतिहास, महापुरुषो के जीवन-चरित आदि विषय लेखवद्ध हैं। ये सव पुराणो के लक्षण हैं, अत इनका जितना अश वेदो से मेल खाता हो, उतना ही ग्रहणीय है, परन्तु जो अश नही मेल खाता, उसके मानने की आवश्यकता नही। वाइविल और दूसरी जातियो के शास्त्र भी जहाँ तक वेदो से सहमत हैं, वही तक अच्छे हैं, लेकिन जहाँ ऐसा नही है, वे हमारे लिए अस्वीकार्य हैं। कुरान के सम्वन्ध मे भी यही वात है। इन ग्रन्थो मे अनेक नीति-उपदेश है, अत वेदो के साथ उनका जहाँ तक ऐक्य हो, वही तक, पुराणो के समान, उनका प्रामाण्य है, इससे अधिक नही। वेदो के सम्वन्ध मे मेरा यह विश्वास है कि वेद कभी लिखे नही गये, वेदो की उत्पत्ति नही हुई। एक ईसाई मिशनरी ने मुझसे किसी समय कहा था, हमारी वाइविल ऐतिहासिक नीव पर स्थापित है और इसीलिए सत्य है, इस पर मैंने जवाव दिया था, "हमारे शास्त्र इसीलिए सत्य हैं कि उनकी कोई ऐतिहासिक भित्ति नही है, तुम्हारे शास्त्र जब कि ऐतिहासिक हैं, तव अवश्य ही वे कुछ दिन पहले किसी मनुष्य द्वारा रचे गये थे, तुम्हारे शास्त्र मनुष्यप्रणीत हैं, हमारे नही। हमारे शास्त्रो की अनैतिहासिकता ही उनकी सत्यता का प्रमाण है।" वेदो के साथ आजकल दूसरे शास्त्रो का यही सम्वन्ध है।

अब हम उपनिषदो की शिक्षा की पर्यालोचना करेंगे। उनमे अनेक भावो के श्लोक हैं। कोई कोई सम्पूर्ण द्वैत भावात्मक हैं और अन्य अद्वैत भावात्मक है। किन्तु उनमे कई वातें हैं, जिन पर भारत के सभी सम्प्रदाय एकमत हैं। पहले तो सभी सम्प्रदाय ससारवाद या पुनर्जन्मवाद स्वीकार करते हैं। दूसरे, सव

सम्प्रदायों का मनोविज्ञान भी एक ही प्रकार का है पहले यह स्थूल शरीर, इसके पीछे सूक्ष्म शरीर या मन है और इसके भी परे जीवात्मा है। पश्चिमी और भारतीय मनोविज्ञान में यह विशेष भेद है कि पश्चिमी मनोविज्ञान में मन और आत्मा में कोई अन्तर नहीं माना गया है, परन्तु हमारे यहाँ ऐसा नहीं। भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार मन अथवा अन्तःकरण मानो जीवात्मा के हाथों का यन्त्र-मात्र है। *इसीकी सहायता से वह शरीर अथवा बाहरी संसार में काम करता है।* इस विषय में सभी का मत एक है। और सभी सम्प्रदाय एक स्वर से यह स्वीकार करते है कि जीवात्मा अनादि और अनन्त है। जब तक उसे सम्पूर्ण मुक्ति नहीं मिलती तब तक उसे बार बार जन्म लेना होगा। इस विषय में सब सहमत हैं। एक और मुख्य विषय में सबकी एक राय है, और यही भारतीय और पश्चिमी चिन्तन प्रणाली में विशेष मौलिक तथा अत्यन्त जीवन्त एवं महत्त्वपूर्ण अन्तर है, यहाँवाले जीवात्मा में सब शक्तियों की अवस्थिति स्वीकार करते हैं। यहाँ शक्ति और प्रेरणा के बाह्य आवाहन के स्थान पर उनका आन्तरिक स्फुरण स्वीकार किया गया है। हमारे शास्त्रों के अनुसार सब शक्तियाँ सब प्रकार की महत्ता और पवित्रता आत्मा में ही विद्यमान है। योगी तुमसे कहेंगे कि अणिमा लघिमा आदि सिद्धियाँ जिन्हें वे प्राप्त करना चाहते हैं, वास्तव में प्राप्त करने की नहीं वे पहले से ही आत्मा में मौजूद है सिर्फ उन्हें व्यक्त करना होगा। पतञ्जलि के मत में तुम्हारे पैरों तले चलनेवाले छोटे से छोटे कीड़ों तक में योगी की अष्ट सिद्धियाँ वर्तमान हैं केवल अपने देहरूपी आधार की अनुपयुक्तता के कारण ही वे प्रकाशित नहीं हो पातीं। जब भी उन्हें उत्कृष्टतर शरीर प्राप्त होगा वे शक्तियाँ अभिव्यक्त हो जायँगी परन्तु होती हैं वे पहले से ही विद्यमान। उन्होंने अपने सूत्रों में एक जगह कहा है निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्। —'शुभाशुभ कर्म प्रकृति के परिणाम (परिवर्तन) के प्रत्यक्ष कारण नहीं हैं, वरन् वे प्रकृति के विकास की बाधाओं को दूर करनेवाले निमित्त कारण हैं। जैसे किसान को यदि अपने खेत में पानी लाना है तो सिर्फ खेत की मेंड़ काटकर पास के भरे तालाब से जल का योग कर देता है और पानी अपने स्वाभाविक प्रवाह से आकर खेत को भर देता है। यहाँ पतञ्जलि ने किसी बड़े तालाब से किसान द्वारा अपने खेत में जल लाने का प्रसिद्ध उदाहरण दिया है। तालाब लबालब भरा है और एक क्षण म उसका पानी किसान के पूरे खेत को भर सकता है, परन्तु तालाब तथा खेत के बीच में मिट्टी की एक मेंड़ है। ज्यों ही रुकावट पैदा करने

---

१ पातंजल योगसूत्र ॥४।३॥

वाली यह मेड तोड दी जाती है, त्यो ही तालाव का पानी अपनी ताकत और वेग से खेत मे पहुँच जाता है। ठीक उसी प्रकार जीवात्मा मे सारी शक्ति, पूर्णता और पवित्रता पहले ही से भरी है, केवल माया का परदा पडा हुआ है, जिससे वे प्रकट नही होने पाती। एक वार आवरण को हटा देने से आत्मा अपनी स्वाभाविक पवित्रता प्राप्त करती है—उसकी सारी शक्ति व्यक्त हो जाती है। तुम्हें याद रखना चाहिए कि प्राच्य और पाश्चात्य चिन्तन-प्रणाली मे यह वडा भेद है। पश्चिम-वाले यह भयानक मत सिखाते हैं कि हम जन्म से ही महापापी है और जो लोग यह भयावह मत नही मानते, उन्हे वे जन्मजात दुष्ट कहते हैं। वे यह कभी नही सोचते कि अगर हम स्वभाव से ही वुरे हो तो हमारे भले होने की आशा नही, क्योकि मनुष्य की प्रकृति कभी वदल नही सकती। 'प्रकृति का परिवर्तन'—यह वाक्य स्व-विरोधी है। जिसका परिवर्तन होता है, उसे प्रकृति नही कहना चाहिए। यह विषय हमे स्मरण रखना चाहिए। इस पर भारत के द्वैतवादी, अद्वैतवादी और सभी सम्प्रदाय एकमत हैं।

भारत के सव सम्प्रदाय एक अन्य विषय पर भी एकमत है, वह है ईश्वर का अस्तित्व। इसमे सन्देह नही कि ईश्वर के वारे मे सभी सम्प्रदायो की धारणा भिन्न भिन्न है। द्वैतवादी सगुण, केवल सगुण ईश्वर पर ही विश्वास करते हैं। मैं यह सगुण शब्द तुम्हे कुछ और भी अच्छी तरह समझाना चाहता हूँ। इस सगुण के अर्थ से देहधारी, सिहासन पर वैठे हुए, ससार का शासन करनेवाले किसी पुरुष-विशेष से मतलव नही। सगुण अर्थ से गुणयुक्त समझना चाहिए। इस सगुण ईश्वर का वर्णन शास्त्रो मे अनेक स्थलो मे देखने को मिलता है, और सभी सम्प्रदाय इस ससार का शासक, स्रष्टा, पालक और सहर्ता सगुण ईश्वर मानते हैं। अद्वैत-वादी इस सगुण ईश्वर के सम्बन्ध में और भी कुछ ज्यादा मानते हैं। वे इस सगुण ईश्वर की एक उच्चतर अवस्था के विश्वासी हैं, जिसे सगुण-निर्गुण नाम दिया जा सकता है। जिसके कोई गुण नही है, उसका किसी विशेषण द्वारा वर्णन करना असम्भव है। और अद्वैतवादी उसे 'सत्-चित्-आनन्द' के सिवा कोई और विशेषण नही देना चाहते। शकर ने ईश्वर को सच्चिदानन्द विशेषण से पुकारा है, परन्तु उपनिषदो मे ऋषियो ने इससे भी आगे वढकर कहा है, 'नेति नेति' अर्थात् 'यह नही, यह नही।' इस विषय मे सभी सम्प्रदाय एकमत हैं। अब मैं द्वैतवादियों के मत के पक्ष मे कुछ कहूँगा। जैसा कि मैंने कहा है, रामानुज को मै भारत का प्रसिद्ध द्वैतवादी तथा वर्तमान समय के द्वैतवादी सम्प्रदायो का सबसे वडा प्रतिनिधि मानता हूँ। खेद की बात है कि हमारे बगाल के लोग भारत के उन बडे बडे धर्माचार्यों के विषय मे जिनका जन्म दूसरे प्रान्तो मे हुआ था, वहुत ही थोडा ज्ञान रखते

हैं। मुसलमानों के राज्यकाल में एक चैतन्य को छोड़कर बड़े बड़े और सभी धार्मिक नेता दक्षिण भारत में पैदा हुए थे और इस समय दाक्षिणात्यों का ही मस्तिष्क वास्तव में भारत भर का शासन कर रहा है। यहाँ तक कि चैतन्य भी इन्हीं सम्प्रदायों में से एक के मध्वाचार्य के सम्प्रदाय के अनुयायी थे। अस्तु, रामानुज के मतानुसार नित्य पदार्थ तीन हैं—ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति। सभी जीवात्माएँ नित्य हैं परमात्मा के साथ उनका भेद सदैव बना रहेगा और उनकी स्वतंत्र सत्ता का कभी लोप नहीं होगा। रामानुज कहते हैं, तुम्हारी आत्मा हमारी आत्मा से अनन्त काल के लिए पृथक रहेगी और यह प्रकृति भी चिर काल तक पृथक रूप से विद्यमान रहेगी क्योंकि उसका अस्तित्व वैसे ही सत्य है, जैसे कि जीवात्मा और ईश्वर का अस्तित्व। परमात्मा सर्वत्र अन्तर्निहित और आत्मा का सार तत्त्व है। ईश्वर अन्तर्यामी है और इसी अर्थ को लेकर रामानुज कहीं कहीं परमात्मा को जीवात्मा से अभिन्न—जीवात्मा का सारभूत पदार्थ बताते हैं, और ये जीवात्माएँ प्रलय के समय जब कि उनके मतानुसार सारी प्रकृति संकुचित अवस्था को प्राप्त होती है, संकुचित हो जाती हैं और कुछ काल तक उसी संकुचित तथा सूक्ष्म अवस्था में रहती हैं। और दूसरे कल्प के आरम्भ में वे अपने पिछले कर्मों के अनुसार फिर विकास पाती हैं और अपना कर्मफल भोगती हैं। रामानुज का मत है कि जिस कर्म से आत्मा की स्वाभाविक पवित्रता और पूर्णता का संकोच हो वही अशुभ है, और जिससे उसका विकास हो वह शुभ कर्म। जो कुछ आत्मा के विकास में सहायता पहुँचाये वह अच्छा है और जो कुछ उसे संकुचित करे, वह बुरा। और इसी तरह आत्मा की प्रगति हो रही है कभी तो वह संकुचित हो रही है और कभी विकसित। अन्त में ईश्वर के अनुग्रह से उसे मुक्ति मिलती है। रामानुज कहते हैं जो शुद्ध स्वभाव हैं और अनुग्रह के लिए प्रयत्नशील हैं, वे ही उसे पाते हैं।

श्रुति में एक प्रसिद्ध वाक्य है आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। —'जब आहार शुद्ध होता है तब सत्त्व भी शुद्ध हो जाता है और सत्त्व शुद्ध होने पर स्मृति अर्थात् ईश्वर-स्मरण (अद्वैतवादियों के लिए स्वकीय पूर्णता की स्मृति) ध्रुव अचल और स्थायी हो जाता है।' इस वाक्य को लेकर भाष्यकारों में घनघोर विवाद हुआ है। पहली बात तो यह है कि इस 'सत्त्व' शब्द का क्या अर्थ है? हम लोग जानते हैं सांख्य के अनुसार—और इस विषय को हमारे सभी दर्शन-सम्प्रदायों ने स्वीकार किया है कि—यह देह का निर्माण तीन प्रकार के उपादानों से हुआ है—गुणों से नहीं। साधारण मनुष्यों की यह धारणा है कि सत्त्व रज और तम तीनों गुण हैं परन्तु वास्तव में वे गुण नहीं वे संसार के उपादान-कारण

स्वरूप हैं। और आहार शुद्ध होने पर यह सत्त्व-पदार्थ निर्मल हो जाता है। शुद्ध सत्त्व को प्राप्त करना ही वेदान्त का एकमात्र उपदेश है। मैंने तुमसे पहले भी कहा है कि जीवात्मा स्वभावत पूर्ण और शुद्धस्वरूप है और वेदान्त के मत मे वह रज और तम दो पदार्थों मे ढँका हुआ है। सत्त्व पदार्थ अत्यन्त प्रकाशस्वभाव है और उसके भीतर से आत्मा की ज्योति जगमगाती हुई स्वच्छन्दतापूर्वक उसी प्रकार निकलती है, जिस प्रकार शीशे के भीतर से आलोक। अतएव यदि रज और तम पदार्थ दूर हो जायँ तो केवल सत्त्व रह जाय, तो आत्मा की शक्ति और पवित्रता प्रकाशित हो जायगी, और वह अपने को पहले से अधिक व्यक्त कर सकेगी।

अत यह सत्त्वप्राप्ति अत्यन्त आवश्यक है और श्रुति कहती है, 'आहार शुद्ध होने पर सत्त्व शुद्ध होता है।' रामानुज ने 'आहार' शब्द को भोज्य पदार्थ के अर्थ मे ग्रहण किया है और उन्होंने इसे अपने दर्शन के अगो मे से एक मुख्य अग माना है। इतना ही नही, इसका प्रभाव सम्पूर्ण भारत पर और भिन्न भिन्न सम्प्रदायो पर पड़ा है। अतएव हमारे लिए इसका अर्थ समझ लेना अत्यावश्यक है, क्योकि रामानुज के मत से यह आहार-शुद्धि हमारे जीवन का एक मुख्य अवलम्ब है। आहार किन कारणो से दूषित होता है? रामानुज का कथन है कि तीन प्रकार के दोषो से खाद्य पदार्थ दूषित हो जाता है। प्रथम है जाति दोष अर्थात् भोज्य पदार्थों की जाति मे प्रकृतिगत दोष जैसे कि लहसुन, प्याज और इसी प्रकार के अन्यान्य पदार्थों की गन्ध। दूसरा है आश्रय दोष अर्थात् जिस पदार्थ को कोई दूसरा छू लेता है अर्थात् जो पदार्थ किसी दूसरे के हाथ से मिलता है, वह छूनेवाले के दोषो से दूषित हो जाता है, दुष्ट मनुष्य के हाथ का भोजन तुम्हें भी दुष्ट कर देगा। मैंने स्वय भारत के बडे बडे अनेक महात्माओ को उनके जीवन-काल मे दृढतापूर्वक इस नियम का पालन करते हुए देखा है। और हाँ, भोजन देनेवाले के—यहाँ तक कि यदि किसीने कभी भोजन छुआ हो, तो उसके भी गुण-दोषो के समझ लेने की उनमे यथेष्ट शक्ति थी, और यह मैंने अपने जीवन मे एक बार नही, सैकडो बार प्रत्यक्ष अनुभव किया है। तीसरा है निमित्त दोष, भोज्य पदार्थों मे बाल, कीडे या धूल पड जाने से निमित्त दोष होता है। हमे इस समय इस शेषोक्त दोष से बचने की विशेष चेष्टा करनी चाहिए। भारत पर इसका अत्यधिक प्रभाव है। यदि वह भोजन किया जाय, जो इन तीनो प्रकार के दोषो से मुक्त है, तो अवश्य ही सत्त्वशुद्धि होगी। अगर ऐसा ही है तो धर्म तो बायें हाथ का खेल हो गया। अगर पाक-साफ भोजन ही से धर्म होता हो तो फिर हर एक मनुष्य धर्मात्मा बन सकता है। जहाँ तक मेरा ख्याल है, इस ससार मे ऐसा कमजोर या असमर्थ कोई भी न होगा, जो अपने को इन बुराइयो से न बचा सके। अस्तु। शकराचार्य

कहते हैं 'आहार' शब्द का अर्थ है इन्द्रियों द्वारा मन में विचारों का समावेश, *आहरण होना या आना जब मन निर्मल होता है, तब सत्त्व भी निर्मल हो जाता* है, किन्तु इसके पहले नहीं। तुम्हें जो रुचे वही भोजन कर सकते हो। अगर केवल खाद्य पदार्थ ही सत्त्व को मलमुक्त करता है तो किसी बन्दर को जिन्दगी भर दूध-भात देखें तो वह एक बड़ा योगी होता है या नहीं! अगर ऐसा ही होता तो गायें और हिरन परम योगी हो गये होते। यह उक्ति प्रसिद्ध है

मित नहाने से हरि मिले तो जल जन्तु होई।
फल मूल खाके हरि मिले तो बादुड़ बाँदराई।
तिरन भखन से हरि मिले तो बहुत मृगी अजा।

परन्तु इस समस्या का समाधान क्या है? आवश्यक दोनों ही हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आहार के सम्बन्ध में शंकराचार्य का सिद्धान्त मुख्य है परन्तु यह भी सत्य है कि शुद्ध भोजन से शुद्ध विचार होने में सहायता मिलती है। दोनों का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों आवश्यक हैं परन्तु त्रुटि यही है कि आजकल हम भारतवासी शंकराचार्य का उपदेश भूल गये हैं। हम लोगों ने आहार का अर्थ शुद्ध भोजन मान लिया है। यही कारण है कि जब लोग मुझे यह कहते हुए सुनते हैं कि धर्म अब रसोई में घुस गया है, तब वे मुझ पर बिगड़ उठते हैं परन्तु यदि मेरे साथ तुम मद्रास चलते तो मेरे वाक्यों को स्वीकार कर लेते। बंगाली उनसे अच्छे हैं। मद्रास में किसी उच्च वर्ण के मनुष्य के भोजन पर यदि किसी नीच जाति की दृष्टि पड़ गयी तो वह भोजन फेंक दिया जाता है। परन्तु इतने पर भी मैंने नहीं देखा कि वहाँ के लोग उन्नत हो गये। यदि केवल इस प्रकार या उस प्रकार का भोजन करने ही से और उसे इसकी उसकी दृष्टि से बचाने ही से लोग सिद्ध हो जाते तो तुम देखते कि सभी मद्रासी सिद्ध-महात्मा हो गये होते परन्तु वे वैसे नहीं हैं।

इस प्रकार, यद्यपि दोनों मत एकत्र करके एक सम्पूर्ण सिद्धान्त बनाता है, किन्तु घोड़े के आगे गाड़ी न जोतो। आजकल भोजन और वर्णाश्रम धर्म के सम्बन्ध में बड़ा शोरगुल उठ रहा है और बंगाली तो इन्हें लेकर और भी गला फाड़ रहे हैं। तुममें से हर एक से मेरा प्रश्न है कि तुम वर्णाश्रम के सम्बन्ध में क्या जानते हो? इस समय इस देश में चातुर्वर्ण्य विभाग कहाँ है? मेरे प्रश्नों का उत्तर भी दो। मैं तो वर्णचतुष्टय कहीं देखता। जिस प्रकार हमारे बंगालियों की कहावत है कि 'बिना सिर के सिरदर्द होता है' उसी प्रकार यहाँ तुम वर्णाश्रम विभाग की चर्चा करना चाहते हो। यहाँ अब चार जातियों का नाम नहीं है। मैं केवल

ब्राह्मण और शूद्र देखता हूँ। यदि क्षत्रिय और वैश्य हैं, तो वे कहाँ हैं? और ऐ ब्राह्मणो, क्यो तुम उन्हे हिन्दू धर्म के नियमानुसार यज्ञोपवीत धारण करने की आज्ञा नही देते?—क्यो तुम उन्हें वेद नही पढाते, जो हर एक हिन्दू को पढना चाहिए?—और यदि वैश्य और क्षत्रिय न रहे, किन्तु केवल ब्राह्मण और शूद्र ही रहें तो शास्त्रानुसार ब्राह्मणो को उस देश मे कदापि न रहना चाहिए, जहाँ केवल शूद्र हो, अतएव अपना वोरिया-बंधना लेकर यहाँ से कूच कर जाओ। क्या तुम जानते हो, जो लोग म्लेच्छ-भोजन खाते हैं और म्लेच्छो के राज्य मे बसते हैं, जैसे कि तुम गत हज़ार वर्षों से बस रहे हो, उनके लिए शास्त्रो मे क्या आज्ञा है? क्या उसका प्रायश्चित्त तुम्हें मालूम है? प्रायश्चित्त है तुषानल—अपने ही हाथो अपनी देह जला देना। तुम आचार्य के आसन पर बैठना चाहते हो, परन्तु कपटाचरण नही छोडते। यदि तुम्हें अपने शास्त्रो पर विश्वास है तो अपने को उसी प्रकार जला दो, जिस प्रकार उन एक ख्यातनामा ब्राह्मण ने, जो महावीर सिकन्दर के साथ यूनान गये थे, म्लेच्छ का भोजन खा लेने के कारण तुषानल मे अपना शरीर जला दिया था। यदि तुम ऐसा कर सके तो देखोगे, सारी जाति तुम्हारा चरण चूमेगी। स्वय तो तुम अपने शास्त्रो पर विश्वास नही करते और दूसरो का उन पर विश्वास कराना चाहते हो! अगर तुम समझते हो कि इस ज़माने मे वैसा नही कर सकते, तो अपनी दुर्बलता स्वीकार करके दूसरो की भी दुर्बलता क्षमा करो, दूसरी जातियो को उन्नत करो, उनकी सहायता करो, उन्हें वेद पढ़ने दो, ससार के अन्य किन्ही भी आर्यो के समकक्ष उन्हें भी आर्य बनने दो, और ऐ बगाल के ब्राह्मणो, तुम भी वैसे ही सदाशय आर्य बनो।

यह घृण्य वामाचार छोडो, जो देश का नाश कर रहा है। तुमने भारत के अन्यान्य भाग नही देखे। जब मैं देखता हूँ कि हमारे समाज मे कितना वामाचार फैला हुआ है, तब अपनी सस्कृति के समस्त अहकार के साथ यह (समाज) मेरी नज़रो मे अत्यन्त गिरा हुआ स्थान मालूम होता है। इन वामाचार सम्प्रदायो ने मधुमक्खियो की तरह हमारे बगाल के समाज को छा लिया है। वे ही जो दिन में गरज कर आचार के सम्बन्ध मे प्रचार करते हैं, रात को घोर पैशाचिक कृत्य करने से बाज़ नही आते, और अति भयानक ग्रन्थसमूह उनके कर्म के समर्थक हैं। घोर दुष्कर्म करने का आदेश उन्हे ये शास्त्र देते हैं। तुम बगालियो को यह विदित है। बगालियो के शास्त्र वामाचार-तन्त्र हैं। ये ग्रन्थ ढेरो प्रकाशित होते हैं, जिन्हे लेकर तुम अपनी सन्तानो के मन को विषाक्त करते हो, किन्तु उन्हें श्रुतियो की शिक्षा नही देते। ऐ कलकत्तावासियो, क्या तुम्हे लज्जा नही आती कि अनुवादसहित वामाचार-तन्त्रो का यह वीभत्स सग्रह तुम्हारे बालको और बालिकाओ के हाथ रखा जाय, उनका चित्त

मायावाद की घोषणा करते हुए ससार को चुनौती दी है और ससार की विभिन्न जातियो ने यह चुनौती स्वीकार भी की, जिसका फल यह हुआ कि वे पराभूत हो गयी हैं और तुम जीवित हो। भारत की घोषणा यह है कि ससार भ्रम है, इन्द्रजाल है, माया है, अर्थात् चाहे तुम मिट्टी से एक एक दाना बीनकर भोजन करो या चाहे तुम्हारे लिए सोने की थाली मे भोजन परोसा जाय, चाहे तुम महलो मे रहो, चाहे कोई महाशक्तिशाली महाराजाधिराज हो अथवा चाहे द्वार-द्वार का भिक्षुक, किन्तु परिणाम सभी का एक है और वह है मृत्यु, गति सभी की एक है, सभी माया है। यही भारत की प्राचीन सूक्ति है। वारम्वार भिन्न भिन्न जातियाँ सिर उठाती और इसके खडन करने की चेष्टा करती हैं, वे वढती हैं, भोगसाधन को वे अपना ध्येय वनाती हैं, उनके हाथ मे शक्ति आती है, पूर्णतया शक्ति का प्रयोग करती है, भोग की चरम सीमा को पहुँचती हैं और दूसरे ही क्षण वे विलुप्त हो जाती हैं। हम चिर काल से खडे हैं, क्योकि हम देखते है कि हर एक वस्तु माया है। महामाया के वच्चे सदा वचे रहते हैं, परन्तु भोग रूपी अविद्या के लाडले देखते ही देखते कूच कर जाते हैं।

यहाँ एक दूसरे विषय मे भी प्राच्य और पाश्चात्य विचार-प्रणाली मे भेद है। जिस तरह तुम जर्मन दर्शन मे हेगेल और शॉपेनहॉवर के मत देखते हो, बिल्कुल उसी तरह के विचार प्राचीन भारत मे भी मिलते हैं। परन्तु हमारे सौभाग्य से हेगेलीय मतवाद का उन्मूलन उसकी अकुर-दशा मे ही हो गया था, हमारी जन्मभूमि मे उसे वढने और उसकी विषाक्त शाखा-प्रशाखाओ को फैलने नही दिया गया। हेगेल का एक मत यह है कि एकमात्र परम सत्ता अन्धकारमय और विश्रृखल है, और साकार व्यष्टि उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है अर्थात् अ-जगत् से (जगत् नही है, इस भाव से) जगत् (जगत् है यह भाव) श्रेष्ठ है, मुक्ति से ससार श्रेष्ठ है। हेगेल का यही मूल भाव है, अतएव उनके मत मे तुम ससार मे जितना ही अवगाहन करोगे, जितनी ही तुम्हारी आत्मा जीवन के कर्मजालो से आवृत होगी, उतना ही तुम उन्नत होगे। पश्चिमवाले कहते हैं—क्या तुम देखते नही, हम कैसी बडी बडी इमारते उठाते हैं, सडकें साफ रखते हैं, हर तरह के सुख भोगते हैं ? इसके पीछे—प्रत्येक इन्द्रिय-भोग के पीछे—दुख, वेदना, पैशाचिकता और घृणा-विद्वेष चाहे भले ही छिपे हो, किन्तु उससे कोई हानि नही!

दूसरी ओर हमारे देश के दार्शनिक पहले ही से यह घोषणा कर रहे हैं कि हर एक अभिव्यक्ति, जिसे तुम विकास कहते हो, उस अव्यक्त की अपने को व्यक्त करने की निरर्थक चेष्टा मात्र है। हे ससार के सर्वशक्तिशाली कारणस्वरूप, तुम छोटी छोटी गडहियो मे अपना स्वरूप देखने का वृथा प्रयत्न करते हो! कुछ दिनो के लिए यह प्रयत्न करके तुम समझोगे कि यह व्यर्थ था, और जहाँ से तुम आये हो, वही

दुर्बल हैं? कारण, यह त्याग का आदर्श अत्यन्त महान् है। क्या हानि है, यदि लड़ाई मे लाखो गिर जायँ, पर दस सिपाही या केवल दो एक ही वीर विजयी होकर लौटें। युद्ध मे जिन लाखो लोगो को वीरगति मिलती है, वे सचमुच धन्य हैं।—क्योकि उनके शोणितरूपी मूल्य से विजय-लाभ होता है, एक को छोडकर सारे वैदिक सम्प्रदायो ने इस त्याग ही को अपना एकमात्र आदर्श बनाया है। केवल बम्बई प्रान्त के वल्लभाचार्य सम्प्रदाय ने वैसा नही किया, और तुममे से अनेक को विदित है कि जहाँ त्याग नही, वहाँ अन्त मे क्या दशा होती है। इस त्याग के आदर्श की रक्षा के लिए यदि हमे कट्टरता और निरी कट्टरता स्वीकार करनी पडे, भस्ममडित ऊर्ध्वबाहु जटाजूटधारियो को स्थान देना पडे, तो वह भी अच्छा है। कारण, यद्यपि वे अस्वाभाविक हो सकते हैं तथापि पुरुषत्व का लोप करनेवाली जो विलासिता भारत मे घुसकर हमारा खून पी रही है, सारी जाति को कपटाचरण की शिक्षा दे रही है, उस विलासिता के स्थान मे त्याग का आदर्श रखकर समग्र जाति को सावधान करने के लिए वे हमारे लिए वाछनीय हैं। अतएव हमे थोडी त्याग-तपस्या चाहिए। प्राचीन काल मे भारत मे त्याग ही की विजय थी, अब भी भारत मे इसे विजय प्राप्त करना है। यह त्याग भारत के आदर्शों मे अब भी सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च है। यह बुद्ध की भूमि, रामानुज की भूमि, रामकृष्ण परमहस की भूमि, त्याग की भूमि, वह भूमि, जहाँ प्राचीन काल से कर्मकाड के विरुद्ध प्रतिवाद किया गया और जहाँ आज भी ऐसे सैकडो महापुरुष हैं जिन्होने सब विषयो का त्याग कर दिया और जीवन्मुक्त बने बैठे हैं, क्या वह भूमि अपने आदर्श को छोड देगी? कदापि नही। यहाँ ऐसे मनुष्य रह सकते हैं, जिनका मस्तिष्क पश्चिमी विलासिता के आदर्श से विकृत हो गया है, यहाँ ऐसे हजारो नही, लाखो मनुष्य रह सकते हैं, जो विलास मद मे चूर हो रहे हैं, जो पश्चिम के शाप मे—इन्द्रिय-परतत्रता मे—ससार के शाप मे डूबे हुए हैं, किन्तु इतने पर भी हमारी मातृभूमि मे हजारो ऐसे भी होंगे, धर्म जिनके लिए शाश्वत सत्य है और जो जरूरत पडने पर फलाफल का विचार किये बिना ही सब कुछ त्याग देने के लिए सदा तैयार हो जायँगे।

हमारे इन सब सम्प्रदायो मे एक और सामान्य आदर्श है। उसको भी मैं तुम्हारे सम्मुख रखना चाहता हूँ। यह भी एक व्यापक विषय है। यह अद्वितीय विचार केवल भारत ही मे विशेष रूप से पाया जाता है कि धर्म का साक्षात्कार करना चाहिए। **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।**—'इस आत्मा को न कोई वाग्बल से प्राप्त कर सकता है, न बुद्धि-कौशल से और न अधिक शास्त्राध्ययन से।' इतना ही नही, ससार मे केवल हमारे ही शास्त्र ऐसे हैं, जो घोषणा करते हैं कि आत्मा को कोई न तो शास्त्रो का पाठ करके प्राप्त कर सकता है, न वार्ता

दुर्बल हैं? कारण, यह त्याग का आदर्श अत्यन्त महान् है। क्या हानि है, यदि लडाई मे लाखो गिर जायँ, पर दस सिपाही या केवल दो एक ही वीर विजयी होकर लौटें। युद्ध मे जिन लाखो लोगो को वीरगति मिलती है, वे सचमुच धन्य हैं।—क्योकि उनके शोणितरूपी मूल्य से विजय-लाभ होता है, एक को छोडकर सारे वैदिक सम्प्रदायो ने इस त्याग ही को अपना एकमात्र आदर्श बनाया है। केवल बम्बई प्रान्त के वल्लभाचार्य सम्प्रदाय ने वैसा नही किया, और तुममे से अनेक को विदित है कि जहाँ त्याग नही, वहाँ अन्त मे क्या दशा होती है। इस त्याग के आदर्श की रक्षा के लिए यदि हमे कट्टरता और निरी कट्टरता स्वीकार करनी पडे, भस्ममडित ऊर्ध्वबाहु जटाजूटधारियो को स्थान देना पडे, तो वह भी अच्छा है। कारण, यद्यपि वे अस्वाभाविक हो सकते हैं तथापि पुरुषत्व का लोप करनेवाली जो विलासिता भारत मे घुसकर हमारा खून पी रही है, सारी जाति को कपटाचरण की शिक्षा दे रही है, उस विलासिता के स्थान मे त्याग का आदर्श रखकर समग्र जाति को सावधान करने के लिए वे हमारे लिए वाछनीय हैं। अतएव हमे थोडी त्याग-तपस्या चाहिए। प्राचीन काल मे भारत मे त्याग ही की विजय थी, अब भी भारत मे इसे विजय प्राप्त करना है। यह त्याग भारत के आदर्शों मे अब भी सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च है। यह बुद्ध की भूमि, रामानुज की भूमि, रामकृष्ण परमहस की भूमि, त्याग की भूमि, वह भूमि, जहाँ प्राचीन काल से कर्मकाड के विरुद्ध प्रतिवाद किया गया और जहाँ आज भी ऐसे सैकडो महापुरुष हैं जिन्होने सब विषयो का त्याग कर दिया और जीवन्मुक्त बने बैठे हैं, क्या वह भूमि अपने आदर्श को छोड देगी? कदापि नही। यहाँ ऐसे मनुष्य रह सकते हैं, जिनका मस्तिष्क पश्चिमी विलासिता के आदर्श से विकृत हो गया है, यहाँ ऐसे हजारो नही, लाखो मनुष्य रह सकते हैं, जो विलास मद मे चूर हो रहे हैं, जो पश्चिम के शाप मे—इन्द्रिय-परतत्रता मे—ससार के शाप मे डूबे हुए हैं, किन्तु इतने पर भी हमारी मातृभूमि मे हजारो ऐसे भी होंगे, धर्म जिनके लिए शाश्वत सत्य है और जो जरूरत पडने पर फलाफल का विचार किये विना ही सब कुछ त्याग देने के लिए सदा तैयार हो जायँगे।

हमारे इन सब सम्प्रदायो मे एक और सामान्य आदर्श है। उसको भी मैं तुम्हारे सम्मुख रखना चाहता हूँ। यह भी एक व्यापक विषय है। यह अद्वितीय विचार केवल भारत ही मे विशेष रूप से पाया जाता है कि धर्म का साक्षात्कार करना चाहिए। **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।**—'इस आत्मा को न कोई वाग्बल से प्राप्त कर सकता है, न बुद्धि-कौशल से और न अधिक शास्त्राध्ययन से।' इतना ही नही, ससार मे केवल हमारे ही शास्त्र ऐसे हैं, जो घोषणा करते है कि आत्मा को कोई न तो शास्त्रो का पाठ करके प्राप्त कर सकता है, न वार्ता

पौधे से प्रतिदान नही माँगता, क्योकि भलाई करना उसका स्वाभाविक धर्म है, उसी प्रकार वह आता है।

तीर्णा स्वय भीमभवार्णव जना अहेतुनान्यानपि तारयन्त ।—'वे इस भीषण भवसागर के उस पार स्वय भी चले गये हैं और बिना किसी लाभ की आशा किये दूसरो को भी पार करते हैं।' ऐसे ही मनुष्य गुरु हैं, और ध्यान रखो दूसरा कोई गुरु नही कहा जा सकता। क्योकि—

> **अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वय धीरा पडितम्मन्यमाना ।**
> **जङ्घन्यमाना परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा ॥**[1]

—'अविद्या के अन्धकार मे डूबे हुए भी अपने को अहकारवश सुधी और महापडित समझनेवाले ये मूर्ख दूसरो की सहायता करना चाहते हैं, परन्तु ये कुटिल मार्ग मे ही भ्रमण किया करते हैं। अन्धे का हाथ पकडकर चलनेवाले अन्धे की तरह ये गुरु और शिष्य दोनो ही गड्ढे मे गिरते हैं।' यही वेदो की उक्ति है। इस उक्ति को अपनी वर्तमान प्रथा से मिलाओ। तुम वेदान्ती हो, तुम सच्चे हिन्दू हो, तुम परम्परानिष्ठ धर्म के माननेवाले हो। मैं तुम्हे और भी सच्चा परम्परानिष्ठ धर्मी बनाना चाहता हूँ। तुम सनातन मार्ग का जितना ही अवलम्बन करोगे, उतने ही बुद्धिमान बनोगे, और जितना ही तुम आजकल की कट्टरता के फेर मे पडोगे, उतने ही तुम मूर्ख बनोगे। तुम अपने उसी अति प्राचीन सनातन पथ से चलो, क्योकि उस समय के शास्त्रो के हर एक शब्द मे सबल, स्थिर और निष्कपट हृदय की छाप लगी हुई है, उसका हर एक स्वर अमोघ है। इसके बाद राष्ट्र का पतन शुरू हुआ—शिल्प मे, विज्ञान मे, धर्म मे, हर एक विषय मे राष्ट्रीय अवनति का आरम्भ हो गया। उसके कारणो पर विचार-विमर्श करने का अब अवकाश नही है, परन्तु अवनति के काल मे जो पुस्तके लिखी गयी हैं, उन सबमे इसी व्याधि और राष्ट्रीय पतन के प्रमाण मिलते हैं—राष्ट्रीय ओज के बदले उनसे केवल रोने की आवाज़ सुनायी पडती है। जाओ, जाओ—उस प्राचीन समय के भाव लाओ जब राष्ट्रीय शरीर मे वीर्य और जीवन था। तुम फिर वीर्यवान बनो, उसी प्राचीन झरने का पानी पिओ—भारत को पुनर्जीवित करने का एकमात्र उपाय अब यही है।

अद्वैतवादियो के मत मे हम लोगो का व्यक्तित्व, जो इस समय विद्यमान है, भ्रम मात्र है। समग्र ससार के लिए इस बात को ग्रहण कर पाना बहुत ही कठिन रहा है। जैसे ही तुम किसी से कहो कि वह 'व्यक्ति' नही है, वह इतना डर जाता है

---

१ कठोपनिषद् २।५ ॥

कि उसका अपना व्यक्तित्व चाहे वह कैसा ही क्यों
अद्वैतवादी कहते हैं कि व्यक्तित्व जैसी वस्तु कभी रही ही
पल परिवर्तित हो रहे हो। कभी तुम बालक थे तब तुम
इस समय तुम युवक हो अब दूसरी तरह के विचार करते
जाओगे तब दूसरी ही तरह सोचोगे। हर एक व्यक्ति
यह सच है तो तुम्हारा निजी व्यक्तित्व कहाँ रह गया ?
व्यक्तित्व न शरीर के सम्बन्ध में रह जाता है, न मन के सम्बन्ध में
के सम्बन्ध में। इनके परे यह आत्मा ही है। और अद्वैतवादी कहते
स्वयं ब्रह्म है जो अनन्त कदापि नहीं रह सकते।
स्वरूप है। सच तो यह है कि हम विचारशील प्राणी हैं, अत
लेना चाहते हैं। अच्छा तो तर्क या युक्ति है क्या चीज ?
पदार्थों को क्रमशः ऊँची से ऊँची श्रेणी में वर्गीकृत कर अन्त में किसी
पहुँचाना जिसके ऊपर फिर उसकी गति न हो।
तभी मिल सकता है, जब वह असीम की श्रेणी तक पहुँचायी जायगी। [illegible]
को लेकर तुम उसका विश्लेषण करते रहो परन्तु जब तक उसे चरम [illegible]
अनन्त तक नहीं पहुँचाते तब तक तुम्हें शान्ति नहीं मिल सकती और [illegible]
कहते हैं अस्तित्व केवल इसी अनन्त का है और सब माया है, किसी भी [illegible]
सत्ता नहीं। कोई भी जड़ वस्तु क्यों न हो उसमें जो यथार्थ सत्ता है, वह वही ब्रह्म है
हम वही ब्रह्म हैं और नामरूप आदि जितने हैं सब माया है। नाम और रूप हटा दो
तो तुम और हम सब एक हो जायँगे। तुम्हें इस 'अहम्' (मैं) शब्द को अच्छी तरह समझ
लेना चाहिए। प्राय लोग कहते हैं 'यदि मैं ब्रह्म हूँ तो जो मेरे जी में आये, वही
मैं क्यों नहीं कर सकता ? यहाँ इस शब्द का व्यवहार दूसरे ही अर्थ में किया जा
रहा है। जब तुम अपने को बद्ध समझ रहे हो तब तुम आत्मस्वरूप ब्रह्म, जिसे
कोई अभाव नहीं जो अन्तर्ज्योति है, नहीं रह गये। वह अन्तराराम है, आत्मतृप्त
है, वह कुछ भी नहीं चाहता उसमें कोई कामना नहीं है, वह सम्पूर्ण निर्भय और
सम्पूर्ण स्वाधीन है। वही ब्रह्म है। उसी ब्रह्मस्वरूप में हम सभी एक हैं।

अतः द्वैतवादियों और अद्वैतवादियों में यह बड़ा अन्तर प्रतीत होता है। तुम
देखोगे शंकराचार्य जैसे बड़े बड़े भाष्यकारों ने भी अपने मत की पुष्टि के लिए
जगह जगह पर शास्त्रों का ऐसा अर्थ किया है जो मेरी समझ में समीचीन नहीं।
रामानुज ने भी कहीं कहीं शास्त्रों का ऐसे ढंग से अर्थ किया है कि वह ठीक समझ
में नहीं आता। हमारे पण्डितों तक की यह धारणा है कि इन
व एक ही सम्प्रदाय सत्य है, बाकी सब झूठे हैं।

एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति—'सत्ता एक ही है, परन्तु मुनियो ने भिन्न भिन्न नामो से उसका वर्णन किया है।' और इस अत्यन्त अद्भुत भाव को हमे अब भी दुनिया को देना है। हमारे जातीय जीवन का मूल मत्र यही है, और **एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**—इस मूल मत्र को चरितार्थ करने मे ही हमारी जाति की समग्र जीवन-समस्या का समाधान है। भारत मे कुछ थोडे से ज्ञानियो के अतिरिक्त, मेरा मतलब है, बहुत कम आध्यात्मिक व्यक्तियो को छोडकर हम सब सर्वदा ही इस तत्त्व को भूल जाते हैं। हम इस महान् तत्त्व को सदा भूल जाते हैं और तुम देखोगे, अधिकाश पडित, लगभग ९८ फी सदी, इस मत के पोषक हैं कि या तो अद्वैतवाद सत्य है, अथवा विशिष्टाद्वैतवाद अथवा द्वैतवाद, और यदि तुम पाँच मिनट के लिए वाराणसी धाम के किसी घाट पर जाकर बैठो, तो तुम्हे मेरी बात का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जायगा। तुम देखोगे कि इन भिन्न भिन्न सम्प्रदायो का मत लेकर लोग निरन्तर लड-झगड रहे हैं।

हमारे समाज और पडितो की ऐसी ही दशा है। इस परिस्थिति मे एक ऐसे महापुरुष का आविर्भाव हुआ जिनका जीवन उस सामजस्य की व्याख्या था, जो भारत के सभी सम्प्रदायो का आधारस्वरूप था और जिसको उन्होंने कार्यरूप मे परिणत कर दिखाया। इस महापुरुष से मेरा मतलब श्री रामकृष्ण परमहस से है। उनके जीवन से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये दोनो मत आवश्यक हैं। ये गणितज्योतिष के भूकेन्द्रिक और सूर्यकेन्द्रिक मतो की तरह है। जब बालक को ज्योतिष की शिक्षा दी जाती है, तब उसे भूकेन्द्रिक मत ही पहले सिखलाया जाता है और वह ज्योतिर्विज्ञान के प्रश्नो को भूकेन्द्रिक सिद्धान्त पर घटित करता है। परन्तु जब वह ज्योतिष के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वो का अध्ययन करता है, तब सूर्यकेन्द्रिक मत की शिक्षा उसके लिए आवश्यक हो जाती है। एव वह पहले से और अच्छा समझता है। पचेन्द्रियो मे फँसा हुआ जीव स्वभावत द्वैतवादी होता है। जब तक हम पचेन्द्रियो मे पडे हैं, तब तक हम सगुण ईश्वर ही देख सकते है—सगुण ईश्वर के सिवा और दूसरा भाव हम नही देख सकते। हम ससार को ठीक इसी रूप मे देखेंगे। रामानुज कहते हैं, "जब तक तुम अपने को देह, मन या जीव सोचोगे तब तक तुम्हारे ज्ञान की हर एक क्रिया मे जीव, जगत् और इन दोनो के कारणस्वरूप वस्तुविशेष का ज्ञान रहेगा।" परन्तु मनुष्य के जीवन मे ऐसा भी समय आता है, जब शरीर-ज्ञान बिल्कुल चला जाता है, जब मन भी क्रमश-सूक्ष्मानुसूक्ष्म होता हुआ प्राय अन्तर्हित हो जाता है, जब देहबुद्धि मे डाल देनेवाली भावना, भीति और दुर्बलता सभी मिट जाते हैं। तभी—केवल तभी उस प्राचीन महान् उपदेश की सत्यता समझ मे आती है। वह उपदेश क्या है?

> इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये
> निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते
> (

—जिनका मन साम्यभाव में अवस्थित है, उन्होंने यहीं जन्म को जीत लिया है। चूंकि ब्रह्म निर्दोष और सबमें सम है, वे ब्रह्म में अवस्थित हैं।

> समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
> न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥
> (गीता १३।२८)

—सर्वत्र ईश्वर को सम भाव से सर्वत्र अवस्थित देखते हुए वे आत्मा [illegible] की हिंसा नहीं करते, अतः परम गति को प्राप्त होते हैं।

अल्मोड़ा-अभिनन्दन का उत्तर

स्वामी जी के अलमोडा पहुँचने पर वहाँ की जनता ने उन्हे निम्नलिखित मान-पत्र भेंट किया

महात्मन्,

जिस समय से हम अलमोडा-निवासियो ने यह सुना कि पाश्चात्य देशो मे आध्यात्मिक दिग्विजय के पश्चात् आप इग्लैण्ड से अपनी मातृभूमि भारत फिर वापस आ रहे हैं, उस समय से हम सब आपके दर्शन करने को स्वभावत बडे लालायित थे, और सर्वशक्तिमान परमेश्वर की कृपा से आखिर आज वह शुभ घडी आ गयी। भक्तशिरोमणि कविसम्राट् तुलसीदास ने कहा भी है, **जापर जाकर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलहि न कछु सन्देहू।** और वही आज चरितार्थ भी हो गया। आज हम सब परम श्रद्धा तथा भक्ति से आपका स्वागत करने को यहाँ एकत्र हुए हैं और हमे हर्ष है कि इस नगर मे अनेक कष्ट उठाकर एक वार[1] फिर पधारकर आपने हम सब पर वडी कृपा की है। आपकी इस कृपा के लिए धन्यवाद देने को हमारे पास शब्द भी नही हैं। महाराज, आप धन्य हैं और आपके वे पूज्य गुरुदेव भी धन्य हैं, जिन्होंने आपको योगमार्ग की दीक्षा दी। यह भारत-भूमि धन्य है, जहाँ इस भयावह कलियुग मे भी आप जैसे आर्यवशियो के नेता विद्यमान हैं। आपने अति अल्पावस्था मे ही अपनी सरलता, निष्कपटता, महच्चरित्र, सर्वभूतानुकम्पा, कठोर साधना, आचरण और ज्ञानोपदेश की चेष्टा द्वारा समस्त ससार मे अक्षय यश लाभ किया है और उस पर हमे गर्व है।

यदि सच पूछा जाय तो आपने वह कठिन कार्य कर दिखाया है, जिसका वीडा इस देश मे श्री शकराचार्य के समय से फिर किसीने नही उठाया। क्या हम मे से किसीने कभी यह स्वप्न मे भी आशा की थी कि प्राचीन भारतीय आर्यों की एक सन्तान केवल अपनी तपस्या के वल पर इग्लैण्ड तथा अमेरिका के विद्वान् लोगो को यह सिद्ध कर दिखायेगी कि प्राचीन हिन्दू धर्म अन्य सव धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। शिकागो की विश्व-धर्म-महासभा मे ससार के विभिन्न धर्म-प्रतिनिधियो के

---

१ पाश्चात्य देशो मे जाने से अनेक वर्ष पहले हिमालय-भ्रमणकाल मे स्वामी जी यहाँ पधारे थे।

सम्मुख जो यहाँ एकत्र थे आपने भारतीय सनातन धर्म से सिद्ध कर दिखाया कि उन सबकी आँखें खुल गयीं। उन विद्वानों ने अपने अपने धर्म की श्रेष्ठता अपने अपने ढंग से [illegible] आप उन सबसे आगे निकल गये। आपने यह पूर्ण रूप से सिद्ध धर्म का मुकाबला संसार का कोई भी धर्म नहीं कर सकता वरन् उपर्युक्त महाद्वीपों के भिन्न भिन्न स्थानों पर वैदिक ज्ञान आपने वहाँ के बहुत से विद्वानों का ध्यान प्राचीन आर्य-धर्म तथा आकर्षित कर दिया। इंग्लैण्ड में भी आपने प्राचीन हिन्दू धर्म का कर दिया है जिसका अब वहाँ से हटना असम्भव है।

आज तक यूरोप तथा अमेरिका के आधुनिक सभ्य राष्ट्र हमारे [illegible] स्वरूप से नितान्त अनभिज्ञ थे परन्तु आपने अपनी आध्यात्मिक [illegible] उनकी आँखें खोल दीं और उन्हें अब यह मालूम हो गया है कि [illegible] धर्म जिसे वे अज्ञानवश 'पाखंडियों की रूढ़ियों का धर्म अथवा केवल [illegible] पोथों का ढेर' ही समझा करते थे अमूल्य हीरों की खान है। सचमुच,

वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणोऽपि च॥

—'सौ मूर्ख पुत्रों की अपेक्षा एक ही गुणी पुत्र अच्छा है एक ही चन्द्रमा अंधकार का विनाश करता है तारागण नहीं।' असल में आप जैसे साधु तथा धार्मिक पुरुष का जीवन ही संसार के लिए कल्याणकर है और भारत माता को उसकी इस गिरी हुई दशा में आप जैसी पुण्यात्मा सन्तानों से ही सान्त्वना मिल रही है। यों तो आज तक कितने ही लोग समुद्र के इस पार से उस पार गये हैं, परन्तु केवल आपने ही अपनी पूर्व सुकृति के बल से हमारे इस प्राचीन हिन्दू धर्म की [illegible] समुद्र के पार अन्य देशों में सिद्ध कर दिखलायी। जनता अथवा सर्वत्र आपने मानव जाति को आध्यात्मिकता का ज्ञान कराना ही अपने जीवन का ध्येय बना लिया है और धार्मिक ज्ञान का उपदेश देने के लिए आप सर्वत्र ही प्रस्तुत हैं।

हमें यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि यहाँ हिमालय की गोद में आपका विचार एक मठ स्थापित करने का है और हमारी ईश्वर से प्रार्थना है कि आपका यह उद्देश्य सफल हो। शंकराचार्य ने भी अपनी आध्यात्मिक दिग्विजय के पश्चात् भारत के प्राचीन हिन्दू धर्म के रक्षणार्थ हिमालय में बदरिकाश्रम में एक मठ स्थापित किया था। इसी प्रकार यदि आपकी भी इच्छा पूर्ण हो जाय तो उससे भारतवर्ष का बड़ा हित होगा। इस मठ के स्थापित हो जाने से हम कुमायूँ निवासियों को बड़ा

आध्यात्मिक लाभ होगा और फिर हम इस बात का पूरा यत्न करेंगे कि हमारा प्राचीन धर्म हमारे बीच मे से धीरे धीरे लुप्त न हो जाय।

आदि काल से भारतवर्ष का यह प्रदेश तपस्या की भूमि रहा है। भारतवर्ष के वडे वडे ऋषियो ने अपना समय इसी स्थान पर तपस्या तथा साधना मे विताया है, परन्तु वह तो अव पुरानी वात हो गयी और हमे पूर्ण विश्वास है कि यहाँ मठ की स्थापना करके कृपया आप हमे उसका फिर अनुभव करा देंगे। यही वह पुण्य-भूमि है जो भारतवर्ष भर मे पवित्र मानी जाती थी तथा यही सच्चे धर्म, कर्म, साधना तथा सत्य का क्षेत्र था, यद्यपि आज समय के प्रभाव से वे सव वाते नष्ट होती जा रही हैं। और हमे विश्वास है कि आपके शुभ प्रयत्नो द्वारा यह प्रदेश फिर प्राचीन धार्मिक क्षेत्र मे परिणत हो जायगा।

महाराज, हम शब्दो द्वारा प्रकट नही कर सकते कि आपके यहाँ पधारने से हमको कितना हर्ष हुआ है। ईश्वर आपको चिरजीवी करे, आपको पूर्ण स्वास्थ्य प्रदान करे तथा आपका जीवन परोपकारी हो। आपकी आध्यात्मिक शक्तियो की उत्तरोत्तर उन्नति हो, जिससे आपके प्रयत्नो द्वारा भारतवर्ष की इस दुरवस्था का शीघ्र ही अन्त हो जाय।

लाला वदरी शा की ओर से पडित हरिनाम पाडे ने और एक मानपत्र पढा। एक अन्य पडित जी ने भी इस अवसर पर एक सस्कृत मानपत्र पढा। जितने दिन स्वामी जी अल्मोडे मे थे, उतने दिन वे शा जी के यहाँ अतिथि के रूप मे रहे थे।

स्वामी जी ने मानपत्रो का निम्नलिखित उत्तर दिया

स्वामी जी का भाषण

यह स्थान हमारे पूर्वजो के स्वप्न का देश है, जिसमे भारत जननी श्री पार्वती जी ने जन्म लिया था। यह वही पवित्र स्थान है, जहाँ भारतवर्ष का प्रत्येक यथार्थ सत्य-पिपासु व्यक्ति अपने जीवन-काल के अन्तिम दिन व्यतीत करना चाहता है। इसी दिव्य स्थान के पहाडो की चोटियो पर, इसकी गुफाओ के भीतर तथा इसके कल-कल वहनेवाले झरनो के तट पर महर्षियो ने अनेकानेक गूढ भावो तथा विचारो को सोच निकाला है, उनका मनन किया है। और आज हम देखते हैं कि उन विचारो का केवल एक अश ही इतना महान् है कि उस पर विदेशी तक मुग्ध हैं तथा ससार के धुरधर विद्वानो एव मनीषियो ने उसे अतुलनीय कहा है। यह वही स्थान है, जहाँ मैं वचपन से ही अपना जीवन व्यतीत करने की सोच रहा हूँ और जैसा तुम सव जानते हो मैंने कितनी ही वार इस वात की चेष्टा की है कि मैं यहाँ रह सकूँ। परन्तु उपयुक्त समय के न आने से, तथा मेरे सम्मुख वहुत सा कार्य

मनुष्य मात्र यह समझ लेगा कि केवल एक ही चिरन्तन धर्म है और वह है स्वय मे परमेश्वर की अनुभूति, और शेष जो कुछ है वह सब व्यर्थ है। यह जानकर अनेक व्यग्र आत्माएँ यहाँ आयेंगी कि यह ससार एक महा धोखे की टट्टी है, यहाँ सब कुछ मिथ्या है और यदि कुछ सत्य है तो वह है ईश्वर की उपासना—केवल ईश्वर की उपासनाएँ।

मित्रो, यह तुम्हारी कृपा है कि तुमने मेरे एक विचार का ज़िक्र किया है और मेरा वह विचार इस स्थान पर एक आश्रम स्थापित करने का है। मैंने शायद तुम लोगो को यह बात काफी स्पष्ट रूप से समझा दी है कि यहाँ पर आश्रम की स्थापना क्यो की जाय तथा ससार मे अन्य सब स्थानो को छोडकर मैंने इसी स्थान को क्यो चुना है, जहाँ से इस विश्वधर्म की शिक्षा का प्रसार हो सके। कारण स्पष्ट ही है कि इन पर्वतश्रेणियो के साथ हमारी हिन्दू जाति की सर्वोत्तम स्मृतियाँ सबद्ध हैं। यदि यह हिमालय धार्मिक भारत के इतिहास से पृथक् कर दिया जाय तो शेष बहुत कम रह जायगा। अतएव यही पर एक केन्द्र होना चाहिए—जो कर्मप्रधान न हो, वरन् शान्ति का हो, ध्यान-धारण का हो, और मुझे पूर्ण आशा है कि एक न एक दिन ऐसा अवश्य होगा। मैं यह भी आशा करता हूँ कि तुम लोगो से फिर और कभी मिलूँगा जब तुमसे वार्तालाप का इससे अच्छा अवसर होगा। अभी मैं इतना ही कहता हूँ कि तुमने मेरे प्रति जो प्रेमभाव दिखलाया है, उसके लिए मैं बडा कृतज्ञ हूँ और मैं यह मानता हूँ कि तुमने यह प्रेम तथा कृपा मुझ व्यक्ति के प्रति नही दिखायी है, वरन् एक ऐसे के प्रति दिखायी है जो हमारे प्राचीन हिन्दू धर्म का प्रतिनिधि है। हमारे इस धर्म की भावना हमारे हृदयो मे सदैव बनी रहे। ईश्वर करे, हम सब सदैव ऐसे ही शुद्ध बने रहें, जैसे हम इस समय हैं तथा हमारे हृदयो मे आध्यात्मिकता के लिए उत्साह भी सदैव इतना ही तीव्र रहे।

वैदिक उपदेश तात्त्विक औ[illegible]

जब स्वामी जी के अल्मोड़े में ठहरने की अवधि
उनके यहाँ के मित्रों ने उनसे प्रार्थना की कि आप [illegible] एक
स्वामी जी ने उनकी प्रार्थना पर विचार कर उन्हें अपनी
भाषा में व्याख्यान देने का उनका यह पहला ही अवसर था।
धीरे धीरे बोलना शुरू किया परन्तु शीघ्र ही अपने विषय पर
ही देर में उन्होंने यह अनुभव किया कि जैसे जैसे वे बोलते जाते
उपयुक्त शब्द तथा वाक्य निकलते जाते थे। वहाँ पर कुछ
शायद यह अनुमान करते थे कि हिन्दी भाषा में व्याख्यान देने में
कठिनाई पड़ती है कहने लगे कि इस व्याख्यान में स्वामी जी की पूर्ण
और सम्भवतः यह अपने ढंग का अद्वितीय था। उनके व्याख्यान में [illegible]
अधिकृत प्रयोग से यह भी सिद्ध हो गया कि वक्तृत्व-कला की दिशा में इस [illegible]
स्वप्नातीत सम्भावनाएँ हैं।

स्वामी जी ने और एक भाषण इंग्लिश क्लब में अंग्रेजी में भी दिया था। [illegible]
सभा के अध्यक्ष थे गुरखा रेजिमेण्ट के कर्नल पुली। उस भाषण का विषय था
'वैदिक उपदेश तात्त्विक और व्यावहारिक' जिसका सारांश इस प्रकार है:

पहले स्वामी जी ने इस बात का ऐतिहासिक वर्णन किया कि किसी [illegible]
जाति में उसके ईश्वर की उपासना किस प्रकार बढ़ती है तथा वह जाति ज्यों ज्यों
अन्य जातियों को जीतती जाती है, उस ईश्वर की उपासना भी फैलती जाती है।
इसके बाद उन्होंने वेदों के कुछ विशेषताओं तथा उनकी शिक्षाओं का संक्षेप में
वर्णन किया और फिर आत्मा के विषय पर कुछ प्रकाश डाला। इस सिलसिले
में पाश्चात्य प्रणाली से तुलना करते हुए उन्होंने बतलाया कि यह प्रणाली धार्मिक
तथा नैतिक महत्त्व के रहस्यों का उत्तर बाह्य जगत् में ढूँढ़ने की चेष्टा करती है
जब कि प्राच्य प्रणाली इन सब बातों का समाधान बाह्य प्रकृति में न पाकर उसे
अपनी अन्तरात्मा में ही ढूँढ़ निकालने की चेष्टा करती है। उन्होंने इस बात का
ठीक ही दावा किया है कि हिन्दू जाति को ही इस बात का गौरव है कि केवल
उसीने अन्तर्निरीक्षण प्रणाली की खोज निकाली और यह [illegible]
अपनी खोज तथा विशेषता है। उसी जाति ने [illegible]

की अमूल्य निधि भी दी है जो उसी प्रणाली का फल है। स्वभावत इस विषय के वाद, जो किसी भी हिन्दू को अत्यन्त प्रिय है, स्वामी जी आध्यात्मिक गुरु होने के नाते उस समय मानो आध्यात्मिकता के शिखर पर ही पहुँच गये, जब वे आत्मा तथा ईश्वर के सम्बन्ध की चर्चा करने लगे, जब यह दर्शाने लगे कि आत्मा ईश्वर से एकरूप हो जाने के लिए कितनी लालायित रहती है तथा अन्त मे किस प्रकार ईश्वर के साथ एकरूप हो जाती है। और कुछ समय के लिए सचमुच ऐसा ही भास हुआ कि वक्ता, वे शब्द, श्रोतागण तथा सभी को अभिभूत करनेवाली भावना मानो सब एकरूप हो गये हो। ऐसा कुछ भान ही नही रह गया कि 'मैं' या 'तू' अथवा 'मेरा' या 'तेरा' कोई चीज है। छोटी छोटी टोलियाँ जो उस समय वहाँ एकत्र हुई थी, कुछ समय के लिए अपने अलग अलग अस्तित्व को भूल गयी तथा उस महान् आचार्य के श्री मुख से निकले हुए शब्दो द्वारा प्रचड आध्यात्मिक तेज मे एकरूप हो गयी, वे सब मानो मत्रमुग्ध से रह गये।

जिन लोगो को स्वामी जी के भाषण सुनने का बहुधा अवसर प्राप्त हुआ है, उन्हें इस प्रकार के अन्य कई अवसरो का भी स्मरण हो आयेगा, जब वे वास्तव मे जिज्ञासु तथा ध्यानमग्न श्रोताओ के सम्मुख भाषण देने वाले स्वय स्वामी विवेकानन्द नही रह जाते थे, श्रोताओ के सब प्रकार के भेद-भाव तथा व्यक्तित्व विलुप्त हो जाते थे, नाम और रूप नष्ट हो जाते थे तथा केवल वह सर्वव्यापी आत्म-तत्त्व रह जाता था, जिसमे श्रोता, वक्ता तथा उच्चारित शब्द बस एकरूप होकर रह जाते थे।

उनके भी प्राण भगवान् के विरह मे इसी प्रकार छटपटाते है। भक्ति मे यह वडा गुण है कि उसके द्वारा चित्त शुद्ध हो जाता है और परमेश्वर के प्रति दृढ भक्ति होने से केवल उसीके द्वारा चित्त शुद्ध हो जाता है। **नाम्नामकारि बहुधा निजसर्व-शक्ति** '—'हे भगवन् तुम्हारे असख्य नाम हैं और तुम्हारे प्रत्येक नाम मे तुम्हारी अनन्त शक्ति वर्तमान है।' और प्रत्येक नाम मे गम्भीर अर्थ गर्भित है। तुम्हारे नाम उच्चारण करने के लिए स्थान, काल आदि किसी भी चीज का विचार करना आवश्यक नही। हमे सदा मन मे ईश्वर का चिन्तन करना चाहिए और इसके लिए स्थान, काल का विचार नही करना चाहिए।

ईश्वर विभिन्न साधको के द्वारा विभिन्न नामो से उपासित होते है, किन्तु यह भेद केवल दृष्टिमात्र का है, वास्तव मे कोई भेद नही है। कुछ लोग सोचते है कि हमारी ही सावना-प्रणाली अविक कार्यकारी है, और दूसरे अपनी सावना-प्रणाली को ही मुक्ति पाने का अधिक सक्षम उपाय बताते हैं। किन्तु यदि दोनो की ही मूल भित्ति का अनुसन्धान किया जाय तो पता चलेगा कि दोनो ही एक है। शैव शिव को ही मर्वापेक्षा अविक शक्तिशाली समझते हैं। वैष्णव विष्णु को ही सर्वशक्तिमान मानते हैं, देवी के उपासको के लिए देवी ही जगत् मे सबसे अविक शक्तिशालिनी हैं। प्रत्येक उपासक अपने सिद्धान्त की अपेक्षा और किमी बात का विश्वास ही नही करता, किन्तु यदि मनुष्य को स्थायी भक्ति की उपलब्धि करनी है तो उसे यह द्वेष-बुद्धि छोडनी ही होगी। द्वेष भक्ति-पथ मे वडा बावक है—जो मनुष्य उसे छोड सकेगा, वही ईश्वर को पा सकेगा। तब भी इष्ट-निष्ठा विशेष रूप से आवश्यक है। भक्तश्रेष्ठ हनुमान ने कहा है

श्रीनाथे जानकीनाथे अभेद परमात्मनि।
तथापि मम सर्वस्व राम कमललोचन ॥

—'मैं जानता हूँ, जो परमात्मा लक्ष्मीपति हैं, वे ही जानकीपति हैं, तथापि कमललोचन राम ही मेरे सर्वस्व हैं।' प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव जन्म से ही औरो से भिन्न होता है और वह तो उसके साथ बना ही रहेगा। समस्त ससार किसी समय एक धर्मावलम्वी नही हो सकता, इसका मुख्य कारण यही भावो मे विभिन्नता है। ईश्वर करे, ससार कभी भी एक धर्मावलम्वी न हो। यदि कभी ऐसा हो जाय तो ससार का सामजस्य नष्ट होकर विश्रृखलता आ जायगी। अस्तु, मनुष्य को अपनी ही प्रकृति का अनुसरण करना चाहिए। यदि मनुष्य को ऐसे गुरु मिल

---

१. श्री कृष्ण चैतन्य।

कार्य को उसको उसीके भावानुरूप मार्ग पर चलकर
मनुष्य उन्नति करने में समर्थ होगा। उसको वहीं कार्य
करनी होगी। जो व्यक्ति जिस पथ पर चलने की
चलने देना चाहिए किन्तु यदि हम उसे दूसरे मार्ग पर
वह उसके पास जो कुछ है, उसे भी खो बैठेगा जब जिस
जिस भाँति एक मनुष्य का चेहरा दूसरे के चेहरे से भिन्न होता
मनुष्य की प्रकृति दूसरे की प्रकृति से भिन्न होती है। किसी
प्रकृति के ही अनुसार चलने देने में क्या आपत्ति है? एक नदी
है—यदि उसके बहाव को ठीक कर नदी को उसी
धारा अधिक तेज हो जायगी और वेग बढ़ जायगा। किन्तु यदि
की दिशा को बदल कर उसे दूसरी दिशा में प्रवाहित करो तब
तो तुम यह परिणाम देखोगे कि उसका परिमाण क्षीण हो जायगा
भी कम हो जायगा। यह जीवन एक बड़े महत्त्व की चीज है अतः उसे
भाव के अनुसार ही चलाना चाहिए। भारत में विभिन्न धर्मों में [illegible]
नहीं था वरन् प्रत्येक धर्म स्वाधीन भाव से अपना कार्य करता [illegible]
यहाँ अभी तक प्रकृत धर्मभाव बना है। इस स्थान पर यह बात भी [illegible]
होगी कि विभिन्न धर्मों में तब विरोध उत्पन्न होता है, जब मनुष्य यह [illegible]
देता है कि सत्य का मूल मन्त्र मेरे ही पास है और जो मनुष्य मुझ जैसा [illegible]
करता वह मूर्ख है और दूसरा व्यक्ति सोचता है कि अमुक व्यक्ति ढोंगी है, [illegible]
अगर वह ऐसा न होता तो मेरा अनुगमन करता।

यदि ईश्वर की यह इच्छा होती कि सभी लोग एक ही धर्म का [illegible]
करें तो इतने विभिन्न धर्मों की उत्पत्ति क्यों होती? सब लोगों को एक [illegible]
बनाने के लिए अनेक प्रकार के उद्योग और चेष्टाएँ हुईं किन्तु इससे कोई लाभ
नहीं हुआ। तलवार के जोर से जिस स्थान पर लोगों को एक धर्मावलम्बी बनाने
की चेष्टा की गयी वहाँ भी एक की जगह दस धर्मों की उत्पत्ति हो गयी—इतिहास
इस बात का प्रमाण है। समस्त संसार में सबके अनुकूल एक धर्म नहीं हो सकता।
क्रिया तथा प्रतिक्रिया इन दो शक्तियों से मनुष्य मननशील हुआ है। यदि इन
शक्तियों का प्रयोग मन पर न होता तो मनुष्य कुछ सोच ही न सकता इतना ही
क्यों वह मनुष्य ही न कहा जा सकता। मनुष्य मननशील प्राणी है, वह मनुष्य
है। 'मन्' धातु से मनुष्य शब्द बनता है मनुष्य शब्द का अर्थ है मननशील। मनन-
शीलता की शक्ति के नाश हो जाने पर मनुष्य और एक साधारण पशु में कोई
अन्तर न रह जायगा। ऐसे व्यक्ति को देखकर सबके हृदय में घृणा का संचार होगा।

ईश्वर करे, भारतवर्ष मे कभी ऐसी अवस्था न उत्पन्न हो। अत मनुष्यत्व कायम रखने के लिए एकत्व मे अनेकत्व की आवश्यकता है। सभी विषयो मे इस अनेकत्व या विविधता की आवश्यकता है, कारण जितने दिन यह अनेकत्व रहेगा, उतने ही दिन जगत् का अस्तित्व भी रहेगा। अवश्य ही अनेकत्व या विविधता कहने से केवल यह अर्थ नही समझना चाहिए कि उनमे छोटे-बडे का अन्तर है। परन्तु यदि सब जीवन के अपने अपने कार्य को समान अच्छाई के साथ करते रहें, तब भी विविधता वैसे ही बनी रहेगी। सभी धर्मों मे अच्छे अच्छे लोग है, इसलिए सभी धर्म लोगो की श्रद्धा को अपनी ओर आकर्षित करते हैं, अतएव किसी भी धर्म से घृणा करना उचित नही।

यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है—जो धर्म अन्याय की पुष्टि करे, क्या उस धर्म के प्रति भी सम्मान दिखाना होगा? अवश्य ही इस प्रश्न का उत्तर 'नही' के सिवा दूसरा क्या हो सकता है? ऐसे धर्म को जितनी जल्दी दूर किया जा सके उतना ही अच्छा है, कारण उससे लोगो का अमगल ही होगा। नैतिकता के ऊपर ही सब धर्मों की भित्ति प्रतिष्ठित है, सदाचार को धर्म की अपेक्षा भी उच्च स्थान देना होगा। यहाँ पर यह भी समझ लेना चाहिए कि आचार का अर्थ बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनो प्रकार की शुद्धि से है। जल तथा अन्यान्य शास्त्रोक्त वस्तुओ के प्रयोग से शरीर-शुद्धि हो सकती है, आभ्यान्तर शुद्धि के लिए मिथ्या भाषण, सुरापान एव अन्य गर्हित कार्यों का त्याग करना होगा। साथ ही परोपकार भी करना होगा। केवल मद्यपान, चोरी, जुआ, झूठ बोलना आदि असत् कार्यों के त्याग से ही काम न चलेगा। इतना तो प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। इतना करने से मनुष्य किसी प्रशसा का पात्र न हो सकेगा। अपने कर्तव्य-पालन के साथ साथ दूसरो की कुछ सेवा भी करनी चाहिए। जैसे तुम आत्मकल्याण करते हो, वैसे दूसरो का भी अवश्य कल्याण करो।

अब मैं भोजन के नियम के सम्बन्ध मे कुछ कहना चाहता हूँ। इस समय भोजन की समस्त प्राचीन विधियो का लोप हो गया है। लोगो मे एक यही धारणा विद्यमान है कि 'इनके साथ मत खाओ, उनके साथ मत खाओ।' सैकडो वर्ष पूर्व भोजन सम्बन्धी जो सुन्दर नियम थे, उनमे आज केवल छुआछूत का नियम ही बचा है। शास्त्र मे भोजन के तीन प्रकार के दोष लिखे है—(१) जाति दोष—जो खाद्य पदार्थ स्वभाव से ही अशुद्ध है, जैसे प्याज, लहसुन आदि। यह जाति-दुष्ट खाद्य हुआ। जो व्यक्ति इन चीजों को अधिक मात्रा मे खाता है, उनमे काम-वासना बढती है और वह अनैतिक कार्यों मे प्रवृत्त हो सकता है, जो ईश्वर तथा मनुष्य की दृष्टि मे सब प्रकार से घृणित है। (२) गन्दे तथा कीडे-मकोडो से

कि कोई मनुष्य अपने किसी काम के लिए किसी धनी व्यक्ति के मकान पर जाता है और उसे 'गरीब परवर,' 'दीनबन्धु' आदि बडे बडे विशेषणो से विभूषित करता है, चाहे वह धनी व्यक्ति अपने मकान पर आये हुए किसी गरीब व्यक्ति का गला ही क्यो न काटता हो। अत ऐसे धनी व्यक्ति को गरीब परवर, दीनबन्धु कहना स्पष्ट झूठ है और हम ऐसी बातें कहकर ही अपने मन को मलिन करते हैं। इसीलिए शास्त्रो मे लिखा है कि यदि कोई व्यक्ति बारह वर्ष तक सत्य भाषणादि के द्वारा चित्तशुद्धि करे और बारह वर्ष तक यदि उसके मन मे कोई खराब विचार न आये तो वह जो कहेगा, वही सत्य निकलेगा। सत्य मे ऐसी ही अमोघ शक्ति है, और जिसने बाह्य और आभ्यन्तरिक शुद्धि की है वही भक्ति का अधिकारी है। पर भक्ति की विशेषता इस बात मे है कि वह स्वय मन को बहुत शुद्ध कर देती है। यद्यपि यहूदी, मुसलमान तथा ईसाई बाह्य शौच को हिन्दुओ की तरह इतना विशेष महत्त्व नही देते, तथापि वे भी किसी न किसी प्रकार से बाह्य शौच का अवलम्बन करते ही है—उन्हे भी मालूम हो गया है कि बाह्य शौच की किसी न किसी परिमाण मे आवश्यकता है। यद्यपि यहूदियो मे मूर्ति-पूजा निषिद्ध थी, पर उनका भी एक मन्दिर था। उस मन्दिर मे 'आर्क' नामक एक सन्दूक रखी हुई थी और उस सन्दूक के भीतर 'मूसा के दस ईश्वरादेश' सुरक्षित रखे हुए थे। इस सन्दूक के ऊपर विस्तारित पक्षयुक्त दो स्वर्गीय दूतो की मूर्तियाँ बनी थी, और उनके ठीक बीच मे वे बादल के रूप मे ईश्वर के आविर्भाव का दर्शन करते थे। बहुत दिन हुए, यहूदियो का वह प्राचीन मन्दिर नष्ट हो गया, किन्तु उनके नये मन्दिरो की रचना ठीक इसी पुराने ढग पर हुई है, और इन मन्दिरो मे सन्दूक के भीतर धर्म-पुस्तकें रखी हुई हैं। रोमन कैथोलिक और यूनानी ईसाइयो मे कुछ रूपो मे मूर्ति-पूजा प्रचलित है। वे ईसा की मूर्ति और उनके माता-पिता की मूर्तियो की पूजा करते हैं। प्रोटेस्टेन्टो मे मूर्ति-पूजा नही है, किन्तु वे भी ईश्वर को व्यक्तिविशेष समझकर उपासना करते हैं। यह भी मूर्ति-पूजा का रूपान्तर मात्र है। पारसियो और ईरानियो मे अग्नि-पूजा खूब प्रचलित है। मुसलमान अच्छे अच्छे पीरो-फकीरो की पूजा करते हैं और नमाज़ के समय काबे की ओर मुँह करते हैं। यह सब देखकर जान पडता है कि धर्म-साधना की प्रथमावस्था मे मनुष्यो को कुछ बाह्य अवलम्बनो की आवश्यकता पडती है। जिस समय मन खूब शुद्ध हो जाता है, उस समय सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयो मे चित्त एकाग्र करना सम्भव हो सकता है।

'जब जीव ब्रह्म से एकत्व का प्रयत्न करता है, यह सर्वोत्तम है, जब ध्यान का अभ्यास किया जाता है, यह मध्यम कोटि है, जब नाम का

दूषित आहार को निमित्तदोष से युक्त कहते हैं। इस
लिए ऐसे स्थान में भोजन करना होगा जो इन
दोष —दुष्ट व्यक्ति से छूआ हुआ खाद्य पदार्थ
का अन्न खाने से मन में अपवित्र भाव पैदा होते हैं।
यदि वह व्यक्ति लम्पट एवं कुकर्मी हो तो उसके हाथ का
इस समय इन सब बातों ।
तो सिर्फ इसी बात का हठ मौजूद है कि ऊँची से ऊँची जाति का न [illegible]
हाथ का छूआ न खायेंगे चाहे वह व्यक्ति कितना ही पवित्र [illegible]
आचरण का क्यों न हो। इन सब नियमों की किस भाँति उपेक्षा होती है [illegible]
प्रमाण किसी हलवाई की दुकान पर जाकर देखने से मिल जायगा। [illegible]
कि मक्खियाँ सब ओर भनभनाती हुई सब चीजों पर बैठती हैं, [illegible]
उड़कर मिठाई के ऊपर पड़ती है और हलवाई के कपड़े [illegible]
हैं। क्यों नहीं सब खरीदनेवाले मिलकर कहते कि दुकान में शीशा [illegible]
हम लोग मिठाई न खरीदेंगे। ऐसा करने से मक्खियाँ खाद्य पदार्थ पर न [illegible]
एवं अपने साथ हैजा तथा अन्यान्य संक्रामक बीमारियों के कीटाणु न [illegible]
भोजन के नियमों में हमें सुधार करना चाहिए, किन्तु हम उन्नति न कर [illegible]
के मार्ग की ही ओर क्रमशः अग्रसर हुए हैं। मनुस्मृति में लिखा है, जल में [illegible]
न चाहिए, किन्तु हम नदियों में हर प्रकार का मैला फेंकते हैं! इन सब बातों की
विवेचना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि बाह्य शौच भी विशेष आवश्यकता
है। शास्त्रकार भी इस बात को भली भाँति जानते थे। किन्तु इस समय इन सब
पवित्र-अपवित्र विचारों का प्रकृत उद्देश्य लुप्त हो गया है, इस समय केवल
आडम्बर मात्र शेष है। चोरों लम्पटों मतवालों अपराधियों को हम लोग अपनी
जाति-बन्धु स्वीकार कर लेंगे किन्तु यदि एक उच्च जातीय मनुष्य किसी नीच
जातीय व्यक्ति के साथ जो उसीके समान सम्माननीय है, बैठकर खाये,
तो वह जाति च्युत कर दिया जायगा और फिर वह सदा के लिए पतित
मान लिया जायगा। यह प्रथा हमारे देश के लिए विनाशकारी सिद्ध हुई है।
अस्तु, यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि पापी के स्पर्श से पाप और साधु के
संसर्ग से साधुता आती है और असत् संसर्ग का दूर से परिहार करना ही बाह्य
शौच है।

आभ्यन्तरिक शुद्धि कहीं अधिक दुस्तर कार्य है। आभ्यन्तरिक शुद्धि के
लिए सत्य भाषण निर्धन विपन्न और अभावग्रस्त व्यक्तियों की सेवा आदि की
आवश्यकता है। किन्तु क्या हम सर्वदा सत्य बोलते हैं? [illegible] है

कि कोई मनुष्य अपने किसी काम के लिए किसी धनी व्यक्ति के मकान पर जाता है और उसे 'गरीब परवर,' 'दीनबन्धु' आदि बड़े बड़े विशेषणों से विभूषित करता है, चाहे वह धनी व्यक्ति अपने मकान पर आये हुए किसी गरीब व्यक्ति का गला ही क्यो न काटता हो। अत ऐसे धनी व्यक्ति को गरीब परवर, दीनबन्धु कहना स्पष्ट झूठ है और हम ऐसी बाते कहकर ही अपने मन को मलिन करते है। इसीलिए शास्त्रो मे लिखा है कि यदि कोई व्यक्ति बारह वर्ष तक सत्य भाषणादि के द्वारा चित्तशुद्धि करे और बारह वर्ष तक यदि उसके मन मे कोई खराब विचार न आये तो वह जो कहेगा, वही सत्य निकलेगा। सत्य मे ऐसी ही अमोघ शक्ति है, और जिसने बाह्य और आभ्यन्तरिक शुद्धि की है वही भक्ति का अधिकारी है। पर भक्ति की विशेषता इस बात मे है कि वह स्वय मन को बहुत शुद्ध कर देती है। यद्यपि यहूदी, मुसलमान तथा ईसाई बाह्य शौच को हिन्दुओ की तरह इतना विशेष महत्त्व नही देते, तथापि वे भी किसी न किसी प्रकार से बाह्य शौच का अवलम्बन करते ही हैं—उन्हे भी मालूम हो गया है कि बाह्य शौच की किसी न किसी परिमाण मे आवश्यकता है। यद्यपि यहूदियो मे मूर्ति-पूजा निषिद्ध थी, पर उनका भी एक मन्दिर था। उस मन्दिर मे 'आर्क' नामक एक सन्दूक रखी हुई थी और उस सन्दूक के भीतर 'मूसा के दस ईश्वरादेश' सुरक्षित रखे हुए थे। इस सन्दूक के ऊपर विस्तारित पक्षयुक्त दो स्वर्गीय दूतो की मूर्तियाँ बनी थी, और उनके ठीक बीच मे वे बादल के रूप मे ईश्वर के आविर्भाव का दर्शन करते थे। बहुत दिन हुए, यहूदियो का वह प्राचीन मन्दिर नष्ट हो गया, किन्तु उनके नये मन्दिरो की रचना ठीक इसी पुराने ढग पर हुई है, और इन मन्दिरो मे सन्दूक के भीतर धर्म-पुस्तकें रखी हुई हैं। रोमन कैथोलिक और यूनानी ईसाइयो मे कुछ रूपो मे मूर्ति-पूजा प्रचलित है। वे ईसा की मूर्ति और उनके माता-पिता की मूर्तियो की पूजा करते हैं। प्रोटेस्टेन्टो मे मूर्ति-पूजा नही है, किन्तु वे भी ईश्वर को व्यक्तिविशेष समझकर उपासना करते हैं। यह भी मूर्ति-पूजा का रूपान्तर मात्र है। पारसियो और ईरानियो मे अग्नि-पूजा खूब प्रचलित है। मुसलमान अच्छे अच्छे पीरों-फकीरो की पूजा करते हैं और नमाज़ के समय काबे की ओर मुँह करते हैं। यह सब देखकर जान पड़ता है कि धर्म-साधना की प्रथमावस्था मे मनुष्यों को कुछ बाह्य अवलम्बनों की आवश्यकता पड़ती है। जिस समय मन खूब शुद्ध हो जाता है, उस समय सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयो मे चित्त एकाग्र करना सम्भव हो सकता है।

'जब जीव ब्रह्म से एकत्व का प्रयत्न करता है, यह सर्वोत्तम है, जब ध्यान का अभ्यास किया जाता है, यह मध्यम कोटि है, जब नाम का

जप किया जाता है, वह निम्न कोटि है और बाह्य पूजा निम्नातिनिम्न है।[1]

किन्तु इस स्थान पर यह अच्छी तरह समझ लेना होगा कि बाह्य पूजा के निम्नातिनिम्न होने पर भी उसमें कोई पाप नहीं है। जो व्यक्ति जैसी उपासना कर सकता है, उसके लिए वही ठीक है। यदि उसे अपने पथ से निवृत्त किया गया तो वह अपने कल्याण के लिए, अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए दूसरे किसी मार्ग का अवलम्बन करेगा। इसलिए जो मूर्ति-पूजा करते हैं, उनकी निन्दा करना उचित नहीं। वे उन्नति की जिस सीढ़ी तक चढ़ चुके हैं, उनके लिए वही आवश्यक है। ज्ञानी जनों को इन सब व्यक्तियों को अग्रसर होने में सहायता करने का प्रयत्न करना चाहिए किन्तु उपासना प्रणाली को लेकर झगड़ा करने की आवश्यकता नहीं है। कुछ लोग धन और कोई पुत्र की प्राप्ति के लिए ईश्वर की उपासना करते हैं और अपने को बड़े भागवत समझते हैं किन्तु यह वास्तविक भक्ति नहीं है—वे लोग भी सच्चे भागवत नहीं हैं। अगर वे सुन लें कि अमुक स्थान पर एक साधु आया है और वह तांबे का सोना बनाता है तो वे दल के दल वहाँ एकत्र हो जायँगे तिस पर भी वे अपने को भागवत कहने में लज्जित नहीं होते। पुत्र प्राप्ति के लिए ईश्वरोपासना को भक्ति नहीं कह सकते धनी होने के लिए ईश्वरोपासना को भक्ति नहीं कह सकते स्वर्ग-काम के लिए ईश्वरोपासना को भक्ति नहीं कह सकते यहाँ तक कि नरक की यंत्रणा से छूटने के लिए की गयी ईश्वरोपासना को भी भक्ति नहीं कह सकते। भय या लोभ से कभी भक्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती। वे ही सच्चे भागवत हैं, जो कह सकते हैं— 'हे जगदीश्वर! मैं धन जन परम सुन्दरी स्त्री अथवा पांडित्य कुछ भी नहीं चाहता। हे ईश्वर! मैं प्रत्येक जन्म में आपकी अहेतुकी भक्ति चाहता हूँ।'[2] जिस समय यह अवस्था प्राप्त होती है, उस समय मनुष्य सब जीवों में ईश्वर को तथा ईश्वर में सब जीवों को देखने लगता है। उसी समय उसे पूर्ण भक्ति प्राप्त होती है। उसी समय वह ब्रह्मा से लेकर कीटाणु तक सभी वस्तुओं में विष्णु के दर्शन करता है। तभी वह पूरी तरह समझ सकता है कि ईश्वर के अतिरिक्त संसार में और कुछ नहीं है और केवल तभी वह अपने को हीन से हीन समझकर यथार्थ भक्त की भाँति ईश्वर

---

१ उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो बाह्यपूजाऽधमाधमा॥ महानिर्वाण तंत्र १४।१२२॥

२ न धनं न जनं न च सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

की उपासना करता है। उस समय उसे बाह्य अनुष्ठान एव तीर्थ-यात्रा आदि की प्रवृत्ति नही रह जाती—वह प्रत्येक मनुष्य को ही यथार्थ देवमन्दिरस्वरूप समझता है।

शास्त्रो मे भक्ति का नाना प्रकार से वर्णन किया गया है। हम ईश्वर को अपना पिता कहते हैं, इसी प्रकार हम उसे माता आदि भी कहते हैं। हम लोगो मे भक्ति की दृढ स्थापना के लिए इन सम्बन्धो की कल्पना की गयी है, जिससे हम ईश्वर के अधिक सान्निध्य और प्रेम का अनुभव कर सकें। ये शब्द अत्यन्त प्रेमपूर्ण हैं। सच्चे धार्मिक ईश्वर को अपने प्राणो से भी अधिक प्यार करते हैं, इसलिए वे उसे माता-पिता कहे बिना नही रह सकते। रासलीला मे राधा और कृष्ण की कथा को लो। यह कथा भक्त के यथार्थ भाव को व्यक्त करती है, क्योकि ससार मे स्त्री-पुरुष के प्रेम से अधिक प्रबल कोई दूसरा प्रेम नही हो सकता। जहाँ इस प्रकार का प्रबल अनुराग होगा, वहाँ कोई भय, कोई वासना या कोई आसक्ति नही रह सकती—केवल एक अच्छेद्य बन्धन दोनो को तन्मय कर देता है। माता-पिता के प्रति सन्तान का जो प्रेम है वह भयमिश्रित है, कारण उनके प्रति उसका श्रद्धा-भाव रहता है। ईश्वर सृष्टि करता है या नही, वह हमारी रक्षा करता है या नही, इस सबसे हमारा क्या मतलब है और इसकी हम क्यो चिन्ता करें? वह हम लोगो का प्रियतम, आराध्य देवता है, अत भय के भाव को छोडकर हमे उसकी उपासना करनी चाहिए। जिस समय मनुष्य की सब वासनाएँ मिट जाती हैं, जिस समय वह और किसी विषय का चिन्तन नही करता, जिस समय वह ईश्वर के लिए पागल हो जाता है, उसी समय मनुष्य ईश्वर से वस्तुत प्रेम करता है। सासारिक प्रेमी जिस भाँति अपने प्रियतम से प्रेम करते हैं, उसी प्रकार हमें ईश्वर से भी प्रेम करना होगा। कृष्ण स्वय ईश्वर थे, राधा उनके प्रेम मे पागल थी। जिन ग्रन्थो मे राधा-कृष्ण की प्रेमकथाएँ वर्णित हैं, उन्हें पढो तो पता चलेगा कि ईश्वर से कैसे प्रेम करना चाहिए। किन्तु इस अपूर्व प्रेम के तत्त्व को कितने लोग समझते हैं? बहुत से ऐसे मनुष्य है जिनका हृदय पाप से परिपूर्ण है, वे नही जानते कि पवित्रता या नैतिकता किसे कहते हैं। वे क्या इन तत्त्वो को समझ सकते हैं? वे किसी भाँति इन तत्त्वो को समझ ही नही सकते। जिस समय मन से सारे सासारिक वासनापूर्ण विचार दूर हो जाते हैं और जब निर्मल नैतिक तथा आध्यात्मिक भाव-जगत् मे मन की अवस्थिति हो जाती है, उस समय वे अशिक्षित होने पर भी शास्त्र की अति जटिल समस्याओ के रहस्य को समझने मे समर्थ होते हैं। किन्तु इस प्रकार के मनुष्य ससार मे कितने हैं या हो सकते है? ऐसा कोई धर्म नही है जिसे लोग विकृत न कर दें। उदाहरणार्थ ज्ञान की

दुहाई देकर लोग अनायास ही कह सकते हैं कि आत्मा जब देह से सम्पूर्णतया पृथक है, तो देह चाहे जो पाप करे, आत्मा उस कार्य में लिप्त नहीं हो सकती। यदि वे ठीक तरह से धर्म का अनुसरण करते तो हिन्दू, मुसलमान, ईसाई अथवा कोई भी दूसरा धर्मावलम्बी क्यों न हो, सभी पवित्रता के अवतारस्वरूप होते। किन्तु मनुष्य अपनी अपनी अच्छी या बुरी प्रकृति के अनुसार परिचालित होते हैं, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु संसार में सदा कुछ मनुष्य ऐसे भी होते हैं जो ईश्वर का नाम सुनते ही उन्मत्त हो जाते हैं, ईश्वर का गुणगान करते करते जिनकी आँखों से प्रेमाश्रु की प्रबल धारा बहने लगती है। इसी प्रकार के लोग सच्चे भक्त हैं।

भक्ति की प्रथम अवस्था में भक्त ईश्वर को प्रभु और अपने को दास समझता है। अपनी दैनंदिन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह ईश्वर के प्रति कृतज्ञ अनुभव करता है, इत्यादि। इस प्रकार के भावों को एकदम छोड़ देना चाहिए। केवल एक ही आकर्षक शक्ति है और वह है ईश्वर। उसी आकर्षक शक्ति के कारण सूर्य, चन्द्र एवं अन्यान्य सभी चीजें गतिमान होती हैं। इस संसार की अच्छी या बुरी सभी चीजें ईश्वराभिमुख चल रही हैं। हमारे जीवन की सारी घटनाएँ, अच्छी या बुरी, हमें उसीकी ओर ले जाती हैं। एक मनुष्य ने दूसरे का अपने स्वार्थ के लिए खून किया। जो कुछ भी हो, अपने लिए हो या दूसरों के लिए हो, प्रेम ही इस कार्य का मूल है। खराब हो या अच्छा हो, प्रेम ही सब चीजों का प्रेरक है। *शेर जब भैंस को मारता है, तब वह अपनी या अपने बच्चों की भूख मिटाने* के लिए ऐसा करता है।

ईश्वर प्रेम का मूर्त रूप है। सदा सब अपराधों को क्षमा करने के लिए प्रस्तुत अनादि अनन्त ईश्वर प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है। लोग जानें या न जानें, वे उसकी ओर आकृष्ट हो रहे हैं। पति की परमानुरागिनी स्त्री नहीं जानती कि उसके पति में भी वही महान् दिव्य आकर्षण शक्ति है जो उसको अपने स्वामी की ओर ले जाती है। हमारा उपास्य है—केवल यही प्रेम का ईश्वर। जब तक हम उसे स्रष्टा, पालनकर्ता आदि समझते हैं, तब तक उसकी बाह्य पूजा आदि की आवश्यकता है, किन्तु जिस समय इन सारी भावनाओं का परित्याग कर उसे प्रेम का अवतारस्वरूप समझते हैं एवं सब वस्तुओं में उसे और उसमें सब वस्तुओं को देखते हैं, उसी समय हम परा भक्ति प्राप्त करते हैं।

हिन्दू धर्म के सामान्य आधार

लाहौर पहुँचने पर आर्य समाज और सनातन धर्मसभा दोनो के नेताओ ने स्वामी जी का भव्य स्वागत किया। स्वामी जी ने अपने अल्पकालीन लाहौर-प्रवास के दौरान में तीन भाषण दिये। पहला 'हिन्दू धर्म के सामान्य आधार' पर, दूसरा 'भक्ति' पर और तीसरा विख्यात भाषण 'वेदान्त' पर था। उनका पहला भाषण निम्नलिखित है

स्वामी जी का भाषण

यह वही भूमि है, जो पवित्र आर्यावर्त मे पवित्रतम मानी जाती है, यह वही ब्रह्मावर्त है, जिसका उल्लेख हमारे महर्षि मनु ने किया है। यह वही भूमि है, जहाँ से आत्म-तत्त्व की उच्चाकाक्षा का वह प्रबल स्रोत प्रवाहित हुआ है, जो आनेवाले युगो मे, जैसा कि इतिहास से प्रकट है, ससार को अपनी बाढ से आप्लावित करनेवाला है। यह वही भूमि है, जहाँ से उसकी वेगवती नद-नदियो के समान आध्यात्मिक महत्त्वाकाक्षाएँ उत्पन्न हुई और धीरे धीरे एक धारा मे सम्मिलित होकर शक्तिसम्पन्न हुई और अन्त मे ससार की चारो दिशाओ मे फैल गयी तथा वज्र-गम्भीर ध्वनि से उन्होंने अपनी महान् शक्ति की घोषणा समस्त जगत् मे कर दी। यह वही वीर भूमि है, जिसे भारत पर चढाई करनेवाले शत्रुओ के सभी आक्रमणो तथा अतिक्रमणो का आघात सबसे पहले सहना पडा था। आर्यावर्त मे घुसनेवाली बाहरी बर्बर जातियो के प्रत्येक हमले का सामना इसी वीर भूमि को अपनी छाती खोलकर करना पडा था। यह वही भूमि है, जिसने इतनी आपत्तियाँ झेलने के बाद भी अब तक अपने गौरव और शक्ति को एकदम नही खोया। यही भूमि है, जहाँ बाद मे दयालु नानक ने अपने अद्भुत विश्व-प्रेम का उपदेश दिया, जहाँ उन्होंने अपना विशाल हृदय खोलकर सारे ससार को—केवल हिन्दुओ को नही, वरन् मुसलमानो को भी—गले लगाने के लिए अपने हाथ फैलाये। यही पर हमारी जाति के सबसे बाद के तथा महान् तेजस्वी वीरो मे से एक, गुरु गोविन्द सिंह ने धर्म की रक्षा के लिए अपना एव अपने प्राण-प्रिय कुटुम्बियो का रक्त बहा दिया, और जिनके लिए यह खून की नदी बहायी गयी, उन लोगो ने भी जब उनका साथ छोड

दिया तब वे मर्माहत सिंह की भाँति चुपचाप दक्षिण देश में निर्जन-वास के लिए चले गये और अपने देश-भाइयों के प्रति अधरों पर एक भी कटु वचन न लाकर, तनिक भी असन्तोष प्रकट न कर, शान्त भाव से इहलोक छोड़ कर चले गये।

हे पंजाब देशवासी भाइयो! यहाँ अपनी इस प्राचीन पवित्र भूमि में तुम लोगों के सामने मैं *आचार्य के रूप में नहीं खड़ा हुआ हूँ कारण तुम्हें शिक्षा देने* योग्य ज्ञान मेरे पास बहुत ही थोड़ा है। मैं तो पूर्वी प्रान्त से अपने पश्चिमी प्रान्त के भाइयों के पास इसीलिए आया हूँ कि उनके साथ हृदय खोलकर वार्तालाप करूँ, उन्हें अपने अनुभव बताऊँ और उनके अनुभव से स्वयं लाभ उठाऊँ। मैं यहाँ यह देखने नहीं आया कि हमारे बीच क्या क्या मतभेद है, वरन् मैं तो यह खोजने आया हूँ कि हम लोगों की मिलन-भूमि कौन सी है। यहाँ मैं यह जानने का प्रयत्न कर रहा हूँ कि वह कौन सा आधार है, जिस पर हम लोग आपस में सदा भाई बने रह सकते हैं किस नींव पर प्रतिष्ठित होने से वह वाणी जो अनन्त काल *से सुनायी दे रही है, उत्तरोत्तर अधिक प्रबल होती रहेगी। मैं यहाँ तुम्हारे* सामने कुछ रचनात्मक कार्यक्रम रखने आया हूँ ध्वंसात्मक नहीं। कारण आलोचना के दिन अब चले गये और आज हम रचनात्मक कार्य करने के लिए उत्सुक हैं। यह सत्य है कि संसार को समय समय पर आलोचना की ज़रूरत हुआ करती है, यहाँ तक कि कठोर आलोचना की भी पर वह केवल अल्प काल के लिए ही होती है। हमेशा के लिए तो उन्नतिकारी और रचनात्मक कार्य ही वांछित होते हैं आलोचनात्मक या ध्वंसात्मक नहीं। लगभग पिछले सौ वर्ष से हमारे इस देश में सर्वत्र आलोचना की बाढ़ सी आ गयी है, उधर सभी अन्धकारमय प्रदेशों पर पाश्चात्य विज्ञान का तीव्र प्रकाश डाला गया है, जिससे लोगों की दृष्टि अन्य स्थानों की अपेक्षा कोनों और गली-कूचों की ओर ही अधिक खिंच गयी है। स्वभावतः इस देश में सर्वत्र महान् और तेजस्वी मेधासम्पन्न पुरुषों का जन्म हुआ जिनके हृदय में सत्य और न्याय के प्रति प्रबल अनुराग था जिनके अन्तःकरण में अपने देश के लिए और सबसे बढ़कर ईश्वर तथा अपने धर्म के लिए अगाध प्रेम था। क्योंकि ये महापुरुष अत्यधिक संवेदनशील थे उनमें देश के प्रति इतना गहरा प्रेम था इसलिए उन्होंने प्रत्येक वस्तु की जिसे बुरा समझा तीव्र आलोचना की। अतीतकालीन इन महापुरुषों की जय हो! उन्होंने देश का बहुत ही कल्याण किया है। पर आज हम एक महावाणी सुनायी दे रही है, 'बस करो बस करो! निन्दा पर्याप्त हो चुकी दोष-दर्शन बहुत हो चुका! अब तो पुनर्निर्माण का फिर से संगठन करने का समय आ गया है। अब अपनी समस्त

बिखरी हुई शक्तियो को एकत्र करने का, उन सबको एक ही केन्द्र मे लाने का और उस सम्मिलित शक्ति द्वारा देश को प्राय सदियो से रुकी हुई उन्नति के मार्ग मे अग्रसर करने का समय आ गया है। घर की सफाई हो चुकी है। अब आवश्यकता है उसे नये सिरे से आबाद करने की। रास्ता साफ कर दिया गया है। आर्य सन्तानो, अब आगे बढो!

सज्जनो! इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर मैं आपके सामने आया हूँ और आरम्भ मे ही यह प्रकट कर देना चाहता हूँ कि मैं किसी दल या विशिष्ट सम्प्रदाय का नही हूँ। सभी दल और सभी सम्प्रदाय मेरे लिए महान् और महिमामय हैं। मैं उन सबसे प्रेम करता हूँ, और अपने जीवन भर मैं यही ढूंढने का प्रयत्न करता रहा कि उनमे कौन कौन सी बाते अच्छी और सच्ची है। इसीलिए आज मैंने सकल्प किया है कि तुम लोगो के सामने उन बातो को पेश करूँ, जिनमे हम एकमत हैं, जिससे कि हमे एकता की सम्मिलन-भूमि प्राप्त हो जाय, और यदि ईश्वर के अनुग्रह से यह सम्भव हो तो आओ, हम उसे ग्रहण करे और उसे सिद्धान्त की सीमाओ से बाहर निकालकर कार्यरूप मे परिणत करें। हम लोग हिन्दू हैं। मैं 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग किसी बुरे अर्थ मे नही कर रहा हूँ, और मैं उन लोगो से कदापि सहमत नही, जो उससे कोई बुरा अर्थ समझते हो। प्राचीन काल मे उस शब्द का अर्थ था—सिन्धु नद के दूसरी ओर बसनेवाले लोग। हमसे घृणा करनेवाले बहुतेरे लोग आज उस शब्द का कुत्सित अर्थ भले ही लगाते हो, पर केवल नाम मे क्या धरा है? यह तो हम पर ही पूर्णतया निर्भर है कि 'हिन्दू' नाम ऐसी प्रत्येक वस्तु का द्योतक रहे, जो महिमामय हो, आध्यात्मिक हो, अथवा वह ऐसी वस्तु का द्योतक रहे जो कलक का समानार्थी हो, जो एक पददलित, निकम्मी और धर्म-भ्रष्ट जाति का सूचक हो। यदि आज 'हिन्दू' शब्द का कोई बुरा अर्थ है तो उसकी परवाह मत करो। आओ, अपने कार्यों और आचरणो द्वारा यह दिखाने को तैयार हो जाओ कि समग्र ससार की कोई भी भाषा इससे ऊँचा, इससे महान् शब्द का आविष्कार नहीं कर सकी है। मेरे जीवन के सिद्धान्तो मे से एक यह भी सिद्धान्त रहा है कि मैं अपने पूर्वजो की सन्तान कहलाने मे लज्जित नही होता। मुझ जैसा गर्वीला मानव इस ससार मे शायद ही हो, पर मैं यह स्पष्ट रूप से बता देना चाहता हूँ कि यह गर्व मुझे अपने स्वय के गुण या शक्ति के कारण नही, वरन् अपने पूर्वजो के गौरव के कारण है। जितना ही मैंने अतीत का अध्ययन किया है, जितनी ही मैंने भूत काल की ओर दृष्टि डाली है, उतना ही यह गर्व मुझमे अधिक आता गया है। उससे मुझे श्रद्धा की उतनी ही दृढता और साहस प्राप्त हुआ है, जिसने मुझे धरती की धूलि से ऊपर उठाया है और मैं अपने उन

महान् पूर्वजों के निश्चित किये हुए कार्यक्रम के अनुसार कार्य करने को प्रेरित हुआ हूँ। ऐ उन्हीं प्राचीन आर्यों की सन्तानो! ईश्वर करे, तुम लोगों के हृदय में भी वही गर्व आविर्भूत हो जाय, अपने पूर्वजों के प्रति वही विश्वास तुम लोगों के रक्त में भी दौड़ने लगे, वह तुम्हारे जीवन से मिलकर एक हो जाय और संसार के उद्धार के लिए कार्यशील हो।

भाइयो! यह पता लगाने के पहले कि हम ठीक किस बात में एकमत हैं तथा हमारे जातीय जीवन का सामान्य आधार क्या है, हमें एक बात स्मरण रखनी होगी। जैसे प्रत्येक मनुष्य का एक व्यक्तित्व होता है, ठीक उसी तरह प्रत्येक जाति का भी अपना एक व्यक्तित्व होता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति कुछ विशिष्ट बातों में, अपने विशिष्ट लक्षणों में अन्य व्यक्तियों से पृथक् होता है, उसी प्रकार एक जाति भी कुछ विशिष्ट लक्षणों में दूसरी जाति से भिन्न हुआ करती है। और जिस प्रकार प्रकृति की व्यवस्था में किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति करना हर एक मनुष्य का जीवनोद्देश्य होता है, जिस प्रकार अपने पूर्व कर्म द्वारा निर्धारित विशिष्ट मार्ग से उस मनुष्य को चलना पड़ता है, ठीक ऐसा ही जातियों के विषय में भी है। प्रत्येक जाति को किसी न किसी दैवनिर्दिष्ट उद्देश्य को पूरा करना पड़ता है, प्रत्येक जाति को संसार में एक सन्देश देना पड़ता है तथा प्रत्येक जाति को एक व्रतविशेष का उद्यापन करना होता है। अतः आरम्भ से ही हमें यह समझ लेना चाहिए कि हमारी जाति का वह व्रत क्या है, विधाता ने उसे भविष्य के किस निर्दिष्ट उद्देश्य के लिए नियुक्त किया है, विभिन्न राष्ट्रों की पृथक्-पृथक् उन्नति और अधिकार में हमें कौन सा स्थान ग्रहण करना है, विभिन्न जातीय स्वरों की समरसता में हमें कौन सा स्वर अलापना है। हम अपने देश में बचपन में यह किस्सा सुना करते हैं कि कुछ सर्पों के फन में मणि होती है और जब तक मणि वहाँ है, तब तक तुम सर्प को मारने का कोई भी उपाय करो, वह नहीं मर सकता। हम लोगों ने किस्से-कहानियों में दैत्यों और दानवों की बातें पढ़ी हैं। उनके प्राण 'हीरामन तोते' के कलेजे में बन्द रहते हैं और जब तक उस 'हीरामन तोते' की जान में जान रहेगी, तब तक उस दानव का बाल भी बाँका न होगा, चाहे तुम उसके टुकड़े टुकड़े ही क्यों न कर डालो। यह बात राष्ट्रों के सम्बन्ध में भी सत्य है। राष्ट्रविशेष का जीवन भी ठीक उसी प्रकार मानो किसी बिन्दु में केन्द्रित रहता है, वहीं उस राष्ट्र की राष्ट्रीयता रहती है और जब तक उस मर्मस्थान पर चोट नहीं पड़ती, तब तक वह राष्ट्र मर नहीं सकता। इस तथ्य के प्रकाश में हम संसार के इतिहास की एक अद्वितीय एवं सबसे अपूर्व घटना को समझ सकते हैं। हमारी इस मातृभूमि पर बारम्बार बर्बर जातियों

के आक्रमणो के दौर आते रहे हैं। 'अल्लाहो अकबर' के गगनभेदी नारो से भारत-गगन सदियो तक गूंजता रहा है और मृत्यु की अनिश्चित छाया प्रत्येक हिन्दू के सिर पर मंडराती रही है। ऐसा कोई हिन्दू न रहा होगा, जिसे पल पल पर मृत्यु की आशका न होती रही हो। ससार के इतिहास मे इस देश मे अधिक दु ख पानेवाला तथा अधिक पराधीनता भोगनेवाला और कौन देश है? पर तो भी हम जैसे पहले थे, आज भी लगभग वैसे ही बने हुए है, आज भी हम आवश्यकता पडने पर वारम्वार विपत्तियो का सामना करने को तैयार है, और इतना ही नही, हाल मे ऐसे भी लक्षण दिखायी दिये हैं कि हम केवल शक्तिमान ही नही, वरन् वाहर जाकर दूसरो को अपने विचार देने के लिए भी उद्यत है, कारण, विस्तार ही जीवन का लक्षण है।

हम आज देखते है कि हमारे भाव और विचार भारत की सरहदो के पिंजडे मे ही वन्द नही हैं, वल्कि वे तो, हम चाहे या न चाहे, भारत के वाहर वढ रहे हैं, अन्य देशो के साहित्य मे प्रविष्ट हो रहे हैं, उन देशो मे अपना स्थान प्राप्त कर रहे है और इतना ही नही, कही कही तो वे आदेशदाता गुरु के आसन तक पहुँच गये हैं। इसका कारण यही है कि ससार की सम्पूर्ण उन्नति मे भारत का दान सबसे श्रेष्ठ रहा है, क्योकि उसने ससार को ऐसे दर्शन और धर्म का दान दिया है, जो मानव-मन को सलग्न रखनेवाला सवसे अधिक महान्, सवसे अधिक उदात्त और सवसे श्रेष्ठ विषय है। हमारे पूर्वजो ने वहुतेरे अन्य प्रयोग किये। हम सब यह जानते हैं कि अन्य जातियो के समान, वे भी पहले वहिर्जगत् के रहस्य के अन्वेषण मे लग गये, और अपनी विशाल प्रतिभा से वह महान् जाति, प्रयत्न करने पर, उस दिशा मे ऐसे ऐसे अद्भुत आविष्कार कर दिखाती, जिन पर समस्त ससार को सदैव अभिमान रहता। पर उन्होंने इस पथ को किसी उच्चतर ध्येय की प्राप्ति के लिए छोड दिया। वेद के पृष्ठो से उसी महान् ध्येय की प्रतिध्वनि सुनायी देती है—**अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते**—'वही परा विद्या है, जिससे हमे उस अविनाशी पुरुष की प्राप्ति होती है।' इस परिवर्तनशील, नश्वर प्रकृति सम्वन्धी विद्या—मृत्यु, दु ख और शोक से भरे इस जगत् से सम्बन्धित विद्या वहुत वडी भले ही हो, एव सचमुच ही वह वडी है, परन्तु जो अपरिणामी और आनन्दमय है, जो चिर शान्ति का निधान है, जो शाश्वत जीवन और पूर्णत्व का एकमात्र आश्रय-स्थान है, एकमात्र जहाँ ही सारे दु खो का अवसान होता है, उस ईश्वर से सम्बन्ध रखनेवाली विद्या ही हमारे पूर्वजो की राय मे सबसे श्रेष्ठ और उदात्त है। हमारे पूर्वज यदि चाहते, तो ऐसे विज्ञानो का अन्वेषण सहज ही कर सकते थे, जो हमे केवल अन्न, वस्त्र और अपने साथियो पर आधिपत्य

वे सकते हैं जो हमें केवल दूसरों पर विजय प्राप्त करना और उन पर प्रभुत्व करना सिखाते हैं जो बली को निर्बल पर हुकूमत करने की शिक्षा देते हैं। पर उस परमेश्वर की अपार दया से हमारे पूर्वजों ने उस ओर बिल्कुल ध्यान न देकर एकदम दूसरी दिशा पकड़ी जो पूर्वोक्त मार्ग से अनन्त गुनी श्रेष्ठ और महान् थी जिसमें पूर्वोक्त पथ की अपेक्षा अनन्त गुना आनन्द था। इस मार्ग को अपनाकर वे ऐसी अनन्य निष्ठा के साथ उस पर अग्रसर हुए कि आज वह हमारा जातीय विशेषत्व बन गया सहस्रों वर्ष से पिता-पुत्र की उत्तराधिकार-परम्परा से आता हुआ आज वह हमारे जीवन से घुल-मिल गया है हमारी रगों में बहनेवाले रक्त की बूँद बूँद से मिलकर एक हो गया है वह मानो हमारा दूसरा स्वभाव ही बन गया है यहाँ तक कि आज 'धर्म' और 'हिन्दू' ये दो शब्द समानार्थी हो गये हैं। यही हमारी जाति का वैशिष्ट्य है और इस पर कोई आघात नहीं कर सकता। बर्बर जातियों ने यहाँ आकर तलवारों और तोपों के बल पर अपने बर्बर धर्मों का प्रचार किया पर उनमें से एक भी हमारे मर्मस्थल को स्पर्श न कर सका सर्प की उस 'मणि' को न छू सका जातीय जीवन के प्राणस्वरूप उस 'हीरामन तोते' को न मार सका। अतः यही हमारी जाति की जीवनी शक्ति है और जब तक यह अव्याहत है, तब तक संसार में ऐसी कोई ताकत नहीं जो इस जाति का विनाश कर सके। यदि हम अपनी इस सर्वश्रेष्ठ विरासत आध्यात्मिकता को न छोड़ें तो संसार के सारे अत्याचार-उत्पीड़न और दुःख हमें बिना चोट पहुँचाये ही निकल जायँगे और हम लोग दुःख-कष्टाग्नि की उन ज्वालाओं में से प्रह्लाद के समान बिना जले बाहर निकल आयेंगे। यदि कोई हिन्दू धार्मिक नहीं है तो मैं उसे हिन्दू ही नहीं कहूँगा। दूसरे देशों में भले ही मनुष्य पहले राजनीतिक हो और फिर धर्म से थोड़ा सा लगाव रखे पर यहाँ भारत में तो हमारे जीवन का सबसे बड़ा और प्रथम कर्तव्य धर्म का अनुष्ठान है और फिर उसके बाद यदि अवकाश मिले तो दूसरे विषय भले ही आ जायँ। इस तथ्य को ध्यान में रखने से हम यह बात अधिक अच्छी तरह समझ सकेंगे कि अपने जातीय हित के लिए हमें आज क्यों सबसे पहले अपनी जाति की समस्त आध्यात्मिक शक्तियों को ढूँढ़ निकालना होगा जैसा कि अतीत काल में किया गया था और चिर काल तक किया जायगा। अपनी बिखरी हुई आध्यात्मिक शक्तियों का एकत्र करना ही भारत में जातीय एकता स्थापित करने का एकमात्र उपाय है। जिनकी हृत्तन्त्री एक ही आध्यात्मिक स्वर में बँधी है, उन सबके सम्मिलन से ही भारत में जाति का संगठन होगा।

इस देश में पर्याप्त पन्थ या सम्प्रदाय हुए हैं। आज भी ये पन्थ पर्याप्त संख्या

मे हैं और भविष्य मे भी पर्याप्त सख्या मे रहेगे, क्योकि हमारे धर्म की यह विशेपता रही है कि उसमे व्यापक तत्त्वो की दृष्टि से इतनी उदारता है कि यद्यपि वाद मे उनमे से अनेक सम्प्रदाय फैले हैं और उनकी बहुविध शाखा-प्रशाखाएँ फूटी हैं तो भी उनके तत्त्व हमारे सिर पर फैले हुए इस अनन्त आकाश के समान विशाल हैं, स्वय प्रकृति की भाँति नित्य और सनातन हैं। अत सम्प्रदायो का होना तो स्वाभाविक ही है, परन्तु जिसका होना आवश्यक नही है, वह है इन सम्प्रदायो के वीच के झगडे-झमेले। सम्प्रदाय अवश्य रहे, पर साम्प्रदायिकता दूर हो जाय। साम्प्रदायिकता से ससार की कोई उन्नति नही होगी, पर सम्प्रदायो के न रहने से ससार का काम नही चल सकता। एक ही साम्प्रदायिक विचार के लोग सब काम नही कर सकते। ससार की यह अनन्त शक्ति कुछ थोडे से लोगो से परिचालित नही हो सकती। यह बात समझ लेने पर हमारी समझ मे यह भी आ जायगा कि हमारे भीतर किसलिए यह सम्प्रदाय-भेदरूपी श्रमविभाग अनिवार्य रूप से आ गया है। भिन्न भिन्न आध्यात्मिक शक्ति-समूहो का परिचालन करने के लिए सम्प्रदाय कायम रहे। परन्तु जब हम देखते हैं कि हमारे प्राचीनतम शास्त्र इस बात की घोषणा कर रहे हैं कि यह सब भेद-भाव केवल ऊपर का है, देखने भर का है, और इन सारी विभिन्नताओ के वावजूद इनको एक साथ बाँधे रहनेवाला परम मनोहर स्वर्ण सूत्र इनके भीतर पिरोया हुआ है, तब इसके लिए हमे एक दूसरे के साथ लडने-झगडने की कोई आवश्यकता नही दिखायी देती। हमारे प्राचीनतम शास्त्रो ने घोषणा की है कि **एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**—'विश्व मे एक ही सद्वस्तु विद्यमान है, ऋषियो ने उसी एक का भिन्न भिन्न नामो से वर्णन किया है।' अत ऐसे भारत मे, जहाँ सदा से सभी सम्प्रदाय समान रूप से सम्मानित होते आये हैं, यदि अब भी सम्प्रदायो के बीच ईर्ष्या-द्वेष और लडाई-झगडे बने रहे तो धिक्कार है हमे, जो हम अपने को उन महिमान्वित पूर्वजो के वशधर वताने का दु साहस करें!

मेरा विश्वास है कि कुछ ऐसे महान् तत्त्व हैं, जिन पर हम सव सहमत हैं, जिन्हे हम सभी मानते हैं—चाहे हम वैष्णव हो या शैव, शाक्त हो या गाणपत्य, चाहे प्राचीन वेदान्ती सिद्धान्तो को मानते हो या अर्वाचीनो के ही अनुयायी हो, पुरानी लकीर के फकीर हो अथवा नवीन सुधारवादी हो—और जो भी अपने को हिन्दू कहता है, वह इन तत्त्वो मे विश्वास रखता है। सम्भव है कि इन तत्त्वो की व्याख्याओ मे भेद हो—और वैसा होना भी चाहिए, क्योकि हमारा यह मानदड रहा है कि हम मवको जवरदस्ती अपने साँचे मे न ढालें। हम जिस तरह की व्याख्या करें, सवको वही व्याख्या माननी पडेगी अथवा हमारी ही प्रणाली का अनुसरण

करना होगा—जबरदस्ती ऐसी चेष्टा करना पाप है। आज यहाँ पर जो लोग एकत्र हुए हैं शायद वे सभी एक स्वर से यह स्वीकार करेंगे कि हम लोग वेदों को अपने धर्म-रहस्यों का सनातन उपदेश मानते हैं। हम सभी यह विश्वास करते हैं कि वेदरूपी यह पवित्र शब्द राशि अनादि और अनन्त है। जिस प्रकार प्रकृति का न आदि है न अन्त उसी प्रकार इसका भी आदि-अन्त नहीं है। और जब कभी हम इस पवित्र ग्रन्थ के प्रकाश में आते हैं तब हमारे धर्म-सम्बन्धी सारे भेद भाव और झगड़े मिट जाते हैं। इसमें हम सभी सहमत हैं कि हमारे धर्म विषयक जितने भी भेद हैं, उनकी अन्तिम मीमांसा करनेवाला यही वेद है। वेद क्या है, इस पर हम लोगों म मतभेद हो सकता है। कोई सम्प्रदाय वेद के किसी एक अंश को दूसरे अंश से अधिक पवित्र समझ सकता है। पर इससे तब तक कुछ बनता बिगड़ता नहीं जब तक हम यह विश्वास करते हैं कि वेदों के प्रति श्रद्धालु होने के कारण हम सभी आपस में भाई भाई हैं तथा उन सनातन पवित्र और अपूर्व ग्रन्थों से ही ऐसी प्रत्येक पवित्र महान् और उत्तम वस्तु का उद्भव हुआ है जिसके हम आज अधिकारी हैं। अच्छा यदि हमारा ऐसा ही विश्वास है तो फिर सबसे पहले इसी तत्त्व का भारत में सर्वत्र प्रचार किया जाय। यदि यही सत्य है तो फिर वेद सर्वदा ही जिस प्राधान्य के अधिकारी हैं तथा जिसमें हम सभी विश्वास करते हैं वह प्रधानता वेदों को दी जाय। अतः हम सबकी प्रथम मिलन भूमि है वेद।

दूसरी बात यह है कि हम सब ईश्वर में विश्वास करते हैं जो संसार की सृष्टि-स्थिति-लय-कारिणी शक्ति है जिसमें यह सारा चराचर कल्पान्त में लय होकर दूसरे कल्प के आरम्भ में पुनः अद्भुत जगत् प्रपंच रूप से बाहर निकल आता एवं अभिव्यक्त होता है। हमारी ईश्वर विषयक कल्पना भिन्न भिन्न प्रकार की हो सकती है—कुछ लोग ईश्वर को सम्पूर्ण सगुण रूप में, कुछ उन्हें सगुण पर मानव भावापन्न रूप में नहीं और कुछ उन्हें सम्पूर्ण निर्गुण रूप में ही मान सकते हैं और सभी अपनी अपनी धारणा की पुष्टि में वेद के प्रमाण भी दे सकते हैं। पर इन सब विभिन्नताओं के होते हुए भी हम सभी ईश्वर में विश्वास करते हैं। इसी बात को दूसरे शब्दों में ऐसा भी कह सकते हैं कि जिससे यह समस्त चराचर उत्पन्न हुआ है जिसके अवलम्ब से यह जीवित है और अन्त में जिसमें वह फिर से लीन हो जाता है उस अद्भुत अनन्त शक्ति पर जो विश्वास नहीं करता वह अपने को हिन्दू नहीं कह सकता। यदि ऐसी बात है तो इस तत्त्व को भी समस्त भारत में फैलाने की चेष्टा करनी होगी। तुम इस ईश्वर का चाहे जिस भाव से प्रचार करो ईश्वर सम्बन्धी तुम्हारा भाव भले ही मेरे भाव से भिन्न हो, पर हम इसके लिए आपस में झगड़ा नहीं करेंगे। हम चाहते हैं ईश्वर का प्रचार फिर

वह किसी भी रूप मे क्यो न हो। हो सकता है, ईश्वर सम्वन्धी इन विभिन्न धारणाओ मे कोई अधिक श्रेष्ठ हो, पर याद रखना, उनमे कोई भी धारणा वुरी नही है। उन धारणाओ मे कोई उत्कृष्ट, कोई उत्कृष्टतर और कोई उत्कृष्टतम हो सकती है, पर हमारे धर्म-तत्त्व की पारिभाषिक शव्दावली मे 'वुरा' नाम का कोई शव्द नही है। अत, ईश्वर के नाम का चाहे जो कोई जिस भाव से प्रचार करे, वह निश्चय ही ईश्वर के आशीर्वाद का भाजन होगा। उसके नाम का जितना ही अधिक प्रचार होगा, देश का उतना ही कल्याण होगा। हमारे वच्चे वचपन से ही इस भाव को हृदय मे धारण करना सीखे—अत्यन्त दरिद्र और नीचातिनीच मनुष्य के घर से लेकर वडे से वडे धनी-मानी और उच्चतम मनुष्य के घर मे भी ईश्वर के शुभ नाम का प्रवेश हो!

अव तीसरा तत्त्व मैं तुम लोगो के सामने प्रकट करना चाहता हूँ। हम लोग औरो की तरह यह विश्वास नही करते कि इस जगत् की सृष्टि केवल कई हजार वर्ष पहले हुई है और एक दिन इसका सदा के लिए ध्वस हो जायगा। साथ ही, हम यह भी विश्वास नही करते कि इसी जगत् के साथ शून्य से जीवात्मा की भी सृष्टि हुई है। मैं समझता हूँ कि इस विषय मे भी हम सव सहमत हो सकते हैं। हमारा विश्वास है कि प्रकृति अनादि और अनन्त है, पर हाँ, कल्पान्त मे यह स्थूल वाह्य जगत् अपनी सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त होता है, और कुछ काल तक उस सूक्ष्मावस्था मे रहने के बाद पुन उसका प्रक्षेपण होता है तथा प्रकृति नामक इस अनन्त प्रपच की अभिव्यक्ति होती है। यह तरगाकार गति अनन्त काल से—जव स्वय काल का ही आरम्भ नही हुआ था तभी से—चल रही है और अनन्त काल तक चलती रहेगी।

पुन हिन्दू मात्र का यह विश्वास है कि मनुष्य केवल यह स्थूल जड शरीर ही नही है, न ही उसके अभ्यन्तरस्थ यह 'मन' नामक सूक्ष्म शरीर ही प्रकृत मनुष्य है, वरन् प्रकृत मनुष्य तो इन दोनो से अतीत एव श्रेष्ठ है। कारण, स्थूल शरीर परिणामी है और मन का भी वही हाल है, परन्तु इन दोनो से परे 'आत्मा' नामक अनिवर्चनीय वस्तु है जिसका न आदि है, न अन्त। मैं इस 'आत्मा' शव्द का अग्रेजी मे अनुवाद नही कर सकता, क्योकि इसका कोई भी पर्याय गलत होगा। यह आत्मा 'मृत्यु' नामक अवस्था से परिचित नही। इसके सिवाय एक और विशिष्ट वात है, जिसने हमारे साथ अन्यान्य जातियो का विलकुल मतभेद है। वह यह है कि आत्मा एक देह का अन्त होने पर दूसरी देह धारण करती है, ऐसा करते करते वह एक ऐसी अवस्था मे पहुँचती है, जव उसे फिर शरीर धारण करने की कोई इच्छा या आवश्यकता नही रह जाती, तव वह मुक्त हो जाती है

और फिर से कभी जन्म नहीं लेती। यहाँ मेरा तात्पर्य अपने शास्त्रों के संसार वाद या पुनर्जन्मवाद तथा आत्मा के नित्यत्ववाद से है। हम चाहे जिस सम्प्रदाय के हों पर इस विषय में हम सभी सहमत हैं। इस आत्मा-परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में हमारे मत भिन्न हो सकते हैं। एक सम्प्रदाय आत्मा को परमात्मा से अनन्त काल तक अलग मान सकता है, दूसरे के मत से आत्मा उसी अनन्त अग्नि की एक चिनगारी हो सकती है और फिर अन्यों के मतानुसार वह उस अनन्त से एकरूप और अभिन्न हो सकती है। पर जब तक हम सब लोग इस मौलिक तत्त्व को मानते हैं कि आत्मा अनन्त है, उसकी सृष्टि कभी नहीं हुई और इसलिए उसका नाश भी कभी नहीं हो सकता, उसे तो भिन्न भिन्न शरीरों से क्रमशः उन्नति करते करते अन्त में मनुष्य शरीर धारण कर पूर्णत्व प्राप्त करना होगा—तब तक हम आत्मा एवं परमात्मा के इस सम्बन्ध के विषय में चाहे जैसी व्याख्या क्यों न करें, उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। इसके विषय में हम सभी सहमत हैं। और इसके बाद आध्यात्मिकता के क्षेत्र में सबसे उदात्त सर्वाधिक विभेद को व्यक्त करनेवाले और आज तक के सबसे अपूर्व आविष्कार की बात आती है। तुम लोगों में से जिन्होंने पाश्चात्य चिन्तन प्रणाली का अध्ययन किया होगा उन्होंने सम्भवतः यह लक्ष्य किया होगा कि एक ऐसा मौलिक प्रभेद है, जो पाश्चात्य विचारों को एक ही आघात में पौर्वात्य विचारों से पृथक कर देता है। वह यह है कि भारत में हम सभी चाहे हम शाक्त हों या सौर या वैष्णव अथवा बौद्ध या जैन ही क्यों न हों—हम सब के सब यही विश्वास करते हैं कि आत्मा स्वभावतः शुद्ध पूर्ण अनन्त शक्तिसम्पन्न और आनन्दमय है। अन्तर केवल इतना है कि द्वैतवादियों के मत से आत्मा का वह स्वाभाविक आनन्दस्वभाव पिछले बुरे कर्मों के कारण संकुचित हो गया है एवं ईश्वर के अनुग्रह से वह फिर विकसित हो जायगा और आत्मा पुनः अपने पूर्व स्वभाव को प्राप्त हो जायगी। पर अद्वैतवादी कहते हैं कि आत्मा के संकुचित होने की यह धारणा भी अंशतः भ्रमात्मक है—हम तो माया के आवरण के कारण ही ऐसा समझते हैं कि आत्मा अपनी सारी शक्ति गँवा बैठी है, जब कि वास्तव में उसकी समस्त शक्ति तब भी पूर्ण रूप से अभिव्यक्त रहती है। जो भी अन्तर हो पर हम एक ही केन्द्रीय तत्त्व पर पहुँचते हैं कि आत्मा स्वभावतः ही पूर्ण है और यही प्राच्य और पाश्चात्य भावों के बीच एक ऐसा अन्तर डाल देता है जिसमें कहीं समझौता नहीं है। जो कुछ महान् है, जो कुछ शुभ है, पौर्वात्य उसका अन्वेषण अभ्यन्तर में करता है। जब हम पूजा-उपासना करते हैं तब आँखें बन्द कर ईश्वर को अन्दर ढूँढने का प्रयत्न करते हैं, और पाश्चात्य अपने बाहर ही ईश्वर को ढूँढता फिरता है। पाश्चात्यों

के धर्मग्रन्थ प्रेरित (inspired) हैं, जब कि हमारे धर्मग्रन्थ अन्त प्रेरित (expired) हैं, नि श्वास की तरह वे निकले हैं, ईश्वरनि श्वसित हैं, मन्त्रद्रष्टा ऋषियो के हृदयो मे निकले हैं।[1]

यह एक प्रधान बात है, जिसे अच्छी तरह समझ लेने की आवश्यकता है। प्यारे भाइयो! मैं तुम लोगो को यह बताये देता हूँ कि यही बात भविष्य मे हमे विशेष रूप से बार बार बतलानी और समझानी पडेगी। क्योकि यह मेरा दृढ विश्वास है और मैं तुम लोगो से भी यह बात अच्छी तरह समझ लेने को कहता हूँ कि जो व्यक्ति दिन-रात अपने को दीन-हीन या अयोग्य समझे हुए बैठा रहेगा, उसके द्वारा कुछ भी नही हो सकता। वास्तव मे अगर दिन-रात वह अपने को दीन, नीच एव 'कुछ नही' समझता है तो वह 'कुछ नही' ही बन जाता है। यदि तुम कहो कि 'मेरे अन्दर शक्ति है' तो तुममे शक्ति जाग उठेगी। और यदि तुम सोचो कि 'मैं 'कुछ नही हूँ,' दिन-रात यही सोचा करो, तो तुम सचमुच ही 'कुछ नही' हो जाओगे। तुम्हे यह महान् तत्त्व सदा स्मरण रखना चाहिए। हम तो उसी सर्व शक्तिमान परम पिता की सन्तान हैं, उसी अनन्त ब्रह्माग्नि की चिनगारियाँ हैं—भला हम 'कुछ नही' क्योकर हो सकते हैं? हम सब कुछ हैं, हम सब कुछ कर सकते हैं, और मनुष्य को सब कुछ करना ही होगा, हमारे पूर्वजो मे ऐसा ही दृढ आत्मविश्वास था। इसी आत्मविश्वास रूपी प्रेरणा-शक्ति ने उन्हे सभ्यता की उच्च से उच्चतर सीढी पर चढाया था। और, अब यदि हमारी अवनति हुई हो, हममे दोष आया हो तो मैं तुमसे सच कहता हूँ, जिस दिन हमारे पूर्वजो ने अपना यह आत्मविश्वास गँवाया, उसी दिन से हमारी यह अवनति, यह दुरवस्था आरम्भ हो गयी। आत्मविश्वास-हीनता का मतलब है ईश्वर मे अविश्वास। क्या तुम्हे विश्वास है कि वही अनन्त मगलमय विधाता तुम्हारे भीतर से काम कर रहा है? यदि तुम ऐसा विश्वास करो कि वही सर्वव्यापी अन्तर्यामी प्रत्येक अणु-परमाणु मे—तुम्हारे शरीर, मन और आत्मा मे ओत-प्रोत है, तो फिर क्या तुम कभी उत्साह से वचित रह सकते हो? मैं पानी का एक छोटा सा बुलबुला हो सकता हूँ, और तुम एक पर्वताकार तरग, तो इससे क्या? वह अनन्त समुद्र जैसा तुम्हारे लिए, वैसा ही मेरे लिए भी आश्रय है। उस जीवन, शक्ति और आध्यात्मिकता के असीम सागर पर जैसा तुम्हारा, वैसा ही मेरा भी अधिकार है। मेरे जन्म से ही, मुझमे जीवन होने से ही, यह प्रमाणित हो रहा है कि तुम्हारे समान, चाहे तुम पर्वताकार तरग ही क्यो न हो, मैं भी उसी

---

१ Inspire का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है—श्वास का बाहर से अन्दर जाना और Expire का—श्वास का भीतर से बाहर निकलना।

अनन्त जीवन, अनन्त शिव और अनन्त शक्ति के साथ नित्यसंयुक्त हैं। अतएव भाइयो! तुम अपनी सन्तानों को उनके जन्म-काल से ही इस महान्, जीवनप्रद, उच्च और उदात्त तत्त्व की शिक्षा देना शुरू कर दो। उन्हें अद्वैतवाद की ही शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं; तुम चाहे द्वैतवाद की शिक्षा दो या जिस किसी 'वाद' की जो भी तुम्हें रुचे। परन्तु हम पहले ही देख चुके हैं कि यही सर्वमान्य 'वाद' भारत में सर्वत्र स्वीकृत है। आत्मा की पूर्णता के इस अपूर्व सिद्धान्त को सभी सम्प्रदायवाले समान रूप से मानते हैं। हमारे महान् दार्शनिक कपिल महर्षि ने कहा है कि पवित्रता यदि आत्मा की प्रकृति न हो, तो आत्मा बाद में कभी भी पवित्रता को प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि जो स्वभावतः पूर्ण नहीं है, वह यदि किसी प्रकार पूर्णता पा भी ले, तो वह पूर्णता उसमें स्थिर भाव से नहीं रह सकती, उससे पुनः चली जायगी। यदि अपवित्रता ही मनुष्य का स्वभाव हो, तो भले ही वह कुछ समय के लिए पवित्रता प्राप्त कर ले, पर वह सदा के लिए अपवित्र ही बना रहेगा। कभी न कभी ऐसा समय आयगा, जब यह पवित्रता धुल जायगी, दूर हो जायगी और फिर वही पुरानी स्वाभाविक अपवित्रता अपना सिक्का जमा लेगी। अतएव हमारे सभी दार्शनिक कहते हैं कि पवित्रता ही हमारा स्वभाव है, अपवित्रता नहीं; पूर्णता ही हमारा स्वभाव है, अपूर्णता नहीं। इस बात को तुम सदा स्मरण रखो। उस महर्षि के सुन्दर दृष्टान्त को सदैव स्मरण रखो, जो शरीर त्याग करते समय अपने मन से अपने किए हुए उत्कृष्ट कार्यों और उच्च विचारों का स्मरण करने के लिए कहते हैं।[1] देखो, उन्होंने अपने मन से अपने दोषों और दुर्बलताओं की याद करने के लिए नहीं कहा है। यह सच है कि मनुष्य में दोष हैं, दुर्बलताएँ हैं, पर तुम सर्वदा अपने वास्तविक स्वरूप का स्मरण करो। बस यही इन दोषों और दुर्बलताओं के दूर करने का अमोघ उपाय है।

मैं समझता हूँ कि ये कतिपय तत्त्व भारतवर्ष के सभी भिन्न भिन्न सम्प्रदायवाले स्वीकार करते हैं और सम्भवतः भविष्य में इसी सर्वस्वीकृत आधार पर समस्त सम्प्रदायों के लोग—वे उदार हों या कट्टर, पुरानी लकीर के फकीर हों या नयी रोशनीवाले—सभी के सभी आपस में मिलकर रहेंगे। पर सबसे बढ़कर एक बात और भी हम याद रखनी चाहिए, खेद है कि इसे हम प्रायः भूल जाते हैं। वह यह है कि भारत में धर्म का तात्पर्य है 'प्रत्यक्षानुभूति', इससे कम कदापि नहीं। हम ऐसी बात कोई नहीं सिखा सकता कि 'यदि तुम इस मत को स्वीकार करो तो तुम्हारा उद्धार हो जायगा', क्योंकि हम उस बात पर विश्वास करते ही नहीं।

---

१ ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर। ईशोपनिषद् १७॥

तुम अपने को जैसा बनाओगे, अपने को जैसे साँचे मे ढालोगे, वैसे ही बनोगे। तुम जो कुछ हो, जैसे हो, वह ईश्वर की कृपा और अपने प्रयत्न से बने हो। किसी मतामत मे विश्वास मात्र से तुम्हारा कोई विशेष उपकार नही होगा। 'अनुभूति', 'अनुभूति' की यह महती शक्तिमयी वाणी भारत के ही आध्यात्मिक गगनमडल से आविर्भूत हुई है, और एकमात्र हमारे ही शास्त्रो ने यह बारम्बार कहा है कि 'ईश्वर के दर्शन' करने होगे। यह बात बडे साहस की है, इसमे सन्देह नही, पर इसका लेशमात्र भी मिथ्या नही है, यह अक्षरश सत्य है। धर्म की प्रत्यक्ष अनुभूति करनी होगी, केवल सुनने से काम नही चलेगा, तोते की तरह कुछ थोडे से शब्द और धर्म विषयक बातें रट लेने से काम नही चलेगा, केवल बुद्धि द्वारा स्वीकार कर लेने से भी काम न चलेगा—आवश्यकता है हमारे अन्दर धर्म के प्रवेश करने की। अत ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास रखने का सबसे बडा प्रमाण यह नही है कि तर्क से सिद्ध है, वरन् ईश्वर के अस्तित्व का सर्वोच्च प्रमाण तो यह है कि हमारे यहाँ के प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी पहुँचे हुए लोगो ने ईश्वर का साक्षात्कार किया है। आत्मा के अस्तित्व पर हम केवल इसलिए विश्वास नही करते कि हमारे पास उसके प्रमाण मे उत्कृष्ट युक्तियाँ हैं, वरन् इसलिए कि प्राचीन काल मे भारतवर्ष के सहस्रो व्यक्तियो ने आत्मा के प्रत्यक्ष दर्शन किये है, आज भी ऐसे बहुत से है, जिन्होने आत्मोपलब्धि की है, और भविष्य मे भी ऐसे हज़ारो लोग होगे, जिन्हे आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति होगी। और जब तक मनुष्य ईश्वर के दर्शन न कर लेगा, आत्मा की उपलब्धि न कर लेगा, तब तक उसकी मुक्ति असम्भव है। अतएव, आओ, सबसे पहले हम इस बात को भली भाँति समझ लें, और हम इसे जितना ही अधिक समझेंगे, उतना ही भारत मे साम्प्रदायिकता का ह्रास होगा, क्योकि यथार्थ धार्मिक वही है, जिसने ईश्वर के दर्शन पाये हैं, जिसने अन्तर मे उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि की है। तब तो, 'जिसने उसे देख लिया, जो हमारे निकट से भी निकट और फिर दूर से भी दूर है, उसके हृदय की गाँठें खुल जाती हैं, उसके सारे सशय दूर हो जाते है और वह कर्मफल के समस्त बन्धनो से छुटकारा पा जाता है।"[1]

हा हन्त! हम लोग बहुधा अर्थहीन वागाडम्बर को ही आध्यात्मिक सत्य समझ बैठते हैं, पाडित्य से भरी सुललित वाक्य-रचना को ही गम्भीर धर्मानुभूति समझ लेते हैं। इसीसे यह सारी साम्प्रदायिकता आती है, सारा विरोध-भाव उत्पन्न होता है। यदि हम एक बार इस बात को भली भाँति समझ लें कि

---

१ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसशया।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ मुडकोपनिषद् २।२।८॥

प्रत्यक्षानुभूति ही प्रकृत धर्म है तो हम अपने ही हृदय को टटोलेंगे और यह समझने का प्रयत्न करेंगे कि हम धर्म-राज्य के सत्यों की उपलब्धि की ओर कहाँ तक अग्रसर हुए हैं। और तब हम यह समझ जायेंगे कि हम स्वयं अन्धकार में भटक रहे हैं और अपने साथ दूसरों को भी उसी अन्धकार में भटका रहे हैं। बस इतना समझने पर हमारी साम्प्रदायिकता और लड़ाई मिट जायगी। यदि कोई तुमसे साम्प्रदायिक झगड़ा करने को तैयार हो तो उससे पूछो "तुमने क्या ईश्वर के दर्शन किये हैं? क्या तुम्हें कभी आत्म-दर्शन प्राप्त हुआ है? यदि नहीं तो तुम्हें ईश्वर के नाम का प्रचार करने का क्या अधिकार है? तुम तो स्वयं अँधेरे में भटक रहे हो और मुझे भी उसी अँधेरे में घसीटने की कोशिश कर रहे हो? 'अन्धा अन्धे को राह दिखावे' के अनुसार तुम मुझे भी गड्ढे में ले गिरोगे। अतएव किसी दूसरे के दोष निकालने के पहले तुमको अधिक विचार कर लेना चाहिए। सबको अपनी अपनी राह से चलने दो—'प्रत्यक्ष अनुभूति' की ओर अग्रसर होने दो। सभी अपने अपने हृदय में उस सत्यस्वरूप आत्मा के दर्शन करने का प्रयत्न करें। और जब वे उस भूमा के उस अनावृत सत्य के दर्शन कर लेंगे तभी उससे प्राप्त होनेवाले अपूर्व आनन्द का अनुभव कर सकेंगे। आत्मोपलब्धि से प्रसूत होनेवाला यह अपूर्व आनन्द कपोल-कल्पित नहीं है वरन् भारत के प्रत्येक ऋषि ने प्रत्येक सत्य द्रष्टा पुरुष ने इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया है। और तब उस आत्मदर्शी हृदय से आप ही आप प्रेम की वाणी फूट निकलेगी क्योंकि उसे ऐसे परम पुरुष का स्पर्श प्राप्त हुआ है जो स्वयं प्रेमस्वरूप है। बस तभी हमारे सारे साम्प्रदायिक लड़ाई झगड़े दूर होंगे और तभी हम 'हिन्दू' शब्द को तथा प्रत्येक हिन्दू-नामधारी व्यक्ति को यथार्थतः समझने हृदय में धारण करने तथा गम्भीर रूप से प्रेम करने व आलिंगन करने में समर्थ होंगे। मेरी बात पर ध्यान दो केवल तभी तुम वास्तव में हिन्दू कहलाने योग्य होगे जब 'हिन्दू' शब्द को सुनते ही तुम्हारे अन्दर बिजली दौड़ने लग जायगी। केवल तभी तुम सच्चे हिन्दू कहला सकोगे जब तुम किसी भी प्रान्त के कोई भी भाषा बोलनेवाले प्रत्येक हिन्दू-संज्ञक व्यक्ति को एकदम अपना सगा और स्नेही समझने लगोगे। केवल तभी तुम सच्चे हिन्दू माने जाओगे जब किसी भी हिन्दू कहलानेवाले का दुःख तुम्हारे हृदय में तीर की तरह आकर चुभेगा मानो तुम्हारा अपना लड़का ही विपत्ति में पड़ गया हो! केवल तभी तुम यथार्थतः 'हिन्दू' नाम के योग्य होगे जब तुम उनके लिए समस्त अत्याचार और उत्पीड़न सहने के लिए तैयार रहोगे। इसके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं—तुम्हारे ही गुरु गोविन्द सिंह जिनकी चर्चा मैं आरम्भ में ही कर चुका हूँ। इन महात्मा ने देश के शत्रुओं के विरुद्ध लोहा लिया हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए अपने हृदय का रक्त बहाया अपने पुत्रों को

अपनी आँखो के सामने मौत के घाट उतरते देखा—पर जिनके लिए इन्होने अपना और अपने प्राणो से वढकर प्यारे पुत्रो का खून वहाया, उन्ही लोगो ने, इनकी सहायता करना तो दूर रहा, उल्टे इन्हे त्याग दिया !—यहाँ तक कि उन्हे इस प्रदेश से भी हटना पडा। अन्त मे मर्मान्तिक चोट खाये हुए सिंह की भाँति यह नरकेसरी शान्तिपूर्वक अपने जन्म-स्थान को छोड दक्षिण भारत मे जाकर मृत्यु की राह देखने लगा, परन्तु अपने जीवन के अन्तिम मुहूर्त तक उसने अपने उन कृतघ्न देशवासियो के प्रति कभी अभिशाप का एक शब्द भी मुँह से नही निकाला। मेरी वात पर ध्यान दो। यदि तुम देश की भलाई करना चाहते हो तो तुममे से प्रत्येक को गुरु गोविन्द सिंह वनना पडेगा। तुम्हें अपने देशवासियो मे भले ही हजारो दोप दिखायी दे, पर तुम उनकी रग रग मे वहनेवाले हिन्दू रक्त की ओर ध्यान दो। तुम्हे पहले अपने इन स्वजातीय नर-रूप देवताओ की पूजा करनी होगी, भले ही वे तुम्हारी वुराई के लिए लाख चेप्टा किया करे। इनमे से प्रत्येक व्यक्ति यदि तुम पर अभिशाप और निन्दा की वौछार करे तो भी तुम इनके प्रति प्रेमपूर्ण वाणी का ही प्रयोग करो। यदि ये तुम्हे त्याग दे, पैरो से ठुकरा दें तो तुम उसी वीरकेसरी गोविन्द सिंह की भाँति समाज से दूर जाकर नीरव भाव से मौत की राह देखो। जो ऐसा कर सकता है, वही सच्चा हिन्दू कहलाने का अधिकारी है। हमे अपने सामने सदा इसी प्रकार का आदर्श उपस्थित रखना होगा। पारस्परिक विरोध-भाव को भूलकर चारो ओर प्रेम का प्रवाह वहाना होगा।

लोग भारत के पुनरुद्धार के लिए जो जी मे आये, कहे। मैं जीवन भर काम करता रहा हूँ, कम से कम काम करने का प्रयत्न करता रहा हूँ, मैं अपने अनुभव के बल पर तुमसे कहता हूँ कि जब तक तुम सच्चे अर्थो मे धार्मिक नही होते, तब तक भारत का उद्धार होना असम्भव है। केवल भारत ही क्यो, सारे ससार का कल्याण इसी पर निर्भर है। क्योकि, मैं तुम्हें स्पष्टतया वताये देता हूँ कि इस समय पाश्चात्य सभ्यता अपनी नीव तक हिल गयी है। भौतिकवाद की कच्ची रेतीली नीव पर खडी होनेवाली बडी से वडी इमारतें भी एक न एक दिन अवश्य ही आपद्ग्रस्त होगी, ढह जायँगी। इस विषय मे ससार का इतिहास ही सबसे वडा साक्षी है। जाति पर जाति उठी हैं और भौतिकवाद की नीव पर उन्होंने अपने गौरव का प्रासाद खडा किया है। उन्होंने ससार के समक्ष यह घोषणा की है कि जड के सिवा मनुष्य और कुछ नही है। ध्यान दो, पाश्चात्य भाषा मे 'मनुष्य आत्मा छोडता है' (A man gives up the ghost), पर हमारी भाषा मे 'मनुष्य शरीर छोडता है।' पाश्चात्य मनुष्य अपने सम्बन्ध मे पहले देह को ही लक्ष्य करता है, उसके बाद उसके एक आत्मा है। पर हम लोगो के अनुसार मनुष्य पहले आत्मा ही है, और फिर उसके एक देह

भी है। इन दो विभिन्न वाक्यों की छानबीन करने पर तुम देखोगे कि प्राच्य और पाश्चात्य विचार-प्रणाली में आकाश पाताल का अन्तर है। इसीलिए जितनी सभ्यताएँ भौतिक सुख-स्वच्छन्दता की रेतीली नींव पर क़ायम हुई थीं वे सभी थोड़े ही समय के लिए जीवित रहकर एक एक करके संसार से लुप्त हो गयीं परन्तु भारत की सभ्यता और भारत के चरणों के पास बैठकर शिक्षा ग्रहण करनेवाले चीन और जापान की सभ्यता आज भी जीवित है और इतना ही नहीं बल्कि उनमें पुनरुत्थान के लक्षण भी दिखायी दे रहे हैं। 'फ़िनिक्स'[1] के समान हज़ारों बार नष्ट होने पर भी वे पुनः अधिक तेजस्वी होकर प्रस्फुरित होने को तैयार हैं। पर भौतिक वाद के आधार पर जो सभ्यताएँ स्थापित हैं वे यदि एक बार नष्ट हो गयीं तो फिर उठ नहीं सकतीं—एक बार यदि महल ढह पड़ा तो बस सदा के लिए धूल में मिल गया! अतएव धैर्य के साथ राह देखते रहो हम लोगों का भविष्य उज्ज्वल है।

उतावले मत बनो किसी दूसरे का अनुकरण करने की चेष्टा मत करो। दूसरे का अनुकरण करना सभ्यता की निशानी नहीं है यह एक महान् पाठ है, जो हमें याद रखना है। मैं यदि आप ही राजा की सी पोशाक पहन लूँ तो क्या इतने ही से मैं राजा बन जाऊँगा? शेर की खाल ओढ़कर गधा कभी शेर नहीं बन सकता। अनुकरण करना हीन और डरपोक की तरह अनुकरण करना कभी उन्नति के पथ पर आगे नहीं बढ़ा सकता। वह तो मनुष्य के अधःपतन का लक्षण है। जब मनुष्य अपने आप पर घृणा करने लग जाता है, तब समझना चाहिए कि उस पर अन्तिम चोट बैठ चुकी है। जब वह अपने पूर्वजों को मानने में लज्जित होता है तो समझ लो कि उसका विनाश निकट है। यद्यपि मैं हिन्दू जाति में एक नगण्य व्यक्ति हूँ तथापि अपनी जाति और अपने पूर्वजों के गौरव से मैं अपना गौरव मानता हूँ। अपने को हिन्दू बताते हुए, हिन्दू कहकर अपना परिचय देते हुए, मुझे एक प्रकार का गर्व सा होता है। मैं तुम लोगों का एक तुच्छ सेवक होने में अपना गौरव समझता हूँ। तुम लोग आर्य ऋषियों के वंशधर हो—उन ऋषियों के जिनकी महत्ता की तुलना नहीं हो सकती। मुझे इसका गर्व है कि मैं तुम्हारे देश का एक नगण्य नागरिक हूँ। अतएव भाइयो आत्मविश्वासी बनो। पूर्वजों के नाम से अपने को लज्जित नहीं गौरवान्वित समझो। याद रहे किसीका अनुकरण कदापि न करो। कदापि नहीं। जब कभी तुम औरों के विचारों का अनुकरण करते हो तुम अपनी स्वाधीनता गँवा बैठते हो। यहाँ तक कि आध्यात्मिक विषय में भी यदि दूसरों के

---

[1] यूनानी दन्तकथाओं के अनुसार फ़िनिक्स (Phoenix) एक चिड़िया है जो अकेली ५ वर्ष तक जीती है और पुनः अपने भस्म में से जी उठती है।

आज्ञाधीन हो कार्य करोगे, तो अपनी सारी शक्ति, यहाँ तक कि विचार की शक्ति भी खो वैठोगे। अपने स्वय के प्रयत्नो द्वारा अपने अन्दर की शक्तियो का विकास करो। पर देखो, दूसरे का अनुकरण न करो। हाँ, दूसरो के पास जो कुछ अच्छाई हो, उसे अवश्य ग्रहण करो। हमे दूसरो से अवश्य सीखना होगा। ज़मीन मे वीज वो दो, उसके लिए पर्याप्त मिट्टी, हवा और पानी की व्यवस्था करो, जब वह वीज अकुरित होकर कालान्तर मे एक विशाल वृक्ष के रूप मे फैल जाता है, तब क्या वह मिट्टी वन जाता है, या हवा या पानी ? नही, वह तो विशाल वृक्ष ही वनता है—मिट्टी, हवा और पानी से रस खीचकर वह अपनी प्रकृति के अनुसार एक महीरुह का रूप ही धारण करता है। उसी प्रकार तुम भी करो—औरो से उत्तम वाते सीखकर उन्नत बनो। जो सीखना नही चाहता, वह तो पहले ही मर चुका है। महर्षि मनु ने कहा है

आददीत परा विद्या प्रयत्नादवरादपि।
अन्त्यादपि पर धर्मं स्त्रीरत्न दुष्कुलादपि॥

—'स्त्री-रत्न को, भले ही वह कुलीन न हो, अपनी पत्नी के रूप मे स्वीकार करो और नीच व्यक्ति की सेवा करके उससे भी श्रेष्ठ विद्या सीखने का प्रयत्न करो। चाडाल द्वारा भी श्रेष्ठ धर्म की शिक्षा ग्रहण करो।' औरो के पास जो कुछ भी अच्छा पाओ, सीख लो, पर उसे अपने भाव के साँचे मे ढालकर लेना होगा। दूसरे की शिक्षा ग्रहण करते समय उसके ऐसे अनुगामी न बनो कि अपनी स्वतन्त्रता गँवा बैठो। भारत के इस जातीय जीवन को भूल मत जाना। पल भर के लिए भी ऐसा न सोचना कि भारतवर्ष के सभी अधिवासी यदि अमुक जाति की वेश-भूषा धारण कर लेते या अमुक जाति के आचार-व्यवहारादि के अनुयायी वन जाते तो बडा अच्छा होता। यह तो तुम भली भाँति जानते हो कि कुछ ही वर्षों का अभ्यास छोड देना कितना कठिन होता है ! फिर यह ईश्वर ही जानता है कि तुम्हारे रक्त मे कितने सहस्र वर्षों का सस्कार जमा हुआ है, कितने सहस्र वर्षों से यह प्रबल जातीय जीवन-स्रोत एक विशेष दिशा की ओर प्रवाहित हो रहा है। और क्या तुम यह समझते हो कि वह प्रबल धारा, जो प्राय अपने समुद्र के समीप पहुँच चुकी है, पुन उलटकर हिमालय की हिमाच्छादित चोटियो पर वापस जा सकती है ? यह असम्भव है ! यदि ऐसी चेष्टा करोगे तो जाति ही नष्ट हो जायगी। अत, इस जातीय जीवन-स्रोत को पूर्ववत् प्रवाहित होने दो। हाँ, जो वाँध इसके रास्ते मे रुकावट डाल रहे हैं, उन्हे काट दो, इसका रास्ता साफ़ करके प्रवाह को मुक्त कर दो, देखोगे, यह जातीय जीवन-स्रोत अपनी स्वाभाविक प्रेरणा से फूट कर आगे वढ निकलेगा और

यह जाति अपनी सर्वांगीण उन्नति करते करते अपने चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होती जायगी।

भाइयो! यही कार्य-प्रणाली है, जो हमें भारत में धर्म के क्षेत्र में अपनानी होगी। इसके सिवा और भी कई महती समस्याएँ हैं, जिनकी चर्चा समयाभाव के कारण इस रात मैं नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए जाति-भेद सम्बन्धी अद्भुत समस्या को ही ले लो। मैं जीवन भर इस समस्या पर हर एक पहलू से विचार करता रहा हूँ। भारत के प्रायः प्रत्येक प्रान्त में जाकर मैंने इस समस्या का अध्ययन किया है। इस देश के लगभग हर एक भाग की विभिन्न जातियों से मैं मिल-जुल चुका हूँ। पर जितना ही मैं इस विषय पर विचार करता हूँ मेरे सामने उतनी ही कठिनाइयाँ आ पड़ती हैं और मैं इसके उद्देश्य अथवा तात्पर्य के विषय में किंकर्तव्यविमूढ़ सा हो जाता हूँ। अन्त में अब मेरी आँखों के सामने एक क्षीण आलोक-रेखा दिखायी देने लगी है, इधर कुछ ही समय से इसका मूल उद्देश्य मेरी समझ में आने लगा है।

इसके बाद फिर खान-पान की समस्या भी बड़ी विषम है। वास्तव में यह एक बड़ी जटिल समस्या है। साधारणतः हम लोग इसे जितना अनावश्यक समझते हैं, सच पूछो तो यह उतनी अनावश्यक नहीं है। मैं तो इस सिद्धान्त पर आ पहुँचा हूँ कि आजकल खान-पान के बारे में हम लोग जिस बात पर जोर देते हैं वह एक बड़ी विचित्र बात है—वह शास्त्रानुमोदित नहीं है। तात्पर्य यह कि खान-पान में वास्तविक पवित्रता की अवहेलना करके ही हम लोग कष्ट पा रहे हैं। हम शास्त्रानुमोदित आहार प्रथा के वास्तविक अभिप्राय को बिल्कुल भूल गये हैं।

इसी प्रकार, और भी कई समस्याएँ हैं जिन्हें मैं तुम लोगों के समक्ष रखना चाहता हूँ और साथ ही यह बतलाना चाहता हूँ कि इन समस्याओं के समाधान क्या हैं तथा किस प्रकार इन समाधानों को कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है। परन्तु दुःख है, सभा के व्यवस्थित रूप से आरम्भ होने में देर हो गयी और अब मैं तुम लोगों को और अधिक नहीं रोकना चाहता। अतः जाति भेद तथा अन्यान्य समस्याओं पर मैं फिर भविष्य में कभी कुछ कहूँगा।

अब केवल एक बात और कहकर मैं आध्यात्मिक तत्त्व विषयक अपना वक्तव्य समाप्त कर दूँगा। भारत में धर्म बहुत दिनों से गतिहीन बना हुआ है। हम चाहते हैं कि उसमें गतिशीलता हो। मैं चाहता हूँ कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन में धर्म प्रतिष्ठित हो। मैं चाहता हूँ कि प्राचीन काल की तरह राजमहल से लेकर दरिद्र के झोपड़े तक सर्वत्र समान भाव से धर्म का प्रवेश हो। याद रखो, धर्म ही इस जाति का साधारण उत्तराधिकार एवं जन्मसिद्ध स्वत्व है। इस धर्म को हर एक आदमी के दरवाजे तक निःस्वार्थ भाव से पहुँचाना होगा। ईश्वर के राज्य में जिस प्रकार

वायु सबके लिए समान रूप से प्राप्त होती है, उसी प्रकार भारतवर्ष मे धर्म को सुलभ बनाना होगा। भारत मे इसी प्रकार का कार्य करना होगा। पर छोटे छोटे दल बाँध आपसी मतभेदो पर विवाद करते रहने से नही बनेगा, हमे तो उन बातो का प्रचार करना होगा, जिनमे हम सब सहमत है और तब आपसी मतभेद आप ही आप दूर हो जायँगे। मैंने भारतवासियो से बारम्बार कहा है और अब भी कह रहा हूँ कि कमरे मे यदि सैकडो वर्षों से अन्धकार फैला हुआ है, तो क्या 'घोर अन्धकार!', 'भयकर अन्धकार!!' कहकर चिल्लाने से अन्धकार दूर हो जायगा? नही, रोशनी जला दो, फिर देखो कि अँधेरा आप ही आप दूर हो जाता है या नही। मनुष्य के सुधार का, उसके सस्कार का यही रहस्य है। उसके समक्ष उच्चतर बातें, उच्चतर प्रेरणाएँ रखो, पहले मनुष्य मे, उसकी मनुष्यता मे विश्वास रखो। ऐसा विश्वास लेकर क्यो प्रारम्भ करें कि मानव हीन और पतित है? मैं आज तक मनुष्य पर, बुरे से बुरे मनुष्य पर भी, विश्वास करके कभी विफल नही हुआ हूँ। जहाँ कही भी मैंने मानव मे विश्वास किया, वहाँ मुझे इच्छित फल ही प्राप्त हुआ है— सर्वत्र सफलता ही मिली है, यद्यपि प्रारम्भ मे सफलता के अच्छे लक्षण नही दिखायी देते थे। अत, मनुष्य मे विश्वास रखो, चाहे वह पडित हो या घोर मूर्ख, साक्षात् देवता जान पडे या मूर्तिमान शैतान, सबसे पहले मनुष्य मे विश्वास रखो, और तदुपरान्त यह विश्वास लाने का प्रयत्न करो कि यदि उसमे दोष हैं, यदि वह गलतियाँ करता है, यदि वह अत्यन्त घृणित और असार सिद्धान्तो को अपनाता है तो वह अपने यथार्थ स्वभाव के कारण ऐसा नही करता, वरन् उच्चतर आदर्शों के अभाव मे वैसा करता है। यदि कोई व्यक्ति असत्य की ओर जाता है, तो उसका कारण यही समझो कि वह सत्य को ग्रहण नही कर पाता। अत, मिथ्या को दूर करने का एकमात्र उपाय यही है कि उसे सत्य का ज्ञान कराया जाय। उसे सत्य का ज्ञान दे दो और उसके साथ अपने पूर्व मन के भाव की तुलना उसे करने दो। तुमने तो उसे सत्य का असली रूप दिखा दिया, बस यही तुम्हारा काम समाप्त हो गया। अब वह स्वय उस सत्य के साथ अपने पूर्व भाव की तुलना करके देखे। यदि तुमने वास्तव मे उसे सत्य का ज्ञान करा दिया है तो निश्चय जानो, मिथ्या भाव अवश्य दूर हो जायगा। प्रकाश कभी अन्धकार का नाश किये बिना नही रह सकता। सत्य अवश्य ही उसके भीतर के सद्भावो को प्रकाशित करेगा। यदि सारे देश का आध्यात्मिक सस्कार करना चाहते हो, तो उसके लिए यही रास्ता है—'नान्य पन्था'। वाद-विवाद या लडाई-झगडो मे कभी अच्छा फल नही हो सकता। लोगो से यह भी कहने की आवश्यकता नही कि तुम लोग जो कुछ कर रहे हो, वह ठीक नही है, खराब है। जो कुछ अच्छा है, उसे उनके सामने रख दो, फिर देखो, वे कितने आग्रह के साथ उसे ग्रहण करते

हैं और फिर देखोगे कि मनुष्य मात्र में जो अविनाशी ईश्वरीय शक्ति है, वह जाग्रत हो जाती है और जो कुछ उत्तम है, जो कुछ महिमामय है उसे ग्रहण करने के लिए हाथ फैला देती है।

जो हमारी समग्र जाति का स्रष्टा पालक एवं रक्षक है, हमारे पूर्वजों का ईश्वर है भले ही वह विष्णु, शिव शक्ति या गणेश आदि नामों से पुकारा जाता हो सगुण या निर्गुण अथवा साकार या निराकार रूप से उसकी उपासना की जाती हो जिसे जानकर हमारे पूर्वज एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति कह गये हैं वह अपनी अनन्त प्रेम-शक्ति के साथ हममें प्रवेश कर, अपने शुभाशीर्वादों की हम पर वर्षा करे, हमें एक दूसरे को समझने की सामर्थ्य दे जिससे हम यथार्थ प्रेम के साथ सत्य के प्रति तीव्र अनुराग के साथ एक दूसरे के हित के लिए कार्य कर सकें जिससे भारत के आध्यात्मिक पुनर्निर्माण के इस महत्कार्य में हमारे अन्दर अपने व्यक्तिगत नाम यश व्यक्तिगत स्वार्थ व्यक्तिगत बड़प्पन की वासना के अंकुर न फूटें।

भक्ति

[लाहौर में ९ नवम्बर, १८९७ को दिया हुआ भाषण]

समस्त उपनिषदो के गम्भीर निनादी प्रवाह के अतराल से, वडी दूर से आने-वाली प्रतिध्वनि की तरह, एक शब्द हमारे कानो तक पहुँचता है। यद्यपि उसके आयतन और उच्चता मे उसकी बहुत कुछ वृद्धि हुई है, पर समग्र वेदान्त साहित्य मे, स्पष्ट होने पर भी वह उतना प्रवल नही है। उपनिषदो का प्रधान उद्देश्य हमारे आगे भूमा का भाव और चित्र अकित करना ही जान पडता है। फिर भी इस अपूर्व उदात्त भाव के पीछे कही कही हमे कवित्व का भी आभास मिलता है, जैसे हम पढते हैं

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम् ।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि· ॥
(कठोपनिषद् २।२।१५)

—'वहाँ सूर्य प्रकाश नही करता, चन्द्र और सितारे भी वहाँ नही हैं, ये विजलियाँ भी वहाँ नही चमकती, फिर इस भौतिक अग्नि का तो कहना ही क्या है।' इन दोनो अद्‌भुत पक्तियो का अपूर्व हृदयस्पर्शी कवित्व सुनते सुनते हम मानो इस इन्द्रियगम्य जगत् से—यहाँ तक कि वुद्धि-जगत् से भी दूर, बहुत दूर, ऐसे एक जगत् मे जा पहुँचते हैं जिसे किसी काल मे ज्ञान का विषय नही वनाया जा सकता, यद्यपि वह सदा हमारे पास ही मौजूद रहता है। इसी महान् भाव की छाया की तरह उसका अनुगामी एक और महान् भाव है, जिसको मानव जाति और भी आसानी के साथ प्राप्त कर सकती है, जो मनुष्य के दैनिक जीवन मे अनुसरण करने के अधिक उपयुक्त है, और जिसे मानव जीवन के प्रत्येक विभाग मे प्रविष्ट कराया जा सकता है। वह क्रमश पुष्ट होता आया है और परवर्ती युगो मे पुराणो मे और भी पूर्णता के साथ, और भी स्पष्ट भाषा मे व्यक्त किया गया है—और वह है भक्ति का आदर्श। भक्ति का वीज पहले से ही विद्यमान है, सहिताओ मे भी इसका थोडा बहुत परिचय मिलता है, उससे कुछ अधिक विकास उपनिषदो मे देखने मे आता है, किन्तु पुराणो मे उसका विस्तृत निरूपण दिखायी देता है।

अत भक्ति को भली भाँति समझने के लिए हमे अपने पुराणो को समझना

होगा। इस बीच पुराणों की प्रामाणिकता को लेकर बहुत कुछ वाद-विवाद हो चुका है, कितने ही अनिश्चित और असम्बद्ध अंशों को लेकर आलोचना-प्रत्यालोचना हो चुकी है, कितने ही समालोचकों ने कई अंशों के विषय में यह दिखाया है कि वर्तमान विज्ञान के आलोक में वे ठहर नहीं सकते आदि आदि। परन्तु इन वाद-विवादों को छोड़ देने पर, पौराणिक उक्तियों के वैज्ञानिक भौगोलिक और ज्योतिषिक सत्यासत्य का निर्णय करना छोड़ देने पर, तथा प्रायः सभी पुराणों का आरम्भ से अन्त तक भली भाँति निरीक्षण करने पर हमें एक तत्त्व निश्चित और स्पष्ट रूप से दिखायी देता है, वह है भक्तिवाद। साधु, महात्मा और राजर्षियों के चरित का वर्णन करते हुए भक्तिवाद बारम्बार उल्लिखित उदाहृत और आलोचित हुआ है। सौन्दर्य के महान् आदर्श का—भक्ति के आदर्श के दृष्टान्तों को समझाना और दर्शाना ही सब पुराणों का प्रधान उद्देश्य जान पड़ता है। मैंने पहले ही कहा है कि यह आदर्श साधारण मनुष्यों के लिए अधिकतर उपयोगी है। ऐसे लोग बहुत कम हैं जो वेदान्तालोक की पूर्ण छटा का वैभव समझ सकते हों अथवा उसका यथोचित आदर कर सकते हों—उनके तत्त्वों पर अमल करना बड़ी दूर की बात है। क्योंकि वास्तविक वेदान्ती का सबसे पहला काम है अभी अर्थात् निर्भीक होना। यदि कोई वेदान्ती होने का दावा करता हो तो उसे अपने हृदय से भय को सदा के लिए निर्वासित कर देना होगा। और हम जानते हैं कि ऐसा करना कितना कठिन है। जिन्होंने संसार के सब प्रकार के लगाव छोड़ दिये हैं और जिनके ऐसे बन्धन बहुत ही कम रह गये हैं जो उन्हें दुर्बल हृदय कापुरुष बना सकते हों वे भी मन ही मन इस बात को अनुभव करते हैं कि वे समय समय पर कितने दुर्बल और कैसे निर्वीर्य हो जाते हैं। जिन लोगों के चारों ओर ऐसे बन्धन हैं जो भीतर-बाहर वर्णन हजारों विषयों में उलझे हुए हैं जीवन में प्रत्येक क्षण विषयों का दासत्व जिन्हें नीचे से नीचे खिंचे जा रहा है वे कितने दुर्बल होते हैं क्या यह भी कहना होगा? हमारे पुराण ऐसे ही लोगों को भक्ति का अत्यन्त मनोहारी संदेश देते हैं।

उन लोगों के लिए ही सुकोमल और कवित्वमय भावों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है ध्रुव प्रह्लाद तथा अन्यान्य सैकड़ों हजारों सन्तों की अद्भुत और अनोखी जीवन-कथाएँ वर्णित की गयी हैं। इन दृष्टान्तों का उद्देश्य यही है कि लोग उसी भक्ति का अपने अपने जीवन में विकास करें और उन्हें इन दृष्टान्तों द्वारा रास्ता साफ दिखायी दे। तुम लोग पुराणों की वैज्ञानिक सत्यता पर विश्वास करो या न करो पर तुम लोगों में ऐसा कोई भी आदमी नहीं है जिस पर प्रह्लाद ध्रुव या इन पौराणिक सन्तों के आख्यानों में से किसी एक का कुछ भी असर न

पडा हो। और यह भी नही कहा जा सकता कि इन पुराणो की उपयोगिता केवल आजकल के ज़माने मे ही है, पहले नही थी। पुराणो के प्रति हमारे कृतज्ञ रहने का एक और कारण यह भी है कि पिछले युग मे अवनत बौद्ध धर्म हमे जिस राह से ले चल रहा था, पुराणो ने उसकी अपेक्षा प्रशस्ततर, उन्नततर और सर्वसाधारण के उपयुक्त धर्म-मार्ग बताया। भक्ति का सहज और सरल भाव सुबोध भाषा मे व्यक्त अवश्य किया गया है, पर उतने से ही काम नही चलेगा। हमे अपने दैनिक जीवन मे उस भाव का व्यवहार करना होगा। ऐसा करने से हम देखेंगे कि भक्ति का वही भाव क्रमश परिस्फुट होकर अन्त मे प्रेम का सारभूत बन जाता है। जब तक व्यक्तिगत और जड वस्तुओ के प्रति प्रीति रहेगी, तब तक कोई पुराणो के उपदेशो से आगे न बढ सकेगा। जब तक दूसरो की सहायता अपेक्षित रहेगी, अथवा दूसरो पर निर्भर किया जायगा, जब तक यह मानवीय दुर्बलता बनी रहेगी, तब तक ये पुराण भी किसी न किसी रूप मे मौजूद रहेंगे। तुम उन पुराणो के नाम बदल सकते हो, उनकी निन्दा कर सकते हो, पर तुमको दूसरे कुछ नये पुराण बना लेने ही पडेंगे। अगर हम लोगो मे किसी ऐसे महापुरुष का आविर्भाव हो जो इन पुराणो को ग्रहण करना अस्वीकार कर दे, तो तुम देखोगे कि उनके देहान्त हो जाने के बीस ही वर्ष बाद उनके शिष्यो ने उनके जीवन के आधार पर एक नया पुराण रच डाला है। बस यही अन्तर होगा।

मनुष्य की प्रकृति यही चाहती है, उसके लिए ये आवश्यक हैं। पुराणो की आवश्यकता केवल उन्ही लोगो को नही है जो सारी मानवीय दुर्बलताओ के परे होकर परमहसोचित निर्भीकता प्राप्त कर चुके हैं, जिन्होने माया के सारे बन्धन काट डाले हैं, यहाँ तक कि स्वाभाविक अभावो तक को भी पार कर गये हैं जो सब कुछ जीत चुके हैं और जो इस लोक मे देवता हैं, केवल ऐसे महापुरुषो को ही पुराणो की आवश्यकता नही है। सगुण रूप मे ईश्वर की उपासना किये बिना साधारण मनुष्य का काम नही चल सकता। यदि वह प्रकृति के मध्य स्थित भगवान् की पूजा नही करता, तो उसे स्त्री, पुत्र, पिता, भाई, आचार्य या किसी न किसी व्यक्ति को भगवान् के स्थान पर प्रतिष्ठित करके उसकी पूजा करनी पडती है। पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो को ऐसा करने की अधिक आवश्यकता पडती है। प्रकाश का स्पन्दन सर्वत्र रहता है। बिल्ली या उसी श्रेणी के अन्य जानवर अँधेरे मे भी देख पाते हैं। इसी बात से प्रकाश का स्पन्दन अन्धकार मे होना भी सिद्ध होता है। परन्तु हम यदि किसी चीज़ को देखना चाहते हैं, तो उस चीज़ मे उसी स्तर के अनुकूल स्पन्दन होना चाहिए, जिस स्तर मे हम लोग मौजूद हैं। मतलब यह कि हम एक निर्गुण, निराकार सत्ता के विषय मे बातचीत या चर्चा भले ही करें, पर जब तक

हम लोग इस मर्त्यलोक के साधारण मनुष्य की स्थिति में रहेंगे तब तक हमें मनुष्यों में ही भगवान् को देखना पड़ेगा। इसीलिए हमारी भगवान् विषयक धारणा एवं उपासना स्वभावतः मानुषी है। सचमुच ही 'यह शरीर भगवान् का सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है'। इसीसे हम देखते हैं कि युगों से मनुष्य मनुष्य की ही उपासना करता आ रहा है। लोगों का इस मनुष्योपासना के विषय में जब कभी स्वाभाविक रूप से विकसित अतिशयाचार देखने में आता है, तो उसकी निन्दा या आलोचना भी होती है। फिर भी हमें यह दिखायी देता है कि इसकी रीढ़ काफ़ी मज़बूत है। ऊपर की शाखा-प्रशाखाएँ भले ही खरी आलोचना के योग्य हों पर उनकी जड़ बहुत ही गहराई तक पहुँची हुई और सुदृढ़ है। ऊपरी आडम्बरों के होते पर भी उसमें एक सार-तत्त्व है। मैं तुमसे यह कहना नहीं चाहता कि तुम बिना समझे बूझे किन्हीं पुरानी कथाओं अथवा अवैज्ञानिक अनर्गल सिद्धान्तों को जबरदस्ती गले के नीचे उतार डालो। दुर्भाग्यवश कई पुराणों में वामाचारी व्याख्याएँ प्रवेश पा गयी हैं। मैं यह नहीं चाहता कि तुम उन सब पर विश्वास करो। मैं ऐसा करने को नहीं कह सकता बल्कि मेरा मतलब यह है कि इन पुराणों के अस्तित्व की रक्षा का कारण एक सार-तत्त्व है जिसे लुप्त नहीं होने देना चाहिए। और यह सार-तत्त्व है उनमें निहित भक्ति सम्बन्धी उपदेश धर्म को मनुष्य के दैनिक जीवन में परिणत करना दर्शनों के उच्चाकाश में विचरण करनेवाले धर्म को साधारण मनुष्यों के लिए दैनिक जीवनोपयोगी एवं व्यावहारिक बनाना।

ट्रिब्यून' में प्रकाशित रिपोर्ट

इस भाषण की जो रिपोर्ट 'ट्रिब्यून' में प्रकाशित हुई उसका विवरण निम्न लिखित है

वक्ता महोदय ने भक्ति की साधना में प्रतीक-प्रतिमाओं की उपयोगिता का समर्थन किया और उन्होंने कहा कि मनुष्य इस समय जिस अवस्था में है, ईश्वरेच्छा से यदि ऐसी अवस्था न होती तो बड़ा अच्छा होता। परन्तु विद्यमान तथ्य का प्रतिवाद व्यर्थ है। मनुष्य चैतन्य और आध्यात्मिकता आदि विषयों पर चाहे जितनी बातें क्यों न बनाये पर वास्तव में वह अभी जड़भावापन्न ही है। ऐसे जड़ मनुष्य को हाथ पकड़कर धीरे धीरे उठाना होगा—तब तक उठाना होगा जब तक वह चैतन्यमय सम्पूर्ण आध्यात्मिक भावापन्न न हो जाय। आजकल के ज़माने में ९९ फ़ी सदी ऐसे आदमी हैं जिनके लिए आध्यात्मिकता को समझना कठिन है। जो प्रेरक शक्तियाँ हमें ढकेलकर आगे बढ़ा रही हैं, तथा हम जो फल प्राप्त करना चाहते हैं वे सभी जड़ हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर के शब्दों में मेरा कहना है कि हम

केवल उसी रास्ते से आगे बढ सकते है, जो अल्पतम प्रतिरोध का हो। और पुराण-प्रणेताओ को यह बात भली भाँति मालूम थी, तभी वे हमारे लिए ऐसी पद्धति बता गये हैं। इस प्रकार के कार्य मे पुराणो को विस्मयजनक और बेजोड सफलता मिली है। भक्ति का आदर्श अवश्य ही आध्यात्मिक है, पर उसका रास्ता जड वस्तु के भीतर से होकर है और इस रास्ते के सिवा दूसरा रास्ता भी नही है। अत, जड जगत् मे जो कुछ ऐसा है, जो आध्यात्मिकता प्राप्त करने मे हमारी सहायता कर सकता है, उसे ग्रहण करना होगा, और उसे इस तरह काम मे लाना होगा कि मानव क्रमश आगे बढता हुआ पूर्ण आध्यात्मिक स्थिति मे विकसित हो सके। शास्त्र आरम्भ से ही लिंग, जाति या धर्म का भेदभाव छोडकर सबको वेद-पाठ करने का अधिकार प्रदान करते हैं। हमे भी इसी तरह उदार होना चाहिए। यदि मनुष्य जड मन्दिर बनाकर भगवान् मे प्रीति कर सके तो अच्छा ही है। यदि भगवान् की मूर्ति बनाकर इस प्रेम के आदर्श पर पहुँचने मे मनुष्य को कुछ भी सहायता मिलती है तो उसे एक की जगह बीस मूर्तियाँ पूजने दो। चाहे कोई भी काम क्यो न हो, यदि उसके द्वारा धर्म के उस उच्चतम आदर्श पर पहुँचने मे सहायता मिलती हो तो उसे वह अबाध गति से करने दो, पर हाँ, वह काम नैतिकता के विरुद्ध न हो। 'नैतिकता के विरुद्ध न हो', ऐसा इसलिए कहा गया कि नैतिकता विरोधी काम हमारे धर्म-मार्ग के सहायक नही होते, बल्कि विघ्न ही उपस्थित किया करते हैं।

स्वामी जी ने मूर्ति-पूजा के विरोध की समीक्षा करते हुए कहा कि भारतवर्ष मे सर्वप्रथम कबीर ने ही ईश्वरोपासना के लिए मूर्ति का व्यवहार करने के विरुद्ध आवाज़ उठायी थी। परन्तु भारत मे ऐसे कितने ही बडे बडे दार्शनिक और धर्म-सस्थापक हुए हैं, जिन्होंने भगवान् का सगुण रूप अस्वीकार कर निर्भीकता के साथ अपने निर्गुण मत का प्रचार करने पर भी मूर्ति-पूजा की निन्दा नही की। हाँ, उन्होंने मूर्ति-पूजा को उच्च कोटि की उपासना नही माना है, और न किसी पुराण मे ही मूर्ति-पूजन को ऊँचे दर्जे की उपासना ठहराया गया है।

यहूदियो के मूर्ति-पूजन के इतिहास का ज़िक्र करते हुए स्वामी जी ने कहा कि जिहोवा एक सन्दूक के भीतर रहते हैं, ऐसा विश्वास करनेवाले यहूदी लोग भी मूर्तिपूजक ही थे। इस ऐतिहासिक दृष्टान्त के उपस्थित रहते हमे मूर्ति-पूजा की इसलिए निन्दा नही करनी चाहिए कि और लोग उसे दोषपूर्ण बताते हैं। मूर्ति या किसी और भी जड वस्तु के प्रतीक को, जो मनुष्य को धर्म की प्राप्ति मे सहायता करे, बिना सकोच ग्रहण करना चाहिए। पर हमारा कोई भी धर्मग्रन्थ ऐसा नही है, जो स्पष्ट शब्दो मे यह नही कहता कि जड वस्तु की सहायता से अनुष्ठित होने-वाली उपासना निकृष्ट श्रेणी की है। सारे भारतवर्ष के सब लोगो को बलपूर्वक

ही प्रकाशित होते हैं, इसलिए वे सभी एक ही प्रकार या एक ही श्रेणी के हैं। जिस तरह दूर और पास से फ़ोटोग्राफ़ लेने पर एक ही सूर्य का चित्र अनेक प्रकार से दीख पड़ता है और ऐसा मालूम होता है कि प्रत्येक चित्र भिन्न भिन्न सूर्यों का है, उसी तरह सापेक्ष सत्य के विषय में भी समझना चाहिए। सभी सापेक्ष सत्य निरपेक्ष सत्य के साथ ठीक इसी रीति से सम्बद्ध हैं। अतएव प्रत्येक सापेक्ष सत्य या धर्म उसी नित्य निरपेक्ष सत्य का आभास होने के कारण सत्य है।

'विश्वास ही धर्म का मूल है'—मेरे इस कथन पर स्वामी जी ने मुसकराकर कहा "राजा होने पर फिर खाने-पीने का कष्ट नहीं रहता किन्तु राजा होना ही तो कठिन है। क्या विश्वास कभी जोर-जबरदस्ती करने से होता है? बिना अनुभव के ठीक ठीक विश्वास होना असम्भव है।

किसी प्रसंग में उनको 'साधु' कहने पर उन्होंने उत्तर दिया 'हम लोग क्या साधु हैं? ऐसे अनेक साधु हैं, जिनके दर्शन या स्पर्श मात्र से ही दिव्य ज्ञान का उदय होता है।

'संन्यासी इस प्रकार आलसी होकर क्यों समय बिताते हैं? दूसरों की सहायता के ऊपर क्यों निर्भर रहते हैं और समाज के लिए कोई हितकर काम क्यों नहीं करते? —इन सब प्रश्नों के उत्तर में स्वामी जी बोले "अच्छा बताओ तो भला तुम इतने कष्ट से अर्थोपार्जन कर रहे हो। उसका बहुत थोड़ा सा अंश केवल अपने लिए व्यय करते हो शेष में से कुछ अंश दूसरे लोगों के लिए, जिन्हें तुम अपना समझते हो, व्यय करते हो। वे लोग उसके लिए न तुम्हारा उपकार मानते हैं और न उनके लिए जितना व्यय करते हो उससे सन्तुष्ट ही होते हैं। रकम तुम कौड़ी कौड़ी जोड़ रहे हो। तुम्हारे मर जाने पर कोई दूसरा उसका भोग करेगा और हो सकता है, यह कहकर गाली भी दे कि तुम अधिक रुपया नहीं रख गये। ऐसा तो गया-गुजरा तुम्हारा हाल है। और मैं तो वैसा कुछ भी नहीं करता। भूख लगने पर पेट पर हाथ रखकर, हाथ को मुँह के पास ले जाकर इशारा देता हूँ जो पाता हूँ खा लेता हूँ कुछ भी कष्ट नहीं उठाता कुछ भी संग्रह नहीं करता। हम दोनों में कौन बुद्धिमान है?—तुम या मैं!" मैं तो सुनकर अवाक् रह गया। इसके पहले मैंने अपने सामने किसीको भी इस प्रकार स्पष्ट रूप से बोलने का साहस करते नहीं देखा था।

आहार आदि करके कुछ विश्राम कर चुकने के बाद फिर उन्हीं वकील महाशय के निवास-स्थान पर गया। वहाँ अनेक प्रकार के वार्तालाप और चर्चा चलने लगी। लगभग नौ बजे रात को स्वामी जी को लेकर मैं अपने निवास-स्थान की ओर

लौटा। आते आते मैंने कहा, "स्वामी जी, आपको आज तर्क-वितर्क मे वहुत कष्ट हुआ।"

वे वोले, "वच्चा, तुम लोग तो ठहरे उपयोगितावादी (utilitarian)। यदि मैं चुप होकर वैठा रहूँ, तो क्या तुम लोग मुझे एक मुट्ठी भी खाने को दोगे! मैं इस प्रकार अनवरत वकता हूँ, लोगो को सुनकर आनन्द होता है, इसीलिए वे दल के दल आते हैं। किन्तु यह जान लो, जो लोग सभा मे तर्क-वितर्क करते हैं, अनेक प्रश्न पूछते हैं, वे वास्तविक सत्य को समझने की इच्छा से वैसा नही करते। मैं भी समझ जाता हूँ, कौन किस भाव से क्या कह रहा है और उसे उसी तरह उत्तर देता हूँ।"

मैंने स्वामी जी से पूछा, "अच्छा स्वामी जी, सभी प्रश्नो के इस प्रकार उत्तम उत्तम उत्तर आप तुरन्त किस प्रकार दे लेते हैं?"

वे वोले, "ये सव प्रश्न तुम्हारे लिए नवीन हैं, किन्तु मुझसे तो कितने ही मनुष्य कितनी वार इन प्रश्नो को पूछ चुके हैं, और उनका उत्तर कितनी ही वार दे चुका हूँ।" रात मे भोजन करते समय और भी अनेक वातें उन्होने कही। पैसा न छूते हुए देश-भ्रमण करते करते कहाँ कैसी कैसी घटनाएँ हुईं, यह सब वर्णन करने लगे। सुनते सुनते मेरे मन मे हुआ—अहा! न जाने इन्होने कितना कष्ट, कितनी विपत्तियाँ सही हैं। किन्तु वे तो उन सव घटनाओ को इस प्रकार हँसते हँसते सुनाने लगे, मानो वे अत्यन्त मनोरजक कहानियाँ हो। कही पर उनका तीन दिन तक बिना कुछ खाये रहना, किसी स्थान मे मिर्चा खाने के कारण पेट में ऐसी जलन होना, जो एक कटोरी इमली का पना पीने पर भी शान्त नही हुई, कही पर 'यहाँ साधु-सन्यासियो को स्थान नही'—इस प्रकार झिडके जाना, और कही खुफिया पुलिस की कडी नजर मे रहना—आदि सव घटनाएँ, जिन्हे सुनकर हमारे शरीर का खून पानी हो जाय, उनके लिए तो मानो एक तमाशा थी।

रात अधिक हुई देखकर उनके लिए सोने का प्रबन्ध कर मैं भी सोने के लिए चला गया, किन्तु रात मे नीद नही आयी। सोचने लगा—कैसा आश्चर्य, इतने वर्षों का दृढ सन्देह और अविश्वास स्वामी जी को देखकर और उनकी दो-चार वातें सुनकर ही दूर हो गया! अब और कुछ पूछने को नही रहा। जैसे जैसे दिन बीतने लगे, हमारी ही क्या—हमारे नौकर-चाकरो की भी उनके प्रति इतनी श्रद्धा-भक्ति हो गयी कि कभी कभी स्वामी जी उन लोगो की सेवा और आग्रह के मारे परेशान हो उठते थे।

२० अक्तुवर, १८९२ ई०। सवेरे उठकर स्वामी जी को प्रणाम किया। इस समय साहस कुछ बढ गया है, श्रद्धा-भक्ति भी हुई है। स्वामी जी भी मुझसे

अनेक वन नदी अरण्य आदि का विवरण सुनकर सन्तुष्ट हुए हैं। इस शहर में आज उनका चौथा दिन है। पाँचवें दिन उन्होंने कहा 'संन्यासियों को नगर में तीन दिन से और गाँव में एक दिन से अधिक ठहरना उचित नहीं। मैं अब जल्दी चला जाना चाहता हूँ।" परन्तु मैं किसी प्रकार उनकी यह बात मानने को राजी न था। बिना तर्क द्वारा समझे मैं कैसे मानूँ! फिर अनेक वाद-विवाद के बाद वे बोले 'एक स्थान में अधिक दिन रहने पर माया-ममता बढ़ जाती है। हम लोगों ने घर और आत्मीय जनों का परित्याग किया है। अतः जिन बातों से उस प्रकार की माया में मुग्ध होने की सम्भावना है उनसे दूर रहना ही हम लोगों के लिए अच्छा है।

मैंने कहा 'आप कभी भी मुग्ध होनेवाले नहीं हैं। अन्त में मेरा अतिशय आग्रह देखकर और भी दो-चार दिन ठहरना उन्होंने स्वीकार कर लिया। इस बीच मेरे मन में हुआ यदि स्वामी जी सर्वसाधारण के लिए व्याख्यान दें तो हम लोग भी उनका व्याख्यान सुनेंगे और दूसरों का भी कल्याण होगा। मैंने इसके लिए बहुत अनुरोध किया किन्तु व्याख्यान देने पर शायद नाम-यश की स्पृहा जग उठे, ऐसा कहकर उन्होंने मेरे अनुरोध को किसी भी तरह नहीं माना। पर उन्होंने यह भी बात मुझे बतायी कि उन्हें सभा में प्रश्नों का उत्तर देने में कोई आपत्ति नहीं है।

एक दिन बातचीत के सिलसिले में स्वामी जी 'पिकविक् पेपर्स' (Pickwick Papers) के दो-तीन पृष्ठ कण्ठस्थ बोल गये। मैंने उस पुस्तक को अनेक बार पढ़ा है। समझ गया—उन्होंने पुस्तक के किस स्थान से आवृत्ति की है। सुनकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। सोचने लगा—संन्यासी होकर सामाजिक ग्रन्थ में से इन्होंने इतना कैसे कण्ठस्थ किया! हो न हो इन्होंने पहले इस पुस्तक को अनेक बार पढ़ा है। पूछने पर उन्होंने कहा 'दो बार पढ़ा है। एक बार स्कूल में पढ़ने के समय और दूसरी बार आज से पाँच-छः मास पहले।

आश्चर्यचकित होकर मैंने पूछा 'फिर आपको किस प्रकार यह स्मरण रहा? और हम लोगों को क्यों नहीं रहता?

स्वामी जी ने उत्तर दिया "एकाग्र मन से पढ़ना चाहिए और खाद्य के सार भाग द्वारा निर्मित वीर्य का नाश न करके उसका अधिकाधिक परिपाक (assimilation) कर लेना चाहिए।

और एक दिन की बात है। स्वामी जी दोपहर में बिछौने पर लेटे हुए एक पुस्तक पढ़ रहे थे। मैं दूसरे कमरे में था। एकाएक स्वामी जी इतने जोर से हँस पड़े कि क्या हो गया सोचकर मैं उनके कमरे के दरवाजे के पास आकर खड़ा

हो गया। देखा, बात कोई विशेष नहीं है। वे जैसे पुस्तक पढ रहे थे, वैसे ही पढ़ रहे हैं। लगभग पन्द्रह मिनट खडा रहा, तो भी उनका ध्यान मेरी ओर नही गया। पुस्तक छोडकर उनका ध्यान किसी दूसरी ओर नही था। कुछ देर बाद मुझे देखकर अन्दर आने के लिए कहा, और मैं इतनी देर से खडा हूँ, यह सुनकर बोले, "जब जो काम करना हो, तब उसे पूरी लगन और शक्ति के साथ करना चाहिए। गाजीपुर के पवहारी बाबा ध्यान, जप, पूजा-पाठ जिस प्रकार एकचित्त से करते थे, उसी प्रकार वे अपने पीतल के लोटे को भी एकचित्त से माँजते थे। ऐसा माँजते थे कि सोने के समान चमकने लगता था।"

एक बार मैंने स्वामी जी से पूछा, "स्वामी जी, चोरी करना पाप क्यो है? सभी धर्म चोरी करने का निषेध क्यो करते है? मेरे विचार मे तो 'यह मेरा है', 'यह दूसरे का'—ये सब भावनाएँ केवल कल्पना मात्र हैं। मुझसे बिना पूछे ही जब कोई मेरा आत्मीय बन्धु मेरी किसी वस्तु का व्यवहार करता है, तो वह चोरी क्यो नही कहलाती? और पशु-पक्षी आदि जब हमारी कोई वस्तु नष्ट कर देते हैं, तो हम उसे चोरी क्यो नही कहते?"

स्वामी जी ने कहा, "हाँ, ऐसी कोई वस्तु या कार्य नहीं है, जो सभी अवस्था में और सभी समय बुरा और पाप कहा जा सके। फिर दूसरी ओर, अवस्था-भेद से प्रत्येक वस्तु ही बुरी और प्रत्येक कार्य ही पाप कहा जा सकता है। फिर भी, जिससे दूसरे को किसी प्रकार का कष्ट हो एव जिसके आचरण से शारीरिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक किसी प्रकार की दुर्बलता आये, उस कर्म को नही करना चाहिए, वह पाप है, और उससे विपरीत कर्म ही पुण्य है। सोचो, तुम्हारी कोई वस्तु किसीने चुरा ली, तो तुम्हे दु ख होगा या नही? तुम्हे जैसा लगता है, वैसा ही सम्पूर्ण जगत् के बारे मे भी समझो। इस दो दिन की दुनिया मे जब किसी छोटी वस्तु के लिए तुम एक प्राणी को दु ख दे सकते हो, तो धीरे धीरे भविष्य मे क्या बुरा काम नही कर सकोगे? फिर, यदि पाप-पुण्य न रहे, तो समाज ही न चले। समाज मे रहने पर उसके नियम आदि पालन करने पडते हैं। वन मे जाकर नगे होकर नाचो—कोई कुछ न कहेगा, किन्तु शहर मे इस प्रकार का आचरण करने पर पुलिस द्वारा तुम्हे पकड़वाकर किसी निर्जन स्थान में बन्द रख देना ही उचित होगा।"

स्वामी जी कई बार हास-परिहास के भीतर से विशेष शिक्षा दिया करते थे। वे गुरु होते हुए भी, उनके पास बैठना मास्टर के पास बैठने के समान नही था। अभी खूब रग-रस चल रहा है, बालक के समान हँसते हँसते हँसी के बहाने कितनी ही बातें कहे जा रहे हैं, सभी लोगो को हँसा रहे हैं, और दूसरे

ही आप ऐसे गम्भीर होकर जटिल प्रश्नों की व्याख्या करना आरम्भ कर देते हैं कि उपस्थित सभी लोग विस्मित होकर सोचने लगते हैं, 'इनके भीतर इतनी शक्ति! अभी तो देख रहे थे कि ये हमारे ही समान एक व्यक्ति हैं!'

लोग सभी समय उनके पास शिक्षा लेने के लिए आते। उनका द्वार सभी समय खुला रहता। दर्शनार्थियों में से अनेक भिन्न भिन्न उद्देश्य से भी आते—कोई उनकी परीक्षा लेने के लिए, तो कोई मजेदार बात सुनने के लिए, कोई इसलिए कि उनके पास जाने से बड़े बड़े धनी लोगों से बातचीत हो सकेगी, और कोई संसार-ताप से जर्जरित होकर उनके पास दो घड़ी शीतल होने एवं ज्ञान और धर्म का लाभ करने के लिए। किन्तु उनकी ऐसी अद्भुत क्षमता थी कि कोई किसी भाव से क्यों न आये, उसे उसी क्षण समझ जाते थे और उसके साथ उसी तरह व्यवहार करते थे। उनकी मर्मभेदी दृष्टि से किसीके लिए अपना या कुछ छिपाकर रखना सम्भव नहीं था। एक समय किसी प्रतिष्ठित धनी का एकमात्र पुत्र विश्वविद्यालय की परीक्षा से बचने के लिए स्वामी जी के निकट बारम्बार आने लगा और साधु होऊँगा ऐसा भाव प्रकाशित करने लगा। वह मेरे एक मित्र का पुत्र था। मैंने स्वामी जी से पूछा, 'यह लड़का आपके पास किस मतलब से इतना अधिक आता-जाता है? उसे क्या आप संन्यासी होने का उपदेश देंगे? उसका बाप मेरा मित्र है।'

स्वामी जी ने कहा, 'यह केवल परीक्षा के भय से साधु होना चाहता है। मैंने उससे कहा है, एम॰ ए॰ पास कर चुकने के बाद साधु होने के लिए आना, साधु होने की अपेक्षा एम॰ ए॰ पास करना कहीं सरल है।'

स्वामी जी जितने दिन मेरे यहाँ ठहरे, प्रत्येक दिन सन्ध्या समय उनका वार्तालाप सुनने के लिए इतनी अधिक संख्या में लोगों का आगमन होता था मानो कोई सभा लगी हो। इसी समय एक दिन मेरे निवास-स्थान पर, एक चन्दन के वृक्ष के नीचे तकिया के सहारे बैठकर उन्होंने जो बात कही थीं, उन्हें आजन्म न भूल सकूँगा। उस प्रसंग को उठाने में बहुत सी बातें कहनी होंगी। इसलिए उसे दूसरे समय के लिए ही रख छोड़ना युक्तिसंगत है। इस समय और एक अपनी बात कहूँगा। कुछ समय पहले से मेरी पत्नी की इच्छा किसी गुरु से मन्त्र-दीक्षा लेने की थी। मुझे उसमें आपत्ति नहीं थी। उस समय मैंने उससे कहा था, "ऐसे व्यक्ति को गुरु बनाना, जिसकी भक्ति मैं भी कर सकूँ। गुरु के घर में प्रवेश करते ही यदि मुझमें अन्यथा भाव आ जाय तो तुम्हें किसी प्रकार का आनन्द या उपकार नहीं होगा। यदि किसी सत्पुरुष को गुरु रूप में पाऊँगा तो हम दोनों साथ ही दीक्षा-मन्त्र लेंगे, अन्यथा नहीं।" इस बात को उसने भी स्वीकार किया।

स्वामी जी के आगमन के वाद मैंने उससे पूछा, "यदि ये सन्यासी तुम्हारे गुरु हो, तो तुम उनकी शिष्या हो सकती हो ?"

वह उत्कण्ठा से बोली, "क्या वे गुरु होंगे ? होने से तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगी !"

स्वामी जी से एक दिन डरते डरते मैंने पूछा, "स्वामी जी, मेरी एक प्रार्थना पूर्ण करेंगे ?" स्वामी जी ने पूछा, "कहो, क्या कहना है ?" तव मैंने उनसे अनुरोध-पूर्वक कहा, "आप हम दोनो को दीक्षा दें।"

वे वोले, "गृहस्थ के लिए गृहस्थ गुरु ही ठीक है। गुरु होना वहुत कठिन है। शिष्य का समस्त भार ग्रहण करना पडता है। दीक्षा के पहले गुरु के साथ शिष्य का कम से कम तीन वार साक्षात्कार होना आवश्यक है।" इस प्रकार स्वामी जी ने मुझे टालने की चेष्टा की। जव उन्होने देखा कि मैं किसी भी तरह माननेवाला नही, तो अन्त मे उन्हे स्वीकृति देनी ही पडी और २५ अक्तूबर, १८९२ ई० को उन्होने हम दोनो को दीक्षा दी। इस समय मेरी प्रवल इच्छा हुई कि स्वामी जी का फोटो खिचवाऊँ। परन्तु इसके लिए वे शीघ्र राजी नही हुए। अन्त मे वहुत वाद-विवाद के वाद, मेरा तीव्र आग्रह देखकर २८ तारीख को फोटो खिचवाने के लिए सम्मत हुए, फोटो खीचा गया। इसके पहले एक व्यक्ति के अतिशय आग्रह पर भी स्वामी जी ने फोटो नही खिचवाया था, इसलिए फोटो की दो प्रतियाँ उस व्यक्ति को भी भेज देने के लिए उन्होने मुझसे कहा। मैंने स्वामी जी की इस आज्ञा को वडी प्रसन्नता से स्वीकार किया। एक दिन वातचीत के सिलसिले मे स्वामी जी ने कहा, "कुछ दिन तुम्हारे साथ जगल मे तम्बू डालकर रहने की मेरी इच्छा है। किन्तु शिकागो मे धर्म-महासभा होगी, यदि वहाँ जाने की सुविधा हुई, तो वही जाऊँगा।" मैंने चन्दे की सूची तैयार कर धनसग्रह करने का प्रस्ताव किया, परन्तु उन्होने न जाने क्या सोचकर उसे स्वीकार नही किया। स्वामी जी का इस समय व्रत ही था—रुपये-पैसे का स्पर्श या ग्रहण न करना। मेरे अत्यधिक अनुरोध करने पर स्वामी जी मरहठी चप्पल के वदले एक जोडा जूता और वेत की एक छडी स्वीकार करने के लिए राजी हुए। इसके पहले कोल्हापुर की रानी ने स्वामी जी से वहुत अनुरोध किया था कि वे कुछ ग्रहण करें, पर स्वामी जी इससे सहमत नही हुए थे। अन्त मे रानी ने दो गेरुए वस्त्र स्वामी जी के लिए भेजे, स्वामी जी ने यह ग्रहण कर लिया, और पुराने वस्त्र वही छोडते हुए वोले, "सन्यासियो के पास जितना कम वोझा हो, उतना ही अच्छा।"

इसके पहले मैंने भगवद्गीता पढने की अनेक वार चेष्टा की थी, किन्तु समझ न सकने के कारण मैंने ऐसा सोच लिया कि उसमे समझने के लायक ऐसी कोई वडी वात नही है, और उसे पढना ही छोड दिया। स्वामी जी एक दिन

गीता लेकर हम लोगों को समझाने लगे। तब ज्ञात हुआ कि गीता कैसा अद्भुत ग्रन्थ है! गीता का मर्म समझना जिस प्रकार मैंने उनसे सीखा उसी प्रकार दूसरी ओर ज्यूलिस वर्न के वैज्ञानिक उपन्यास एवं कार्लाइल का 'सार्टोर रिसार्टस' पढ़ना भी उन्हींसे सीखा।

उस समय स्वास्थ्य के लिए मैं औषधियों का अत्यधिक व्यवहार करता था। इस बात को जानकर वे एक दिन बोले 'जब देखो कि किसी रोग ने अत्यधिक प्रबल होकर शय्याशायी कर दिया है उठने की शक्ति नहीं रही तभी औषधि का सेवन करना अन्यथा नहीं। स्नायुओं की दुर्बलता आदि रोगों में से तो ९० प्रतिशत काल्पनिक हैं। इन सब रोगों से डॉक्टर लोग जितने लोगों को बचाते हैं उससे अधिक को तो मार डालते हैं। फिर इस प्रकार सर्वदा रोग रोग करते रहने से क्या होगा? जितने दिन जियो आनन्द से रहो। पर जिस आनन्द से एक बार कष्ट हो चुका है, उसके पीछे फिर और कभी न दौड़ना। तुम्हारे-हमारे समान एक के मर जाने से पृथ्वी अपने केन्द्र से कोई दूर तो हट न जायगी और न जगत् का किसी तरह का कोई नुकसान ही होगा। इस समय कुछ कारणों से अपने ऊपर के अफ़सरों के साथ मेरी बनती नहीं थी। उनके सामान्य कुछ कहने से ही मेरा सिर गरम हो जाता था और इस प्रकार इस अच्छी नौकरी से भी मैं एक दिन के लिए भी सुखी न हुआ। स्वामी जी से मैंने जब ये सब बातें कही तो वे बोले 'नौकरी किसलिए करते हो? वेतन के लिए ही न वेतन तो ठीक महीने के महीने नियमित रूप से पाते ही रहते हो? फिर मन में दुःख क्यों? और यदि नौकरी छोड़ देने की इच्छा हो तो कभी भी छोड़ दे सकते हो किसीने तुम्हें बाँधकर तो रखा नहीं है फिर 'विषम बन्धन में पड़ा हूँ' सोचकर इस दुःखमय संसार में और भी दुःख क्यों बढ़ाते हो? और एक बात जरा सोचो जिसके लिए तुम वेतन पाते हो आफिस के उन सब कामों को करने के अतिरिक्त तुमने अपने ऊपरवाले साहबों को सन्तुष्ट करने के लिए कभी कुछ किया भी है? कभी तो तुमने उसके लिए चेष्टा नहीं की फिर भी वे लोग तुमसे सन्तुष्ट नहीं हैं ऐसा सोचकर उनके ऊपर गीसे हुए हो! क्या यह बुद्धिमानों का काम है? यह जान लो हम लोग दूसरों के प्रति हृदय में जैसा भाव रखते हैं, वही कार्य में प्रकाशित होता है और प्रकाशित न होने पर भी उन लोगों के भी भीतर हमारे प्रति ठीक उसी भाव का उदय होता है। हम अपने मन के अनुरूप ही जगत् को देखते हैं— हमारे भीतर जैसा है वैसा ही जगत् में प्रकाशित देखते हैं। 'आप भला तो जग भला'—यह उक्ति कितनी सत्य है कोई नहीं समझता। आज से किसीकी बुराई देखना एकदम छोड़ देने की चेष्टा करो। देखोगे तुम जितना ही वैसा

कर सकोगे, उतना ही उनके भीतर का भाव और उनके कार्य तक परिवर्तित हो जायँगे।" बस, उसी दिन से औषधि-सेवन का मेरा पागलपन दूर हो गया, और दूसरो के दोष ढूंढने की चेष्टा को त्याग देने के फलस्वरूप क्रमश मेरे जीवन का एक नया पृष्ठ खुल गया।

एक बार स्वामी जी के सामने यह प्रश्न उपस्थित किया गया—"अच्छा क्या है और बुरा क्या है?" इस पर वे बोले, "जो अभीष्ट कार्य का साधनभूत है, वही अच्छा है और जो उसका प्रतिरोधक है, वही बुरा। अच्छे-बुरे का विचार जगह की ऊँचाई-निचाई के विचार के समान है। तुम जितने ऊपर उठोगे, उतने ही वे दोनो एक होते जायँगे। कहा जाता है, चन्द्रमा मे पहाड और समतल दोनो हैं, किन्तु हम लोग सब एक देखते हैं, वैसा ही अच्छे-बुरे के सम्बन्ध मे भी समझो।" स्वामी जी मे यह एक असाधारण शक्ति थी कि कोई चाहे कैसा भी प्रश्न क्यो न पूछे, तुरन्त उनके भीतर से ऐसा सुन्दर और उपयुक्त उत्तर आता था कि मन का सन्देह एकदम दूर हो जाता था।

और एक दिन की बात है—स्वामी जी ने समाचारपत्र मे पढा कि अनाहार के कारण कलकत्ते मे एक मनुष्य मर गया। यह समाचार पढकर स्वामी जी इतने दु खी हुए कि उसका वर्णन नही हो सकता। वे बारम्बार कहने लगे, "अब तो देश गया!" कारण पूछने पर बोले, "देखते नही, दूसरे देशो मे गरीबो की सहायता के लिए 'पूवर-हाउस', 'वर्क-हाउस', 'चैरिटी फड' आदि सस्थाओ के रहने पर भी प्रतिवर्ष सैकडो मनुष्य अनाहार की ज्वाला मे समाप्त हो जाते हैं—समाचारपत्रो मे ऐसा देखने मे आता है। पर हमारे देश मे एक मुट्ठी भिक्षा की प्रथा होने से अनाहार के कारण लोगो का मरना कभी सुना नही गया। मैंने आज पहली बार अखबार मे यह समाचार पढा कि दुर्भिक्ष न होते हुए भी कलकत्ता जैसे शहर मे अन्न के बिना मनुष्य मरे।"

अग्रेजी शिक्षा की कृपा से मैं भिखारियो को दो-चार पैसे देना अपव्यय समझता था। सोचता था, इस प्रकार जो कुछ थोडा सा दान किया जाता है, उससे उनका कोई उपकार तो होता नही, अपितु बिना परिश्रम के पैसा पाकर, उसे शराब-गाँजा आदि मे खर्च कर वे और भी अध पतित हो जाते हैं। लाभ इतना ही है कि दाता का व्यर्थ खर्च कुछ बढ़ जाता है। इसलिए सोचता था, बहुत लोगो को कुछ कुछ देने की अपेक्षा एक को अधिक देना अच्छा है। स्वामी जी से इस विषय मे जब मैंने पूछा, तो वे बोले, "भिखारी के आने पर यदि शक्ति हो, तो कुछ देना ही अच्छा है। दोगे तो केवल दो-एक पैसा, उसके लिए, वह किसमे खर्च करेगा सद्व्यय होगा या अपव्यय, ये सब बातें लेकर माथापच्ची

करने की क्या आवश्यकता? और यदि गृहस्थ हो, वह उस पैसे का गाँजा में उड़ा देता हो, तो भी उसे देने से समाज का लाभ ही है, नुकसान नहीं। क्योंकि तुम्हारे समान लोग यदि दया करके उसे कुछ न दें, तो वह तुम लोगों के पास से चोरी करके लेगा। वैसा न कर वह जो दो पैसे माँगकर गाँजा पीकर चुप होकर बैठा रहता है, वह क्या तुम लोगों का ही लाभ नहीं है? अतएव इस प्रकार के दान में भी लोगों का उपकार ही है, अपकार नहीं।"

मैंने पहले से ही स्वामी जी को बाल्य विवाह के बिलकुल विरुद्ध देखा है। वे सर्वदा सभी को विशेषतः बालकों को हिम्मत बाँधकर समाज के इस कलंक के विरोध में खड़े होने के लिए तथा उद्योगी और उत्साहित होने के लिए उपदेश देते थे। स्वदेश के प्रति इस प्रकार अनुराग भी मैंने और किसी में नहीं देखा। स्वामी जी के पाश्चात्य देशों से लौटने के बाद जिन लोगों ने उनके प्रथम दर्शन किये हैं, वे नहीं जानते कि वहाँ जाने के पूर्व वे संन्यास-आश्रम के कठोर नियमों का पालन करते हुए, कांचन का स्पर्श तक न करते हुए कितने दिनों तक भारत के समस्त प्रान्तों में भ्रमण करते रहे। किसी के एक बार ऐसा कहने पर कि उनके समान शक्तिमान पुरुष के लिए नियम आदि का इतना बन्धन आवश्यक नहीं है, वे बोले, 'देखो, मन बड़ा पागल है, बड़ा उन्मत्त है, कभी भी शान्त नहीं रहता, थोड़ा मौका पाते ही अपने रास्ते खींच ले जाता है। इसलिए सभी को निर्धारित नियमों के भीतर रहना आवश्यक है। संन्यासी को भी मन पर अधिकार रखने के लिए नियम के अनुसार चलना पड़ता है। सभी मन में सोचते हैं कि मन के ऊपर उनका पूरा अधिकार है, वे तो जान-बूझकर कभी कभी मन को थोड़ी छूट दे देते हैं। किन्तु मन पर किसका कितना अधिकार हुआ है, यह एक बार ध्यान करने के लिए बैठते ही मालूम हो जाता है। 'एक विषय पर चिन्तन करूँगा' ऐसा सोचकर बैठने पर दस मिनट भी उस विषय में मन स्थिर रखना असम्भव हो जाता है। सभी सोचते हैं कि वे पत्नी के वशीभूत नहीं हैं, वे तो केवल प्रेम के कारण पत्नी को अपने ऊपर आधिपत्य करने देते हैं। मन को वशीभूत कर लिया है—यह सोचना भी ठीक उसी तरह है। मन पर विश्वास करके कभी निश्चिन्त न रहना।

एक दिन बातचीत के सिलसिले में मैंने कहा, "स्वामी जी, देखता हूँ, धर्म को ठीक ठीक समझने के लिए बहुत अध्ययन की आवश्यकता है।

वे बोले, 'अपने धर्म समझने के लिए अध्ययन की आवश्यकता नहीं, किन्तु दूसरों को समझाने के लिए उसकी विशेष आवश्यकता है। भगवान् श्री रामकृष्ण देव तो 'रामकेष्ट' नाम से हस्ताक्षर करते थे, किन्तु धर्म का सार-तत्त्व उनसे अधिक भला किसने समझा है?

मेरा विश्वास था, साधु-सन्यासियो का स्थूलकाय और सर्वदा सन्तुष्टचित्त होना असम्भव है। एक दिन हँसते हँसते उनके ऊपर ऐसा कटाक्ष करने पर उन्होंने भी मज़ाक मे कहा, "यही तो मेरा 'अकाल रक्षाकोष' (फैमिन इन्श्योरेन्स फड) है! यदि मैं पाँच-सात दिन तक भोजन न पाऊँ, तो भी मेरी चर्बी मुझे जीवित रखेगी। तुम लोग तो एक दिन न खाने से ही चारो ओर अन्धकार देखने लगोगे। जो धर्म मनुष्य को सुखी नही बनाता, वह वास्तविक धर्म है ही नही, उसे मन्दाग्नि-प्रसूत रोगविशेष समझो।" स्वामी जी सगीत-विद्या मे विशेष पारगत थे। एक दिन एक गाना भी उन्होंने प्रारम्भ किया था, किन्तु मैं तो 'सगीत मे औरगजेब' था, फिर मुझे सुनने का अवसर ही कहाँ? उनके वार्तालाप ने ही हम लोगो को मोहित कर लिया था।

आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान के सभी विभाग, जैसे—रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, मिश्रित गणित आदि पर उनका विशेष अधिकार था एव उन विषयो से सम्बद्ध सभी प्रश्नो को वे बडी सरल भाषा मे दो-चार बातो मे ही समझा देते थे। फिर, पाश्चात्य विज्ञान की सहायता एव दृष्टान्त से धर्मविषयक तथ्यो को विशद रूप से समझाने तथा यह दिखाने मे कि धर्म और विज्ञान का एक ही लक्ष्य है, एक ही दिशा मे गति है—उनकी क्षमता अद्वितीय थी।

लाल मिर्च, काली मिर्च आदि तीखे पदार्थ उन्हें बडे प्रिय थे। इसका कारण पूछने पर उन्होने एक दिन कहा, "पर्यटन-काल मे सन्यासियो को देश-विदेश मे अनेक प्रकार का दूषित जल पीना पडता है, यह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। इस दोष को दूर करने के लिए उनमे से बहुत से गाँजा, चरस आदि मादक द्रव्य पीते हैं। मैं भी इसीलिए इतनी मिर्च खाता हूँ।"

खेतडी के राजा, कोल्हापुर के छत्रपति एव दक्षिण के अनेक राजा उन पर विशेष भक्ति करते थे। उनका भी उन लोगो पर बडा प्रेम था। असाधारण त्यागी होकर, राजे-रजवाडो के साथ इतनी घनिष्ठता वे क्यो रखते हैं, यह बात बहुतो की समझ मे नही आती थी। कोई कोई निर्बोध तो इस बात को लेकर उनके ऊपर आक्षेप करने मे भी नही चूकते थे।

इसका कारण पूछने पर एक दिन उन्होंने कहा, "ज़रा सोच तो देखो, हज़ार हज़ार दरिद्र लोगो को उपदेश देने और सत्कार्य के अनुष्ठान मे तत्पर कराने से जो कार्य होगा, उसकी अपेक्षा एक राजा को इस दिशा मे ला सकने पर कितना अधिक कार्य हो जायगा। निर्धन प्रजा की इच्छा करने पर भी सत्कार्य करने की क्षमता उसके पास कहाँ? किन्तु राजा के हाथ मे सहस्रो प्रजाओ के मगल-विधान की क्षमता पहले से ही है, केवल उसे करने की इच्छा भर नही है। वह इच्छा यदि

करने की क्या आवश्यकता ? और यदि सचमुच ही वह उस पैसे को गाँजा में उड़ा देता हो, तो भी उसे देने से समाज का लाभ ही है, नुकसान नहीं। क्योंकि तुम्हारे समान लोग यदि दया करके उसे कुछ न दें, तो वह तुम लोगों के पास से चोरी करके लेगा। वैसा न कर वह जो दो पैसे माँगकर गाँजा पीकर चुप होकर बैठा रहता है, यह क्या तुम लोगों का ही लाभ नहीं है ? अतएव इस प्रकार के दान में भी लोगों का उपकार ही है, अपकार नहीं।"

मैंने पहले से ही स्वामी जी को बाल्य विवाह के बिल्कुल विरुद्ध देखा है। वे सर्वदा सभी को, विशेषकर बालकों को हिम्मत बाँधकर समाज के इस कलंक के विरोध में खड़े होने के लिए तथा उद्योगी और उत्साहशील होने के लिए उपदेश देते थे। स्वदेश के प्रति इस प्रकार अनुराग भी मैंने और किसी में नहीं देखा। स्वामी जी के पाश्चात्य देशों से लौटने के बाद जिन लोगों ने उनके प्रथम दर्शन किए हैं वे नहीं जानते कि वहाँ जाने के पूर्व वे संन्यास-आश्रम के कठोर नियमों का पालन करते हुए, कांचन का स्पर्श तक न करते हुए, कितने दिनों तक भारत के समग्र प्रान्तों में भ्रमण करते रहे। किसी ने एक बार ऐसा कहने पर कि उनके समान शक्तिमान पुरुष के लिए नियम आदि का इतना बन्धन आवश्यक नहीं है, वे बोले, "देखो, मन बड़ा पागल है, बड़ा उन्मत्त है, कभी भी शान्त नहीं रहता; थोड़ा मौका पाते ही अपने रास्ते खींच ले जाता है। इसलिए सभी को निर्धारित नियमों के भीतर रहना आवश्यक है। संन्यासी को भी मन पर अधिकार रखने के लिए नियम के अनुसार चलना पड़ता है। सभी मन में सोचते हैं कि मन के ऊपर उनका पूरा अधिकार है, वे तो जान-बूझकर कभी कभी मन को थोड़ी छूट दे देते हैं। किन्तु मन पर किसका कितना अधिकार हुआ है, वह एक बार ध्यान करने के लिए बैठते ही मालूम हो जाता है। 'एक विषय पर चिन्तन करूँगा' ऐसा सोचकर बैठने पर दस मिनट भी उस विषय में मन स्थिर रखना असम्भव हो जाता है। सभी सोचते हैं कि वे पत्नी के वशीभूत नहीं हैं, वे तो केवल प्रेम के कारण पत्नी को अपने ऊपर आधिपत्य करने देते हैं। मन को वशीभूत कर लिया है—यह सोचना भी ठीक उसी तरह है। मन पर विश्वास करके कभी निश्चिन्त न रहना।"

एक दिन बातचीत के सिलसिले में मैंने कहा "स्वामी जी देखता हूँ धर्म को ठीक ठीक समझने के लिए बहुत अध्ययन की आवश्यकता है।"

वे बोले 'अपने धर्म समझने के लिए अध्ययन की आवश्यकता नहीं किन्तु दूसरों को समझाने के लिए उसकी विशेष आवश्यकता है। भगवान् श्री रामकृष्ण देव तो 'रामकेष्ट' नाम से हस्ताक्षर करते थे किन्तु धर्म का सार-तत्त्व उनसे अधिक भला किसने समझा है ?

अनन्त है, यह नही समझा। जो भी हो, एक वस्तु अनन्त है, यह बात समझ मे आती है, किन्तु दो वस्तुएं यदि अनन्त हो, तो कौन कहां रहेगी ? कुछ और आगे बढो, तो देखोगे, काल जो है, देश भी वही है, फिर और अग्रसर होने पर समझोगे, सभी वस्तुएं अनन्त हैं, और वे सभी अनन्त वस्तुएं एक है, दो या दस नही।"

इस प्रकार स्वामी जी के पदार्पण से २६ अक्तूबर तक मेरे निवास-स्थान पर आनन्द का स्रोत बहता रहा। २७ तारीख को वे बोले, "और नही ठहरूँगा, रामेश्वर जाने के विचार से बहुत दिन हुए इस ओर निकला हूँ। पर यदि इसी प्रकार चला, तो इस जन्म मे शायद रामेश्वर पहुँचना न हो सकेगा।" मैं बहुत अनुरोध करके भी उन्हे नही रोक सका। २७ अक्तूबर की 'मेल' से उनका मरमागोआ जाना ठहरा। इस थोडे से समय मे उन्होंने कितने लोगो को मुग्ध कर लिया था, यह कहा नही जा सकता। टिकट खरीदकर उन्हें गाडी मे बिठाया और साष्टाग प्रणाम कर मैंने कहा, "स्वामी जी, मैंने जीवन मे आज तक किसीको भी आन्तरिक भक्ति के साथ प्रणाम नही किया। आज आपको प्रणाम कर मैं कृतार्थ हो गया।"

* * *

स्वामी जी को मैंने केवल तीन बार देखा। प्रथम, उनके अमेरिका जाने से पूर्व। उस समय की बहुत सी बातें आप लोगो को सुना चुका हूँ। बेलगाँव मे उनके साथ मेरा प्रथम साक्षात्कार हुआ। द्वितीय, जब उन्होंने दूसरी बार इग्लैण्ड और अमेरिका की यात्रा की थी, उसके कुछ दिन पहले। तृतीय एव अन्तिम बार दर्शन हुआ उनके देहत्याग के छ -सात मास पहले। पर इतने ही अवसरो पर मैंने उनसे जो कुछ सीखा, उसका आद्योपान्त वर्णन करना असम्भव है। बहुत सी बातें मेरे अपने सम्बन्ध की हैं, इसलिए उन्हें कहने की आवश्यकता नही, और बहुत सी बातो को भूल भी गया हूँ। जो कुछ स्मरण है, उसमे से पाठको के लिए उपयोगी विषयो को बतलाने की चेष्टा करूँगा।

इग्लैण्ड से लौट आने के बाद उन्होंने हिन्दुओ के जाति-विचार के सम्बन्ध मे और किसी किसी सम्प्रदाय के व्यवहार के ऊपर तीव्र आलोचना करते हुए मद्रास मे जो व्याख्यान दिये थे, उन्हें पढकर मैंने सोचा, स्वामी जी की भाषा कुछ अधिक कडी हो गयी है। और उनके समीप मैंने अपने इस अभिप्राय को प्रकट भी किया। सुनकर वे बोले, "जो कुछ मैंने कहा है, सब सत्य कहा है। और जिनके सम्बन्ध मे मैंने इस प्रकार की भाषा का व्यवहार किया है, उनके कार्यों की तुलना मे वह बिन्दु मात्र भी कडी नही है। सत्य बात मे सकोच का या उसे छिपाने का तो मैं कोई कारण नही देखता। यह न सोचना कि जिनके कार्यों पर मैंने इस प्रकार समालोचना की है, उनके ऊपर मेरा क्रोध था या है, अथवा जैसा कोई कोई सोचते हैं कि कर्तव्य

उसके भीतर किसी प्रकार धामरुचि कर सकूँ तो ऐसा होने पर उसके साथ साथ उसके अधीन सारी प्रजा की अवस्था बदल सकती है और इस प्रकार जगत् का कितना अधिक कल्याण हो सकता है।

धर्म वाद-विवाद में नहीं है, वह तो प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, इसको समझाने के लिए वे बात बात में कहा करते थे, 'गुड़ का स्वाद खाने में ही है। अनुभव करो, बिना अनुभव किये कुछ भी न समझोगे।' उन्हें ढोंगी संन्यासियों से अत्यन्त चिढ़ थी। वे कहते थे "घर में रहकर मन पर अधिकार स्थापित करके फिर बाहर निकलना अच्छा है, नहीं तो नव अनुराग कम होने पर ऐसे संन्यासी प्रायः गाँजा खोर संन्यासियों के दल में मिल जाते हैं।

मैंने कहा, "किन्तु घर में रहकर वैसा होना तो अत्यन्त कठिन है। सभी प्राणियों को समान दृष्टि से देखना, राग-द्वेष का त्याग करना आदि जिन बातों को आप धर्मलाभ में प्रधान सहायक कहते हैं, उनका अनुष्ठान करना यदि मैं आज से ही आरम्भ कर दूँ, तो कल से ही मेरे नौकर-चाकर और अधीनस्थ कर्मचारीगण, यहाँ तक कि सगे-सम्बन्धी लोग भी मुझे एक क्षण भी शान्ति से न रहने देंगे।"

उत्तर में भगवान् श्री रामकृष्ण देव की सर्प और संन्यासीवाली कथा का दृष्टान्त देकर उन्होंने कहा, 'फुफकारना कभी बन्द मत करना और कर्तव्य-पालन करने की बुद्धि से सभी काम किये जाना। कोई अपराध करे, तो दण्ड देना, किन्तु दण्ड देते समय कभी भी क्रुद्ध न होना।' फिर पूर्वोक्त प्रसंग को छेड़ते हुए बोले, 'एक समय मैं एक तीर्थस्थान के पुलिस इन्स्पेक्टर का अतिथि हुआ। वह बड़ा धार्मिक और भक्तालु था। उसका वेतन १२५ रु० था, किन्तु देखा उसके घर का खर्च मासिक दो-तीन सौ का रहा होगा। जब अधिक परिचय हुआ तो मैंने पूछा, आय की अपेक्षा आपका खर्च तो अधिक देख रहा हूँ—यह कैसे चलता है? वह थोड़ा हँसकर बोला, 'आप ही लोग चलाते हैं। इस तीर्थस्थल में जो साधु-संन्यासी आते हैं, वे सब आपके समान तो नहीं होते। सन्देह होने पर उनके पास क्या है, क्या नहीं, इसकी तलाशी करता हूँ। बहुतों के पास प्रचुर मात्रा में रुपया-पैसा निकलता है। जिन पर मुझे चोरी का सन्देह होता है, वे रुपया-पैसा छोड़कर भाग जाते हैं, और मैं उन पैसों को अपने कब्जे में कर लेता हूँ। पर अन्य किसी प्रकार का घूस आदि नहीं लेता।' "

स्वामी जी के साथ एक दिन अनन्त (infinity) वस्तु के सम्बन्ध में वार्तालाप हुआ। उन्होंने जो बात कही वह बड़ी ही सुन्दर एवं सत्य है। वे बोले, 'दो अनन्त वस्तुएँ कभी नहीं रह सकतीं।' पर मैंने कहा, "काल तो अनन्त है, और देश भी अनन्त है।" इस पर वे बोले, "देश अनन्त है, यह तो समझा, किन्तु काल

है, दूसरे की नही, इस प्रकार का भाव क्या अन्याय नही है?' मैं तो सुनकर दग रह गया।

"नाक और पैर की लघुता लेकर ही चीन मे सौन्दर्य का विचार होता है, यह सभी जानते हैं। आहार आदि के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही है। अग्रेज हम लोगों के समान खुशबूदार चावल का भात खाना पसन्द नही करते। एक समय किसी जगह के एक जज साहब की अन्यत्र बदली हो जाने पर वहाँ के बहुत से वकीलो ने उनके सम्मान के लिए बढिया अनाज आदि भेजा। उसमे कुछ सेर खुशबूदार चावल भी थे। जज साहब ने उस चावल का भात खाकर मन मे सोचा—यह सडा हुआ चावल है, और वकीलो से भेट होने पर कहा, 'तुम लोगो को मेरे लिए सडा चावल भेजना उचित न था।'

"किसी समय मैं रेलगाडी मे जा रहा था। उसी डब्बे मे चार-पाँच साहब भी बैठे थे। बातचीत के सिलसिले मे तम्बाकू के बारे मे मैंने कहा, 'सुगन्धित गुडाकू का पानी से भरे हुए हुक्के मे व्यवहार करना ही तम्बाकू का श्रेष्ठ उपभोग है।' मेरे पास खूब अच्छा तम्बाकू था। मैंने उन लोगो को देखने के लिए दिया। वे सूँघकर बोले, 'यह तो अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त है। इसे आप सुगन्धित कहते हैं!' इस प्रकार गन्ध, आस्वाद, सौन्दर्य आदि सभी विषयो मे समाज, देश और काल के भेद से भिन्न भिन्न मत हैं।"

स्वामी जी की पूर्वोक्त कथाओ को हृदयगम करते मुझे देरी नही लगी। मैंने सोचा, पहले मुझे शिकार करना कितना प्रिय था, किसी पशु-पक्षी को देखने पर उसे मारने के लिए मन छटपटाने लगता था। न मार सकने पर अत्यन्त कष्ट भी मालूम होता था। पर अब उस प्रकार प्राणियो का वध करना बिल्कुल ही अच्छा नही लगता। अतएव किसी वस्तु का अच्छा या बुरा लगना केवल अभ्यास पर निर्भर है।

अपने मत को अक्षुण्ण रखने मे प्रत्येक मनुष्य का एक विशेष आग्रह देखा जाता है। धर्म के क्षेत्र मे तो उसका विशेष प्रकाश दिखायी देता है। स्वामी जी इस सम्बन्ध मे एक कहानी बतलाया करते थे. एक समय एक छोटे राज्य को जीतने के लिए एक दूसरे राजा ने दल-बल के साथ चढाई की। शत्रुओ के हाथ से बचाव कैसे हो, इस सम्बन्ध मे विचार करने के लिए उस राज्य मे एक बड़ी सभा बुलायी गयी। सभा मे इजीनियर, बढई, चमार, लोहार, वकील, पुरोहित आदि सभी उपस्थित थे। इजीनियर ने कहा, "शहर के चारो ओर एक बहुत बडी खाई खुदवाइए।" बढई बोला, "काठ की एक दीवाल खडी कर दी जाय।" चमार बोला, "चमडे के समान मजबूत और कोई चीज नही है, चमडे की ही दीवाल खडी की जाय।" लोहार बोला, "इस सबकी कोई आवश्यकता नही है, लोहे की दीवाल

समझकर जो कुछ मैंने किया है उसके लिए अब मैं दुःखित हूँ। इन सब बातों में कोई सार नहीं। मैंने क्रोध के कारण ऐसा नहीं किया है और जो मैंने किया है उसके लिए मैं दुःखित नहीं हूँ। आज भी यदि उस प्रकार का कोई अप्रिय कार्य करना कर्तव्य मालूम होगा तो अवश्य निःसंकोच वैसा करूँगा।

ढोंगी संन्यासियों के विषय में उनका मत पहले कुछ कह चुका हूँ। किसी दूसरे दिन इस सम्बन्ध में प्रसंग उठने पर उन्होंने कहा, 'हाँ अवश्य बहुत से बदमाश वारण्ट के डर से अथवा घोर दुष्कर्म करके छिपने के लिए संन्यासी के वेष में घूमते फिरते हैं, किन्तु तुम लोगों का भी कुछ दोष है। तुम लोग सोचते हो संन्यासी होते ही उसे ईश्वर के समान त्रिगुणातीत हो जाना चाहिए। उसे पेट भर अच्छी तरह खाने में दोष, बिछौने पर सोने में दोष, यहाँ तक कि उसे जूता और छाता तक व्यवहार में लाने की गुंजाइश नहीं। क्यों? वह भी तो मनुष्य है। तुम लोगों के मत में जब तक कोई पूर्ण परमहंस न हो जाय तब तक उसे गेरुआ वस्त्र पहनने का अधिकार नहीं। पर यह भूल है। एक समय एक संन्यासी के साथ मेरा वार्तालाप हुआ। अच्छी पोशाक पर उनकी खूब रुचि थी। तुम लोग उन्हें देखकर अवश्य ही घोर विलासी समझते। किन्तु वे सचमुच यथार्थ संन्यासी थे।

स्वामी जी कहा करते थे, "देश, काल और पात्र के भेद से मानसिक भावों और अनुभवों में काफी तारतम्य हुआ करता है। धर्म के सम्बन्ध में भी ठीक वैसा ही है। प्रत्येक मनुष्य की भी एक न एक विषय में अधिक रुचि पायी जाती है। जगत् में सभी अपने को अधिक बुद्धिमान समझते हैं। ठीक है, यहाँ तक कोई विशेष हानि नहीं। किन्तु जब मनुष्य सोचने लगता है कि केवल मैं ही समझता हूँ, दूसरा कोई नहीं, तभी सारे बखेड़े उपस्थित हो जाते हैं। सभी चाहते हैं कि दूसरे सब लोग भी उन्हीं के समान प्रत्येक वस्तु को देखें और समझें। प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि उसने जिस बात को सत्य समझा है या जिसे जाना है, उसे छोड़कर और कोई सत्य हो ही नहीं सकता। सांसारिक विषय के क्षेत्र में हो अथवा धर्म के क्षेत्र में इस प्रकार के भाव को मन में किसी तरह न आने देना चाहिए।

'जगत् के किसी भी विषय में सब पर एक ही नियम लागू नहीं हो सकता। देश, काल और पात्र के भेद से नीति एवं सौन्दर्य-ज्ञान भी विभिन्न देखा जाता है। तिब्बत की स्त्रियों में बहु-पति की प्रथा प्रचलित है। हिमालय भ्रमणकाल में मेरी इस प्रकार के एक तिब्बती परिवार से भेंट हुई थी। इस परिवार में छः पुरुष थे, उन छः पुरुषों की एक ही स्त्री थी। अधिक परिचय हो जाने के बाद मैंने एक दिन उनकी इस कुप्रथा के बारे में कुछ कहा, इस पर वे कुछ खीझकर बोले, 'तुम साधु-संन्यासी होकर लोगों को स्वार्थपरता सिखाना चाहते हो? यह मेरी ही उपभोग्य

अपनी माँ को खाना नही देता, वह दूसरे की माँ का क्या पालन करेगा ?" स्वामी जी यह स्वीकार करते थे कि हमारे प्रचलित धर्म मे, आचार-व्यवहार मे, सामाजिक प्रथा मे अनेक दोष हैं। वे कहते थे, "उन सभी का सशोधन करने की चेष्टा करना हम लोगो का मुख्य कर्तव्य है, किन्तु इसके लिए सवाद-पत्रो मे अग्रेजो के समीप उन दोषो को घोषित करने की क्या आवश्यकता है ? घर की गलतियो को जो बाहर दिखलाता है, उसके समान गधा और कौन है ? गन्दे कपडे को लोगो की आँखो के सामने नही रखना चाहिए।"

ईसाई मिशनरियो के बारे मे एक दिन चर्चा हुई। बातचीत के सिलसिले मे मैंने कहा कि उन लोगो ने हमारे देश का कितना उपकार किया है और कर रहे हैं। सुनकर वे बोले, "किन्तु अपकार भी तो कोई कम नही किया। देशवासियो के मन की श्रद्धा को बिल्कुल नष्ट कर देने का अद्भुत प्रबन्ध उन्होने कर छोडा है। श्रद्धा के साथ साथ मनुष्यत्व का भी नाश हो जाता है। इस बात को क्या कोई समझता है ? हमारे देव-देवियो और हमारे धर्म की निन्दा किये बिना वे अपने धर्म की श्रेष्ठता क्यो नही दिखा पाते ? और एक बात है जो जिस धर्म-मत का प्रचार करना चाहते हैं, उन्हे उसमे पूर्ण विश्वास होना चाहिए और तद-नुरूप कार्य करना चाहिए। अधिकाश मिशनरी कहते कुछ हैं और करते कुछ। मुझे कपट से बडी चिढ है।"

एक दिन उन्होंने धर्म और योग के सम्बन्ध मे अत्यन्त सुन्दर ढग से बहुत सी बातें कही। उनका मर्म जहाँ तक स्मरण है, उद्धृत कर रहा हूँ

"समस्त प्राणी सतत सुखी होने की चेष्टा मे रत रहते हैं, किन्तु बहुत ही थोडे लोग सुखी हो पाते हैं। काम-धाम भी सभी सतत करते रहते है, किन्तु उसका ईप्सित फल पाना प्राय देखा नही जाता। इस प्रकार विपरीत फल उप-स्थित होने का कारण क्या है, वह भी समझने की कोई चेष्टा नही करता। इसी-लिए मनुष्य दु ख पाता है। धर्म के सम्बन्ध मे कैसा भी विश्वास क्यो न हो, यदि कोई उस विश्वास के बल से अपने को यथार्थ सुखी अनुभव करता है, तो ऐसी स्थिति मे उसके उस मत को परिवर्तित करने की चेष्टा करना किसीके लिए भी उचित नही है, और ऐसा करने से कोई अच्छा फल भी नही होगा। पर हाँ, मुँह से कोई कुछ भी क्यो न कहे, जब देखो कि किसीका केवल धर्म सम्बन्धी कथा-वार्ता सुनने मे ही आग्रह है, पर उसके आचरण मे नही, तो जानना कि उसे किसी भी विषय मे दृढ विश्वास नही है।

"धर्म का मूल उद्देश्य है—मनुष्य को सुखी करना। किन्तु अगले जन्म मे सुखी होने के लिए इस जन्म मे दु ख-भोग करना कोई बुद्धिमानी का काम नही

सबसे अच्छी होगी उसे भेदकर चींटी या गोला नहीं आ सकता। वकील बोले, "कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है हमारा राज्य लेने का शत्रु को कोई अधिकार नहीं है—यही एक बात शत्रु को तर्क-युक्ति द्वारा समझा दी जाय। पुरोहित बोले 'तुम लोग तो पागल जैसे बकते हो। होम-याग करो स्वस्त्ययन करो तुलसी दो शत्रु कुछ भी नहीं कर सकता।" इस प्रकार उन्होंने राज्य बचाने का कोई उपाय निश्चित करने के बदले अपने अपने मत का पक्ष लेकर घोर तर्क-वितर्क आरम्भ कर दिया। यही है मनुष्य का स्वभाव।

यह कहानी सुनकर मुझे भी मानव मन के एकतरफ़े झुकाव के सम्बन्ध में एक कथा याद आ गयी। स्वामी जी से मैंने कहा 'स्वामी जी मुझे बचपन में पागलों के साथ बातचीत करना बड़ा अच्छा लगता था। एक दिन मैंने एक पागल देखा—खासा बुद्धिमान थोड़ी-बहुत अंग्रेजी भी जानता था वह केवल पानी ही चाहता था। उसके पास एक फूटा लोटा था। पानी की कोई नयी जगह देखते ही चाहे नाला हो हौज हो बस वहीं का पानी पीने लगता था। मैंने उससे इतना पानी पीने का कारण पूछा तो वह बोला 'Nothing like water Sir! (पानी जैसी दूसरी कोई चीज ही नहीं महाशय!) मैंने उसे एक अच्छा लोटा देने की इच्छा प्रकट की पर वह किसी प्रकार राजी नहीं हुआ। कारण पूछने पर बोला 'यह लोटा फूटा हुआ है, इसीलिए इतने दिनों तक मेरे पास टिका हुआ है। अच्छा रहता तो कब का चोरी चला गया होता। "

स्वामी जी यह कथा सुनकर बोले "वह तो बड़ा मजे का पागल दिखता है! ऐसे लोगों को सनकी कहते हैं। हम सभी लोगों में इस प्रकार का कोई आग्रह या सनकीपन हुआ करता है। हम लोगों में उसे दबा रखने की क्षमता है। पागल में वह नहीं है। हम लोगों में और पागलों में भेद केवल इतना ही है। रोग शोक अहंकार, काम क्रोध ईर्ष्या या अन्य कोई अत्याचार अथवा अनाचार से दुर्बल होकर, मनुष्य के अपने इस संयम को खो बैठने से ही सारी गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है। मन के आवेग को वह फिर सँभाल नहीं पाता। हम लोग तब कहते हैं, 'यह पागल हो गया है। बस इतना ही।

स्वामी जी का स्वदेश के प्रति अत्यन्त अनुराग था यह बात पहले ही बता चुका हूँ। एक दिन इस सम्बन्ध में बातचीत के प्रसंग में उनसे कहा गया कि संसारी लोगों का अपने अपने देश के प्रति अनुराग रखना नित्य कर्तव्य है, परन्तु संन्यासियों को अपने देश की माया छोड़कर, सभी देशों पर समदृष्टि रखकर, सभी देशों की कल्याण-चिन्ता हृदय में रखना अच्छा है। इसके उत्तर में स्वामी जी ने जो ज्वलन्त बातें कहीं उनको जीवन में कभी नहीं भूल सकता। वे बोले "जो

हुए कहते हैं—'काम करो, किन्तु फल मुझे अर्पण करो, अर्थात् मेरे लिए ही काम करो।'"

किसी विषय का इतिहास कहाँ तक ठीक ठीक लिखा जा सकता है, इस विषय मे लेखक को बहुत सन्देह है। उसके अनेक कारण है। गवर्नर जनरल साहब के किसी शहर मे पदार्पण से लेकर उस शहर से जाने तक की घटना अपनी आँखो से देखने और बाद मे उसीका विवरण प्रसिद्ध प्रसिद्ध सवाद-पत्रो मे पढने की सुविधा हमारे सदृश लोगो को अधिकतर होती है। आदि से अन्त तक हम लोगो की देखी हुई घटनाओ के साथ इन सभी विवरणो की इतनी विभिन्नता देखी जाती है कि विस्मित हो जाना पडता है! चार दिन पहले जो घटना हुई है, उसीको लिपिबद्ध करना जब इतना कठिन है, तो चार सौ, चार हजार अथवा चार लाख वर्ष पहले जो घटना हुई है, उसका इतिहास कहाँ तक ठीक ठीक लिपिबद्ध हुआ है, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

और एक बात है, ईसाई मिशनरियो मे से बहुत से कहा करते है—'उनकी बाइबिल की प्रत्येक घटना जिस वर्ष, जिस महीने, जिस दिन, जिस घटे और जिस मिनट घटित हुई है, वह बिल्कुल सामने घडी रखकर लिपिबद्ध की गयी है।' किंतु एक ओर conflict between religion and science (धर्म और विज्ञान मे द्वन्द्व) आदि पुस्तको मे बाइबिल की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उनके ही देश के आधुनिक पण्डितो का विचार पढकर बाइबिल की ऐतिहासिकता जिस प्रकार अच्छी तरह समझी जा सकती है, उसी प्रकार दूसरी ओर मिशनरियो द्वारा अनूदित हिन्दू धर्मशास्त्रो का अपूर्व विवरण पढकर उनका लिखित इतिहास भी कहाँ तक सत्य है, इसे समझने मे कुछ अवशिष्ट नही रहता। यह सब देख-सुनकर मानव जाति के सत्यानुराग एव इतिहास मे लिपिबद्ध घटनाओं के ऊपर श्रद्धा प्राय बिल्कुल उड सी जाती है।

गीता, बाइबिल, कुरान, पुराण प्रभृति प्राचीन ग्रन्थो मे निबद्ध घटनाओ की वास्तविक ऐतिहासिकता के सम्बन्ध मे इसीलिए पहले मुझे तनिक भी विश्वास नही होता था। एक दिन स्वामी जी से मैंने पूछा कि कुरुक्षेत्र मे युद्ध से थोडी देर पहले अर्जुन के प्रति भगवान् श्री कृष्ण का जो धर्मोपदेश भगवद्गीता मे लिपिबद्ध है, वह यथार्थ ऐतिहासिक घटना है या नही? उत्तर मे उन्होने जो कहा, वह बडा ही सुन्दर है। वे बोले, "गीता एक अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। प्राचीन काल मे इतिहास लिखने अथवा पुस्तक आदि छापने की आजकल के समान इतनी धूम-धाम नही थी, इसलिए तुम्हारे सदृश लोगो के सामने भगवद्गीता की ऐतिहासिकता प्रमाणित करना कठिन है। किन्तु गीता मे उक्त घटना घटी थी

है। इस जन्म में ही इसी मुहूर्त से सुखी होना होगा। जिस धर्म के द्वारा यह सम्पन्न होगा वही मनुष्य के लिए उपयुक्त धर्म है। इन्द्रिय-भोगजनित सुख क्षणिक है और उसके साथ अवश्यम्भावी दुःख भी अनिवार्य है। शिशु, अज्ञानी और पाशविक स्वभाववाले मनुष्य ही इस क्षणस्थायी दुःखमिश्रित सुख को वास्तविक सुख समझते हैं। यदि इस सुख को भी कोई जीवन का एकमेव उद्देश्य बनाकर चिरकाल तक सम्पूर्ण रूप से निश्चिन्त और सुखी रह सके, तो वह भी कुछ बुरा नहीं है। किन्तु आज तक तो इस प्रकार का मनुष्य देखा नहीं गया। साधारणतः देखा यही जाता है कि जो इन्द्रिय चरितार्थता को ही सुख समझते हैं, वे धनवान एवं विलासी लोगों को अपने से अधिक सुखी समझकर उनसे द्वेष करने लगते हैं और बहुत व्यय से प्राप्त होनेवाले उनके उच्च श्रेणी के इन्द्रिय-भोग पदार्थों को देखकर उन्हें पाने के लिए लालायित होकर दुःखी हो जाते हैं। सम्राट् सिकन्दर समस्त पृथ्वी को जीतकर यही सोचकर दुःखी हुए थे कि अब पृथ्वी में जीतने को और कोई देश नहीं रह गया। इसीलिए बुद्धिमान मनीषियों ने बहुत देख-सुनकर, सोच-विचारकर अन्त में सिद्धान्त स्थिर किया है कि किसी एक धर्म में यदि पूर्ण विश्वास हो तभी मनुष्य निश्चिन्त और यथार्थ सुखी हो सकता है।

"विद्या बुद्धि आदि सभी विषयों में प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव पृथक् पृथक् देखा जाता है। इसी कारण उनके उपयुक्त धर्म का भी भिन्न भिन्न होना आवश्यक है अन्यथा वह किसी भी तरह उनके लिए सन्तोषप्रद न होगा वे किसी भी तरह उसका अनुष्ठान करके यथार्थ सुखी नहीं हो सकेंगे। अपने अपने स्वभाव के अनुकूल धर्म-मत को स्वयं ही देख-भालकर, सोच-विचारकर चुन लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं। धर्मग्रन्थ का पाठ, गुरु का उपदेश साधु-दर्शन सत्पुरुषों का संग आदि उस इस मार्ग में केवल सहायता मात्र देते हैं।

कर्म के सम्बन्ध में भी यह जान लेना आवश्यक है कि किसी न किसी प्रकार का कर्म किये बिना कोई भी रह नहीं सकता और जगत् में केवल अच्छा या केवल बुरा इस प्रकार का कोई कर्म नहीं है। सत्कर्म करने में कुछ न कुछ बुरा कर्म भी करना ही पड़ता है। और इसीलिए उस कर्म के द्वारा जैसे सुख होगा वैसे ही साथ ही साथ कुछ न कुछ दुःख एवं अभाव का बोध भी होगा—यह अवश्यम्भावी है। अतएव यदि उस थोड़े से दुःख को भी ग्रहण करने की इच्छा न हो तो फिर विषय-भोगजनित ऊपरी सुख की आशा भी छोड़ देनी होगी अर्थात् स्वार्थ-सुख का अन्वेषण करना छोड़कर कर्तव्य-बुद्धि से सभी कार्य करते रहें। इसीका नाम है निष्काम कर्म। भगवान् गीता में अर्जुन को उसीका उपदेश देते

हुए कहते हैं—'काम करो, किन्तु फल मुझे अर्पण करो, अर्थात् मेरे लिए ही काम करो।'"

किसी विषय का इतिहास कहाँ तक ठीक ठीक लिखा जा सकता है, इस विषय मे लेखक को बहुत सन्देह है। उसके अनेक कारण है। गवर्नर जनरल साहब के किसी शहर मे पदार्पण से लेकर उस शहर मे जाने तक की घटना अपनी आँखो से देखने और बाद मे उसीका विवरण प्रसिद्ध प्रसिद्ध सवाद-पत्रो मे पढने की सुविधा हमारे सदृश लोगो को अधिकतर होती है। आदि से अन्त तक हम लोगो की देखी हुई घटनाओ के साथ इन सभी विवरणो की इतनी विभिन्नता देखी जाती है कि विस्मित हो जाना पडता है। चार दिन पहले जो घटना हुई है, उसीको लिपिबद्ध करना जब इतना कठिन है, तो चार सौ, चार हज़ार अथवा चार लाख वर्ष पहले जो घटना हुई है, उसका इतिहास कहाँ तक ठीक ठीक लिपिबद्ध हुआ है, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

और एक बात है, ईसाई मिशनरियो मे से बहुत से कहा करते हैं—'उनकी बाइबिल की प्रत्येक घटना जिस वर्ष, जिस महीने, जिस दिन, जिस घटे और जिस मिनट घटित हुई है, वह बिल्कुल सामने घडी रखकर लिपिबद्ध की गयी है।' किंतु एक ओर conflict between religion and science (धर्म और विज्ञान मे द्वन्द्व) आदि पुस्तको मे बाइबिल की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उनके ही देश के आधुनिक पण्डितो का विचार पढकर बाइबिल की ऐतिहासिकता जिस प्रकार अच्छी तरह समझी जा सकती है, उसी प्रकार दूसरी ओर मिशनरियो द्वारा अनूदित हिन्दू धर्मशास्त्रो का अपूर्व विवरण पढकर उनका लिखित इतिहास भी कहाँ तक सत्य है, इसे समझने मे कुछ अवशिष्ट नही रहता। यह सब देख-सुनकर मानव जाति के सत्यानुराग एव इतिहास मे लिपिबद्ध घटनाओ के ऊपर श्रद्धा प्राय बिल्कुल उड सी जाती है।

गीता, बाइबिल, कुरान, पुराण प्रभृति प्राचीन ग्रन्थो मे निबद्ध घटनाओ की वास्तविक ऐतिहासिकता के सम्बन्ध मे इसीलिए पहले मुझे तनिक भी विश्वास नही होता था। एक दिन स्वामी जी से मैंने पूछा कि कुरुक्षेत्र मे युद्ध से थोडी देर पहले अर्जुन के प्रति भगवान् श्री कृष्ण का जो धर्मोपदेश भगवद्गीता मे लिपिबद्ध है, वह यथार्थ ऐतिहासिक घटना है या नही? उत्तर मे उन्होंने जो कहा, वह बडा ही सुन्दर है। वे बोले, "गीता एक अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। प्राचीन काल मे इतिहास लिखने अथवा पुस्तक आदि छापने की आजकल के समान इतनी धूम-धाम नही थी, इसलिए तुम्हारे सदृश लोगो के सामने भगवद्गीता की ऐतिहासिकता प्रमाणित करना कठिन है। किन्तु गीता मे उक्त घटना घटी थी

या नहीं इसके लिए तुम लोग क्यों माथापच्ची करते हो इसका कोई कारण मुझे नहीं मिलता। यदि कोई अकाट्य प्रमाण से तुम्हें यह समझा सके कि भगवान् श्री कृष्ण ने सारथी होकर अर्जुन को गीता का उपदेश दिया था क्या तब तुम लोग गीता में वर्णित बातों पर विश्वास करोगे? जब अपने सामने साक्षात् भगवान् के मूर्तिमान होकर आने पर भी तुम लोग उनकी परीक्षा करने के लिए दौड़ते हो और उनका ईश्वरत्व प्रमाणित करने के लिए कहते हो तब गीता ऐतिहासिक है या नहीं इस व्यर्थ की समस्या को लेकर क्यों परेशान होते हो? यदि हो सके तो गीता के उपदेशों को जितना बने ग्रहण करो और उसे जीवन में परिणत कर कृतार्थ हो जाओ। श्री रामकृष्ण देव कहते थे—'आम खाओ पेड़ के पत्ते गिनने से क्या होगा!' मेरी राय में धर्मशास्त्र में लिपिबद्ध घटना के ऊपर विश्वास या अविश्वास करना वैयक्तिक अनुभव-मेल का विषय है—अर्थात् मनुष्य किसी एक विशेष अवस्था में पड़कर, उससे उद्धार पाने की इच्छा से रास्ता ढूंढ़ता और धर्मशास्त्र में लिपिबद्ध किसी घटना के साथ उसकी अवस्था का ठीक ठीक मेल होने पर वह उस घटना को ऐतिहासिक कहकर उस पर निश्चित विश्वास करता है तथा धर्मशास्त्रोक्त उस अवस्था के उपयोगी उपायों को भी साग्रह ग्रहण करता है।

स्वामी जी ने एक दिन शारीरिक एवं मानसिक शक्ति को अभीष्ट कार्य के लिए सरक्षित रखना प्रत्येक के लिए कहाँ तक कर्तव्य है इसे बड़े सुन्दर भाव से समझाते हुए कहा था—"अनधिकार चर्चा अथवा वृथा कार्य में जो शक्ति क्षय करता है वह अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए पर्याप्त शक्ति कहाँ से प्राप्त करेगा? The sum total of the energy which can be exhibited by an ego is a constant quantity—अर्थात् 'प्रत्येक जीवात्मा के भीतर विविध भाव प्रकाशित करने की जो शक्ति रहती है वह एक नियत मात्रा में होती है अतएव उस शक्ति का अधिकांश एक भाव में प्रकाशित होने पर उतना अंश और किसी दूसरे भाव में प्रकाशित नहीं हो सकता। धर्म के गम्भीर सत्य को प्रत्यक्ष करने के लिए बहुत शक्ति की आवश्यकता होती है इसीलिए धर्म-पथ के पथिकों के प्रति विषय-भोग आदि में शक्ति क्षय न कर ब्रह्मचर्य के द्वारा शक्ति संरक्षण का उपदेश सभी जातियों के धर्मग्रन्थों में पाया जाता है।

स्वामी जी बंगाल के ग्रामों तथा वहाँ के लोगों के अनेक व्यवहारों से सन्तुष्ट नहीं थे। ग्राम के एक ही तालाब में स्नान शौच आदि करना एवं उसीका पानी पीना यह प्रथा उन्हें बिल्कुल पसन्द न थी। वे प्रायः कहा करते थे 'जिनका मस्तिष्क मल-मूत्र से भरा है, उन लोगों से आशा-भरोसा कहाँ!' और यह भी

ग्रामीण लोगो का अनधिकार चर्चा करना है, वह तो बडी खराब चीज है। शहर के लोग अनधिकार चर्चा न करते हो, ऐसी बात नही, परन्तु उन्हे समय कम मिलता है, क्योकि शहर का खर्च अधिक है, इसलिए उन्हे काम भी बहुत करना पडता है। इतना परिश्रम करने के बाद, खाली बैठकर हुक्का पीने और परनिन्दा करने का समय नही मिलता। अन्यथा ये शहरी भूत इस विषय मे तो ग्रामीण भूतो की गर्दन पर चढकर नाचते।"

स्वामी जी की प्रत्येक दिन की कथा-वार्ता यदि सगृहीत होती, तो प्रत्येक दिन की बातें एक एक मोटी पुस्तक होती। एक ही प्रश्न का बार बार एक ही भाव से उत्तर देना एव एक ही दृष्टान्त की सहायता से उसे समझाना उनकी रीति नही थी। एक ही प्रश्न का उत्तर जितनी बार देते, उतनी बार नये भाव और नये दृष्टान्त के द्वारा इस प्रकार देते कि वह सुननेवालो को एकदम नया मालूम होता था, और उनकी वाणी सुनते सुनते थकावट आना तो दूर की बात रही, बल्कि और अधिक सुनने का अनुराग उत्तरोत्तर बढता जाता था। व्याख्यान देने की भी उनकी यही शैली थी। पहले से सोचकर व्याख्यान की रूपरेखा को लिखकर वे कभी भी व्याख्यान नही देते थे। व्याख्यान-प्रारम्भ से कुछ देर पहले तक वे हँसी-मजाक, साधारण भाव से बातचीत एव व्याख्यान से बिलकुल सम्बन्ध न रखनेवाले विषयो को लेकर भी चर्चा करते रहते थे। व्याख्यान मे क्या कहेगे, यह उन्हे स्वय नही मालूम रहता था। हम लोग जो कुछ दिन उनके ससर्श मे रहकर धन्य हुए हैं, उन्ही कुछ दिनो की कथा-वार्ता का विवरण जहाँ तक और भी सम्भव है, क्रमश लिपिबद्ध कर रहा हूँ।

२

पहले ही कह चुका हूँ कि पाश्चात्य विज्ञान की सहायता से हिन्दू धर्म को समझाने एव विज्ञान और धर्म का सामजस्य प्रदर्शित करने मे स्वामी जी के समान मैंने और कोई नही देखा। आज उसी प्रसग मे दो-चार बातें लिखने की इच्छा है। किन्तु यह जान लेना होगा, मुझे जहाँ तक स्मरण है, उतना ही लिख रहा हूँ। अतएव इसमे यदि कोई भूल रहे, तो वह मेरे समझने की भूल है, स्वामी जी की व्याख्या की नही।

स्वामी जी कहते थे—"चेतन-अचेतन, स्थूल-सूक्ष्म—सभी एकत्व की ओर दम साधकर दौड रहे हैं। पहले मनुष्य ने जिन भिन्न भिन्न पदार्थों को देखा, उनमे से प्रत्येक को भिन्न भिन्न समझकर उनको भिन्न भिन्न नाम दिये। बाद मे

विचार करके मे समस्त पदार्थ ६३ मूल द्रव्यों से उत्पन्न हुए हैं, ऐसा निश्चित किया।

'इन मूल द्रव्यों में अनेक मिश्रद्रव्य हैं ऐसा इस समय बहुतों को सन्देह हो रहा है। और जब रसायनशास्त्र अन्तिम मीमांसा पर पहुँचेगा उस समय सभी पदार्थ एक ही पदार्थ के अवस्था-भेद मात्र समझे जायेंगे। पहले ताप आलोक और विद्युत् को सभी विभिन्न समझते थे। अब प्रमाणित हो गया है ये सब एक हैं, एक ही शक्ति के अवस्थान्तर मात्र हैं। लोगों ने पहले समस्त पदार्थों को चेतन अचेतन और उद्भिद इन तीन श्रेणियों में विभक्त किया था। उसके बाद देखा कि उद्भिद में भी दूसरे सभी चेतन प्राणियों के समान प्राण हैं, केवल गमन-शक्ति नहीं है इतना ही। तब बाकी रही दो श्रेणियाँ—चेतन और अचेतन। फिर कुछ दिनों बाद देखा जायगा हम लोग जिन्हें अचेतन कहते हैं उनमें भी थोड़ा-बहुत चैतन्य है।[1]

"पृथ्वी में जो ऊँची-नीची जमीन देखी जाती है वह भी समतल होकर एक रूप में परिणत होने की सतत चेष्टा कर रही है। वर्षा के जल से पर्वत आदि ऊँची जमीन धुल जाने पर उस मिट्टी से गड्ढे भर रहे हैं। एक उष्ण पदार्थ को किसी स्थान में रखने पर वह चारों ओर के द्रव्यों के साथ समान उष्ण भाव धारण करने की चेष्टा करता है। उष्णता-शक्ति इस प्रकार संचालन संवाहन विकिरण आदि उपायों से सर्वदा समभाव या एकत्व की ओर ही अग्रसर हो रही है।

'वृक्ष के फल फूल पत्ते और उसकी जड़ हम लोगों द्वारा भिन्न भिन्न देखे जाने पर भी वे सब वस्तुतः एक ही हैं विज्ञान इसे प्रमाणित कर चुका है। त्रिकोण काँच के भीतर से देखने पर सफेद रंग इन्द्रधनुष के सात रंग के समान पृथक् पृथक् विभक्त दिखायी पड़ता है। खाली आँखों से देखने पर एक ही रंग और लाल या नीले चश्मे से देखने पर सभी कुछ लाल या नीला दिखायी देता है।

'इसी प्रकार, जो सत्य है, वह तो एक ही है। माया के द्वारा हम लोग उसे पृथक् पृथक् देखते हैं बस इतना ही। यद्यपि देश और काल से अतीत जो अखण्ड अद्वैत सत्य है उसीके कारण मनुष्य को सब प्रकार के भिन्न भिन्न पदार्थों का ज्ञान होता है फिर भी वह उस सत्य को नहीं पकड़ पाता उसे नहीं देख सकता।

---

१ स्वामी जी ने जिस समय पूर्वोक्त विषयों का प्रतिपादन किया था उस समय विख्यात वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु द्वारा प्रचारित तड़ित्प्रवाह से जड़ पदार्थों का चैतन्यस्वरूप अपूर्व तत्त्व प्रकाशित नहीं हुआ था। स

इन सब बातो को सुनकर मैंने कहा, "स्वामी जी, हम लोग आँखो से जो कुछ देखते हैं, वही क्या सब समय सत्य है? दो समानान्तर रेल की पटरियो को देखने पर प्रतीत होता है, मानो वे अन्त मे एक जगह मिल गयी हैं। उसीका नाम है, 'लुप्त विन्दु'। मृगतृष्णा, रज्जु मे सर्प-भ्रम आदि (optical illusion) (दृष्टि-विभ्रम) सर्वदा ही होता रहता है। Calcspar नामक पत्थर के नीचे एक रेखा double refraction (द्वि-आवर्तन) से दो दिखायी देती है। एक पेन्सिल को आधे गिलास पानी मे डुबाकर रखने पर पेन्सिल का जलमग्न भाग ऊपरी भाग की अपेक्षा मोटा दिखायी देता है। फिर सभी प्राणियो के नेत्र भिन्न भिन्न क्षमतायुक्त एक एक लेन्स मात्र हैं। हम लोग किसी वस्तु को जितनी बडी देखते हैं, घोडा आदि अनेक प्राणी उसको तदपेक्षा अधिक बडी देखते हैं, क्योकि उनके नेत्रो का लेन्स भिन्न शक्तिवाला है। अतएव हम जिसे अपनी आँखो से देखते है, वही सत्य है, इसका भी तो कोई प्रमाण नही। जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा है—मनुष्य सत्य सत्य करके ही पागल है, किन्तु निरपेक्ष सत्य (absolute truth) को समझने की क्षमता उसमे नही है, क्योकि, घटना-क्रम से प्रकृत सत्य के आँखो के सामने आने पर भी यही वास्तविक सत्य है, यह मनुष्य कैसे समझेगा? हम लोगो का समस्त ज्ञान सापेक्ष है, निरपेक्ष को समझने की क्षमता हममे नही है। अतएव निरपेक्ष (निर्गुण) भगवान् या जगत्कारण को मनुष्य कभी भी नही समझ सकता।"

स्वामी जी ने कहा, "हो सकता है, तुम्हे या और सब लोगो को निरपेक्ष ज्ञान न हो, पर इसीलिए किसीको भी वह ज्ञान नही है, यह कैसे कह सकते हो? ज्ञान और अज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान नामक दो प्रकार के भाव या अवस्थाएँ है। इस समय तुम जिसे ज्ञान कहते हो, वह तो वस्तुत मिथ्या ज्ञान हैं। सत्य ज्ञान के उदित होने पर वह अन्तर्हित हो जाता है, उस समय सब एक दिखायी देता है। द्वैतज्ञान अज्ञानजनित है।"

मैंने कहा, "स्वामी जी, यह तो बडी भयानक बात है! यदि ज्ञान और अज्ञान, ये दो ही वस्तुएँ है, तो ऐसा होने पर आप जिसे सत्य ज्ञान समझते हैं, वह भी तो मिथ्या ज्ञान हो सकता है, और हम लोगो के जिस द्वैत ज्ञान को आप मिथ्या ज्ञान कहते हैं, वह भी तो सत्य ज्ञान हो सकता है?"

उन्होंने कहा, "ठीक कहते हो, इसीलिए तो वेद मे विश्वास करना चाहिए। हमारे पूर्वकालीन ऋषि-मुनिगण समस्त द्वैत ज्ञान को पारकर, इस अद्वैत सत्य का अनुभव कर जो कह गये हैं, उसीको वेद कहते हैं। स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओ मे से कौन सी सत्य है और कौन सी असत्य, इसे विचारने की क्षमता हम लोगो

में नहीं है। जब तक हम लोग इन दोनों अवस्थाओं को पारकर इनकी परीक्षा नहीं कर सकेंगे तब तक कैसे कह सकते हैं कि यह सत्य है और यह असत्य? केवल दो विभिन्न अवस्थाओं का अनुभव होता है इतना ही कहा जा सकता है। जब तुम एक अवस्था में रहते हो तो दूसरी अवस्था तुम्हें भूल मालूम पड़ती है। स्वप्न में हो सकता है कलकत्ते में तुमने क्रय-विक्रय किया पर दूसरे ही क्षण अपने को बिछौने पर लेटे हुए पाते हो। जब सत्य ज्ञान का उदय होगा तब एक से भिन्न और कुछ नहीं देखोगे उस समय यह समझ सकोगे कि पहले का द्वैत ज्ञान मिथ्या था। किन्तु यह सब बहुत दूर की बात है। हाथ में खड़िया लेकर अक्षरारम्भ करते ही यदि कोई रामायण महाभारत पढ़ने की इच्छा करे, तो यह कैसे होगा? धर्म अनुभव का विषय है बुद्धि के द्वारा समझने का नहीं। अनुभव के लिए प्रयत्न करना ही होगा तब उसका सत्यासत्य समझा जा सकेगा। यह बात तुम लोगों के पाश्चात्य विज्ञान रसायनशास्त्र भौतिकशास्त्र भूगर्भशास्त्र आदि से भी अनुमोदित है। दो अंश Hydrogen (उद्जन) और एक अंश Oxygen (ओषजन) लेकर 'पानी कहाँ' कहने से क्या कहीं पानी होगा? नहीं उनको एक बन्द स्थान में रखकर उनके भीतर electric current (विद्युत्प्रवाह) चलाकर उनका combination (संयोग मिश्रण नहीं) करने पर ही पानी दिखायी देगा और ज्ञात होगा कि उद्जन और ओषजन नामक गैस से पानी उत्पन्न हुआ है। अद्वैत ज्ञान की उपलब्धि के लिए भी ठीक उसी तरह धर्म में विश्वास चाहिए, आग्रह चाहिए, अध्यवसाय चाहिए और चाहिए प्राणपण से यत्न। तब कहीं अद्वैत ज्ञान होता है। एक महीने की आदत छोड़ना कितना कठिन होता है फिर दस साल की आदत की तो बात ही क्या! प्रत्येक व्यक्ति के सैकड़ों जन्मों का कर्मफल पीठ पर बँधा हुआ है। एक मुहूर्त भर श्मशान वैराग्य हुआ नहीं कि बस कहने लगे कहाँ मुझे तो सब एक दिखायी नहीं पड़ता?

मैंने कहा 'स्वामी जी आपकी यह बात सत्य होने पर तो Fatalism (अदृष्टवाद) आ जाता है। यदि बहुत जन्मों का कर्मफल एक जन्म में जाने का नहीं तो उसके लिए फिर प्रयत्न ही क्यों! जब सभी को मुक्ति मिलेगी तो मुझे भी मिलेगी।

वे बोले वैसा नहीं है। कर्म का फल तो अवश्य भोगना होगा किन्तु अनेक उपायों द्वारा ये सब कर्मफल बहुत थोड़े समय के भीतर समाप्त हो सकते हैं। मैजिक लैन्टर्न की पचास तस्वीरें दस मिनट के भीतर भी दिखायी जा सकती हैं और दिखाते दिखाते समस्त रात भी काटी जा सकती है। यह तो अपने आग्रह पर निर्भर है।

सृष्टि-रहस्य के सम्बन्ध मे भी स्वामी जी की व्याख्या अति सुन्दर है,—"सृष्ट वस्तु मात्र ही चेतन और अचेतन (सुविधा के लिए) इन दो भागो मे विभक्त है। मनुष्य सृष्ट वस्तु के चेतन-भाग का श्रेष्ठ प्राणीविशेष है। किसी किसी धर्म के मतानुसार ईश्वर ने अपने ही समान रूपवाली सर्वश्रेष्ठ मानव जाति का निर्माण किया है, कोई कहते हैं—मनुष्य पुच्छरहित वानरविशेष है, कोई कहते है—केवल मनुष्य मे ही विवेचना-शक्ति है, उसका कारण यह है कि मनुष्य के मस्तिष्क मे जल का अश अधिक है। जो भी हो, मनुष्य प्राणीविशेष है और सब प्राणी सृष्ट पदार्थ के अश मात्र है, इस विषय मे मतभेद नही है। अब एक ओर पाश्चात्य विद्वान् 'सृष्ट पदार्थ क्या है,' यह समझने के लिए सश्लेषण-विश्लेषणात्मक उपायो का अवलम्बन कर 'यह क्या,' 'वह क्या,' इस प्रकार अनुसन्धान करने लगे, और दूसरी ओर हमारे पूर्वज लोग भारत की गर्म हवा और उर्वरा भूमि मे, शरीर-रक्षा के लिए बिल्कुल थोडा समय देकर, कौपीन धारण कर, टिमटिमाते दिये के प्रकाश मे बैठकर, कमर बाँधकर विचार करने लगे—**कस्मिन् विज्ञाते सर्वमिद विज्ञात भवति**, अर्थात् 'ऐसा कौन सा पदार्थ है, जिसके जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है?' उन लोगो मे अनेक प्रकार के लोग थे। इसीलिए चार्वाक के, 'जो कुछ दिखता है, वही सत्य है', इस मत (ultra-materialistic theory) से लेकर शकराचार्य के अद्वैत मत तक सभी हमारे धर्म मे पाये जाते हैं। ये दोनो ही दल धीरे धीरे एक स्थान मे पहुँच रहे है और अब दोनो ने एक ही बात कहनी आरम्भ कर दी है। दोनो ही कहते है—इस ब्रह्माण्ड के सभी पदार्थ एक अनिर्वचनीय, अनादि, अनन्त वस्तु के प्रकाश मात्र हैं। देश एव काल भी वही हैं। काल अर्थात् युग, कल्प, वर्ष, मास, दिन और मुहूर्त आदि समयसूचक काल, जिसके अनुभव मे सूर्य की गति ही हमारी प्रधान सहायक है। ज़रा सोचकर तो देखो, वह काल क्या मालूम होता है? सूर्य अनादि नही है, ऐसा समय अवश्य था, जब सूर्य की सृष्टि नही हुई थी। और ऐसा समय भी आयेगा, जब यह सूर्य नही रहेगा, यह निश्चित है। अत अखण्ड समय एक अनिर्वचनीय भाव या वस्तु विशेष के अतिरिक्त भला और क्या है? देश या आकाश कहने पर हम लोग पृथ्वी अथवा सौर जगत् सम्बन्धी सीमाबद्ध स्थानविशेष समझते हैं, किन्तु वह तो समग्र सृष्टि का अश मात्र छोड और कुछ भी नही है। ऐसा भी स्थान हो सकता है, जहाँ पर कोई सृष्ट वस्तु नही है। अतएव अनन्त देश भी काल के समान एक अनिर्वचनीय भाव या वस्तुविशेष है। अब, सौर जगत् और सृष्ट पदार्थ कहाँ से और किस तरह आये? साधारणत हम लोग कर्ता के अभाव मे क्रिया नही देख पाते। अतएव समझते हैं कि इस सृष्टि का अवश्य कोई कर्ता है, किन्तु ऐसा

होने पर तो सृष्टिकर्ता का भी कोई सृष्टिकर्ता आवश्यक है। किन्तु वैसा हो नहीं सकता। अतएव आदि कारण सृष्टिकर्ता या ईश्वर भी अनादि अनिर्वचनीय अनन्त भाव या वस्तुविशेष है। पर अनन्त की अनेकता तो सम्भव नहीं है अतएव ये सब अनन्त वस्तुएँ एक ही हैं एवं एक ही विविध रूपों में प्रकाशित हैं।

एक समय मैंने पूछा था "स्वामी जी मन्त्र आदि में जो साधारणतया विश्वास प्रचलित है वह क्या सत्य है?

उन्होंने उत्तर दिया 'सत्य न होने का कोई कारण तो दिखता नहीं। तुमसे कोई यदि करुण स्वर एवं मधुर भाषा में कोई बात पूछे तो तुम सन्तुष्ट होते हो पर कठोर स्वर एवं तीखी भाषा में पूछे तो तुम्हें क्रोध आ जाता है। तब फिर भला प्रत्येक भूत के अधिष्ठाता देवता सुछन्दित उत्तम श्लोकों द्वारा क्यों न सन्तुष्ट होंगे?

इन सब बातों को सुनकर मैंने कहा 'स्वामी जी मेरी विद्या-बुद्धि की दौड़ को तो आप अच्छी तरह समझ सकते हैं। इस समय मेरा क्या कर्तव्य है, यह आप बतलाने की कृपा करें।

स्वामी जी ने कहा 'जिस प्रकार भी हो पहले मन को वश में लाने की चेष्टा करो बाद में सब आप ही हो जायगा। ध्यान रखो अद्वैत ज्ञान अत्यन्त कठिन है वही मानव-जीवन का चरम उद्देश्य या लक्ष्य है, किन्तु उस लक्ष्य तक पहुँचने के पहले अनेक चेष्टा और आयोजन की आवश्यकता होती है। साधु-संग और यथार्थ वैराग्य को छोड़ उसके अनुभव का और कोई साधन नहीं ।

स्वामी जी की अस्फुट स्मृति[1]

१

आज से सोलह वर्ष पहले की वात है। सन् १८९७ ईस्वी, फरवरी मास। स्वामी विवेकानन्द ने पाश्चात्य देशो को जीतकर अभी अभी भारत मे पदार्पण किया है। जिस क्षण से स्वामी जी ने शिकागो धर्म-महासभा मे हिन्दू धर्म की विजय-पताका फहरायी है, तव से उनके सम्वन्ध मे जो भी वात सवाद-पत्रो मे प्रकाशित होती है, वडे चाव से पढता हूँ। कॉलेज छोडे अभी दो-तीन वर्ष हुए हैं, किसी प्रकार का अर्थोपार्जन आदि नही कर रहा हूँ। इसलिए कभी मित्रो के घर जाकर, अथवा कभी घर के समीपवर्ती धर्मतला मुहल्ले मे 'इण्डियन मिरर' आफिस के वाहरी भाग मे वोर्ड पर चिपकी हुई 'इण्डियन मिरर' पत्रिका मे स्वामी जी से सम्वन्धित जो कोई सवाद या उनका व्याख्यान प्रकाशित होता है, उसे वडी उत्सुकता से पढा करता हूँ। इस प्रकार, स्वामी जी के भारत मे पदार्पण करने के समय से सिंहल या मद्रास मे जो कुछ उन्होंने कहा है, प्राय सभी पढ चुका हूँ। इसके सिवाय आलमवाजार मठ मे जाकर उनके गुरुभाइयो के पास एव मठ मे आने-जानेवाले मित्रो के पास उनके विषय मे वहुत सी वातें सुन चुका हूँ और सुनता हूं, तथा विभिन्न सम्प्रदायो के मुखपत्र, जैसे--वगवासी, अमृतवाजार, होप, थियोसॉफिस्ट प्रभृति, अपनी अपनी समझ के अनुसार—कोई व्यग से, कोई उपदेश देने के वहाने, तो कोई वडप्पन के ढग से—उनके वारे मे जो कुछ लिखता है, वह भी लगभग सब पढ चुका हूँ।

आज वे ही स्वामी विवेकानन्द सियालदह स्टेशन पर अपनी जन्मभूमि कलकत्ता नगरी में पदार्पण करेंगे। अब आज उनकी श्री मूर्ति के दर्शन से आँख-कान का विवाद समाप्त हो जायगा, इस हेतु वडे तडके ही उठकर सियालदह स्टेशन पर जा उपस्थित हुआ। इतने सवेरे से ही स्वामी जी की अभ्यर्थना के लिए बहुत से लोग एकत्र हो गये हैं। अनेक परिचित व्यक्तियो से भेंट हुई। स्वामी जी

---

१ बगला सन् १३२० के आषाढ़ मास के बगला मासिक-पत्र 'उद्बोधन' मे स्वामी शुद्धानन्द का यह लेख प्रकाशित हुआ था। स०

होने पर तो सृष्टिकर्ता का भी कोई सृष्टिकर्ता आवश्यक है। किन्तु वैसा हो नहीं सकता। अतएव आदि कारण सृष्टिकर्ता या ईश्वर भी अनादि, अनिर्वचनीय अनन्त भाव या वस्तुविशेष है। पर अनन्त की अनेकता तो सम्भव नहीं है अतएव ये सब अनन्त वस्तुएँ एक ही हैं एवं एक ही विविध रूपों में प्रकाशित हैं।

एक समय मैंने पूछा था 'स्वामी जी मन्त्र आदि में जो साधारणतया विश्वास प्रचलित है वह क्या सत्य है?

उन्होंने उत्तर दिया 'सत्य न होने का कोई कारण तो दिखता नहीं। तुमसे कोई यदि कस्व स्वर एवं मधुर भाषा में कोई बात पूछे तो तुम सन्तुष्ट होते हो पर कठोर स्वर एवं तीखी भाषा में पूछे तो तुम्हें क्रोध आ जाता है। तब फिर भला प्रत्येक भूत के अधिष्ठाता देवता सुललित उत्तम श्लोकों द्वारा क्यों न सन्तुष्ट होंगे?

इन सब बातों को सुनकर मैंने कहा 'स्वामी जी मेरी विद्या-बुद्धि की दौड़ को तो आप अच्छी तरह समझ सकते हैं। इस समय मेरा क्या कर्तव्य है यह आप बतलाने की कृपा करें।

स्वामी जी ने कहा "जिस प्रकार भी हो पहले मन को वश में लाने की चेष्टा करो बाद में सब आप ही हो जायगा। ध्यान रखो अद्वैत ज्ञान अत्यन्त कठिन है वही मानव-जीवन का चरम उद्देश्य या लक्ष्य है, किन्तु उस लक्ष्य तक पहुँचने के पहले अनेक चेष्टा और आयोजन की आवश्यकता होती है। साधु-संग और यथार्थ वैराग्य को छोड़ उसके अनुभव का और कोई साधन नहीं।

के इशारे से जनता को नियन्त्रित कर रहे हैं, और दूसरी गाडी मे गुडविन, हैरिसन (सिंहल से स्वामी जी के साथ आये हुए बौद्ध धर्मावलम्बी एक साहव), जी० जी०, किडी और आलासिंगा नामक तीन मद्रासी शिष्य एव स्वामी त्रिगुणातीतानन्द जी बैठे हुए हैं।

थोडी देर गाडी रुकने के वाद, वहुतो के अनुरोधवश स्वामी जी रिपन कॉलेज मे प्रवेश कर दो-तीन मिनट अग्रेजी मे थोडा वोले और लौटकर गाडी मे आकर बैठ गये। यहाँ से जुलूस आगे नही गया। गाडी वागवाज़ार मे पशुपति वावू के घर की ओर चली। मैं भी मन ही मन स्वामी जी को प्रणाम कर अपने घर की ओर लौटा।

२

भोजन करने के वाद मध्याह्न काल मे चाँपातला मुहल्ले मे खगेन (स्वामी विमलानन्द) के घर गया। वहाँ से खगेन और मैं उसके टाँगे मे बैठकर पशुपति बोस के घर की ओर चले। स्वामी जी ऊपर के कमरे मे विश्राम कर रहे थे, अधिक लोगो को नही जाने दिया जा रहा था। सौभाग्यवश हमारे परिचित, स्वामी जी के अनेक गुरुभाइयो से भेंट हो गयी। स्वामी शिवानन्द जी हम लोगो को स्वामी जी के पास ले गये और हम लोगो का परिचय देते हुए कहा, "ये सव आपके खूब admirers (प्रेमी) हैं।"

स्वामी जी और स्वामी योगानन्द पशुपति बाबू के घर की दूसरी मज़िल पर एक सुसज्जित बैठकखाने मे पास पास दो कुर्सियो पर बैठे थे। अन्य साधुगण उज्ज्वल गैरिक वस्त्र धारण किये हुए इधर-उधर घूम रहे थे। फर्श पर दरी बिछी हुई थी। हम लोग प्रणाम करके दरी पर बैठे। स्वामी जी उस समय स्वामी योगानन्द से बातचीत कर रहे थे। अमेरिका और यूरोप मे स्वामी जी ने क्या देखा, यह प्रसग चल रहा था। स्वामी जी कह रहे थे—

"देख योगेन, क्या देखा, बताऊँ? समस्त पृथ्वी मे एक महाशक्ति ही क्रीडा कर रही है। हमारे पूर्वजो ने उसको religion (धर्म) की ओर manifest (प्रकाशित) किया था, और आधुनिक पाश्चात्य देशीय लोग उसीको महा रजोगुणात्मक क्रिया के रूप मे manifest (प्रकाशित) कर रहे हैं। वस्तुत समग्र जगत् मे वही एक महाशक्ति भिन्न भिन्न रूप मे क्रीडा कर रही है।"

खगेन की ओर देखकर स्वामी जी ने कहा, "इस लडके को बहुत sickly (कमजोर) देखता हूँ।"

के सम्बन्ध में बातचीत होने लगी। देखा अंग्रेजी में मुद्रित दो पर्चे वितरित किये जा रहे हैं। पढ़कर मालूम हुआ कि इंग्लैण्ड और अमेरिकावासी उनके छात्रवृन्द ने उनके प्रस्थान के अवसर पर उनके गुणों का वर्णन करते हुए, उनके प्रति कृतज्ञता-सूचक जो दो अभिनन्दन-पत्र अर्पित किये थे वे ही ये हैं। धीरे धीरे स्वामी जी के दर्शनार्थी लोग झुण्ड के झुण्ड आने लगे। प्लेटफार्म लोगों से भर गया। सभी आपस में एक दूसरे से उत्कण्ठा के साथ पूछते हैं 'स्वामी जी के आने में और कितना विलम्ब है?' सुना गया वे एक 'स्पेशल ट्रेन' से आयेंगे आने में अब और देरी नहीं है। अरे, यह तो है,—गाड़ी का शब्द सुनायी दे रहा है! क्रमशः आवाज के साथ गाड़ी ने प्लेटफार्म के भीतर प्रवेश किया।

स्वामी जी जिस डिब्बे में थे वह जिस जगह आकर रुका सौभाग्य से मैं ठीक उसीके सामने खड़ा था। गाड़ी रुकते ही देखा स्वामी जी खड़े हाथ जोड़कर सबको नमस्कार कर रहे हैं। इस एक ही नमस्कार से स्वामी जी ने मेरे हृदय को आकृष्ट कर लिया। उस समय गाड़ी में बैठे हुए स्वामी जी की मूर्ति को मैंने साधारणतः देख लिया। उसके बाद स्वागत-समिति के श्रीयुत नरेन्द्रनाथ सेन आदि व्यक्तियों ने आकर स्वामी जी को गाड़ी से उतारा और कुछ दूर खड़ी एक गाड़ी में बिठाया। बहुत से लोग स्वामी जी को प्रणाम करने और उनकी चरण रेणु लेने के लिए अग्रसर हुए। उस जगह बड़ी भीड़ जमा हो गयी। इधर दर्शकों के हृदय से आप ही 'जय स्वामी विवेकानन्द जी की जय' 'जय श्री रामकृष्ण देव की जय' की आनन्द-ध्वनि निकलने लगी। मैं भी हृदय से उस आनन्द-ध्वनि में सह योग देकर जनता के साथ अग्रसर होने लगा। क्रमशः जब स्टेशन के बाहर निकले तो देखा बहुत से युवक स्वामी जी की गाड़ी के घोड़े खोलकर स्वयं ही गाड़ी खींचने के लिए अग्रसर हो रहे हैं। मैंने भी उन लोगों को सहयोग देना चाहा परन्तु भीड़ के कारण वैसा न कर सका। इसलिए उस चेष्टा को छोड़कर कुछ दूर से स्वामी जी की गाड़ी के साथ चलने लगा। स्टेशन पर स्वामी जी के स्वागतार्थ आये हुए एक हरिनाम-संकीर्तन-दल को देखा था। रास्ते में एक बैण्ड बजानेवाले दल को बैण्ड बजाते हुए स्वामी जी के साथ चलते देखा। रिपन कॉलेज तक का मार्ग अनेक प्रकार की पताकाओं एवं लता पत्र और पुष्पों से सुसज्जित था। गाड़ी आकर रिपन कॉलेज के सामने खड़ी हुई। इस बार स्वामी जी को देखने का अच्छा सुयोग मिला। देखा वे किसी परिचित व्यक्ति से कुछ कह रहे हैं। मुख तप्तकांचनवर्ण है मानो ज्योति फूटकर बाहर निकल रही है। मार्गजनित श्रम के कारण कुछ पसीना आ रहा है। दो गाड़ियाँ हैं—एक में स्वामी जी एवं श्रीमान और श्रीमती सेवियर बैठे हैं जिसमें खड़े होकर माननीय चारुचन्द्र मित्र हाथ

के इशारे से जनता को नियन्त्रित कर रहे है, और दूसरी गाडी मे गुडविन, हैरिसन (सिंहल से स्वामी जी के साथ आये हुए वौद्ध धर्मावलम्वी एक साहव), जी० जी०, किडी और आलासिगा नामक तीन मद्रासी शिष्य एव स्वामी त्रिगुणातीतानन्द जी वैठे हुए हैं।

थोडी देर गाडी रुकने के बाद, वहुतो के अनुरोधवश स्वामी जी रिपन कॉलेज मे प्रवेश कर दो-तीन मिनट अग्रेजी मे थोडा वोले और लौटकर गाडी मे आकर वैठ गये। यहाँ से जुलूस आगे नही गया। गाडी वागवाज़ार मे पशुपति वावू के घर की ओर चली। मैं भी मन ही मन स्वामी जी को प्रणाम कर अपने घर की ओर लौटा।

२

भोजन करने के वाद मध्याह्न काल मे चाँपातला मुहल्ले में खगेन (स्वामी विमलानन्द) के घर गया। वहाँ से खगेन और मैं उसके टाँगे मे वैठकर पशुपति वोस के घर की ओर चले। स्वामी जी ऊपर के कमरे मे विश्राम कर रहे थे, अधिक लोगो को नही जाने दिया जा रहा था। सौभाग्यवश हमारे परिचित, स्वामी जी के अनेक गुरुभाइयो से भेंट हो गयी। स्वामी शिवानन्द जी हम लोगो को स्वामी जी के पास ले गये और हम लोगो का परिचय देते हुए कहा, "ये सब आपके खूब admirers (प्रेमी) हैं।"

स्वामी जी और स्वामी योगानन्द पशुपति वावू के घर की दूसरी मज़िल पर एक सुसज्जित वैठकखाने मे पास पास दो कुर्सियो पर वैठे थे। अन्य साधुगण उज्ज्वल गैरिक वस्त्र धारण किये हुए इधर-उधर घूम रहे थे। फर्श पर दरी विछी हुई थी। हम लोग प्रणाम करके दरी पर वैठे। स्वामी जी उस समय स्वामी योगानन्द से वातचीत कर रहे थे। अमेरिका और यूरोप मे स्वामी जी ने क्या देखा, यह प्रसग चल रहा था। स्वामी जी कह रहे थे—

"देख योगेन, क्या देखा, वताऊँ? समस्त पृथ्वी मे एक महाशक्ति ही क्रीडा कर रही है। हमारे पूर्वजो ने उसको religion (धर्म) की ओर manifest (प्रकाशित) किया था, और आधुनिक पाश्चात्य देशीय लोग उसीको महा रजोगुणात्मक क्रिया के रूप मे manifest (प्रकाशित) कर रहे हैं। वस्तुत समग्र जगत् मे वही एक महाशक्ति भिन्न भिन्न रूप मे क्रीडा कर रही है।"

खगेन की ओर देखकर स्वामी जी ने कहा, "इस लडके को वहुत sickly (कमज़ोर) देखता हूँ।"

स्वामी निरंजनानन्द जी ने उत्तर दिया, "यह बहुत दिनों से chronic dyspepsia (पुराना अजीर्ण रोग) से पीड़ित है।"

स्वामी जी ने कहा, "हमारा बंगाल देश बहुत sentimental (भावुक) है न, इसीलिए यहाँ इतना dyspepsia होता है।"

कुछ देर बाद हम लोग प्रणाम करके अपने अपने घर लौट आये।

२

स्वामी जी और उनके शिष्य श्रीमान और श्रीमती सेवियर काशीपुर में स्व० गोपाललाल शील के बगीचे में निवास कर रहे हैं। स्वामी जी के श्रीमुख से कथा वार्ता सुनने के लिए अपने बहुत से मित्रों के साथ मैं इस स्थान पर कई बार गया था। वहाँ का प्रसंग जो कुछ स्मरण है, वह इस प्रकार है:

स्वामी जी के साथ मुझे वार्तालाप का सौभाग्य सर्वप्रथम उसी बगीचे के एक कमरे में हुआ। स्वामी जी आकर बैठे हैं, मैं भी जाकर प्रणाम करके बैठा हूँ, उस समय वहाँ और कोई नहीं है। न जाने क्यों, स्वामी जी ने एकाएक मुझसे पूछा, "क्या तू तम्बाकू पीता है?"

मैंने कहा, "जी नहीं।"

इस पर स्वामी जी बोले, "हाँ, बहुत से लोग कहते हैं—तम्बाकू पीना अच्छा नहीं।"

एक दूसरे दिन स्वामी जी के पास एक वैष्णव आये हुए हैं। स्वामी जी उनके साथ वार्तालाप कर रहे हैं। मैं कुछ दूर पर बैठा हूँ, और कोई नहीं है। स्वामी जी कह रहे हैं, "बाबा जी, अमरिका में मैंने भी कृष्ण के सम्बन्ध में एक बार व्याख्यान दिया। उसको सुनकर एक परम सुन्दरी अगाध ऐश्वर्य की अधिकारिणी युवती सर्वस्व त्यागकर एक निर्जन द्वीप में जाकर श्री कृष्ण के ध्यान में उन्मत्त हो गयी।" उसके बाद स्वामी जी त्याग के सम्बन्ध में कहने लगे, "जिन सम्प्रदायों में त्याग-भाव का प्रचार उत्तने उज्ज्वल रूप में नहीं है, उनके भीतर शीघ्र ही अवनति आ जाती है, जैसे—वल्लभाचार्य का सम्प्रदाय।"

और एक दिन स्वामी जी के पास गया। देखता हूँ, बहुत से लोग बैठे हैं और स्वामी जी एक युवक को लक्ष्य कर वार्तालाप कर रहे हैं। युवक बंगाल थियोसॉफिकल सोसायटी के भवन में रहता है। वह कह रहा है, "मैं अनेक सम्प्रदायों में जाता हूँ, किन्तु सत्य क्या है, यह निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ।"

स्वामी जी अत्यन्त स्नेहपूर्ण स्वर मे कह रहे हैं, "देखो बच्चा, मेरी भी एक दिन तुम्हारी जैसी अवस्था थी। फिर भय क्या? अच्छा, भिन्न भिन्न लोगो ने तुमसे क्या क्या कहा था, और तुमने क्या क्या किया, बताओ तो सही?"

युवक कहने लगा, "महाराज, हमारी सोसाइटी मे भवानीशकर नामक एक विद्वान् प्रचारक हैं। मूर्तिपूजा के द्वारा आध्यात्मिक उन्नति मे जो विशेष सहायता मिलती है, उसे उन्होंने मुझे बहुत सुन्दर ढग से समझा दिया। मैंने भी तदनुसार कुछ दिनो तक खूब पूजा-अर्चना की, किन्तु उससे शान्ति नही मिली। उसी समय एक महाशय ने मुझे उपदेश दिया—'देखो, मन को बिल्कुल शून्य करने की कोशिश करो, उससे तुम्हे परम शान्ति मिलेगी।' मैं बहुत दिनो तक उसी कोशिश मे लगा रहा किन्तु उससे भी मेरा मन शान्त न हुआ। महाराज, मैं अब भी एक कोठरी मे, दरवाजा बन्द कर, जब तक बन पडता है, बैठा रहता हूँ, किन्तु शान्ति तो किसी भी तरह नही मिल रही है। क्या आप दया कर यह बता सकेंगे, शान्ति किससे मिलेगी?"

स्वामी जी स्नेहभरे स्वर मे कहने लगे, "बच्चा, यदि तुम मेरी बात सुनो, तो तुम्हे अब पहले अपनी कोठरी का दरवाजा खुला रखना होगा। तुम्हारे घर के पास, बस्ती के पास कितने अभावग्रस्त लोग रहते हैं, उनकी तुम्हे यथासाध्य सेवा करनी होगी। जो पीडित है, उसके लिए औषधि और पथ्य का प्रबन्ध करो और शरीर के द्वारा उसकी सेवा-शुश्रूषा करो। जो भूखा है, उसके लिए खाने का प्रबन्ध करो। तुमने तो इतना पढा-लिखा है, अत जो अज्ञानी है, उसे वाणी द्वारा जहाँ तक हो सके, समझाओ। यदि तुम मेरा परामर्श मानो, तो इस प्रकार लोगो की यथासाध्य सेवा करो। यदि तुम इस प्रकार कर सकोगे, तो तुम्हारे मन को अवश्य शान्ति मिलेगी।"

युवक बोला, "अच्छा, महाराज, मान लीजिए, मैं एक रोगी की सेवा करने के लिए गया, किन्तु उसके लिए रात भर जगने से, समय पर भोजन आदि न करने तथा अधिक परिश्रम से यदि मैं स्वय ही रोगग्रस्त हो जाऊँ तो?"

स्वामी जी अब तक उस युवक के साथ स्नेहपूर्ण स्वर मे सहानुभूति के साथ बातें कर रहे थे। इस अन्तिम वाक्य से ऐसा जान पडा कि वे कुछ विरक्त से हो गये। वे कुछ व्यग-भाव से कह उठे, "देखो जी, रोगी की सेवा करने के लिए जाने पर तुम अपने रोग की आशका कर रहे हो, किन्तु तुम्हारी बातचीत सुनने पर और तुम्हारा मनोभाव देखने पर मुझे तो मालूम पडता है—और जो यहाँ उपस्थित हैं, वे भी खूब अच्छी तरह समझ सकते हैं—कि तुम ऐसे रोगी की सेवा कभी भी नही करोगे, जिससे तुम्हें खुद को ही रोग हो जाय।"

युवक के साथ और कोई विशेष बातचीत नहीं हुई। हम लोग समझ गये यह व्यक्ति 'कैंची श्रेणी' का है, अर्थात् जैसे कैंची को कुछ भी मिले उसीको काट देती है, उसी प्रकार एक श्रेणी के मनुष्य हैं, जो कोई सदुपदेश सुनने से ही उसमें त्रुटि निकालते हैं, जिनकी निगाह इन उपदिष्ट विषयों में दोष देखने के लिए बड़ी पैनी रहती है। ऐसे लोगों से चाहे कितनी ही अच्छी बात क्यों न कहिए, सभी की बात वे तर्क द्वारा काट देते हैं।

एक दूसरे दिन मास्टर महाशय (श्री रामकृष्ण वचनामृत के प्रणेता श्री 'म') के साथ वार्तालाप हो रहा है। मास्टर महाशय कह रहे हैं, "देखो तुम जो दया, परोपकार और जीव-सेवा आदि की बातें करते हो, वे तो माया के राज्य की बातें हैं। जब वेदान्त-मत में मानव का चरम लक्ष्य मुक्ति-लाभ और माया-बन्धन का विच्छेद है, तो फिर उन सब माया-व्यापारों में लिप्त होकर लोगों को क्या परोपकार आदि विषयों का उपदेश देने में क्या लाभ?"

स्वामी जी ने तत्क्षण उत्तर दिया, 'मुक्ति भी क्या माया के अन्तर्गत नहीं है? आत्मा तो नित्य मुक्त है, फिर उसकी मुक्ति के लिए चेष्टा क्यों?'

मास्टर महाशय चुप हो गये।

मैं समझ गया, मास्टर महाशय दया, सेवा, परोपकार आदि सब छोड़कर, सभी प्रकार के अधिकारियों के लिए केवल जप-तप, ध्यान-धारणा या भक्ति का ही एकमात्र साधन के रूप में समर्थन कर रहे थे, किन्तु स्वामी जी के मतानुसार, एक प्रकार के अधिकारियों के लिए इन सबका अनुष्ठान जिस तरह मुक्ति-लाभ के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार ऐसे भी बहुत से अधिकारी हैं जिनके लिए परोपकार, दान, सेवा आदि आवश्यक हैं। एक को उड़ा देने से दूसरे को भी उड़ा देना होगा, एक को स्वीकार करने पर दूसरे को भी स्वीकार करना पड़ेगा। स्वामी जी के इस प्रत्युत्तर से यह बात अच्छी तरह समझ में आ गयी कि मास्टर महाशय दया, सेवा आदि को 'माया' शब्द से उड़ाकर और जप-ध्यान आदि को ही मुख्य रखकर संकीर्ण भाव का परिपोषण कर रहे थे। परन्तु स्वामी जी का उदार हृदय और छुरे की धार के समान उनकी तीक्ष्ण बुद्धि उसे सहन न कर सकी। अपनी अद्भुत युक्ति से उन्होंने मुक्ति-लाभ की चेष्टा को भी माया के अन्तर्गत ही निर्धारित किया एवं दया, सेवा आदि के साथ उसको एक श्रेणी में लाकर उन्होंने कर्मयोग के पथिक को भी आश्रय दिया।

टॉमस-ए-केम्पिस के 'ईसा-अनुसरण' (Imitation of Christ) का प्रसंग उठा। बहुत से लोग जानते होंगे कि स्वामी जी संसार-त्याग करने से कुछ पहले इस ग्रन्थ की विशेष रूप से चर्चा किया करते थे, और बराहनगर मठ में रहने

समय उनके सभी गुरुभाई उन्हीके समान इस ग्रन्थ को साधक-जीवन मे विशेष सहायक समझकर सर्वदा इस पर विचार किया करते थे। स्वामी जी इस ग्रन्थ के इतने अनुरागी थे कि उस समय के 'साहित्य-कल्पद्रुम' नामक मासिक पत्र मे उसकी एक प्रस्तावना लिखकर उन्होने 'ईसा-अनुसरण' नाम से उसका सुन्दर अनुवाद करना भी आरम्भ कर दिया था। प्रस्तावना पढने से ही यह मालूम हो जाता है कि स्वामी जी इस ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार को कितनी गम्भीर श्रद्धा से देखते थे। वास्तव मे, उसमे विवेक, वैराग्य, दीनता, दास्य, भक्ति आदि के ऐसे सैकडो ज्वलन्त उपदेश है कि जो उसे पढेगे, उनके हृदय मे वे भाव कुछ न कुछ अवश्य उद्दीपित होगे। उपस्थित व्यक्तियो मे से एक सज्जन यह जानने के लिए कि स्वामी जी का इस समय उस ग्रन्थ के प्रति कैसा भाव है, उस ग्रन्थ मे वर्णित दीनता के उपदेश का प्रसग उठाते हुए बोले, "अपने को इस प्रकार अत्यन्त हीन समझे विना आध्यात्मिक उन्नति कैसे हो सकती है?" स्वामी जी यह सुनकर कहने लगे, "हम लोग हीन कैसे? हम लोगो के लिए अन्धकार कहाँ? हम लोग तो ज्योति के राज्य मे वास करते हैं, हम लोग तो ज्योति के तनय है!"

उनका इस प्रकार प्रत्युत्तर सुनकर मैं समझ गया कि स्वामी जी उक्त ग्रन्थ-निर्दिष्ट इन प्राथमिक साधन-सोपानो को पारकर साधना-राज्य की कितनी उच्च भूमि मे पहुँच गये हैं।

हम लोग यह विशेष रूप से देखते थे कि ससार की अत्यन्त सामान्य घटनाएँ भी उनकी तीक्ष्ण दृष्टि को धोखा नही दे सकती थी। वे उन घटनाओ की सहायता से भी उच्च धर्मभाव का प्रचार करने की चेष्टा करते थे।

श्री रामकृष्ण देव के भतीजे श्रीयुत रामलाल चट्टोपाध्याय (मठ के पुराने साधुगण, जिन्हे रामलाल दादा कहकर पुकारते हैं) दक्षिणेश्वर से एक दिन स्वामी जी से मिलने आये। स्वामी जी ने एक कुर्सी मँगवाकर उनसे बैठने के लिए अनुरोध किया और स्वय टहलने लगे। श्रद्धाविनम्र दादा इससे कुछ सकुचित होकर कहने लगे, "आप बैठें, आप बैठें।" पर स्वामी जी उन्हे किसी तरह छोडनेवाले नही थे। बहुत कह-सुनकर दादा को कुर्सी पर बिठाया और स्वय टहलते टहलते कहने लगे, "गुरुवत् गुरुपुत्रेषु।" (गुरु के पुत्र एव सम्बन्धियो के साथ गुरु जैसा ही व्यवहार करना चाहिए।) मैंने देखा, इतना ऐश्वर्य, इतना मान पाकर भी हमारे स्वामी जी को थोडा सा भी अभिमान नही हुआ है। यह भी समझा, गुरुभक्ति इसी तरह की जाती है।

बहुत से छात्र आये हुए हैं। स्वामी जी एक कुर्सी पर बैठे हुए हैं। सभी उनके पास बैठकर उनकी दो-चार बातें सुनने के लिए उत्सुक हैं। वहाँ पर और

स्वामी जी के कथन का सम्पूर्ण मर्म न समझ सकने के कारण वे जब विश्राम-घर में प्रवेश कर रहे थे तब आगे बढ़कर उनके पास आकर धीरे बाद बोले "सुन्दर लड़कों की आप क्या बात कर रहे थे?"

स्वामी जी ने कहा "जिनकी मुखाकृति सुन्दर हो ऐसे लड़के मैं नहीं चाहता—मैं तो चाहता हूँ खूब स्वस्थ शरीर, कर्मठ एवं सत्प्रकृतियुक्त कुछ लड़के। उन्हें train करना (शिक्षा देना) चाहता हूँ जिससे वे अपनी मुक्ति के लिए और जगत् के कल्याण के लिए प्रस्तुत हो सकें।

और एक दिन जाकर देखा स्वामी जी टहल रहे हैं श्रीयुत शरच्चन्द्र चक्रवर्ती ('स्वामी-शिष्य-संवाद' नामक पुस्तक के रचयिता) स्वामी जी के साथ खूब घनिष्ठ भाव से बातें कर रहे हैं। स्वामी जी से एक प्रश्न पूछने की हमें अत्यधिक उत्कण्ठा हुई। प्रश्न यह था—अवतार और मुक्त या सिद्ध पुरुष में क्या अन्तर है? हमने शरत् बाबू से स्वामी जी के सम्मुख इस प्रश्न को उठाने के लिए विशेष अनुरोध किया। अतः उन्होंने स्वामी जी से यह प्रश्न पूछा। हम लोग शरत् बाबू के पीछे पीछे यह सुनने के लिए गये कि देखें स्वामी जी इस प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं। स्वामी जी उस प्रश्न के सम्बन्ध में बिना कोई प्रकट उत्तर दिये कहने लगे 'विदेह-मुक्ति ही सर्वोच्च अवस्था है—यही मेरा सिद्धान्त है। जब मैं साधनावस्था में भारत के अनेक स्थानों में भ्रमण कर रहा था उस समय कितनी निर्जन गुफाओं में अकेले बैठकर कितना समय बिताया है मुक्ति प्राप्त नहीं हुई, यह सोचकर कितनी बार प्रायोपवेशन द्वारा देह त्याग देने का भी संकल्प किया है कितना ध्यान कितना साधन-भजन किया है! किन्तु अब मुक्ति-लाभ के लिए वह 'विजातीय' आग्रह नहीं रहा। इस समय तो मन में केवल यही होता है कि जब तक पृथ्वी पर एक भी मनुष्य अमुक्त है तब तक मुझे अपनी मुक्ति की कोई आवश्यकता नहीं।

मैं तो स्वामी जी की उक्त वाणी सुनकर उनके हृदय की अपार करुणा की बात सोचकर विस्मित हो गया और सोचने लगा इन्होंने क्या अपना दृष्टान्त देकर अवतार पुरुषों का लक्षण समझाया है? क्या ये भी एक अवतार हैं? सोचा स्वामी जी अब मुक्त हो गये हैं इसीलिए मालूम होता है, उन्हें अपनी मुक्ति के लिए अब आग्रह नहीं है।

और एक दिन सन्ध्या के बाद मैं और खगेन (स्वामी विमलानन्द) स्वामी जी के पास गये। हरमोहन बाबू (श्री रामकृष्ण देव के भक्त) हम लोगों को स्वामी जी के साथ विशेष रूप से परिचित कराने के लिए बोले "स्वामी जी ये दोनों आपके खूब admirers (प्रशंसक) हैं और वेदान्त का अध्ययन भी

धर्म-साधन के लिए अत्यन्त प्रयोजनीय है, तथापि वे पूर्ण रूप से उसका अनुष्ठान नही कर पाते थे। वे सर्वदा लडको को लेकर अध्यापन-कार्य मे ही लगे रहते थे, इसलिए धर्म-साधन और सत्-शिक्षा के अभाव एव कुसगति के कारण अत्यन्त अल्प अवस्था मे ही उन लोगो का ब्रह्मचर्य किस तरह नष्ट हो जाता है, इसे वे अच्छी तरह जानते थे, और किस उपाय से उसे रोका जाय, इसकी शिक्षा उन बच्चो को देने के लिए वे सर्वदा प्रयत्नशील रहते थे। किन्तु **स्वयमसिद्ध. कथ परान् साधयेत्**—अर्थात् 'स्वय असिद्ध होकर दूसरो को कैसे सिद्ध किया जा सकता है।' अतएव किसी भी तरह अपने या दूसरे के भीतर ब्रह्मचर्य-भाव को प्रविष्ट करने मे असमर्थ हो समय समय पर वे अत्यन्त दु खित हो जाते थे। इस समय परम ब्रह्मचारी स्वामी जी की ज्वलन्त उपदेशावली और ओजस्विनी वाणी सुनकर अकस्मात् उनके हृदय मे यह भाव उदित हुआ कि ये महापुरुष एक बार इच्छा करने पर मेरे तथा बालकों के भीतर उस प्राचीन ब्रह्मचर्य भाव को निश्चित ही उद्दीप्त कर सकते हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि ये एक भावुक व्यक्ति थे। वे एकाएक पूर्वोक्त रूप से उत्तेजित हो अग्रेजी मे चिल्लाकर बोल उठे, "Oh Great Teacher ! tear up the veil of hypocrisy and teach the world the one thing needful—how to conquer lust" अर्थात् "हे आचार्यवर, जिस कपटता के आवरण से अपने यथार्थ स्वभाव को छिपाकर हम लोग दूसरो के निकट अपने को शिष्ट, शान्त या सभ्य बतलाने की चेष्टा करते हैं, उसे आप अपनी दिव्य शक्ति के बल से छिन्न करके दूर कर दें एव लोगो के भीतर जो घोर काम-प्रवृत्ति विद्यमान है, उसका जिससे समूल विनाश हो, वैसी शिक्षा दें।"

स्वामी जी ने चडी बाबू को शान्त और आश्वस्त किया।

बाद मे एडवर्ड कारपेन्टर का प्रसग उपस्थित हुआ। स्वामी जी ने कहा, "लन्दन मे ये बहुधा मेरे पास आते रहते थे। और भी बहुत से समाजवादी, प्रजातन्त्रवादी आदि आया करते थे। वे सब वेदान्तोक्त धर्म मे अपने अपने मत की पोषकता पाकर उसके प्रति विशेष आकृष्ट होते थे।"

स्वामी जी उक्त कारपेन्टर साहब की 'एडम्स पीक टु एलिफेन्टा' नामक पुस्तक पढ चुके थे। इसी समय उक्त पुस्तक मे दी हुई चडी बाबू की तस्वीर उन्हे याद आयी, वे बोले, "आपका चेहरा तो पुस्तक मे पहले ही देख चुका हूँ।" और भी कुछ देर बातचीत करने के बाद सन्ध्या हो जाने के कारण स्वामी जी विश्राम के लिए उठे। उठने के समय चडी बाबू को सम्बोधित करके बोले, "चडी बाबू, आप तो बहुत से लडको के ससर्ग मे आते है। क्या आप मुझे कुछ सुन्दर सुन्दर लडके दे सकते हैं?" शायद चडी बाबू कुछ अन्यमनस्क थे।

कोई आसन नहीं है, जिस पर स्वामी जी लड़कों से बैठने को कह सकें इसलिए उन लोगों को भूमि पर बैठना पड़ा। ऐसा ज्ञात हुआ कि स्वामी जी मन में सोच रहे हैं यदि इनके बैठने के लिए कोई आसन होता तो अच्छा है। किन्तु ऐसा लगा कि दूसरे ही क्षण उनके हृदय में दूसरा भाव उत्पन्न हो गया। वे बोल उठे, "यो ठीक है, तुम लोग ठीक बैठे हो थोड़ी थोड़ी तपस्या करना भी ठीक है।

एक दिन अपने मुहल्ले के चंडीचरण वर्धन को साथ लेकर मैं स्वामी जी के पास गया। चंडी बाबू 'हिन्दू ब्वायेज़' स्कूल' नामक एक संस्था के मालिक थे। वहाँ अंग्रेजी स्कूल की तृतीय श्रेणी तक पढ़ाया जाता था। वे पहले से ही खूब ईश्वरानुरागी थे बाद में स्वामी जी की वक्तृता आदि पढ़कर उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धावान हो गये। पहले कभी कभी धर्म-साधना के लिए व्याकुल हो संसार परित्याग करने की भी उन्होंने चेष्टा की थी किन्तु उसमें सफल नहीं हो सके। कुछ दिन शौक के लिए थियेटर में अभिनय आदि एवं एकाध नाटक की रचना भी की थी। ये भावुक व्यक्ति थे। विख्यात प्रजातन्त्रवादी एडवर्ड कारपेन्टर जब भारत भ्रमण कर रहे थे उस समय उनके साथ चंडी बाबू का परिचय और बातचीत हुई थी। उन्होंने 'एडम्स पीक टू एलिफ़ेन्टा' नामक अपने ग्रन्थ में चंडी बाबू के साथ हुए वार्तालाप का संक्षिप्त विवरण और उनका एक चित्र भी दिया था।

चंडी बाबू आकर भक्ति-भाव से स्वामी जी को प्रणाम कर पूछने लगे "स्वामी जी किस प्रकार के व्यक्ति को गुरु बनाना चाहिए?

स्वामी जी—'जो तुम्हें तुम्हारा भूत-भविष्य बतला सके, वही तुम्हारा गुरु है। देखो न मेरे गुरु ने मेरा भूत-भविष्य सब बतला दिया था।

चंडी बाबू ने पूछा "अच्छा स्वामी जी कौपीन पहनने से क्या काम-दमन में कुछ विशेष सहायता मिलती है।

स्वामी जी—"थोड़ी-बहुत सहायता मिल सकती है। किन्तु इस वृत्ति के प्रबल हो उठने पर कौपीन भी भला क्या करेगा? जब तक मन भगवान् में तन्मय नहीं हो जाता तब तक किसी भी बाह्य उपाय से काम पूर्णतया रोका नहीं जा सकता। फिर भी बात क्या है जानते हो जब तक मनुष्य उस अवस्था को पूर्णतया काम नहीं कर लेता तब तक अनेक प्रकार के बाह्य उपायों के अवलम्बन की चेष्टा स्वभावतः ही किया करता है।

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में चंडी बाबू स्वामी जी से बहुत से प्रश्न पूछने लगे। स्वामी जी भी बड़े सरस ढंग से सभी प्रश्नों का उत्तर देने लगे। चंडी बाबू धर्म साधना के लिए आन्तरिक भाव से प्रयत्न करते थे किन्तु गृहस्थ होने के कारण इच्छानुसार नहीं कर पाते थे। यद्यपि उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि ब्रह्मचर्य

खूब करते हैं।" हरमोहन बाबू के वाक्य का प्रथम अश सम्पूर्ण सत्य होने पर भी, द्वितीयाश कुछ अतिरजित था, क्योकि हम लोगो ने उस समय केवल गीता का ही अध्ययन किया था। हम लोगों ने वेदान्त के छोटे छोटे कुछ ग्रन्थ और दो-एक उपनिषदो का अनुवाद एकाध बार देखा था, परन्तु इन सब शास्त्रो की हम लोगो ने विद्यार्थी के समान उत्तम रूप से आलोचना नही की थी और न मूल सस्कृत ग्रन्थो को भाष्य आदि की सहायता से पढा था। जो हो, स्वामी जी वेदान्त की बात सुनकर बोल उठे, "उपनिषद् कुछ पढा है?"

मैंने कहा, "जी हाँ, थोडा-बहुत देखा है।"

स्वामी जी ने पूछा, "कौन सा उपनिषद् पढा है?"

मैंने मन के भीतर टटोलकर और कुछ न पाकर कह डाला, "कठोपनिषद् पढा है।"

स्वामी जी ने कहा, "अच्छा, कठ ही सुनाओ, कठोपनिषद् खूब grand (सुन्दर) है—कवित्व से भरा है।"

क्या मुसीबत! स्वामी जी ने शायद समझा कि मुझे कठोपनिषद् कण्ठस्थ है, इसीलिए मुझसे सुनाने के लिए कहा। मैंने उसके सस्कृत मत्रो को यद्यपि एकाध बार देखा था, किन्तु कभी भी अर्थानुसन्धानपूर्वक पढने और मुखाग्र करने की चेष्टा नही की थी। सो बडी मुश्किल मे पड गया। क्या करूँ? इसी समय एक बात स्मरण आयी। इसके कुछ वर्ष पहले से ही प्रत्यह नियमपूर्वक थोडा थोडा गीता का पाठ किया करता था। इस कारण गीता के अधिकाश श्लोक मुझे कण्ठस्थ थे। सोचा, जैसे भी हो, कुछ शास्त्रीय श्लोको की आवृत्ति यदि न करूँ, तो फिर स्वामी जी को मुँह दिखाते न बनेगा। अतएव बोल उठा, "कठ तो कण्ठस्थ नहीं है—गीता से कुछ सुनाता हूँ।"

स्वामी जी बोले, "अच्छा, वही सही।"

तब गीता के ग्यारहवें अध्याय के अन्तिम भाग से **स्थाने हृषीकेश! तव प्रकीर्त्या** से आरम्भ करके अर्जुनकृत सपूर्ण स्तव स्वामी जी को सुना दिया। स्वामी जी उत्साह देते हुए "बहुत अच्छा, बहुत अच्छा" कहने लगे।

इसके दूसरे दिन मैं अपने मित्र राजेन्द्र घोष के पास गया। उससे मैंने कहा, "भाई, कल उपनिषद् के कारण स्वामी जी के सम्मुख बडा लज्जित हुआ। तुम्हारे पास यदि कोई उपनिषद् हो, तो जेब मे लेते चलो। यदि कल की तरह उपनिषद् की बात निकालेंगे, तो पढने से ही हो जायगा।" राजेन्द्र के पास प्रसन्नकुमार शास्त्रीकृत ईश-केन-कठ आदि उपनिषद् और उनके बगानुवाद का एक गुटका सस्करण था। उसे जेब मे रखकर हम लोग स्वामी जी के दर्शनार्थ चले। आज

स्वामी जी के कथन का सम्पूर्ण मर्म न समझ सकने के कारण वे जब विश्राम घर में प्रवेश कर रहे थे तब आगे बढ़कर उनके पास आकर जोगी बाबू बोले "सुन्दर लड़कों की आप क्या बात कर रहे थे?

स्वामी जी ने कहा जिनकी मुखाकृति सुन्दर हो ऐसे लड़के मैं नहीं चाहता—मैं तो चाहता हूँ खूब स्वस्थ शरीर, कर्मठ एवं सत्प्रकृतियुक्त कुछ लड़के। उन्हें train करना (शिक्षा देना) चाहता हूँ जिससे वे अपनी मुक्ति के लिए और जगत् के कल्याण के लिए प्रस्तुत हो सकें।

और एक दिन जाकर देखा स्वामी जी टहल रहे हैं श्रीयुत शरच्चन्द्र चक्रवर्ती ('स्वामी-शिष्य-संवाद' नामक पुस्तक के रचयिता) स्वामी जी के साथ खूब घनिष्ठ भाव से बातें कर रहे हैं। स्वामी जी से एक प्रश्न पूछने की हमें अत्यधिक उत्कण्ठा हुई। प्रश्न यह था—अवतार और मुक्त या सिद्ध पुरुष में क्या अन्तर है? हमने शरत् बाबू से स्वामी जी के सम्मुख इस प्रश्न को उठाने के लिए विशेष अनुरोध किया। अतः उन्होंने स्वामी जी से यह प्रश्न पूछा। हम लोग शरत् बाबू के पीछे पीछे यह सुनने के लिए गये कि देखें स्वामी जी इस प्रश्न का क्या उत्तर देते हैं। स्वामी जी उस प्रश्न के सम्बन्ध मे बिना कोई प्रकट उत्तर दिये कहने लगे "विदेह-मुक्त ही सर्वोच्च अवस्था है—यही मेरा सिद्धान्त है। जब मैं साधनावस्था मे भारत के अनेक स्थानों में भ्रमण कर रहा था उस समय कितनी निर्जन गुफाओं में अकेले बैठकर कितना समय बिताया है, मुक्ति प्राप्त नहीं हुई, यह सोचकर कितनी बार प्रायोपवेशन द्वारा देह त्याग देने का भी संकल्प किया है कितना ध्यान कितना साधन-भजन किया है। किन्तु अब मुक्ति लाभ के लिए वह 'विजातीय' आग्रह नहीं रहा। इस समय तो मन में केवल यही होता है कि जब तक पृथ्वी पर एक भी मनुष्य अमुक्त है तब तक मुझे अपनी मुक्ति की कोई आवश्यकता नहीं।

मैं तो स्वामी जी की उक्त वाणी सुनकर उनके हृदय की अपार करुणा की बात सोचकर विस्मित हो गया और सोचने लगा इन्होंने क्या अपना दृष्टान्त देकर अवतार पुरुषों का लक्षण समझाया है? क्या ये भी एक अवतार हैं? सोचा स्वामी जी अब मुक्त हो गये हैं इसीलिए मालूम होता है उन्हें अपनी मुक्ति के लिए अब आग्रह नहीं है।

और एक दिन सन्ध्या के बाद मैं और खगेन (स्वामी विमलानन्द) स्वामी जी के पास गये। हरमोहन बाबू (श्री रामकृष्ण देव के भक्त) हम लोगों को स्वामी जी के साथ विशेष रूप से परिचित कराने के लिए बोले 'स्वामी जी, ये दोनों आपके खूब admirers (प्रशंसक) हैं और वेदान्त का अध्ययन भी

खूब करते है।" हरमोहन बाबू के वाक्य का प्रथम अश सम्पूर्ण सत्य होने पर भी, द्वितीयाश कुछ अतिरजित था, क्योकि हम लोगो ने उस समय केवल गीता का ही अध्ययन किया था। हम लोगो ने वेदान्त के छोटे छोटे कुछ ग्रन्थ और दो-एक उपनिषदो का अनुवाद एकाध बार देखा था, परन्तु इन सब शास्त्रो की हम लोगो ने विद्यार्थी के समान उत्तम रूप से आलोचना नही की थी और न मूल सस्कृत ग्रन्थो को भाष्य आदि की सहायता से पढा था। जो हो, स्वामी जी वेदान्त की बात सुनकर बोल उठे, "उपनिषद् कुछ पढा है?"

मैंने कहा, "जी हाँ, थोडा-बहुत देखा है।"

स्वामी जी ने पूछा, "कौन सा उपनिषद् पढा है?"

मैंने मन के भीतर टटोलकर और कुछ न पाकर कह डाला, "कठोपनिषद् पढा है।"

स्वामी जी ने कहा, "अच्छा, कठ ही सुनाओ, कठोपनिषद् खूब grand (सुन्दर) है—कवित्व से भरा है।"

क्या मुसीबत! स्वामी जी ने शायद समझा कि मुझे कठोपनिषद् कण्ठस्थ है, इसीलिए मुझसे सुनाने के लिए कहा। मैंने उसके सस्कृत मत्रो को यद्यपि एकाध बार देखा था, किन्तु कभी भी अर्थानुसन्धानपूर्वक पढने और मुखाग्र करने की चेष्टा नही की थी। सो बडी मुश्किल मे पड गया। क्या करूँ? इसी समय एक बात स्मरण आयी। इसके कुछ वर्ष पहले से ही प्रत्यह नियमपूर्वक थोडा थोडा गीता का पाठ किया करता था। इस कारण गीता के अधिकाश श्लोक मुझे कण्ठस्थ थे। सोचा, जैसे भी हो, कुछ शास्त्रीय श्लोको की आवृत्ति यदि न करूँ, तो फिर स्वामी जी को मुँह दिखाते न बनेगा। अतएव बोल उठा, "कठ तो कण्ठस्थ नही है—गीता से कुछ सुनाता हूँ।"

स्वामी जी बोले, "अच्छा, वही सही।"

तब गीता के ग्यारहवें अध्याय के अन्तिम भाग से **स्थाने हृषीकेश! तव प्रकीर्त्या** से आरम्भ करके अर्जुनकृत सपूर्ण स्तव स्वामी जी को सुना दिया। स्वामी जी उत्साह देते हुए "बहुत अच्छा, बहुत अच्छा" कहने लगे।

इसके दूसरे दिन मैं अपने मित्र राजेन्द्र घोष के पास गया। उससे मैंने कहा, "भाई, कल उपनिषद् के कारण स्वामी जी के सम्मुख बडा लज्जित हुआ। तुम्हारे पास यदि कोई उपनिषद् हो, तो जेब मे लेते चलो। यदि कल की तरह उपनिषद् की बात निकालेंगे, तो पढने से ही हो जायगा।" राजेन्द्र के पास प्रसन्नकुमार शास्त्रीकृत ईश-केन-कठ आदि उपनिषद् और उनके बगानुवाद का एक गुटका सस्करण था। उसे जेब मे रखकर हम लोग स्वामी जी के दर्शनार्थ चले। आज

अपराह्न में स्वामी जी का कमरा लोगों से भरा हुआ था। जो सोचा था वही हुआ। आज भी यह तो ठीक स्मरण नहीं कि कैसे पर कठोपनिषद् का ही प्रसंग उठा। मैंने झट जेब से उपनिषद् निकाला और उसे शुरू से पढ़ना आरम्भ किया। पाठ के बीच में स्वामी जी नचिकेता की श्रद्धा की कथा—जिस श्रद्धा के बल से वे निर्भीक चित्त से यम-सदन जाने के लिए भी साहसी हुए थे—कहने लगे। जब नचिकेता के द्वितीय वर स्वर्ग प्राप्ति की कथा का पाठ प्रारम्भ हुआ तब स्वामी जी ने उस स्थल को अधिक न पढ़कर कुछ कुछ छोड़कर तृतीय वर का प्रसंग पढ़ने के लिए कहा।

नचिकेता के प्रश्न—मृत्यु के बाद लोगों का सन्देह—शरीर छूट जाने पर कुछ रहता है या नहीं—उसके बाद यम का नचिकेता को प्रलोभन दिखाना और नचिकेता का दृढ़ भाव से उन सभी का प्रत्याख्यान—इन सब स्थलों का पाठ हो जाने के बाद स्वामी जी ने अपनी स्वभाव-सुलभ ओजस्विनी भाषा में क्या क्या कहा—क्षीण स्मृति सोलह वर्षों से उसका कुछ भी चिह्न न रख सकी।

किन्तु इन दो दिनों के उपनिषद्-प्रसंग में स्वामी जी की उपनिषद् के प्रति श्रद्धा और अनुराग का कुछ अंश मेरे अन्तःकरण में भी सञ्चरित हो गया क्योंकि उसके दूसरे ही दिन से जब कभी सुयोग पाता परम श्रद्धा के साथ उपनिषद् पढ़ने की चेष्टा करता था। और यह कार्य आज भी कर रहा हूँ। विभिन्न समय में उनके श्रीमुख से उच्चरित अपूर्व स्वर, लय और तेजस्विता के साथ पठित उपनिषद् के एक एक मन्त्र मानो आज भी मेरे कानों मे गूँज रहे हैं। जब परचर्चा में मग्न हो आत्म-चर्चा भूल जाता हूँ तो सुन पाता हूँ—उनके उस सुपरिचित किन्नरकण्ठ से उच्चरित उपनिषद्-वाणी की दिव्य गंभीर घोषणा—

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः[1]—'एकमात्र उस आत्मा को ही पहचानो अन्य सब बातें छोड़ दो—वही अमृत का सेतु है।

जब आकाश में घोर घटाएँ छा जाती हैं और दामिनी दमकने लगती है उस समय मानो सुन पाता हूँ—स्वामी जी उस आकाशस्थ सौदामिनी की ओर इंगित करते हुए कह रहे हैं—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं।
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥[2]

---

१ मुण्डकोपनिषद् ॥२।२।५॥ २ कठोपनिषद् ॥२।२।१५॥

—'वहाँ सूर्य भी प्रकाशित नही होता—चन्द्रमा और तारे भी नही, ये सब विद्युत् भी वहाँ प्रकाशित नही होती—फिर इस सामान्य अग्नि की भला बात ही क्या ? उनके प्रकाशित होने से फिर सभी प्रकाशित होते है, उनका प्रकाश इन सबको प्रकाशित करता है।'

पुन , जब तत्त्वज्ञान को असाध्य जान हृदय हताश हो जाता है, तब जैसे सुन पाता हूँ—स्वामी जी आनन्दोत्फुल्ल हो उपनिषद् की आश्वासन देनेवाली इस वाणी की आवृत्ति कर रहे है—

श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्यु ।।
वेदाहमेत पुरुष महान्तम्
आदित्यवर्ण तमस' परस्तात् ।।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति
नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय ।।[१]

—'हे अमृत के पुत्रो, हे दिव्यधामनिवासियो, तुम लोग सुनो। मैंने उस महान् पुरुष को जान लिया है, जो आदित्य के समान ज्योतिर्मय और अज्ञानान्धकार से अतीत है। उसको जानने से ही लोग मृत्यु का अतिक्रमण करते हैं—मुक्ति का और दूसरा कोई मार्ग नही।'

अस्तु, और एक दिन की घटना का विषय यहाँ पर सक्षेप मे कहूँगा। इस दिन की घटना का शरत् बाबू ने 'विवेकानन्द जी के सग मे' नामक अपने ग्रन्थ मे विस्तृत रूप से वर्णन किया है।

मैं उस दिन दोपहर मे ही जा उपस्थित हुआ था। देखा, कमरे मे बहुत से गुजराती पण्डित बैठे हैं, स्वामी जी उनके पास बैठकर धाराप्रवाह रूप से सस्कृत भाषा मे धर्मविषयक विचार कर रहे हैं। भक्ति-ज्ञान आदि अनेक विषयो की चर्चा हो रही थी। इसी बीच हल्ला हो उठा। ध्यान देने पर समझा कि स्वामी जी सस्कृत भाषा मे बोलते बोलते कोई एक व्याकरण की भूल कर गये। इस पर पण्डित-गण ज्ञान-भक्ति-विवेक-वैराग्य आदि विषय की चर्चा छोडकर इस व्याकरण की त्रुटि को लेकर, 'हमने स्वामी जी को हरा दिया' यह कहते हुए खूब शोर-गुल मचा रहे हैं और प्रसन्न हो रहे हैं। उस समय श्री रामकृष्ण देव की वह बात याद आ गयी—'गिद्ध उडता तो खूब ऊपर है, किन्तु उसकी दृष्टि रहती है मरे पशुओ पर।'

---

१ श्वेताश्वतरोपनिषद् ।।२।५, ३।८।।

गये हैं। स्वामी जी किञ्चित् भी विचलित नहीं हुए और कहा पण्डितानां वातोऽयं वाक्यमेतत्स्वलक्षणम्। थोड़ी देर के बाद स्वामी जी उठ गये और पण्डितगण गंगा जी में हाथ-मुँह धोने के लिए गये। मैं भी बगीचे में घूमते घूमते गंगा जी के तट पर गया। वहाँ पण्डितगण स्वामी जी के सम्बन्ध में आलोचना कर रहे थे। सुना वे कह रहे थे—"स्वामी जी उस प्रकार के पण्डित नहीं हैं परन्तु उनकी आँखों में एक मोहिनी शक्ति है। उसी शक्ति के बल से उन्होंने अनेक स्थानों में दिग्विजय की है।

सोचा पण्डितों ने तो ठीक ही समझा है। आँखों में यदि मोहिनी शक्ति न होती तो क्या यों ही इतने विद्वान् धनी मानी प्राच्य-पाश्चात्य देश के विभिन्न प्रकृति के स्त्री-पुरुष इनके पीछे पीछे दास के समान दौड़ते। यह तो विद्या के कारण नहीं रूप के कारण नहीं ऐश्वर्य के भी कारण नहीं—यह सब इनकी आँखों की उस मोहिनी शक्ति का ही कारण है।

पाठकगण! आँखों में यह मोहिनी शक्ति स्वामी जी को कहाँ से मिली इसे जानने का यदि कौतूहल हो तो अपने श्री गुरु के साथ उनके दिव्य सम्बन्ध एवं उनके अपूर्व साधन-वृत्तान्त पर श्रद्धा के साथ एक बार मनन करो—इसका रहस्य ज्ञात हो जायगा।

सन् १८९७ अप्रैल मास का अन्तिम भाग। आलमबाजार मठ। अभी चार पाँच दिन ही हुए हैं घर छोड़कर मठ में रह रहा हूँ। पुराने संन्यासियों में केवल स्वामी प्रेमानन्द स्वामी निर्मलानन्द और स्वामी सुबोधानन्द हैं। स्वामी जी दार्जिलिंग से आये—साथ में स्वामी ब्रह्मानन्द स्वामी योगानन्द स्वामी जी के मद्रासी शिष्य आलासिंगा पेरुमल गिरी और जी जी आदि हैं।

स्वामी नित्यानन्द कुछ दिन हुए, स्वामी जी द्वारा संन्यासव्रत में दीक्षित हुए हैं। इन्होंने स्वामी जी से कहा "इस समय बहुत से नये नये लड़के संसार छोड़कर संन्यासी हुए हैं उनके लिए एक निर्दिष्ट नियम से शिक्षा-दान की व्यवस्था करना अच्छा होगा।

स्वामी जी उनके अभिप्राय का अनुमोदन करते हुए बोले हाँ हाँ नियम बनाना तो अच्छा ही है। बुलाओ सभी को। सब आकर बड़े कमरे में जमा हुए। तब स्वामी जी ने कहा "कोई एक व्यक्ति लिखना शुरू करो मैं बोलता जाता हूँ। उस समय सब एक दूसरे को ठेलकर आगे करने लगे—कोई अग्रसर नहीं होना चाहता था अन्त में मुझे ठेलकर आगे कर दिया। उस समय मठ में लिखाई-पढ़ाई के प्रति साधारणतया एक प्रकार की उपेक्षा थी। सभी चाहते थे कि साधन भजन करके भगवान् का साक्षात्कार करना ही एकमात्र सार है लिखने-पढ़ने से तो मान और यश की इच्छा होती है। जो भगवान् के द्वारा

आदिष्ट होकर प्रचार-कार्य आदि करेंगे, उनके लिए भले वह आवश्यक हो, पर साधको के लिए तो उसका कोई प्रयोजन नही है, उलटे वह हानिकारक ही है। जो हो, मैं पहले ही कह चुका हूँ कि स्वभाव से मैं ज़रा forward (अग्रिम) और लापरवाह हूँ—मैं अग्रसर हो गया। स्वामी जी ने एक बार आकाश की ओर देखकर पूछा, "यह क्या रहेगा ?" (अर्थात् क्या मैं ब्रह्मचारी होकर वहाँ रहूँगा, अथवा दो-एक दिन मठ मे घूमने के लिए ही आया हूँ और बाद मे चला जाऊँगा।) सन्यासियो मे से एक ने कहा, "हाँ।" तब मैंने कागज़-कलम आदि ठीक से लेकर गणेश का आसन ग्रहण किया। नियम लिखाने से पहले स्वामी जी कहने लगे, "देखो, हम ये सब नियम बना तो रहे हैं, किन्तु पहले हमे समझ लेना होगा कि इन नियमो के पालन का मूल लक्ष्य क्या है। हम लोगो का मूल उद्देश्य है—सभी नियमो से परे होना। तो भी, नियम बनाने का अर्थ यही है कि हममे स्वभावत बहुत से कुनियम हैं—सुनियमो के द्वारा उन कुनियमो को दूर कर देने के बाद हमे सभी नियमो से परे जाने की चेष्टा करनी होगी। जैसे काँटे से काँटा निकाल-कर अन्त मे दोनो ही काँटो को फेंक दिया जाता है।"

उसके बाद स्वामी जी ने नियम लिखाने प्रारम्भ किये। प्रातकाल और सायकाल जप-ध्यान, मध्याह्न विश्राम के बाद स्वस्थ होकर शास्त्र-ग्रन्थो का अध्ययन और अपराह्न सबको मिलकर एक अध्यापक के निकट किसी निर्दिष्ट शास्त्र-ग्रन्थ का श्रवण करना होगा—यह व्यवस्था हुई। प्रत्येक दिन प्रात और साय थोडा थोडा 'डेल्सर्ट' व्यायाम करना होगा, यह भी निश्चित हुआ। अन्त में लिखाना समाप्त कर स्वामी जी ने कहा, "देख, इन नियमो को ज़रा देख-भालकर अच्छी तरह प्रतिलिपि करके रख ले—देखना, यदि कोई नियम negative (निषेध-वाचक) भाव से लिखा गया हो, तो उसे positive (विधिवाचक) कर देना।"

इस अन्तिम आदेश का पालन करते समय हमे ज़रा कठिनाई मालूम हुई। स्वामी जी का उपदेश था कि किसीको खराब कहना, उसके विरुद्ध आलोचना करना, उसके दोष दिखाना, उससे 'तुम ऐसा मत करो, वैसा मत करो' कहकर negative (निषेधात्मक) उपदेश देना—इस सबसे उसकी उन्नति मे विशेष सहायता नही होती, किन्तु उसको यदि एक आदर्श दिखा दिया जाय, तो फिर उसकी उन्नति सरलता से हो सकती है, उसके दोष अपने आप चले जाते हैं। यही स्वामी जी का अभिप्राय था।

४

आज अपराह्न मे बडा कमरा लोगो से भरा हुआ है। स्वामी जी उनके बीच

अपूर्व शोभा धारण कर बैठे हुए हैं। अनेक प्रसंग चल रहे हैं। वहाँ हम लोगों के मित्र विजयकृष्ण बसु (भागलपुर अलीपुर अदालत के विख्यात वकील) महाशय भी उपस्थित हैं। उस समय विजय बाबू समय समय पर अनेक सभाओं में और कभी कभी कांग्रेस में खड़े होकर अंग्रेजी में व्याख्यान दिया करते थे। उनकी इस व्याख्यान-शक्ति का उल्लेख किसीने स्वामी जी के समक्ष किया। इस पर स्वामी जी ने कहा, "सो बहुत अच्छा है। अच्छा, यहाँ पर बहुत से लोग एकत्र हैं—जरा खड़े होकर एक व्याख्यान दो तो। soul (आत्मा) के सम्बन्ध में तुम्हारी जो idea (धारणा) है उसी पर कुछ कहो।" विजय बाबू अनेक प्रकार के बहाने बनाने लगे। स्वामी जी एवं और भी बहुत से लोग उनसे खूब आग्रह करने लगे। १५ मिनट तक अनुरोध करने पर भी जब कोई उनके संकोच को दूर करने में सफल नहीं हुआ तब अन्ततोगत्वा हार मानकर उन लोगों की दृष्टि विजय बाबू से हटकर मेरे ऊपर पड़ी। मैं मठ में सहयोग देने से पूर्व कभी कभी धर्म के सम्बन्ध में बंगला भाषा में व्याख्यान देता था और हम लोगों का एक 'डिबेटिंग क्लब' (वाद-विवाद समिति) भी था—उसमें अंग्रेजी बोलने का अभ्यास करता था। मेरे सम्बन्ध में इन सब बातों का किसीने उल्लेख किया ही था कि बस मेरे ऊपर बाजी पलटी। पहले ही कह चुका हूँ मैं बहुत कुछ लापरवाह सा था। Fools rush in where angels fear to tread. (जहाँ देवता भी जाने में भयभीत होते हैं वहाँ मूर्ख घुस पड़ते हैं।) मुझसे उन्हें अधिक कहना नहीं पड़ा। मैं एकदम खड़ा हो गया और बृहदारण्यक उपनिषद् के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद के अन्तर्गत आत्म तत्त्व को लेकर आत्मा के सम्बन्ध में लगभग आध घंटे तक जो मुँह में आया बोलता गया। भाषा या व्याकरण की भूल हो रही है अथवा भाव का असामंजस्य हो रहा है इस सबका मैंने विचार ही नहीं किया। दया के सागर स्वामी जी मेरी इस धृष्टता पर थोड़ा भी विरक्त न हो मुझे उत्साहित करने लगे। मेरे बाद स्वामी जी द्वारा अभी अभी संन्यासाश्रम में दीक्षित स्वामी प्रकाशानन्द[1] लगभग दस मिनट तक आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में बोले। वे स्वामी जी की व्याख्यान-शैली का अनुकरण कर बड़े गम्भीर स्वर में अपना वक्तव्य देने लगे। उनके व्याख्यान की भी स्वामी जी ने खूब प्रशंसा की।

---

१ ये सैन फ्रांसिस्को (यु. एस. ए.) की वेदान्त-समिति के अध्यक्ष थे। अमेरिका में इनका कार्य-काल १९ ६ ई. से १९२७ ई. तक था। ८ जुलाई, सन् १८७४ को कलकत्ते में इनका जन्म हुआ था एवं १३ फ़रवरी, १९२७ ई. को सैन फ्रांसिस्को की वेदान्त-समिति में इनका देहान्त हुआ। स.

अहा ! स्वामी जी सचमुच ही किसीका दोष नही देखते थे। वे, जिसमे जो भी कुछ गुण या शक्ति देखते, उसीके अनुसार उसे उत्साह देकर, जिससे उसके भीतर की अव्यक्त शक्तियाँ प्रकाशित हो जायँ, इसीकी चेष्टा करते थे। किन्तु, पाठक, आप लोग इससे ऐसा न समझ बैठे कि वे सबको सभी कार्यों मे प्रश्रय देते थे। क्योकि अनेक बार देख चुका हूँ, लोगो के, विशेषत अपने अनुगामी गुरु-भ्राता और शिष्यो के, दोष दिखलाने मे समय समय पर वे कठोर रूप भी धारण करते थे। किन्तु वह हम लोगो के दोषो को हटाने के लिए—हम लोगो को सावधान करने के लिए ही होता था, हमे निरुत्साह करने या हम लोगो के समान केवल परछिद्रान्वेषण वृत्ति को सार्थक करने के लिए नही। ऐसा उत्साह और भरोसा देनेवाला हम अब और कहाँ पायेंगे ? कहाँ पायेंगे ऐसा व्यक्ति, जो शिष्यवर्ग को लिख सके, "I want each one of my children to be a hundred times greater than I could ever be Everyone of you must be a giant—*must*, that is my word "—'मैं चाहता हूँ कि तुम लोगो मे से प्रत्येक, मैं जितना हो मकू, तदपेक्षा सौगुना बडा होवे। तुम लोगो मे से प्रत्येक को आध्यात्मिक दिग्गज होना पडेगा—होना ही होगा, न होने से नही बनेगा।'

५

इसी समय स्वामी जी द्वारा इग्लैण्ड मे दिये गये ज्ञानयोग सम्बन्धी व्याख्यानो को लन्दन से ई० टी० स्टर्डी साहब छोटी छोटी पुस्तिकाओ के आकार मे प्रकाशित करने लगे। मठ मे भी उनकी एक एक दो दो प्रतियाँ आने लगी। स्वामी जी उस समय दार्जिलिग से नही लौटे थे। हम लोग विशेष आग्रह के साथ अद्वैत तत्त्व के अपूर्व व्याख्यारूप, उद्दीपना से भरे उन व्याख्यानो को पढने लगे। वृद्ध स्वामी अद्वैतानन्द अग्रेजी अच्छी तरह नही जानते थे, किन्तु उनकी यह विशेष इच्छा थी कि नरेन्द्र ने वेदान्त के सम्बन्ध मे विलायत मे क्या कहकर लोगो को मुग्ध किया है, यह सुनें। अत उनके अनुरोध से हम लोग उन्हे उन पुस्तिकाओ को पढकर, उनका अनुवाद करके सुनाने लगे। एक दिन स्वामी प्रेमानन्द नये सन्यासियो और ब्रह्मचारियो से बोले, "तुम लोग स्वामी जी के इन व्याख्यानो का बगला अनुवाद करो न।" तब हममे से कई लोगो ने अपनी अपनी इच्छानुसार उन पुस्तिकाओ मे से एक एक को चुन लिया और उनका अनुवाद करना आरम्भ कर दिया। इसी बीच स्वामी जी लौट आये। एक दिन स्वामी प्रेमानन्द जी स्वामी जी से बोले, "इन लडको ने आपके व्याख्यानो का अनुवाद करना प्रारम्भ कर दिया है।" बाद मे हम लोगो को लक्ष्य करके कहा, "तुम लोगो मे से कौन क्या अनुवाद कर रहा है, यह स्वामी जी

को सुनाओ। तब हम लोगों ने अपना अपना अनुवाद लाकर स्वामी जी को थोड़ा थोड़ा सुनाया। स्वामी जी ने भी अनुवाद के बारे में अपने कुछ विचार प्रकट किये और अमुक शब्द का अमुक अनुवाद ठीक रहेगा इस प्रकार दो-एक बातें भी बतायीं। एक दिन स्वामी जी के पास केवल मैं ही बैठा था उन्होंने अचानक मुझसे कहा "राजयोग का अनुवाद कर न। मेरे समान अनुपयुक्त व्यक्ति को स्वामी जी ने इस प्रकार आदेश कैसे दिया? मैं उसके बहुत दिन पहले से ही राजयोग का अभ्यास करने की चेष्टा किया करता था। इस योग के ऊपर कुछ दिन मेरा इतना अनुराग हुआ था कि भक्ति ज्ञान और कर्मयोग को मानो एक प्रकार से अवज्ञा से ही देखने लगा था। सोचता था मठ के साधु लोग योग-याग कुछ भी नहीं जानते इसीलिए वे योग-साधना में उत्साह नहीं देते। पर जब मैंने स्वामी जी का 'राजयोग' ग्रन्थ पढ़ा तो मालूम हुआ कि स्वामी जी केवल राजयोग में ही पटु नहीं वरन् भक्ति ज्ञान प्रभृति अन्यान्य योगों के साथ उसका सम्बन्ध भी उन्होंने अत्यन्त सुन्दर ढंग से दिखलाया है। राजयोग के सम्बन्ध में मेरी जो धारणा थी उसका उत्तम स्पष्टीकरण भी मुझे उनके उस 'राजयोग' ग्रन्थ में मिला। स्वामी जी के प्रति मेरी विशेष श्रद्धा का यह भी एक कारण हुआ। तो क्या इस उद्देश्य से कि राजयोग का अनुवाद करने से उस ग्रन्थ की चर्चा उत्तम रूप से होगी और उससे मेरी भी आध्यात्मिक उन्नति में सहायता पहुँचेगी उन्होंने मुझे इस कार्य में प्रवृत्त किया? अथवा बंग देश में यथार्थ राजयोग की चर्चा का अभाव देखकर, सर्वसाधारण के भीतर इस योग के यथार्थ मर्म का प्रचार करने के लिए ही उन्होंने ऐसा किया? उन्होंने स्व प्रमदादास मित्र को एक पत्र में लिखा था 'बंगाल में राजयोग की चर्चा का बिल्कुल अभाव है। जो कुछ है वह भी नाक दबाना इत्यादि छोड़ और कुछ नहीं।

जो भी हो स्वामी जी की आज्ञा पा अपनी अनुपयुक्तता आदि की बात मन में न सोचकर उसका अनुवाद करने मे उसी समय लग गया।

६

एक दिन अपराह्न काल में बहुत से लोग बैठे हुए थे। स्वामी जी के मन में आया कि गीता-पाठ होना चाहिए। गीता लायी गयी। सभी दत्तचित्त होकर सुनने लगे कि देखें स्वामी जी गीता के सम्बन्ध में क्या कहते हैं। गीता के सम्बन्ध में उस दिन उन्होंने जो कुछ भी कहा था वह सब दो-चार दिन के बाद ही स्वामी प्रेमानन्द जी की आज्ञा से मैंने स्मरण करके यथासाध्य लिपिबद्ध कर लिया। वह पहले 'गीता-तत्त्व' के नाम से 'उद्बोधन' के द्वितीय वर्ष में प्रकाशित हुआ और

बाद मे 'भारत मे विवेकानन्द' पुस्तक मे अन्तर्भूत कर दिया गया। अतएव उन बातों की पुनरावृत्ति कर प्रस्तुत लेख का कलेवर बढाने की इच्छा नही है, किन्तु उस दिन गीता की व्याख्या के सिलसिले मे स्वामी जी ने जो एक नयी ही भावधारा बहायी थी, उसीको यहाँ लिपिबद्ध करने की इच्छा है। हम लोग महापुरुषो की वचनावली को अनेक बार यथासम्भव लिपिबद्ध तो करते हैं, किन्तु जिन भावो से अनुप्राणित होकर वे वाक्य उनके श्रीमुख से निकलते हैं, वे प्राय लिपिबद्ध नही रहते। फिर एसे महापुरुषो के साक्षात् सस्पर्श मे आये बिना हज़ार वर्णन करने पर भी लोग उनकी बातो के भीतर का गूढ मर्म नही समझ सकते। तो भी, जिन्हे उन लोगो के साथ साक्षात् सम्पर्क मे आने का सौभाग्य नही मिला है, उनके लिए उन महापुरुषो के सम्वन्ध मे लिपिबद्ध थोडी सी भी बातें बहुत आदर की वस्तु होती हैं, और उनकी आलोचना एव ध्यान से उनका कल्याण होता है। पाठक-वर्ग! उन महापुरुष की जिस आकृति को मैं मानो आज भी अपनी आँखो के सामने देख रहा हूँ, वह मेरे इस क्षुद्र प्रयास से आपके मनश्चक्षु के सामने भी उद्‌भासित हो। उनकी कथा का स्मरण कर मेरे मनश्चक्षु के सामने आज उन्ही महापण्डित, महातेजस्वी, महाप्रेमी की तस्वीर आ खडी हुई है। आप लोग भी एक बार देश-काल के व्यवधान का उल्लघन कर मेरे साथ हमारे स्वामी जी के दर्शन करने की चेष्टा करें।

हाँ, तो जब उन्होंने व्याख्या आरम्भ की, उस समय वे एक कठोर समालोचक मालूम पडे। कृष्ण, अर्जुन, व्यास, कुरुक्षेत्र की लडाई आदि को ऐतिहासिकता के वारे मे सन्देह की कारण-परम्परा का विवरण जब वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव से करने लगे, तब बीच बीच मे ऐसा बोध होने लगा कि इस व्यक्ति के सामने तो कठोर समालोचक भी हार मान जाय। यद्यपि स्वामी जी ने ऐतिहासिक तत्त्व का इस प्रकार तीव्र विश्लेषण किया, किन्तु इस विषय मे वे अपना मत विशेष रूप से प्रकाशित किये विना ही आगे समझाने लगे कि धर्म के साथ इस ऐतिहासिक गवेषणा का कोई सम्पर्क नही है। ऐतिहासिक गवेषणा मे शास्त्रोल्लिखित व्यक्ति यदि काल्पनिक भी ठहरे, तो भी उससे सनातन धर्म को कोई ठेस नही पहुँचती। अच्छा, यदि धर्म-साधना के साथ ऐतिहासिक गवेषणा का कोई सम्पर्क न हो, तो ऐतिहासिक गवेषणा का क्या फिर कोई मूल्य नही है?—इसका उत्तर देते हुए स्वामी जी ने समझाया कि निर्भीक भाव से इन सब ऐतिहासिक सत्यानु-सन्धानो का भी एक विशेष प्रयोजन है। उद्देश्य महान् होने पर भी उसके लिए मिथ्या इतिहास की रचना करने का कोई प्रयोजन नही! प्रत्युत यदि मनुष्य सभी विषयो मे सत्य का सम्पूर्ण रूप से आश्रय लेने के लिए प्राणपण से यत्न करे,

तो वह एक दिन सत्यस्वरूप भगवान् का भी साक्षात्कार कर सकता है। उसके बाद उन्होंने गीता के मूल तत्त्व सर्वधर्मसमन्वय और निष्काम कर्म की संक्षेप में व्याख्या करके श्लोक पढ़ना आरम्भ किया। द्वितीय अध्याय के 'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ' इत्यादि में युद्ध के लिए अर्जुन के प्रति श्री कृष्ण के जो उत्तेजनात्मक वचन हैं उन्हें पढ़कर वे स्वयं सर्वसाधारण को जिस भाव से उपदेश देते थे वह उन्हें स्मरण हो आया—'नैतत्त्वय्युपपद्यते'—यह तो तुम्हें शोभा नहीं देता'—तुम सर्वशक्तिमान हो तुम ब्रह्म हो तुममें जो अनेक प्रकार के विपरीत भाव देख रहा हूँ वह सब तो तुम्हें शोभा नहीं देता। मसीहा के समान ओजस्विनी भाषा में इस सब तत्त्वों को समझाते समझाते उनके भीतर से मानो तेज निकलने लगा। स्वामी जी कहने लगे 'जब सबको ब्रह्म-दृष्टि से देखना है तो महापापी को भी घृणा-दृष्टि से देखना उचित न होगा। महापापी से घृणा मत करो" यह कहते कहते स्वामी जी के मुख पर जो भावान्तर हुआ वह छवि आज भी मेरे मानसपटल पर अंकित है—मानो उनके श्रीमुख से प्रेम धारधारा बन बह निकला। श्रीमुख मानो प्रेम से दीप्त हो उठा—उसमें कठोरता का लेशमात्र भी नहीं।

इस एक श्लोक में ही सम्पूर्ण गीता का सार निहित देखकर स्वामी जी ने अन्त में यह कहते हुए उपसंहार किया 'इस एक श्लोक को पढ़ने से ही समग्र गीता के पाठ का फल होता है।

७

एक दिन स्वामी जी ने ब्रह्मसूत्र लाने के लिए कहा। कहने लगे 'ब्रह्मसूत्र के भाष्य को बिना पढ़े इस समय स्वतन्त्र रूप से तुम सब लोग सूत्रों का अर्थ समझने की चेष्टा करो। प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के सूत्रों का पढ़ना प्रारम्भ हुआ। स्वामी जी शुद्ध रूप से संस्कृत उच्चारण करने की शिक्षा देने लगे कहने लगे संस्कृत भाषा का उच्चारण हम लोग ठीक ठीक नहीं करते। इसका उच्चारण तो इतना सरल है कि थोड़ी चेष्टा करने से ही सब लोग संस्कृत का शुद्ध उच्चारण कर सकते हैं। हम लोग बचपन से ही दूसरे प्रकार का उच्चारण करने के आदी हो गये हैं इसीलिए इस प्रकार का उच्चारण अभी हम लोगों को इतना नया और कठिन मालूम होता है। हम लोग 'आत्मा' शब्द का उच्चारण 'आत्मा' न करके 'आत्ताँ' क्यों करते हैं? महर्षि पतंजलि अपने महाभाष्य में कहते हैं—'अपशब्द उच्चारण करनेवाला म्लेच्छ है। अतः उनके मत से हम सब तो म्लेच्छ ही हुए। तब नवीन ब्रह्मचारी और संन्यासीगण एक एक करके जहाँ तक बन सका ठीक ठीक उच्चारण करके ब्रह्मसूत्र पढ़ने लगे। बाद में स्वामी जी यह उपाय बतलाने

लगे, जिससे सूत्र का प्रत्येक शब्द लेकर उसका अक्षरार्थ किया जा सके। उन्होंने कहा, "कौन कहता है कि ये सूत्र केवल अद्वैत मत के परिपोषक हैं? शकर अद्वैत-वादी थे, इसलिए उन्होने सभी सूत्रो की केवल अद्वैत मतपरक व्याख्या करने की चेष्टा की है, किन्तु तुम लोग सूत्र का अक्षरार्थ करने की चेष्टा करना—व्यास का यथार्थ अभिप्राय क्या है, यह समझने की चेष्टा करना। उदाहरण के रूप मे देखो—**अस्मिन्नस्य च तद्योग शास्ति**[1]—मेरे मतानुसार इस सूत्र की ठीक ठीक व्याख्या यह है कि यहाँ अद्वैत और विशिष्टाद्वैत, दोनो ही वाद भगवान् वेदव्यास द्वारा इगित हुए हैं।

स्वामी जी एक ओर जैसे गम्भीर प्रकृतिवाले थे, उसी तरह दूसरी ओर रसिक भी थे। पढते पढते **कामाच्च नानुमानापेक्षा**[2] सूत्र आया। स्वामी जी इस सूत्र को लेकर स्वामी प्रेमानन्द के निकट इसका विकृत अर्थ करके हँसने लगे। सूत्र का सच्चा अर्थ यह है—जब उपनिषद् मे, जगत्कारण के प्रसग मे 'सोऽकामयत' (उन्होने अर्थात् उन्ही जगत्कारण ने कामना की) इस तरह का वचन है, तब 'अनुमानगम्य' (अचेतन) प्रधान या प्रकृति को जगत्कारण रूप मे स्वीकार करने की कोई आव-श्यकता नही। जिन्होने शास्त्र-ग्रन्थो का अपनी अपनी अद्भुत रुचि के अनुसार कुत्सित अर्थ करके ऐसे पवित्र सनातन धर्म को घोर विकृत कर डाला है और ग्रन्थकार का जो अर्थ किसी भी काल मे अभिप्रेत नही था, ग्रन्थकार ने जिसे स्वप्न मे भी नही सोचा था, ऐसे सभी विषयो को जिन्होने ग्रन्थ-प्रतिपाद्य बातें सिद्ध करते हुए धर्म को शिष्ट जनो से 'दूरात्परिहर्तव्य' कर डाला है, क्या स्वामी जी उन्ही लोगो का तो उपहास नही कर रहे थे? अथवा, वे जैसे कभी कभी कहा करते थे, कठिन शुष्क ग्रन्थ की धारणा कराने के लिए वे बीच बीच मे साधारण मन के उपयुक्त रसिकता लाकर दूसरो को अनायास ही उस ग्रन्थ की धारणा करा देते थे, तो सम्भवत कही वही चेष्टा तो नही कर रहे थे?

जो भी हो, पाठ चलने लगा। बाद मे **शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्**[3] सूत्र आया। इस सूत्र की व्याख्या करके स्वामी जी स्वामी प्रेमानन्द की ओर देख-कर कहने लगे, "देखो, तुम्हारे ठाकुर[4] जो अपने को भगवान् कहते थे, सो इसी भाव से कहते थे।" पर यह कहकर ही स्वामी जी दूसरी ओर मुँह फेरकर कहने

---

१ ब्रह्मसूत्र ॥१।१।१९॥
२ वही, १८
३ वही, ३०
४ भगवान् श्री रामकृष्ण देव।

लगे "किन्तु उन्होंने मुझसे अपने अन्तिम समय में कहा था—'जो राम जो कृष्ण वही अब रामकृष्ण तेरे वेदान्त की दृष्टि से नहीं।'" यह कहकर दूसरा सूत्र पढ़ने के लिए कहा।

यहाँ पर इस सूत्र के सम्बन्ध में कुछ व्याख्या करनी आवश्यक है। कौषीतकी उपनिषद् में इन्द्र प्रतर्दन संवाद नामक एक आख्यायिका है। उसमें लिखा है, प्रतर्दन नामक एक राजा ने देवराज इन्द्र को सन्तुष्ट किया। इन्द्र ने उसे वर देना चाहा। इस पर प्रतर्दन ने उनसे यह वर माँगा कि आप मानव के लिए जो सबसे अधिक कल्याणकारी समझते हैं वही वर मुझे दें। इस पर इन्द्र ने उसे उपदेश दिया—मां विजानीहि—'मुझे जानो'। यहाँ पर सूत्रकार ने यह प्रश्न उठाया है कि 'मुझे' के अर्थ में इन्द्र ने किसको लक्ष्य किया है। सम्पूर्ण आख्यायिका का अध्ययन करने पर पहले अनेक सन्देह होते हैं—'मुझे' कहने से स्थान स्थान पर ऐसा भाव होता है कि उसका आशय 'देवता' से है, कहीं कहीं पर ऐसा मालूम होता है कि उसका आशय 'प्राण' से है कहीं पर 'जीव' से तो कहीं पर 'ब्रह्म' से। यहाँ पर अनेक प्रकार के विचार द्वारा सूत्रकार सिद्धान्त करते हैं कि इस स्थल में 'मुझे' पद का आशय है 'ब्रह्म' से। 'शास्त्रदृष्ट्या' इत्यादि सूत्र के द्वारा सूत्रकार ऐसा एक उदाहरण दिखलाते हैं जिससे इन्द्र का उपदेश इसी अर्थ में संगत होता है। उपनिषद् के एक स्थल में है कि वामदेव ऋषि ब्रह्मज्ञान लाभ कर बोले थे —मैं मनु हुआ हूँ मैं सूर्य हुआ हूँ। इन्द्र ने भी इसी प्रकार शास्त्र प्रतिपाद्य ब्रह्म *ज्ञान को प्राप्त कर कहा था—मां विजानीहि (मुझे जानो)। यहाँ पर 'मैं' और* 'ब्रह्म' एक ही बात है।

स्वामी जी भी स्वामी प्रेमानन्द से कहने लगे 'श्री रामकृष्ण देव जो कभी कभी अपने को भगवान् कहकर निर्देश करते थे सो वह इस ब्रह्मज्ञान की अवस्था प्राप्त होने के कारण ही करते थे। वास्तव में वे तो सिद्ध पुरुष मात्र थे अवतार नहीं। पर यह बात कहकर ही उन्होंने धीरे से एक दूसरे व्यक्ति से कहा "श्री रामकृष्ण स्वयं अपने सम्बन्ध में कहते थे मैं केवल ब्रह्मज्ञ पुरुष ही नहीं हूँ मैं अवतार हूँ। अतः जैसा कि हमारे एक मित्र कहा करते थे श्री रामकृष्ण को एक साधु या सिद्ध पुरुष मात्र नहीं कहा जा सकता यदि उनकी बातों पर विश्वास करना है तो उन्हें अवतार कहकर मानना होगा नहीं तो ढोंगी कहना होगा।

जो हो स्वामी जी की बात से मेरा एक विशेष उपकार हुआ। सामान्य अंग्रेजी पढ़कर चाहे और कुछ सीखा हो या न सीखा हो किन्तु सन्देह करना तो अच्छी तरह सीखा था। मेरी यह धारणा थी कि महापुरुषों के शिष्यगण अपने गुरु की बड़ाई कर उन्हें अनेक प्रकार की कल्पना और अतिरंजना का विषय बना

देते हैं। परन्तु स्वामी जी की अद्‌भुत अकपटता और सत्यनिष्ठा को देखकर, वे भी किसी प्रकार की अतिरंजना कर सकते हैं, यह धारणा एकदम दूर हो गयी। स्वामी जी के वचन ध्रुव सत्य है, यही धारणा हुई। इसलिए उनके वाक्य मे श्री रामकृष्ण देव के सम्बन्ध मे एक नवीन प्रकाश पाया। जो राम, जो कृष्ण, वही अब रामकृष्ण—यह बात उन्होंने स्वय कही है, अभी यही बात हम समझने की चेष्टा कर रहे हैं। स्वामी जी मे अपार दया थी, वे हम लोगो से सन्देह छोड देने को नही कहते थे, चट से किसीकी बात मे विश्वास कर लेने के लिए उन्होंने कभी नही कहा। वे तो कहते थे, "इस अद्‌भुत रामकृष्ण-चरित्र की तुम लोग अपनी विद्या-बुद्धि के द्वारा जहाँ तक हो सके, आलोचना करो, इसका अध्ययन करो—मैं तो इसका एक लक्षाश भी समझ न पाया। उनको समझने की जितनी चेष्टा करोगे, उतना ही सुख पाओगे, उतना ही उनमे डूब जाओगे।"

८

स्वामी जी एक दिन हम सबको पूजा-गृह मे ले जाकर साधन-भजन सिखलाने लगे। उन्होंने कहा, "पहले सब लोग आसन लगाकर बैठो, चिन्तन करो—मेरा आसन दृढ हो, यह आसन अचल-अटल हो, इसीकी सहायता से मैं ससार-समुद्र के पार होऊँगा।" सभी ने बैठकर कई मिनट तक इस प्रकार चिन्तन किया। उसके बाद स्वामी जी फिर कहने लगे, "चिन्तन करो—मेरा शरीर नीरोग और स्वस्थ है, वज्र के समान दृढ है, इसी देह की सहायता से मैं ससार को पार करूँगा।" इस प्रकार कुछ देर तक चिन्तन करने के बाद स्वामी जी फिर कहने लगे, "अब इस प्रकार चिन्तन करो कि मेरे निकट से पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारो दिशाओ मे प्रेम का प्रवाह बह रहा है—हृदय के भीतर से सम्पूर्ण जगत् के लिए शुभकामना हो रही है—सभी का कल्याण हो, सभी स्वस्थ और नीरोग हो। इस प्रकार चिन्तन करने के बाद कुछ देर प्राणायाम करना, अधिक नही, तीन प्राणायाम करने से ही काफी है। इसके बाद हृदय मे अपने अपने इष्टदेव की मूर्ति का चिन्तन और मन्त्र-जप लगभग आध घटे तक करना।" सब लोग स्वामी जी के उपदेशानुसार चिन्तन आदि की चेष्टा करने लगे।

इस प्रकार सामूहिक साधनानुष्ठान मठ मे दीर्घ काल तक होता रहा है, एव स्वामी जी की आज्ञा से स्वामी तुरीयानन्द नवीन सन्यासियो और ब्रह्मचारियो को लेकर बहुत समय तक, 'इस बार इस प्रकार चिन्तन करो, उसके बाद ऐसा करो,' इस तरह बतला बतलाकर और स्वय अनुष्ठान कर स्वामी जी द्वारा बतलायी गयी साधना-प्रणाली का अभ्यास कराते थे।

१

एक दिन सबेरे ९।। बजे मैं एक कमरे में बैठकर कुछ कर रहा था, उसी समय सहसा तुलसी महाराज (स्वामी निर्मलानन्द) आकर बोले, 'स्वामी जी से दीक्षा लोगे?" मैंने कहा, 'जी हाँ।' इसके पहले मैंने कुलगुरु या और किसीके पास किसी प्रकार मन्त्र-दीक्षा नहीं ली थी। एक योगी के पास प्राणायाम आदि कुछ योग-क्रियाओं का मैंने तीन वर्ष तक साधन किया था और उससे बहुत कुछ शारीरिक उन्नति और मन की स्थिरता भी मुझे प्राप्त हुई थी, किन्तु वे गृहस्थाश्रम का अवलम्बन करना अत्यावश्यक बतलाते थे और प्राणायाम आदि योग-क्रिया को छोड़कर ज्ञान, भक्ति आदि अन्यान्य मार्गों को बिल्कुल व्यर्थ कहते थे। इस प्रकार की कट्टरता मुझे बिल्कुल अच्छी नहीं लगती थी। दूसरी ओर, मठ के कोई कोई संन्यासी और उनके भक्तगण योग का नाम सुनते ही बात को हँसी में उड़ा देते थे। 'उससे विशेष कुछ नहीं होता', 'श्री रामकृष्ण देव उसके उतने पक्षपाती नहीं थे', इत्यादि बातें मैं उन लोगों से सुना करता था। पर जब मैंने स्वामी जी का राजयोग पढ़ा, तो समझा कि इस ग्रन्थ के प्रणेता जैसे योगमार्ग के समर्थक हैं वैसे ही अन्यान्य मार्गों के प्रति भी श्रद्धालु हैं, अतएव कट्टर तो हैं ही नहीं, अपितु इस प्रकार के उदार भावसम्पन्न आचार्य मुझे कभी दृष्टिगोचर नहीं हुए, तिस पर वे संन्यासी भी हैं —अतएव उनके प्रति यदि मेरे हृदय में विशेष श्रद्धा हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या? बाद में मैंने विशेष रूप से जाना कि श्री रामकृष्ण देव साधारणतया प्राणायाम आदि योग-क्रिया का उपदेश नहीं दिया करते थे। वे जप और ध्यान पर ही विशेष रूप से जोर देते थे। वे कहा करते थे, 'ध्यानावस्था के प्रगाढ़ होने पर अथवा भक्ति की प्रबलता आने पर प्राणायाम स्वयमेव हो जाता है, इन सब दैहिक क्रियाओं का अनुष्ठान करने से अनेक बार मन देह की ओर आकृष्ट हो जाता है।' किन्तु अन्तरंग शिष्यों से वे योग के उच्च अंगों की साधना कराते थे, उन्हें स्पर्श करके अपनी आध्यात्मिक शक्ति के बल से उन लोगों की कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर देते थे एवं षट्चक्र के विभिन्न चक्रों में मन की स्थिरता की सुविधा के लिए समय समय पर शरीर के किसी विशिष्ट अंग में उँगली घुमाकर वहाँ मन को स्थिर करने के लिए कहते थे। स्वामी जी ने अपने पाश्चात्य शिष्यों में से बहुतों को प्राणायाम आदि क्रियाओं का जो उपदेश दिया था, वह मैं समझता हूँ, उनका अपना कपोलकल्पित नहीं था, वरन् उनके गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग था। स्वामी जी इस बात पर जोर देते थे कि यदि किसीको सचमुच सन्मार्ग में प्रवृत्त करना हो, तो उसीकी भाषा में उसे उपदेश देना होगा। इसी भाव का अनुसरण करके वे धर्मजिज्ञासु अथवा अधिकारीविशेष को भिन्न भिन्न साधना

प्रणाली की शिक्षा देते थे और इस तरह सभी प्रकार की प्रकृतिवाले मनुष्यो को थोडी-बहुत आध्यात्मिक सहायता देने मे सफल होते थे।

जो हो, मैं इतने दिनो से उनका उपदेश सुन रहा हूँ, किन्तु उनके पास से मुझे अभी तक किसी प्रकार की प्रत्यक्ष आध्यात्मिक सहायता नही मिली, और उसके लिए मैंने चेष्टा भी नही की। चेष्टा न करने का कारण यह था कि मुझे करने का साहस नही होता था, और शायद मन के भीतर यह भी भाव था कि जब मैं इनके आश्रित हुआ हूँ, तो जो जो मेरे लिए आवश्यक है, सभी पाऊँगा। किस प्रकार वे मेरी आध्यात्मिक सहायता करेंगे, यह मैं नही जानता था। इस समय स्वामी निर्मलानन्द के ऐसे विनमाँगे आह्वान से मन मे और किसी प्रकार की दुविधा नही रही। 'लूँगा' ऐसा कहकर उनके साथ पूजा-गृह की ओर बढ़ा। मैं नही जानता था कि उस दिन श्रीयुत शरच्चन्द्र चक्रवर्ती भी दीक्षा ले रहे हैं। उस समय दीक्षा-दान समाप्त नही हुआ था, इसलिए, स्मरण है, पूजा-गृह के बाहर कुछ देर तक मुझे प्रतीक्षा करनी पडी थी। बाद मे शरत् बाबू बाहर आये, तो उसी समय तुलसी महाराज मुझे ले जाकर स्वामी जी से बोले, "यह दीक्षा लेगा।" स्वामी जी ने मुझसे बैठने के लिए कहा। पहले ही उन्होंने पूछा, "तुझे साकार अच्छा लगता है या निराकार?"

मैंने कहा, "कभी साकार अच्छा लगता है, कभी निराकार।"

इसके उत्तर मे वे बोले, "वैसा नही, गुरु समझ सकते हैं, किसका क्या मार्ग है, हाथ देखूं।" ऐसा कहकर मेरा दाहिना हाथ कुछ देर तक लेकर थोडी देर जैसे ध्यान करने लगे। उसके बाद हाथ छोडकर बोले, "तूने कभी घट-स्थापना करके पूजा की है?" घर छोडने के कुछ पहले घट-स्थापना करके मैंने बहुत देर तक कोई पूजा की थी। वह बात मैंने उनसे बतायी। तब एक देवता का मन्त्र बताकर उन्होने उसे अच्छी तरह मुझे समझा दिया और कहा, "इस मन्त्र से तेरा कल्याण होगा। और घट-स्थापना करके पूजा करने से तेरा कल्याण होगा।" उसके बाद मेरे सम्बन्ध मे एक भविष्यवाणी करके, उन्होने सामने पडे हुए कुछ फलो को गुरु-दक्षिणा के रूप मे देने के लिए मुझसे कहा।

मैंने देखा, यदि मुझे भगवान् के शक्तिस्वरूप किन्ही देवता की उपासना करनी हो, तो मुझे स्वामी जी ने जिन देवता के मन्त्र का उपदेश दिया है, वे ही देवता मेरी प्रकृति के साथ पूर्णरूपेण मेल खाते हैं। सुना था—सच्चे गुरु शिष्य की प्रकृति को समझकर मन्त्र देते हैं। स्वामी जी मे आज उसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिला।

दीक्षा-दान के कुछ देर बाद स्वामी जी का भोजन हुआ। स्वामी जी की थाली मे से मैंने और शरच्चन्द्र बाबू ने प्रसाद ग्रहण किया।

उस समय श्रीयुत नरेन्द्रनाथ सेन द्वारा सम्पादित 'इण्डियन मिरर' नामक अंग्रेजी दैनिक मठ में बिना मूल्य दिया जाता था, किन्तु मठ के संन्यासियों की ऐसी स्थिति नहीं थी कि उसका डाक-खर्च भी दे सकते। वह पत्र एक पत्रवाहक द्वारा बराहनगर तक वितरित होता था। बराहनगर में 'देवालय' के प्रतिष्ठाता सेवाव्रती श्री शशिपद बन्द्योपाध्याय द्वारा प्रतिष्ठित एक विधवाश्रम था। वहाँ पर इस आश्रम के लिए उक्त पत्र की एक प्रति आती थी। 'इण्डियन मिरर' का पत्रवाहक बस वहीं तक आता था, इसलिए मठ का समाचारपत्र भी वहीं दे जाता था। वहीं से प्रतिदिन पत्र को मठ में लाना पड़ता था। उक्त विधवाश्रम के ऊपर स्वामी जी की यथेष्ट सहानुभूति थी। अमेरिका-प्रवास में इस आश्रम की सहायता के लिए स्वामी जी ने अपनी इच्छा से एक व्याख्यान दिया था और उस व्याख्यान के टिकट बेचकर जो कुछ आय हुई, उसे इस आश्रम में दे दिया था। अस्तु, उस समय मठ के लिए बाजार करना, पूजा का आयोजन करना आदि सभी कार्य कन्हाई महाराज (स्वामी निर्भयानन्द) को करना पड़ता था। इस 'इण्डियन मिरर' पत्र को लाने का भार भी उन्हीं के ऊपर था। उस समय मठ में हम लोग बहुत से नवदीक्षित संन्यासी ब्रह्मचारी आ जुटे थे, किन्तु तब भी मठ के सब कार्यों का भार सब पर नहीं बाँटा गया था। इसलिए स्वामी निर्भयानन्द को यथेष्ट कार्य करना पड़ता था। अतएव उनके भी मन में आता था कि अपने कार्यों में से थोड़ा थोड़ा कार्य यदि नवीन साधुओं को दे सकें तो कुछ अवकाश मिले। इस उद्देश्य से उन्होंने मुझसे कहा, "देखो, जिस जगह 'इण्डियन मिरर' आता है, उस स्थान को तुम्हें दिखला दूँगा —तुम वहाँ से प्रतिदिन समाचारपत्र ले आना।" मैंने उसे अत्यन्त सरल कार्य समझकर एवं इससे एक व्यक्ति का कार्य-भार कुछ हलका होगा, ऐसा सोचकर, सहज में ही स्वीकार कर लिया। एक दिन दोपहर के भोजन के बाद कुछ देर विश्राम कर लेने पर निर्भयानन्द जी ने मुझसे कहा, "चलो, वह विधवाश्रम तुम्हें दिखला दूँ।" मैं उनके साथ जाने के लिए तैयार हुआ। इसी बीच स्वामी जी ने मुझे देखकर वेदान्त पढ़ने के लिए बुलाया। मैंने कहा कि मैं अमुक कार्य से जा रहा हूँ। इस पर स्वामी जी कुछ नहीं बोले। मैं कन्हाई महाराज के साथ बाहर जाकर उस स्थान को देख आया। लौटकर जब मठ में आया तो अपने एक ब्रह्मचारी मित्र से सुना कि मेरे चले जाने के कुछ देर बाद स्वामी जी किसीसे कह रहे थे, "यह लड़का कहाँ गया है? क्या स्त्रियों को तो देखने नहीं गया?" इस बात को सुनकर मैंने कन्हाई महाराज से कहा, "भाई, मैं स्थान देख तो आया, पर समाचारपत्र लाने के लिए अब वहाँ न जा सकूँगा।

शिष्यों के, विशेषत नवीन ब्रह्मचारियों के चरित्र की जिनसे रक्षा हो, उस विषय मे स्वामी जी विशेष सावधान थे। कलकत्ते मे विशेष प्रयोजन के विना कोई साधु-ब्रह्मचारी रहे या रात वितायें—यह उन्हे विल्कुल पसन्द न था, और विशेषत वह स्थान, जहाँ स्त्रियो के सस्पर्श मे आना होता था। इसके सैकडो उदाहरण देख चुका हूँ।

स्वामी जी जिस दिन मठ से रवाना होकर अल्मोडा जाने के लिए कलकत्ता गये, उस दिन सीढी के वगल के वरामदे मे खडे होकर अत्यन्त आग्रह के साथ नवीन ब्रह्मचारियो को सम्वोधन करके ब्रह्मचर्य के वारे मे उन्होंने जो वाते कही थी, वे मानो अभी भी मेरे कानो मे गूंज रही है। उन्होंने कहा—

"देखो वच्चो, ब्रह्मचर्य के विना कुछ भी न होगा। धर्म-जीवन का लाभ करना हो, तो उसमे ब्रह्मचर्य ही एकमात्र सहायक है। तुम लोग स्त्रियो के सस्पर्श मे विल्कुल न आना। मैं तुम लोगों को स्त्रियो से घृणा करने के लिए नही कहता, वे तो साक्षात् भगवतीस्वरूपा हैं, किन्तु अपने को वचाने के लिए तुम लोगो को उनसे दूर रहने के लिए कहता हूँ। मैंने अपने व्याख्यानो मे वहुत जगह जो कहा है कि ससार मे रहकर भी धर्म होता है, सो वह पढकर मन मे ऐसा न समझ लेना कि मेरे मत मे ब्रह्मचर्य या सन्यास धर्म-जीवन के लिए अत्यावश्यक नही है। क्या करता, उन सव भाषणो के सुननेवाले सभी ससारी थे, सभी गृही थे—उनके सामने पूर्ण ब्रह्मचर्य की वात यदि एकदम कहने लगता, तो दूसरे दिन से कोई भी मेरा व्याख्यान सुनने न आता। ऐसे लोगो के लिए छूट-ढिलाई दिये जाने पर, वे क्रमश पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर आकृष्ट होते हैं, इसीलिए मैंने उस प्रकार के भाषण दिये थे। किन्तु अपने मन की वात तुम लोगो से कहता हूँ—ब्रह्मचर्य के विना तनिक भी धर्मलाभ न होगा। काया, मन और वाणी से तुम लोग ब्रह्मचर्य का पालन करना।"

१०

एक दिन विलायत से कोई पत्र आया। उसे पढकर स्वामी जी उसी प्रसग मे, धर्म-प्रचारक में कौन कौन से गुण रहने पर वह सफल हो सकेगा, यह बताने लगे। अपने शरीर के भिन्न भिन्न अवयवो की ओर लक्ष्य करके कहने लगे कि धर्म-प्रचारक का अमुक अग खुला रहना आवश्यक है और अमुक अग बन्द। अर्थात् उसका सिर, हृदय और मुख खुला रहना चाहिए, यानी उसे प्रबल मेधावी, सहृदय और वाग्मी होना चाहिए। और उसके अधोदेश के अगो का कार्य बन्द होगा, अर्थात् वह पूर्ण ब्रह्मचारी होगा। एक प्रचारक को लक्ष्य करके कहने लगे,

"उसमें सभी गुण हैं केवल एक हृदय का अभाव है—ठीक है क्रमशः हृदय भी खुल जायगा।

उस पत्र में यह संवाद था कि भगिनी निवेदिता (उस समय कुमारी नोबल) इंग्लैण्ड से भारत के लिए शीघ्र ही रवाना होंगी। निवेदिता की प्रशंसा करने में स्वामी जी शतमुख हो गये। कहने लगे 'इंग्लैण्ड में इस प्रकार की पवित्र चरित्र महानुभाव नारियाँ बहुत कम हैं। मैं यदि कल मर जाऊँ, तो वह मेरे काम को चालू रखेगी। स्वामी जी की यह भविष्यवाणी सफल हुई थी।

११

स्वामी जी के पास पत्र आया है कि वेदान्त के श्रीभाष्य के अंग्रेजी अनुवादक तथा स्वामी जी की सहायता द्वारा मद्रास से प्रकाशित होनेवाले विख्यात 'ब्रह्म वादिन्' पत्र के प्रधान लेखक एवं मद्रास के प्रतिष्ठित अध्यापक श्रीयुत रंगाचार्य तीर्थ भ्रमण के सिलसिले में शीघ्र ही कलकत्ता आयेंगे। स्वामी जी मध्याह्न समय मुझसे बोले 'पत्र लिखने के लिए कागज और कलम लाकर जरा लिख तो और देख थोड़ा पीने के लिए पानी भी लेता आ। मैंने एक गिलास पानी लाकर स्वामी जी को दिया और डरते हुए धीरे धीरे बोला 'मेरे हाथ की लिखावट उतनी अच्छी नहीं है। मैंने सोचा था शायद विलायत या अमेरिका के लिए कोई पत्र लिखना होगा। स्वामी जी इस पर बोले 'कोई हरज नहीं या लिख foreign letter (विलायती पत्र) नहीं है। तब मैं कागज-कलम लेकर पत्र लिखने के लिए बैठा। स्वामी जी अंग्रेजी में बोलने लगे। उन्होंने अध्यापक रंगाचार्य को एक पत्र लिखाया और एक पत्र किसी दूसरे को लिखे—यह ठीक स्मरण नहीं है। मुझे याद है—रंगाचार्य को बहुत सी दूसरी बातों में एक यह भी बात लिखायी थी 'बंगाल में वेदान्त की वैसी चर्चा नहीं है अतएव जब आप कलकत्ता आ रहे हैं तो कलकत्तावासियों को जरा हिलाकर जायें। कलकत्ते में जिससे वेदान्त की चर्चा बढ़े कलकत्तावासी जिससे थोड़ा सचेत हों उसके लिए स्वामी जी कितने सचेष्ट थे! स्वामी जी ने अस्वस्थ होने के कारण चिकित्सकों के साग्रह अनुरोध से कलकत्ते में केवल दो व्याख्यान देकर फिर व्याख्यान देना बन्द कर दिया था किन्तु तो भी जब कभी सुविधा पाते कलकत्तावासियों की धर्म भावना को जाग्रत करने की चेष्टा करते रहते थे। स्वामी जी के इस पत्र के फलस्वरूप इसके कुछ दिन बाद कलकत्तावासियों ने स्टार रंगमंच पर उक्त पण्डित प्रवर का दि प्रीस्ट ऐण्ड दि प्रॉफेट (पुरोहित और ऋषि) नामक सारगर्भित व्याख्यान सुनने का सौभाग्य प्राप्त किया था।

१२

इसी समय, एक बगाली युवक मठ मे आया और उसने वहाँ साधु होकर रहने की इच्छा प्रकट की। स्वामी जी तथा वहाँ के अन्यान्य साधु उसके चरित्र से पहले ही से विशेषतया परिचित थे। उसको आश्रमवासी होने मे अनुपयुक्त समझकर कोई भी उसे मठ मे रखने के पक्ष मे नही था। पर उसके पुन पुन प्रार्थना करने पर स्वामी जी ने उससे कहा, "मठ के साधुओ का यदि मत हो, तो तुम्हें रख सकता हूँ।" यह कहकर पुराने साधुओ को बुलाकर उन्होने पूछा, "इसको मठ मे रखने के बारे मे तुम लोगो का क्या मत है?" उस पर सभी साधुओ ने उसे मठ मे रखने मे अनिच्छा प्रदर्शित की। अत उस युवक को मठ मे नही रखा गया। इसके कुछ दिनो बाद सुना कि वह व्यक्ति किसी तरह विलायत गया, और पास मे पैसा-कौडी न रहने के कारण उसे 'वर्क-हाउस' मे रहना पडा।

१३

एक दिन अपराह्न काल मे स्वामी जी मठ के बरामदे मे हम लोगो को लेकर वेदान्त पढाने बैठे। सन्ध्या होने ही वाली थी। स्वामी रामकृष्णानन्द को इससे कुछ दिन पहले स्वामी जी ने प्रचार-कार्य के लिए मद्रास भेजा था। इसीलिए उस समय मठ मे पूजा-आरती आदि उनके एक दूसरे गुरुभ्राता सँभालते थे। आरती आदि मे जो लोग उनकी सहायता करते थे, उन्हे भी लेकर स्वामी जी वेदान्त पढाने बैठे थे। उसी समय उक्त गुरुभ्राता आकर नवीन सन्यासी-ब्रह्मचारियो से कहने लगे, "चलो जी, चलो, आरती करनी होगी, चलो।" उस समय एक ओर स्वामी जी के आदेश से सभी वेदान्त पढने मे लगे हुए थे, और दूसरी ओर इनके आदेश से ठाकुर जी की आरती मे सहयोग देना चाहिए। अतएव नवीन साधु लोग कुछ समय असमजस मे पड गये। तब स्वामी जी अपने गुरुभ्राता को सम्बोधित करके उत्तेजित होकर कहने लगे, "यह जो वेदान्त पढा जा रहा था, यह क्या ठाकुर की पूजा नही है? केवल एक चित्र के सामने जलती हुई बत्ती घुमाना और झांझ पीटना—मालूम होता है, इसीको तुम भगवान् की आराधना समझते हो! तुम्हारी बुद्धि बडी ओछी है।" इस तरह कहते कहते, जरा और भी अधिक उत्तेजित हो इस प्रकार वेदान्त-पाठ मे बाधा उपस्थित करने के कारण कुछ और भी अधिक कडे वाक्य कहने लगे। फल यह हुआ कि वेदान्त-पाठ बन्द हो गया। कुछ देर बाद आरती भी समाप्त हो गयी। किन्तु आरती के बाद उक्त गुरुभ्राता चुपके से कहीं चले गये। तब तो स्वामी जी भी अत्यन्त व्याकुल होकर बारम्बार "वह कहाँ गया, क्या वह मेरी गाली खाकर गगा मे तो नहीं

डूब गया। इस तरह कहने लगे और सभी लोगों को उन्हें ढूँढ़ने के लिए चारों ओर भेजा। बहुत देर बाद मठ की छत पर चिन्तित भाव से उन्हें बैठे हुए देखकर एक व्यक्ति उन्हें स्वामी जी के पास ले आये। उस समय स्वामी जी का भाव एकदम परिवर्तित हो गया। उन्होंने उनका कितना दुलार किया और कितनी मधुर वाणी में उनसे बातें करने लगे। हम लोग स्वामी जी का गुरुभाई के प्रति अपूर्व प्रेम देखकर मुग्ध हो गये। तब हम लोगों को मालूम हुआ कि गुरुभाइयों के ऊपर स्वामी जी का अगाध विश्वास और प्रेम है। उनकी आन्तरिक चेष्टा यही रहती थी कि वे लोग अपनी निष्ठा को सुरक्षित रखकर अधिकाधिक उन्नत एवं उदार बन सकें। बाद में स्वामी जी के श्रीमुख से अनेक बार सुना है कि स्वामी जी जिनकी अधिक भर्त्सना करते थे वे ही उनके विशेष प्रीति-पात्र थे।

१४

एक दिन बरामदे में टहलते-टहलते उन्होंने मुझसे कहा 'देख मठ की एक डायरी रखना और प्रत्येक सप्ताह मठ की एक रिपोर्ट भेजना।' स्वामी जी के इस आदेश का मैंने और बाद में अन्य व्यक्तियों ने भी पालन किया था। अभी भी मठ की वह आदिम (छोटी) डायरी मठ में सुरक्षित है। उससे अभी भी मठ के क्रम-विकास और स्वामी जी के सम्बन्ध में बहुत से तथ्य संग्रह किये जा सकते हैं।

प्रश्नोत्तर

प्रश्नोत्तर

१

(बेलूड मठ की डायरी से)

प्रश्न—गुरु किसे कह सकते हैं ?

उत्तर—जो तुम्हारे भूत-भविष्य को बता सकें, वे ही तुम्हारे गुरु हैं।

प्रश्न—भक्ति-लाभ किस प्रकार होता है ?।

उत्तर—भक्ति तो तुम्हारे भीतर ही है—केवल उसके ऊपर काम-काचन का एक आवरण सा पडा हुआ है। उसको हटाते ही भीतर की वह भक्ति स्वयमेव प्रकट हो जायगी।

प्रश्न—हमे आत्मनिर्भर होना चाहिए—इस कथन का सच्चा अर्थ क्या है ?

उत्तर—यहाँ 'आत्म' का अर्थ है, चिरतन नित्य आत्मा। फिर भी, इस 'अनित्य अह' पर निर्भरता का अभ्यास भी हमे धीरे धीरे सच्चे लक्ष्य पर पहुँचा देगा, क्योकि जीवात्मा भी तो वस्तुत नित्यात्मा की मायिक अभिव्यक्ति ही तो है।

प्रश्न—यदि सचमुच एक ही वस्तु सत्य हो, तो फिर यह द्वैत-बोध, जो सदा-सर्वदा सबको हो रहा है, कहाँ से आया ?

उत्तर—किसी विषय के प्रत्यक्ष मे कभी द्वैत-बोध नही होता। प्रत्यक्ष के पुन उपस्थित होने मे ही द्वैत का बोध होता है। यदि विषय-प्रत्यक्ष के समय द्वैत-बोध रहता, तो ज्ञेय ज्ञाता से सम्पूर्ण स्वतन्त्र रूप मे तथा ज्ञाता भी ज्ञेय से स्वतन्त्र रूप मे रह सकता।

प्रश्न—चरित्र का सामजस्यपूर्ण विकास करने का सर्वोत्तम उपाय कौन सा है ?

उत्तर—जिनका चरित्र उस रूप से गठित हुआ हो, उनका सग करना ही इसका सर्वोत्कृष्ट उपाय है।

प्रश्न—वेद के विषय मे हमारा दृष्टिकोण किस प्रकार का होना चाहिए ?

उत्तर—वेदो के केवल उन्ही अशो को प्रमाण मानना चाहिए, जो युक्ति-विरोधी नही हैं। पुराणादि अन्यान्य शास्त्र वही तक ग्राह्य है, जहाँ तक वे वेद से अविरोधी हैं। वेद के पश्चात् इस ससार मे जहाँ कही जो भी धर्म-भाव आविर्भूत हुआ है, उसे वेद से ही गृहीत समझना चाहिए।

प्रश्न—यह चार युगों का काल-विभाजन क्या ज्योतिषशास्त्र की गणना के अनुसार सिद्ध है अथवा केवल कल्पित ही है?

उत्तर—वेदों में तो कहीं ऐसे विभाजन का उल्लेख नहीं है। यह पौराणिक युग की निराधार कल्पना मात्र है।

प्रश्न—शब्द और भाव के बीच क्या सचमुच कोई नित्य सम्बन्ध है? अथवा भाव संयोगज और कल्पित?

उत्तर—इस विषय में अनेक तर्क किये जा सकते हैं, किसी स्थिर सिद्धान्त पर पहुँचना बड़ा कठिन है। मालूम होता है कि शब्द और अर्थ के बीच नित्य सम्बन्ध है पर पूर्णतया नहीं जैसा भाषाओं की विविधता से सिद्ध होता है। हाँ कोई सूक्ष्म सम्बन्ध हो सकता है जिसे हम अभी नहीं पकड़ पा रहे हैं।

प्रश्न—भारत में कार्य-प्रणाली कैसी होनी चाहिए?

उत्तर—पहले तो व्यावहारिक और शरीर से सबल होने की शिक्षा देनी चाहिए। ऐसे केवल बारह नर-केसरी संसार पर विजय प्राप्त कर सकते हैं परन्तु लाख-लाख भेड़ों द्वारा यह नहीं होने का। और दूसरे, किसी व्यक्तिगत आदर्श के अनुकरण की शिक्षा नहीं देनी चाहिए, चाहे वह आदर्श कितना ही बड़ा क्यों न हो।

इसके पश्चात् स्वामी जी ने कुछ हिन्दू प्रतीकों की अवनति का वर्णन किया। उन्होंने ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग का भेद समझाया। वास्तव में ज्ञानमार्ग आर्यों का था और इसलिए उसमें अधिकारी-विचार के इतने कड़े नियम थे। भक्ति मार्ग की उत्पत्ति दाक्षिणात्य से—आर्येतर जाति से हुई है इसलिए उसमें अधिकारी-विचार नहीं है।

प्रश्न—भारत के इस पुनरुत्थान में रामकृष्ण मिशन क्या कार्य करेगा?

उत्तर—इस मठ से चरित्रवान व्यक्ति निकलकर सारे संसार को आध्यात्मिकता की बाढ़ से प्लावित कर देंगे। इसके साथ साथ दूसरे क्षेत्रों में भी पुनरुत्थान होगा। इस तरह ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य जाति का अभ्युदय होगा। शूद्र जाति का अस्तित्व समाप्त हो जायगा—वे लोग आज जो काम कर रहे हैं वे सब यंत्रों की सहायता से किये जायँगे। भारत की वर्तमान आवश्यकता है—*क्षत्रिय-शक्ति।*

प्रश्न—*क्या मनुष्य के उत्तरोत्तर अधोगामी पुनर्जन्म संभव है?*

उत्तर—हाँ पुनर्जन्म कर्म पर निर्भर रहता है। यदि मनुष्य पशु के समान आचरण करे, तो वह पशु-योनि में खिंच जाता है।

एक समय (सन् १८९८ ई०) मे इस प्रकार के प्रश्नोत्तर-काल मे स्वामी जी ने मूर्ति-पूजा की उत्पत्ति बौद्ध युग मे मानी थी। उन्होने कहा था—पहले बौद्ध चैत्य, फिर स्तूप, और तत्पश्चात् बुद्ध का मन्दिर निर्मित हुआ। उसके साथ ही हिन्दू देवताओ के मन्दिर खडे हुए।

प्रश्न—क्या कुण्डलिनी नाम की कोई वास्तविक वस्तु इस स्थूल शरीर के भीतर है?

उत्तर—श्री रामकृष्ण देव कहते थे, 'योगी जिन्हे पद्म कहते हैं, वास्तव मे वे मनुष्य के शरीर मे नही हैं। योगाभ्यास से उनकी उत्पत्ति होती है।'

प्रश्न—क्या मूर्ति-पूजा के द्वारा मुक्ति-लाभ हो सकता है?

उत्तर—मूर्ति-पूजा से साक्षात् मुक्ति की प्राप्ति नही हो सकती, फिर भी वह मुक्ति-प्राप्ति मे गौण कारणस्वरूप है—सहायक है। मूर्ति-पूजा की निन्दा करना उचित नही, क्योकि बहुतो के लिए मूर्ति-पूजा ही अद्वैत ज्ञान की उपलब्धि के लिए मन को तैयार कर देती है—और केवल इस अद्वैत-ज्ञान की प्राप्ति से ही मनुष्य मुक्त हो सकता है।

प्रश्न—हमारे चरित्र का सर्वोच्च आदर्श क्या होना चाहिए?

उत्तर—त्याग।

प्रश्न—बौद्ध धर्म ने अपने दाय के रूप मे भ्रष्टाचार कैसे छोडा?

उत्तर—बौद्धो ने प्रत्येक भारतवासी को भिक्षु या भिक्षुणी बनाने का प्रयत्न किया था। परन्तु सब लोग तो वैसा नही हो सकते। इस तरह किसी भी व्यक्ति के साधु बन जाने से भिक्षु-भिक्षुणियो में क्रमश शिथिलता आती गयी। और भी एक कारण था—धर्म के नाम पर तिब्बत तथा अन्यान्य देशों के बर्बर आचारो का अनुकरण करना। वे इन स्थानो मे धर्म-प्रचार के हेतु गये और इस प्रकार उनके भीतर उन लोगो के दूषित आचार प्रवेश कर गये। अन्त मे उन्होंने भारत मे इन सब आचारो को प्रचलित कर दिया।

प्रश्न—माया क्या अनादि और अनन्त है?

उत्तर—समष्टि रूप से अनादि-अनन्त अवश्य है, पर व्यष्टि रूप से सान्त है।

प्रश्न—ब्रह्म और माया का बोध युगपत् नही होता। अत उनमे से किसी-की भी पारमार्थिक सत्ता एक दूसरे से अद्‌भुत कैसे सिद्ध की जा सकती है?

उत्तर—उसको केवल साक्षात्कार द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। जब व्यक्ति को ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, तो उसके लिए माया की सत्ता नही रह जाती, जैसे रस्सी की वास्तविकता जान लेने पर सर्प का भ्रम फिर उत्पन्न

प्रश्न—माया क्या है ?

उत्तर—वास्तव में वस्तु केवल एक ही है—चाहे उसको चैतन्य कहो या जड़। पर उनमें से एक को दूसरे से नितांत स्वतंत्र मानना केवल कठिन ही नहीं असम्भव है। इसीको माया या अज्ञान कहते हैं।

प्रश्न—मुक्ति क्या है ?

उत्तर—मुक्ति का अर्थ है पूर्ण स्वाधीनता—शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाना। लोहे की शृंखला भी शृंखला ही है और सोने की शृंखला भी शृंखला है। श्री रामकृष्ण देव कहते थे 'पैर में काँटा चुभने पर उसे निकालने के लिए एक दूसरे काँटे की आवश्यकता होती है। काँटा निकल जाने पर दोनों काँटे फेंक दिये जाते हैं। इसी तरह सत्प्रवृत्ति के द्वारा असत् प्रवृत्तियों का दमन करना पड़ता है, परन्तु बाद में सत्प्रवृत्तियों पर भी विजय प्राप्त करनी पड़ती है।'

प्रश्न—भगवत्कृपा बिना क्या मुक्ति-लाभ हो सकता है ?

उत्तर—मुक्ति के साथ ईश्वर का कोई सम्बन्ध नहीं है। मुक्ति तो पहले से ही वर्तमान है।

प्रश्न—हमारे भीतर जिसे 'मैं' या 'अहं' कहा जाता है वह देह आदि से उत्पन्न नहीं है, इसका क्या प्रमाण है ?

उत्तर—अनात्मा की भाँति 'मैं' या 'अहं' भी देह-मन आदि से ही उत्पन्न होता है। वास्तविक 'मैं' के अस्तित्व का एकमात्र प्रमाण है साक्षात्कार।

प्रश्न—सच्चा ज्ञानी और सच्चा भक्त किसे कह सकते हैं ?

उत्तर—जिसके हृदय में अथाह प्रेम है और जो सभी अवस्थाओं में अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार करता है, वही सच्चा ज्ञानी है। और सच्चा भक्त वह है जो परमात्मा के साथ जीवात्मा को अभिन्न रूप से उपलब्धि कर यथार्थ ज्ञानसम्पन्न हो गया है, जो सबसे प्रेम करता है और जिसका हृदय सबके लिए रुदन करता है। ज्ञान और भक्ति में से किसी एक का पक्ष लेकर जो दूसरे की निन्दा करता है वह न तो ज्ञानी है, न भक्त—वह तो ढोंगी और धूर्त है।

प्रश्न—ईश्वर की सेवा करने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—यदि तुम एक बार ईश्वर के अस्तित्व को मान लेते हो तो उनकी सेवा करने के यथेष्ट कारण पाओगे। सभी शास्त्रों के मतानुसार भगवत्सेवा का अर्थ है 'स्मरण'। यदि तुम ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते हो, तो तुम्हारे जीवन में पग पग पर उनको स्मरण करने का हेतु सामने आयेगा।

प्रश्न—क्या मायावाद अद्वैतवाद से भिन्न है ?

उत्तर—नही, दोनो एक ही हैं। मायावाद को छोड अद्वैतवाद की और कोई भी व्याख्या सम्भव नही।

प्रश्न—ईश्वर तो अनन्त हैं, वे फिर मनुष्य रूप धारण कर इतने छोटे किस प्रकार हो सकते हैं?

उत्तर—यह सत्य है कि ईश्वर अनन्त है। परन्तु तुम लोग अनन्त का जो अर्थ सोचते हो, अनन्त का वह अर्थ नही है। अनन्त कहने से तुम एक विराट् जड सत्ता समझ बैठते हो। इसी समझ के कारण तुम भ्रम मे पड गये हो। जब तुम यह कहते हो कि भगवान् मनुष्य रूप धारण नहीं कर सकते, तो इसका अर्थ तुम ऐसा समझते हो कि एक विराट् जड पदार्थ को इतना छोटा नही किया जा सकता। परन्तु ईश्वर इस अर्थ मे अनन्त नही है। उसका अनन्तत्व चैतन्य का अनन्तत्व है। इसलिए मानव के आकार मे अपने को अभिव्यक्त करने पर भी उनके स्वरूप को कुछ भी क्षति नही पहुँचती।

प्रश्न—कोई कोई कहते हैं कि पहले सिद्ध बन जाओ, फिर तुम्हे कर्म करने का ठीक ठीक अधिकार होगा, परन्तु कोई कहते हैं कि शुरू से ही कर्म करना, दूसरो की सेवा करना उचित है। इन दो विभिन्न मतो का सामजस्य किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर—तुम तो दो अलग अलग बातों को एक मे मिलाये दे रहे हो, इसलिए भ्रम मे पड गये हो। कर्म का अर्थ है मानव जाति की सेवा अथवा धर्म-प्रचार-कार्य। यथार्थ प्रचार-कार्य मे अवश्य ही सिद्ध पुरुष के अतिरिक्त और किसीका अधिकार नही है, परन्तु सेवा मे तो सभी का अधिकार है, इतना ही नही, जब तक हम दूसरो से सेवा ले रहे हैं, तब तक हम दूसरो की सेवा करने को बाध्य भी हैं।

२

(ब्रुकलिन नैतिक सभा, ब्रुकलिन, अमेरिका)

प्रश्न—आप कहते हैं कि सब कुछ मगल के लिए ही है, परन्तु देखने मे आता है कि ससार सब ओर अमगल और दु ख-कष्ट से घिरा है। तो फिर आपके मत के साथ इस प्रत्यक्ष दीखनेवाले व्यापार का सामजस्य किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर—आप यदि पहले अमगल के अस्तित्व को प्रमाणित कर सकें, तभी मैं इस प्रश्न का उत्तर दे सकूँगा। परन्तु वैदान्तिक धर्म तो अमगल का अस्तित्व ही स्वीकार नही करता। सुख से रहित अनन्त दु ख कही हो, तो उसे अवश्य प्रकृत अमगल कहा जा सकता है। पर यदि सामयिक दु ख-कष्ट हृदय की कोमलता

और महत्ता में वृद्धि कर मनुष्य को अनन्त सुख की ओर अग्रसर कर दे, तो फिर उसे अमंगल नहीं कहा जा सकता बल्कि उसे तो परम मंगल कहा जा सकता है। जब तक हम यह अनुसन्धान नहीं कर लेते कि किसी वस्तु का अनन्त के राज्य में क्या परिणाम होता है तब तक हम उसे बुरा नहीं कह सकते।

शैतान की उपासना हिन्दू धर्म का अंग नहीं है। मानव जाति क्रमोन्नति के मार्ग पर चल रही है, परन्तु सब लोग एक ही प्रकार की स्थिति में नहीं पहुँच सके हैं। इसीलिए पार्थिव जीवन में कोई कोई लोग अन्यान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक महान् और पवित्र देखे जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य के लिए उसके अपने वर्तमान उन्नति-क्षेत्र के भीतर स्वयं को उन्नत बनाने के लिए अवसर विद्यमान है। हम अपना नाश नहीं कर सकते हम अपने भीतर की जीवनी शक्ति को नष्ट या दुर्बल नहीं कर सकते परन्तु उस शक्ति को विभिन्न दिशा में परिचालित करने के लिए हम स्वतन्त्र हैं।

प्रश्न—पार्थिव जड़ वस्तु की सत्यता क्या हमारे मन की केवल कल्पना नहीं है?

उत्तर—मेरे मत में बाह्य जगत् की अवश्य एक सत्ता है—हमारे मन के विचार के बाहर भी उसका एक अस्तित्व है। चैतन्य के क्रमविकास-रूप महान् विधान का अनुवर्ती होकर यह समग्र विश्व उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। चैतन्य का यह क्रमविकास जड़ के क्रमविकास से पृथक् है। जड़ का क्रमविकास चैतन्य की विकास-प्रणाली का सूचक या प्रतीकस्वरूप है किन्तु उसके द्वारा इस प्रणाली की व्याख्या नहीं हो सकती। वर्तमान पार्थिव परिस्थिति में बद्ध रहने के कारण हम अभी तक व्यक्तित्व नहीं प्राप्त कर सके हैं। जब तक हम उस उच्चतर भूमि में नहीं पहुँच जाते जहाँ हम अपनी अन्तरात्मा के परम लक्षणों को प्रकट करने के उपयुक्त यन्त्र बन जाते हैं तब तक हम प्रकृत व्यक्तित्व की प्राप्ति नहीं कर सकते।

प्रश्न—ईसा मसीह के पास एक जन्मान्ध शिशु को ले जाकर उनसे पूछा गया था कि शिशु अपने किये हुए पाप के फल से अन्धा हुआ है अथवा अपने माता पिता के पाप के फल से—इस समस्या की मीमांसा आप किस प्रकार करेंगे?

उत्तर—इस समस्या में पाप की बात को ले आने का कोई भी प्रयोजन नहीं दीख पड़ता। तो भी मेरा दृढ़ विश्वास है कि शिशु की यह अन्धता उसके पूर्व जन्म कृत किसी कर्म का ही फल होगी। मेरे मत में पूर्व जन्म को स्वीकार करने पर ही ऐसी समस्याओं की मीमांसा हो सकती है।

प्रश्न—मृत्यु के पश्चात् हमारी आत्मा क्या आनन्द की अवस्था को प्राप्त करती है?

उत्तर—मृत्यु तो केवल अवस्था का परिवर्तन मात्र है। देश-काल आपके ही भीतर वर्तमान है, आप देश-काल के अन्तर्गत नही है। बस इतना जानने से ही यथेष्ट होगा कि हम, इहलोक मे या परलोक मे, अपने जीवन को जितना पवित्र और महान् बनायेंगे, उतना ही हम उन भगवान् के निकट होते जायँगे, जो सारे आध्यात्मिक सौन्दर्य और अनन्त आनन्द के केन्द्रस्वरूप है।

३

(ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी क्लब, बोस्टन, अमेरिका)

प्रश्न—क्या वेदान्त का प्रभाव इसलाम धर्म पर कुछ पडा है?

उत्तर—वेदान्त मत की आध्यात्मिक उदारता ने इसलाम धर्म पर अपना विशेष प्रभाव डाला था। भारत का इसलाम धर्म ससार के अन्यान्य देशो के इसलाम धर्म की अपेक्षा पूर्ण रूप से भिन्न है। जब दूसरे देशो के मुसलमान यहाँ आकर भारतीय मुसलमानो को फुसलाते है कि तुम विधर्मियो के साथ मिल-जुलकर कैसे रहते हो, तभी अशिक्षित कट्टर मुसलमान उत्तेजित होकर दगा-फसाद मचाते हैं।

प्रश्न—क्या वेदान्त जाति-भेद मानता है?

उत्तर—जाति-भेद वेदान्त धर्म का विरोधी है। जाति-भेद एक सामाजिक प्रथा मात्र है और हमारे बडे बडे आचार्यों ने उसे तोडने के प्रयत्न किये है। बौद्ध धर्म से लेकर सभी सम्प्रदायो ने जाति-भेद के विरुद्ध प्रचार किया है, परन्तु ऐसा प्रचार जितना ही बढता गया, जाति-भेद की शृखला उतनी ही दृढ होती गयी। जाति-भेद की उत्पत्ति भारत की राजनीतिक सस्थाओं से हुई है। वह तो वंश-परम्परागत व्यवसायो का समवाय (trade guild) मात्र है। किसी प्रकार के उपदेश की अपेक्षा यूरोप के साथ व्यापार-वाणिज्य की प्रतियोगिता ने जाति-भेद को अधिक मात्रा मे तोडा है।

प्रश्न—वेदो की विशेषता किस बात मे है?

उत्तर—वेदो की एक विशेषता यह है कि सारे शास्त्र-ग्रन्थो मे एकमात्र वेद ही बारम्बार कहते हैं कि वेदो के भी अतीत हो जाना चाहिए। वेद कहते है कि वे केवल बाल-बुद्धि व्यक्तियो के लिए लिखे गये हैं। इसलिए विकास कर चुकने पर वेदो के परे जाना पडेगा।

प्रश्न—आपके मत मे प्रत्येक जीवात्मा क्या नित्य सत्य है?

उत्तर—जीवात्मा मनुष्य की वृत्तियो की समष्टिस्वरूप है, और इन वृत्तियो का प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इसलिए यह जीवात्मा अनन्त काल के

लिए कभी सत्य नहीं हो सकती। इस मायिक जगत्-प्रपंच के भीतर ही उसकी सत्यता है। जीवात्मा तो विचार और स्मृति की समष्टि है—वह नित्य सत्य कैसे हो सकती है?

प्रश्न—भारत में बौद्ध धर्म का पतन क्यों हुआ?

उत्तर—वास्तव में भारत में बौद्ध धर्म का लोप नहीं हुआ। वह एक विराट् सामाजिक आन्दोलन मात्र था। बुद्ध के पहले यज्ञ के नाम से तथा अन्य विभिन्न कारणों से बहुत प्राणिहिंसा होती थी और लोग बहुत मद्यपान एवं आमिष-आहार करते थे। बुद्ध के उपदेश के फल से मद्यपान और जीव-हत्या का भारत से प्रायः लोप सा हो गया है।

४

(अमेरिका के हार्टफ़ोर्ड में 'आत्मा, ईश्वर और धर्म'[1] विषय पर स्वामी जी का एक भाषण समाप्त होने पर वहाँ के श्रोताओं ने कुछ प्रश्न पूछे थे। वे प्रश्न तथा उनके उत्तर नीचे दिये गये हैं।)

दर्शकों में से एक ने कहा—अगर पुरोहित लोग नरक की ज्वाला के बारे में बातें करना छोड़ दें तो लोगों पर से उनका प्रभाव ही उठ जाय।

उत्तर—उठ जाय तो अच्छा ही हो। अगर आतंक से कोई किसी धर्म को मानता है, तो वस्तुतः उसका कोई भी धर्म नहीं। इससे तो मनुष्य को उसकी पाशविक प्रकृति के बजाय उसकी दैवी प्रकृति के बारे में उपदेश देना कहीं अच्छा है।

प्रश्न—जब प्रभु (ईसा) ने यह कहा कि स्वर्ग का राज्य इस संसार में नहीं है तो इससे उनका क्या तात्पर्य था?

उत्तर—यह कि स्वर्ग का राज्य हमारे अन्दर है। यहूदी लोगों का विश्वास था कि स्वर्ग का राज्य इसी पृथ्वी पर है। पर ईसा मसीह ऐसा नहीं मानते थे।

प्रश्न—क्या आप मानते हैं कि मनुष्य का विकास पशु से हुआ है?

उत्तर—मैं मानता हूँ कि विकास के नियम के अनुसार ऊँचे स्तर के प्राणी अपेक्षाकृत निम्न स्तर से विकसित हुए हैं।

प्रश्न—क्या आप किसी ऐसे व्यक्ति को मानते हैं, जो अपने पूर्व जन्म की बातें जानता हो?

उत्तर—हाँ मुझ ऐसे लोगों से मेरी भेंट हुई है, जो कहते हैं कि उन्हें अपने पिछले जीवन की बातें याद है। वे इतना ऊपर उठ चुके हैं कि अपने पूर्व जन्म की बातें याद कर सकते हैं।

---

१ यह भाषण 'विवेकानन्द साहित्य' द्वितीय खंड में प्रकाशित हुआ है। स

प्रश्न—ईसा मसीह के क्रूस पर चढने की वात मे क्या आपको विश्वास है ?

उत्तर—ईसा मसीह ईश्वर के अवतार थे। कोई उन्हे मार नही सकता था। देह, जिसको क्रूस पर चढाया गया, एक छाया मात्र थी, एक मृगतृष्णा थी।

प्रश्न—अगर वे ऐसे छाया-शरीर का निर्माण कर सके, तो क्या यह सबसे बडा चमत्कारपूर्ण कार्य नही है ?

उत्तर—चमत्कारपूर्ण कार्यों को मैं आध्यात्मिक मार्ग का सबसे बडा रोडा मानता हूँ। एक बार बुद्ध के शिष्यो ने उनसे एक ऐसे व्यक्ति की चर्चा की, जो तथाकथित चमत्कार दिखाता था—वह एक कटोरे को बिना छुए ही काफ़ी ऊँचाई पर रोके रखता था। उन लोगो ने बुद्ध को वह कटोरा दिखाया, तो उन्होंने उसे अपने पैरो से कुचल दिया और कहा—कभी तुम इन चमत्कारो पर अपनी आस्था मत आधारित करो, बल्कि शाश्वत सिद्धान्तो मे सत्य की खोज करो। बुद्ध ने उन्हे सच्चे आन्तरिक प्रकाश की शिक्षा दी—वह प्रकाश, जो आत्मा की देन है और जो एकमात्र ऐसा विश्वसनीय प्रकाश है, जिसके सहारे चला जा सकता है। चमत्कार तो केवल मार्ग के रोडे हैं। उन्हे हमे रास्ते से अलग हटा देना चाहिए।

प्रश्न—क्या आप मानते हैं कि 'शैलोपदेश' सचमुच ईसा मसीह के हैं ?

उत्तर—हाँ, मैं ऐसा मानता हूँ। और इस सम्बन्ध मे मैं अन्य विचारको की तरह पुस्तको पर ही भरोसा करता हूँ, यद्यपि मैं यह भी समझता हूँ कि पुस्तको को प्रमाण बनाना बहुत ठोस आधार नही है। पर इन सारी बातो के बावजूद हम सभी 'शैलोपदेश' को नि सकोच अपना पथप्रदर्शक मान सकते हैं। जो हमारी अन्तरात्मा को जँचे, उसे हमे स्वीकार करना है। ईसा के पाँच सौ साल पहले बुद्ध ने उपदेश दिया था और सदा उनके उपदेश आशीषो से भरे रहते थे। कभी उन्होंने अपने जीवन मे अपने कार्यों अथवा अपने शब्दो से किसीकी हानि नही की, और न ज़रथुष्ट्र अथवा कन्फ्यूशस ने ही।

५

(निम्नलिखित प्रश्नोत्तर अमेरिका मे दिये हुए विभिन्न भाषणों के अन्त में हुए थे। वहीं से इनका सग्रह किया गया है। इनमे से यह अमेरिका के एक सवाद-पत्र से सगृहीत है।)

प्रश्न—आत्मा के आवागमन का हिंदू सिद्धान्त क्या है ?

उत्तर—वैज्ञानिको का ऊर्जा या जड-सधारण (conservation of energy or matter) का सिद्धान्त, जिस भित्ति पर प्रतिष्ठित है, आवागमन का सिद्धान्त भी उसी भित्ति पर स्थापित है। इस सिद्धान्त (conservation of energy or

matter) का प्रतिपादन सर्वप्रथम हमारे देश के एक दार्शनिक ने ही किया था। प्राचीन ऋषि सृष्टि पर विश्वास नहीं करते थे। 'सृष्टि' शब्द से तात्पर्य निकलता है—कुछ नहीं से कुछ का होना अर्थात् 'अभाव' से 'भाव' की उत्पत्ति। यह असम्भव है। जिस प्रकार काल का आदि नहीं है, उसी प्रकार सृष्टि का भी आदि नहीं है। ईश्वर और सृष्टि मानो दो समानान्तर रेखाओं के समान हैं—उनका न आदि है न अन्त—वे नित्य पृथक् हैं। सृष्टि के बारे में हमारा मत यह है—'वह थी, है और रहेगी।' पाश्चात्य देशवासियों को भारत से एक बात सीखनी है—वह है परधर्म-सहिष्णुता। कोई भी धर्म बुरा नहीं है, क्योंकि सब धर्मों का सार एक ही है।

प्रश्न—भारत की स्त्रियाँ उतनी उन्नत क्यों नहीं हैं?

उत्तर—विभिन्न समयों में अनेक असभ्य जातियों ने भारत पर आक्रमण किया था, प्रधानतः उन्हीं के कारण भारतीय महिलाएँ इतनी अनुन्नत हैं। फिर इसमें कुछ दोष तो भारतवासियों के निजी भी है।

किसी समय अमेरिका में स्वामी जी से कहा गया था कि हिन्दू धर्म ने कभी किसी अन्य धर्मावलम्बी को अपने धर्म में नहीं मिलाया है। इसके उत्तर में उन्होंने कहा, "जैसे पूर्व के लिए बुद्धदेव के पास एक विशेष सन्देश था, उसी प्रकार पश्चिम के लिए मेरे पास भी एक सन्देश है।

प्रश्न—आप क्या यहाँ (अमेरिका में) हिन्दू धर्म के क्रियाकलाप, अनुष्ठान आदि को चलाना चाहते हैं?

उत्तर—मैं तो केवल दार्शनिक तत्त्वों का ही प्रचार कर रहा हूँ।

प्रश्न—क्या आपको ऐसा नहीं मालूम होता कि यदि भावी नरक का डर मनुष्य के सामने से हटा दिया जाय तो किसी भी रूप से उसे क़ाबू में रखना असम्भव हो जायगा?

उत्तर—नहीं, बल्कि मैं तो यह समझता हूँ कि भय की अपेक्षा हृदय में प्रेम और आशा का संचार होने से वह अधिक अच्छा हो सकेगा।

२

(स्वामी जी ने २५ मार्च सन् १८९६ ई० को संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय की 'ग्रेजुएट दार्शनिक सभा' में वेदान्त दर्शन के बारे में एक व्याख्यान दिया था। व्याख्यान समाप्त होने पर श्रोताओं के साथ निम्नलिखित प्रश्नोत्तर हुए।)

प्रश्न—मैं यह जानना चाहता हूँ कि भारत में दार्शनिक चिन्तन की वर्तमान अवस्था कैसी है? इन सब बातों की वहाँ आजकल कहाँ तक आलोचना होती है?

उत्तर—मैंने पहले ही कहा है कि भारत मे अधिकाश लोग द्वैतवादी है। अद्वैतवादियो की सख्या बहुत अल्प है। उस देश मे (भारत मे) आलोचना का प्रधान विषय है मायावाद और जीव-तत्त्व। मैंने इस देश मे आकर देखा कि यहाँ के श्रमिक ससार की वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति से भली भाँति परिचित है, परन्तु जब मैंने उनसे पूछा, 'धर्म कहने से तुम क्या समझते हो, अमुक अमुक सम्प्रदाय का धर्म-मत किस प्रकार का है', तो उन्होने कहा, 'ये सब बातें हम नही जानते—हम तो बस चर्च मे जाते भर हैं।' परन्तु भारत मे किसी किसान के पास जाकर यदि मैं पूछूँ कि तुम्हारा शासनकर्ता कौन है, तो वह उत्तर देगा, 'यह बात मै नही जानता, मैं तो केवल टैक्स (कर) दे देता हूँ।' पर यदि मैं उससे धर्म के विषय मे पूछूँ, तो वह तत्काल बता देगा कि वह द्वैतवादी हैं, और माया तथा जीव-तत्त्व के सम्बन्ध मे वह अपनी धारणा को विस्तृत रूप से कहने के लिए भी तैयार हो जायगा। वे लिखना-पढना नही जानते, परन्तु इन बातो को उन्होने साधु-सन्यासियो से सीखा है, और इन विषयो पर विचार करना उन्हे बहुत अच्छा लगता है। दिन भर काम करने के पश्चात् पेड के नीचे बैठकर किसान लोग इन सब तत्त्वो पर विचार किया करते है।

प्रश्न—कट्टर या असल हिन्दू किसे कह सकते हैं? हिन्दू धर्म मे कट्टरता (orthodoxy) का क्या अर्थ है?

उत्तर—वर्तमान काल मे तो खान-पान अथवा विवाह के विषय मे जातिगत विधि-निषेध का पालन करने से ही कट्टर या असल हिन्दू हो जाता है। फिर वह चाहे जिस किसी धर्म-मत मे विश्वास क्यो न करे, कुछ बनता-बिगडता नही। भारत मे कभी भी कोई नियमित धर्मसघ या चर्च नही था, इसलिए कट्टर या असल हिन्दूपन गठित तथा नियमित करने के लिए सघबद्ध रूप से कभी चेष्टा नही हुई। सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि जो वेदो मे विश्वास रखते हैं, वे ही असल या कट्टर हिन्दू हैं। पर वास्तव मे, देखने मे यह आता है कि द्वैतवादी सम्प्रदायो मे से अनेक केवल वेद-विश्वासी न होकर पुराणो मे ही अधिक विश्वास रखते हैं।

प्रश्न—आपके हिन्दू दर्शन ने यूनानियो के स्टोइक दर्शन[1] पर किस प्रकार प्रभाव डाला था?

---

१ सम्भवत ईसा से ३०८ वर्ष पूर्व ग्रीस के दार्शनिक जीनो (Zeno) ने इस दर्शन का प्रचार किया था। इनके मत से, सुख-दु ख, भला-बुरा, सब विषयों मे समभावसम्पन्न रहना और अविचलित रहकर सबको सहना ही मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ है। स०

उत्तर—बहुत सम्भव है कि उसने सिकन्दरिया निवासियों द्वारा उस पर कुछ प्रभाव डाला था। ऐसा सन्देह किया जाता है कि पाइथागोरस के उपदेशों में सांख्य दर्शन का प्रभाव विद्यमान है। जो हो। हमारी यह धारणा है कि सांख्य दर्शन ही वेदों में निहित दार्शनिक तत्त्वों का युक्ति-विचार द्वारा समन्वय करने का सबसे प्रथम प्रयत्न है। हम वेदों तक में कपिल के नाम का उल्लेख पाते हैं—ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे।[1]

—जिन्होंने उस कपिल ऋषि को पहले प्रसव किया था।

प्रश्न—पाश्चात्य विज्ञान के साथ इस मत का विरोध कहाँ पर है?

उत्तर—विरोध कुछ भी नहीं है। बल्कि हमारे इस मत के साथ पाश्चात्य विज्ञान का सादृश्य ही है। हमारा परिणामवाद तथा आकाश और प्राण तत्त्व ठीक आपके आधुनिक दर्शनों के सिद्धान्त के समान है। आपका परिणामवाद या क्रमविकास हमारे योग और सांख्य दर्शन में पाया जाता है। दृष्टान्तस्वरूप देखिए—पतंजलि ने बतलाया है कि प्रकृति के आपूरण के द्वारा एक जाति अन्य जाति में परिणत होती है—जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्। केवल इसकी व्याख्या के विषय में पतंजलि के साथ पाश्चात्य विज्ञान का मतभेद है। पतंजलि की परिणाम की व्याख्या आध्यात्मिक है। वे कहते हैं—जब एक किसान अपने खेत में पानी देने के लिए पास के ही जलाशय से पानी लेना चाहता है तो वह बस पानी को रोक रखनेवाले द्वार को खोल भर देता है—निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्। उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य पहले से ही अनन्त है केवल इन सब विभिन्न अवस्था-रूपी द्वारों या प्रतिबन्धों ने उसे बद्ध कर रखा है। इन प्रतिबन्धों को हटाने मात्र से ही उसकी यह अनन्त शक्ति बड़े वेग के साथ अभिव्यक्त होने लगती है। तिर्यक् योनि में मनुष्यत्व गूढ़ भाव से निहित है अनुकूल परिस्थिति उपस्थित होने पर वह तत्क्षण ही मानव रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। उसी प्रकार उपयुक्त सुयोग तथा अवसर उपस्थित होने पर मनुष्य के भीतर जो ईश्वरत्व विद्यमान है वह अपने को अभिव्यक्त कर देता है। इसलिए आधुनिक नूतन मतवादवालों के साथ विवाद करने को विशेष कुछ नहीं है। उदाहरणार्थ विषय-प्रत्यक्ष के सिद्धान्त के सम्बन्ध में सांख्य मत के साथ आधुनिक शरीर विज्ञान (Physiology) का बहुत ही थोड़ा मतभेद है।

प्रश्न—परन्तु आप लोगों की पद्धति भिन्न है।

---

१ श्वेताश्वतरोपनिषद् ॥५।२॥

उत्तर—हाँ, हमारे मतानुसार मन की समस्त शक्तियो को एकमुखी करना ही ज्ञान-लाभ का एकमात्र उपाय है। वहिर्विज्ञान मे वाह्य विषयो पर मन को एकाग्र करना होता है और अन्तर्विज्ञान मे मन की गति को आत्माभिमुखी करना पडता है। मन की इस एकाग्रता को ही हम योग कहते हैं।

प्रश्न—एकाग्रता की दशा मे क्या इन सव तत्त्वो का यथार्थ ज्ञान आप ही आप प्रकट होता है?

उत्तर—योगी कहते है कि इस एकाग्रता शक्ति का फल अत्यन्त महान् है। उनका कहना है कि मन की एकाग्रता के वल से ससार के सारे सत्य—वाह्य और अन्तर दोनो जगत् के सत्य—करामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

प्रश्न—अद्वैतवादी सृष्टि-तत्त्व के विषय मे क्या कहते हैं?

उत्तर—अद्वैतवादी कहते है कि यह सारा सृष्टि-तत्त्व तथा इस ससार मे जो कुछ भी है, सव माया के, इस आपातप्रतीयमान प्रपच के अन्तर्गत है। वास्तव मे इस सवका कोई अस्तित्व नही है। परन्तु जव तक हम वद्ध हैं, तव तक हमे यह दृश्य जगत् देखना पडेगा। इस दृश्य जगत् मे घटनाएँ कुछ निर्दिष्ट क्रम के अनुसार घटती रहती हैं। परन्तु उसके परे न कोई नियम है, न क्रम। वहाँ सम्पूर्ण मुक्ति—सम्पूर्ण स्वाधीनता है।

प्रश्न—अद्वैतवाद क्या द्वैतवाद का विरोधी है?

उत्तर—उपनिषद् प्रणालीवद्ध रूप से लिखित न होने के कारण जव कभी दार्शनिको ने किसी प्रणालीबद्ध दर्शनशास्त्र की रचना करनी चाही, तव उन्होंने इन उपनिषदो मे से अपने अभिप्राय के अनुकूल प्रामाणिक वाक्यो को चुन लिया है। इसी कारण सभी दर्शनकारो ने उपनिषदो को प्रमाण रूप से ग्रहण किया है,—अन्यथा उनके दर्शन को किसी प्रकार का आधार ही नही रह जाता। तो भी हम देखते हैं कि उपनिषदो मे सब प्रकार की विभिन्न चिन्तन-प्रणालियाँ विद्यमान हैं। हमारा यह सिद्धान्त है कि अद्वैतवाद द्वैतवाद का विरोधी नही है। हम तो कहते हैं कि चरम ज्ञान मे पहुँचने के लिए जो तीन सोपान हैं, उनमे से द्वैतवाद एक है। धर्म मे सर्वदा तीन सोपान देखने मे आते हैं। प्रथम—द्वैतवाद। उसके बाद मनुष्य अपेक्षाकृत उच्चतर अवस्था मे उपस्थित होता है—वह है विशिष्टाद्वैतवाद। और अन्त मे उसे यह अनुभव होता है कि वह समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड के साथ अभिन्न है। यही चरम दशा अद्वैतवाद है। इसलिए इन तीनो मे परस्पर विरोध नही है, बल्कि वे आपस मे एक दूसरे के सहायक या पूरक हैं।

प्रश्न—माया या अज्ञान के अस्तित्व का क्या कारण है?

उत्तर—कार्य-कारण संघात की सीमा के बाहर 'क्यों' का प्रश्न नहीं पूछा जा सकता। माया-राज्य के भीतर ही 'क्यों' का प्रश्न पूछा जा सकता है। हम कहते हैं कि यदि न्यायशास्त्र के अनुसार यह प्रश्न पूछ सका जाय तभी हम उसका उत्तर देंगे। उसके पहले उसका उत्तर देने का हमें अधिकार नहीं है।

प्रश्न—सगुण ईश्वर क्या माया के अन्तर्गत है?

उत्तर—हाँ पर यह सगुण ईश्वर मायारूपी आवरण के भीतर से परिदृश्यमान उस निर्गुण ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। माया या प्रकृति के अधीन होने पर वही निर्गुण ब्रह्म जीवात्मा कहलाता है और मायाधीश या प्रकृति के नियन्ता के रूप में वही ईश्वर या सगुण ब्रह्म कहलाता है। यदि कोई व्यक्ति सूर्य को देखने के लिए यहाँ से ऊपर की ओर यात्रा करे, तो जब तक वह असल सूर्य के निकट नहीं पहुँचता तब तक वह सूर्य को क्रमशः अधिकाधिक बड़ा ही देखता जायगा। वह जितना ही आगे बढ़ेगा उसे ऐसा मालूम होगा कि वह भिन्न भिन्न सूर्यों को देख रहा है परन्तु वास्तव में वह उसी एक सूर्य को देख रहा है इसमें सन्देह नहीं। इसी प्रकार, हम जो कुछ देख रहे हैं सभी उसी निर्गुण ब्रह्मसत्ता के विभिन्न रूप मात्र हैं इसलिए उस दृष्टि से ये सब सत्य हैं। इनमें से कोई भी मिथ्या नहीं है परन्तु यह कहा जा सकता है कि ये निम्नतर सोपान मात्र हैं।

प्रश्न—उस पूर्ण निरपेक्ष सत्ता को जानने की विशेष प्रणाली कौन सी है?

उत्तर—हमारे मत में दो प्रणालियाँ हैं। उनमें से एक तो अस्तिभावद्योतक या प्रवृत्ति मार्ग है और दूसरी नास्तिभावद्योतक या निवृत्ति मार्ग है। प्रथमोक्त मार्ग से सारा विश्व चलता है—इसी पथ से हम प्रेम के द्वारा उस पूर्ण वस्तु को प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। यदि प्रेम की परिधि अनन्त गुनी बढ़ा दी जाय तो हम उसी विश्व-प्रेम में पहुँच जायँगे। दूसरे पथ में 'नेति' 'नेति' अर्थात् 'यह नहीं' 'यह नहीं' इस प्रकार की साधना करनी पड़ती है। इस साधना में चित्त की जो कोई तरंग मन को बहिर्मुखी बनाने की चेष्टा करती है उसका निवारण करना पड़ता है। अन्त में मन ही मानो मर जाता है तब सत्य स्वयं प्रकाशित हो जाता है। हम इसीको समाधि या ज्ञानातीत अवस्था या पूर्ण ज्ञानावस्था कहते हैं।

प्रश्न—तब तो यह विषयी (ज्ञाता या द्रष्टा) को विषय (ज्ञेय या दृश्य) में डुबा देने की अवस्था हुई?

उत्तर—विषयी को विषय में नहीं बरन् विषय को विषयी में डुबा देने की। वास्तव में यह जगत् विलीन हो जाता है केवल 'मैं' रह जाता है—एकमात्र 'मैं' ही वर्तमान रहता है।

प्रश्न—हमारे कुछ जर्मन दार्शनिको का मत है कि भारतीय भक्तिवाद सम्भवत पाश्चात्य प्रभाव का ही फल है।

उत्तर—इस विषय मे मैं उनसे सहमत नही हूँ। इस प्रकार का अनुमान एक क्षण के लिए भी नही टिक सकता। भारतीय भक्ति पाश्चात्य देशो की भक्ति के समान नही है। भक्ति के सम्बन्ध मे हमारी मुख्य धारणा यह है कि उसमे भय का भाव बिल्कुल ही नही रहता—रहता है केवल भगवान् के प्रति प्रेम। दूसरी बात यह है कि ऐसा अनुमान बिल्कुल अनावश्यक है। भक्ति की बातें हमारी प्राचीनतम उपनिषदो तक मे विद्यमान हैं और ये उपनिषद् ईसाइयो की बाइबिल से बहुत प्राचीन हैं। सहिता मे भी भक्ति का बीज देखने मे आता है। फिर 'भक्ति' शब्द भी कोई पाश्चात्य शब्द नही है। वेद-मन्त्र मे 'श्रद्धा' शब्द का जो उल्लेख है, उसीसे क्रमश भक्तिवाद का उद्‌भव हुआ था।

प्रश्न—ईसाई धर्म के सम्बन्ध मे भारतवासियो की क्या धारणा है?

उत्तर—बडी अच्छी धारणा है। वेदान्त सभी को ग्रहण करता है। दूसरे देशो की तुलना मे भारत मे हमारी धर्म-शिक्षा का एक विशेषत्व है। मान लीजिए, मेरे एक लडका है। मैं उसे किसी धर्ममत की शिक्षा नही दूंगा, मैं उसे प्राणायाम सिखाऊँगा, मन को एकाग्र करना सिखाऊँगा और थोडी-बहुत सामान्य प्रार्थना की शिक्षा दूंगा, परन्तु वैसी प्रार्थना नही, जैसी आप समझते हैं, वरन् इस प्रकार की कुछ प्रार्थना—'जिन्होंने इस विश्व-ब्रह्माण्ड की सृष्टि की है, मैं उनका ध्यान करता हूँ—वे मेरे मन को ज्ञानालोक से आलोकित करें।'[1] इस प्रकार उसकी धर्म-शिक्षा चलती रहेगी। इसके बाद वह विभिन्न मतावलम्बी दार्शनिको एव आचार्यों के मत सुनता रहेगा। उनमे से जिनका मत वह अपने लिए सबसे अधिक उपयुक्त समझेगा, उन्हीको वह गुरु रूप से ग्रहण करेगा और वह स्वय उनका शिष्य बन जायगा। वह उनसे प्रार्थना करेगा, 'आप जिस दर्शन का प्रचार कर रहे हैं, वही सर्वोत्कृष्ट है, अतएव आप कृपा करके मुझे उसकी शिक्षा दीजिए।'

हमारी मूल बात यह है कि आपका मत मेरे लिए तथा मेरा मत आपके लिए उपयोगी नही हो सकता। प्रत्येक का साधन-पथ भिन्न भिन्न होता है। यह भी हो सकता है कि मेरी लडकी का साधन-मार्ग एक प्रकार का हो, मेरे लडके का दूसरे प्रकार का, और मेरा इन दोनो से बिल्कुल भिन्न प्रकार का। अत प्रत्येक व्यक्ति का इष्ट या निर्वाचित पथ भिन्न भिन्न हो सकता है,—और सब लोग अपने अपने साधन-मार्ग की बातें गुप्त रखते हैं। अपने साधन-पथ के विषय मे केवल

---

१ ॐ तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो न प्रचोदयात्।

मैं जानता हूँ और मेरे गुरु—किसी तीसरे व्यक्ति को यह नहीं बताया जाता क्योंकि हम दूसरों से वृथा विवाद करना नहीं चाहते। फिर, इसे दूसरों के पास प्रकट करने से उनका कोई लाभ नहीं होगा क्योंकि प्रत्येक को ही अपना अपना मार्ग चुन लेना पड़ता है। इसीलिए सर्वसाधारण को केवल सर्वसाधारणोपयोगी दर्शन और साधना प्रणाली का ही उपदेश दिया जा सकता है। एक दृष्टान्त लीजिए—अवश्य उसे सुनकर आप हँसेंगे। मान लीजिए, एक पैर पर खड़े रहने से शायद मेरी उन्नति में कुछ सहायता होती हो परन्तु इसी कारण यदि मैं सभी को एक पैर पर खड़े होने का उपदेश देने लगूँ तो क्या यह हँसी की बात न होगी? हो सकता है कि मैं द्वैतवादी होऊँ और मेरी स्त्री अद्वैतवादी। मेरा कोई लड़का इच्छा करे तो ईसा बुद्ध या मुहम्मद का उपासक बन सकता है वे उसके इष्ट हैं। हाँ यह अवश्य है कि उसे अपने जातिगत सामाजिक नियमों का पालन करना पड़ेगा।

प्रश्न—क्या सब हिन्दुओं का जाति-विभाग में विश्वास है?

उत्तर—उन्हें बाध्य होकर जातिगत नियम मानने पड़ते हैं। उनका भले ही उनमें विश्वास न हो पर तो भी वे सामाजिक नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकते।

प्रश्न—इस प्राणायाम और एकाग्रता का अभ्यास क्या सब लोग करते हैं?

उत्तर—हाँ पर कोई कोई लोग बहुत थोड़ा करते हैं—धर्मशास्त्र के आदेश का उल्लंघन न करने के लिए जितना करना पड़ता है, बस उतना ही करते हैं। भारत के मन्दिर यहाँ के गिरजाघरों के समान नहीं हैं। चाहे तो कल ही सारे मन्दिर गायब हो जायँ तो भी लोगों को उनका अभाव महसूस नहीं होगा। स्वर्ग की इच्छा से पुत्र की इच्छा से अथवा इसी प्रकार की और किसी कामना से लोग मन्दिर बनवाते हैं। हो सकता है किसीने एक बड़े भारी मन्दिर की प्रतिष्ठा कर उसमें पूजा के लिए दो-चार पुरोहितों को भी नियुक्त कर दिया पर मुझे वहाँ जाने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि मेरा जो कुछ पूजा-पाठ है वह मेरे घर में ही होता है। प्रत्येक घर में एक अलग कमरा होता है, जिसे 'ठाकुर-घर' या 'पूजा-गृह' कहते हैं। दीक्षा-ग्रहण के बाद प्रत्येक बालक या बालिका का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह पहले स्नान करे, फिर पूजा सन्ध्या वन्दनादि। उसकी इस पूजा या उपासना का अर्थ है—प्राणायाम ध्यान तथा किसी मन्त्र विशेष का जप। और एक बात की ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है वह है—साधना के समय शरीर को हमेशा सीधा रखना। हमारा विश्वास है कि मन के बल से शरीर को स्वस्थ और सबल रखा जा सकता है। एक व्यक्ति इस प्रकार पूजा

आदि करके चला जाता है, फिर दूसरा आकर वहाँ बैठकर अपना पूजा-पाठ आदि करने लगता है। सभी निस्तब्ध भाव से अपनी अपनी पूजा करके चले जाते हैं। कभी कभी एक ही कमरे मे तीन-चार व्यक्ति बैठकर उपासना करते हैं, परन्तु उनमे से हर एक की उपासना-प्रणाली भिन्न भिन्न हो सकती है। इस प्रकार की पूजा प्रतिदिन कम से कम दो बार करनी पडती है।

प्रश्न—आपने जिस अद्वैत-अवस्था के बारे मे कहा है, वह क्या केवल एक आदर्श है, अथवा उसे लोग प्राप्त भी करते है?

उत्तर—हम कहते हैं कि वह यथार्थ है—हम कहते है कि वह अवस्था उपलब्ध होती है। यदि वह केवल थोथी बात हो, तब तो उसका कुछ भी मूल्य नही। उस तत्त्व की उपलब्धि करने के लिए वेदो मे तीन उपाय बतलाये गये है—श्रवण, मनन और निदिध्यासन। इस आत्म-तत्त्व के विषय मे पहले श्रवण करना होगा। श्रवण करने के बाद इस विषय पर विचार करना होगा—आँखें मूँदकर विश्वास न कर, अच्छी तरह विचार करके समझ-बूझकर उस पर विश्वास करना होगा। इस प्रकार अपने सत्यस्वरूप पर विचार करके उसके निरन्तर ध्यान मे नियुक्त होना होगा, तब उसका साक्षात्कार होगा। यह प्रत्यक्षानुभूति ही यथार्थ धर्म है। केवल किसी मतवाद को स्वीकार कर लेना धर्म का अग नही है। हम तो कहते हैं कि यह समाधि या ज्ञानातीत अवस्था ही धर्म है।

प्रश्न—यदि आप कभी इस समाधि अवस्था को प्राप्त कर लें, तो क्या आप उसका वर्णन भी कर सकेंगे?

उत्तर—नही, परन्तु समाधि अवस्था या पूर्ण ज्ञान की अवस्था प्राप्त हुई है या नही, इस बात को हम जीवन के ऊपर उसके फलाफल को देखकर जान सकते है। एक मूर्ख व्यक्ति जब सोकर उठता है, तो वह पहले जैसा मूर्ख था, अब भी वैसा ही मूर्ख रहता है, शायद पहले से और भी खराब हो सकता है। परन्तु जब कोई व्यक्ति समाधि मे स्थित होता है, तो वहाँ से व्युत्थान के बाद वह एक तत्त्वज्ञ, साधु, महापुरुष हो जाता है। इसीसे स्पष्ट है कि ये दोनो अवस्थाएँ कितनी भिन्न भिन्न है।

प्रश्न—मै प्राध्यापक—के प्रश्न का सूत्र पकडते हुए यह पूछना चाहता हूँ कि क्या आप ऐसे लोगो के विषय में जानते हैं, जिन्होंने आत्म-सम्मोहन विद्या (self-hypnotism) का कुछ अध्ययन किया है? अवश्य ही प्राचीन भारत मे इस विद्या की बहुत चर्चा होती थी—पर अब उतनी दिखायी नही देती। मैं जानना चाहता हूँ कि जो लोग आजकल उसकी चर्चा और साधना करते हैं, उनका इस विद्या के विषय मे क्या कहना है, और वे इसका अभ्यास या साधना किस तरह करते हैं।

उत्तर—आप पाश्चात्य देश में जिसे सम्मोहन-विद्या कहते हैं, वह तो असली व्यापार का एक सामान्य अंग मात्र है। हिन्दू लोग उसे आत्मापसम्मोहन (self de-hypnotisation) कहते हैं। वे कहते हैं आप तो पहले से ही सम्मोहित (hypnotised) हैं—इस सम्मोहित-भाव को दूर करना होगा अपसम्मोहित (de-hypnotised) होना होगा—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

—'वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता चन्द्र तारक विद्युत् भी नहीं—तो फिर इस सामान्य अग्नि की बात ही क्या! उन्हीं के प्रकाश से समस्त प्रकाशित हो रहा है।'[1]

यह तो सम्मोहन (hypnotism) नहीं है—यह तो अपसम्मोहन (de-hypnotisation) है। हम कहते हैं कि वह प्रत्येक धर्म जो इस प्रपंच की सत्यता की शिक्षा देता है एक प्रकार से सम्मोहन का प्रयोग कर रहा है। केवल अद्वैतवादी ही ऐसे हैं जो सम्मोहित होना नहीं चाहते। एकमात्र अद्वैतवादी ही समझते हैं कि सभी प्रकार के द्वैतवाद से सम्मोहन या मोह उत्पन्न होता है। इसीलिए अद्वैतवादी कहते हैं वेदों को भी अपरा विद्या समझकर उनके अतीत हो जाओ सगुण ईश्वर के भी परे चले जाओ सारे विश्वब्रह्माण्ड को भी दूर फेंक दो इतना ही नहीं अपने शरीर-मन आदि को भी पार कर जाओ—कुछ भी शेष न रहने पाये तभी तुम सम्पूर्ण रूप से मोह से मुक्त होओगे।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन॥

—मन के सहित वाणी जिसे न पाकर जहाँ से लौट आती है उस ब्रह्म के आनन्द को जानने पर फिर किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता।[2] यही अपसम्मोहन है।

---

१ कठोपनिषद् ॥२।२।१५॥
२ तैत्तिरीयोपनिषद् ॥२।४।१॥

न पुण्य न पाप न सौख्य न दु खम्
न मन्त्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञा ।
अह भोजन नैव भोज्य न भोक्ता
चिदानन्दरूप शिवोऽह शिवोऽहम् ।।

—'मेरे न कोई पुण्य है, न पाप, न सुख है, न दु ख, मेरे लिए मन्त्र, तीर्थ वेद या यज्ञ कुछ भी नही है। मैं भोजन, भोज्य या भोक्ता कुछ भी नही हूँ—मैं तो चिदानन्दरूप शिव हूँ, मैं ही शिव (मगलस्वरूप) हूँ।'[1]

हम लोग सम्मोहन-विद्या के सारे तत्त्व जानते है। हमारी जो मनस्तत्त्व-विद्या है, उसके विषय मे पाश्चात्य देशवालो ने हाल ही मे थोडा थोडा जानना प्रारम्भ किया है, परन्तु दु ख की बात है कि अभी तक वे उसे पूर्ण रूप से नही जान सके हैं।

प्रश्न—आप लोग 'ऐस्ट्रल बॉडी' (astral body) किसे कहते हैं ?

उत्तर—हम उसे लिंग-शरीर कहते है। जब इस देह का नाश होता है, तब दूसरे शरीर का ग्रहण किस प्रकार होता है ? जड-भूत को छोडकर शक्ति नही रह सकती। इसलिए सिद्धान्त यह है कि देहत्याग होने के पश्चात् भी सूक्ष्म-भूत का कुछ अश हमारे साथ रह जाता है। भीतर की इन्द्रियाँ इस सूक्ष्म-भूत की सहायता से और एक नूतन देह तैयार कर लेती है, क्योकि प्रत्येक ही अपनी अपनी देह बना रहा है—मन ही शरीर को तैयार करता है। यदि मैं साधु बनूं, तो मेरा मस्तिष्क साधु के मस्तिष्क मे परिणत हो जायगा। योगी कहते है कि वे इसी जीवन मे अपने शरीर को देव-शरीर मे परिणत कर सकते हैं।

योगी अनेक चमत्कार दिखाते हैं। कोरे मतवादो की राशि की अपेक्षा अल्प अभ्यास का मूल्य अधिक है। अतएव मुझे यह कहने का अधिकार नही है कि अमुक अमुक बातें घटती मैंने नही देखी, इसलिए वे मिथ्या हैं। योगियो के ग्रन्थो मे लिखा है कि अभ्यास के द्वारा सब प्रकार के अति अद्भुत फलो की प्राप्ति हो सकती है। नियमित रूप से अभ्यास करने पर अल्प काल मे ही थोडे-बहुत फल की प्राप्ति हो जाती है, जिससे यह जाना जा सकता है कि इसमे कुछ कपट या धोखेबाजी नही है। और इन सब शास्त्रो मे जिन अलौकिक बातो का उल्लेख है, योगी वैज्ञानिक रीति से उनकी व्याख्या करते हैं। अब प्रश्न यह है कि ससार की सभी जातियो मे इस प्रकार के अलौकिक कार्यों का विवरण कैसे लिपिबद्ध किया गया ? जो व्यक्ति कहता है कि ये सब मिथ्या हैं, अत इनकी व्याख्या करने

---

१ निर्वाणषट्कम् ।।४।।

की कोई आवश्यकता नहीं उसे युक्तिवादी विचारक नहीं कहा जा सकता। जब तक आप उन बातों को प्रमाणक प्रमाणित नहीं कर सकते तब तक उन्हें अस्वीकार करने का अधिकार आपको नहीं है। आपको यह प्रमाणित करना होगा कि इन सबका कोई आधार नहीं है, तभी उनको अस्वीकार करने का अधिकार आपको होगा। परन्तु आप लोगों ने तो ऐसा किया नहीं। दूसरी ओर, योगी कहते हैं कि ये सब व्यापार वास्तव में अद्भुत नहीं हैं और वे इस बात का दावा करते हैं कि ऐसी क्रियाएँ वे अभी भी कर सकते हैं। भारत में आज भी अनेक अद्भुत घटनाएँ होती रहती हैं परन्तु उनमें से कोई भी किसी चमत्कार द्वारा नहीं घटती। इस विषय पर अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं। जो हो यदि वैज्ञानिक रूप से मनस्तत्त्व की आलोचना करने के प्रयत्न को छोड़कर इस दिशा में अधिक और कुछ न हुआ हो *तो भी इसका सारा श्रेय योगियों को ही देना चाहिए।*

प्रश्न—योगी क्या क्या चमत्कार दिखा सकते हैं इसके उदाहरण क्या आप दे सकते हैं?

उत्तर—योगियों का कथन है कि अन्य किसी विज्ञान की चर्चा करने के लिए *जितने विश्वास की आवश्यकता होती है, योग विद्या के निमित्त उससे अधिक* विश्वास की जरूरत नहीं। किसी विषय को स्वीकार करने के बाद एक भद्र व्यक्ति उसकी सत्यता की परीक्षा के लिए जितना विश्वास करता है उससे अधिक विश्वास करने को योगी लोग नहीं कहते। योगी का आदर्श अतिशय उच्च है। मन की शक्ति से जो सब कार्य हो सकते हैं उनमें से निम्नतर *कुछ कार्यों को मैंने प्रत्यक्ष* देखा है अतः मैं इस पर अविश्वास नहीं कर सकता कि उच्चतर कार्य भी मन की शक्ति द्वारा हो सकते हैं। योगी का आदर्श है—सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता की प्राप्ति कर उसकी सहायता से शाश्वत शान्ति और प्रेम का अधिकारी हो जाना। *मैं एक योगी को जानता हूँ जिन्हें एक बड़े विषैले सर्प ने काट लिया था।* सर्पदंश होते ही वे बेहोश हो जमीन पर गिर पड़े। सन्ध्या के समय वे होश में आये। उनसे जब पूछा गया कि क्या हुआ था तो वे बोले 'मेरे प्रियतम के पास से एक दूत आया था। इन महात्मा की सारी घृणा कोप और हिंसा का भाव पूर्ण रूप से दग्ध हो *चुका है। कोई भी चीज उन्हें बदला लेने के लिए प्रवृत्त नहीं कर सकती। वे* सर्वदा अनन्त प्रेमस्वरूप हैं और प्रेम की शक्ति से सर्वशक्तिमान हो गये हैं। बस ऐसा व्यक्ति ही यथार्थ योगी है, और यह सब शक्तियों का विकास—अनेक प्रकार के चमत्कार दिखलाना—गौण मात्र है। यह सब प्राप्त कर लेना योगी का लक्ष्य नहीं है। योगी कहते हैं कि योगी के अतिरिक्त अन्य सब मानो गुलाम हैं—खाने-पीने के गुलाम अपनी स्त्री के गुलाम अपने लड़के-बच्चों के गुलाम रुपय-पैसे के

गुलाम, स्वदेशवासियो के गुलाम, नाम-यश के गुलाम, जलवायु के गुलाम, इस ससार के हज़ारो विषयो के गुलाम। जो मनुष्य इन वन्वनो मे से किसीमे भी नही फँसें, वे ही यथार्थ मनुष्य हैं—यथार्थ योगी है।

इहैव तैर्जित सर्गो येषा साम्ये स्थित मन।
निर्दोष हि सम ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥[1]

—'जिनका मन साम्यभाव मे अवस्थित है, उन्होने यही ससार पर जय प्राप्त कर ली है। ब्रह्म निर्दोष और समभावापन्न है, इसलिए वे ब्रह्म मे अवस्थित हैं।'

प्रश्न—क्या योगी जाति-भेद को विशेष आवश्यक समझते हैं?

उत्तर—नही, जाति-विभाग तो उन लोगो को, जिनका मन अभी अपरिपक्व है, शिक्षा प्रदान करने का एक विद्यालय मात्र है।

प्रश्न—इस समाधि-तत्त्व के साथ भारत की गर्म जलवायु का तो कुछ सम्बन्ध नही है?

उत्तर—मैं तो ऐसा नही समझता। कारण, समुद्र-धरातल से पन्द्रह हज़ार फीट की ऊँचाई पर, सुमेरु के समान जलवायुवाले हिमालय मे ही तो योगविद्या का उद्भव हुआ था।

प्रश्न—ठण्डी जलवायु मे क्या योग मे सिद्धि प्राप्त हो सकती है?

उत्तर—हाँ, अवश्य हो सकती है। और ससार मे इसकी प्राप्ति जितनी सम्भव है, उतनी सम्भव और कुछ भी नही है। हम कहते है, आप लोग—आपमें से प्रत्येक, जन्म से ही वेदान्ती है। आप अपने जीवन के प्रत्येक मुहूर्त मे ससार की प्रत्येक वस्तु के साथ अपने एकत्व की घोषणा कर रहे हैं। जब कभी आपका हृदय ससार के कल्याण के लिए उन्मुख होता है, तभी आप अनजान मे सच्चे वेदान्तवादी हो जाते हैं। आप नीतिपरायण हैं, पर यह नही जानते कि आप क्यो नीतिपरायण हो रहे हैं। एकमात्र वेदान्त दर्शन ही नीति-तत्त्व का विश्लेपण कर मनुष्य को ज्ञानपूर्वक नीतिपरायण होने की शिक्षा देता है। वह सब धर्मों का सारस्वरूप है।

प्रश्न—आपके मत मे क्या हम पाश्चात्यो मे ऐसा कुछ असामाजिक भाव है, जिसके कारण हम इस तरह बहुवादी और भेदपरायण बन रहे हैं, और जिसके अभाव के कारण प्राच्य देश के लोग हमसे अधिक सहानुभूतिसम्पन्न हैं?

---

१. गीता ॥५।१९॥

उत्तर—मेरे मत में पाश्चात्य जाति अधिक निर्दय स्वभाव की है और प्राच्य देश के लोग सब भूतों के प्रति अधिक दयासम्पन्न हैं। परन्तु इसका कारण यही है कि आपकी सभ्यता बहुत ही आधुनिक है। किसीके स्वभाव को दयालु बनाने के लिए समय की आवश्यकता होती है। आपमें शक्ति काफ़ी है परन्तु जिस मात्रा में शक्ति का संचय हो रहा है, उस मात्रा में हृदय का विकास नहीं हो पा रहा है। विशेषकर मन संयम का अभ्यास बहुत ही अल्प परिमाण में हुआ है। आपको साधु और शान्त प्रकृति बनने में बहुत समय लगेगा। पर भारत वासियों के प्रत्येक रक्त-बिन्दु में यह भाव प्रवाहित हो रहा है। यदि मैं भारत के किसी गाँव में जाकर वहाँ के लोगों को राजनीति की शिक्षा देनी चाहूँ तो वे उसे नहीं समझेंगे। परन्तु यदि मैं उन्हें वेदान्त का उपदेश दूँ तो वे कहेंगे 'हाँ स्वामी जी अब हम आपकी बात समझ रहे हैं—आप ठीक ही कह रहे हैं। आज भी भारत में सर्वत्र यह वैराग्य या अनासक्ति का भाव देखने में आता है। आज हमारा बहुत पतन हो गया है परन्तु अभी भी वैराग्य का प्रभाव इतना अधिक है कि राजा भी अपने राज्य को त्यागकर, साथ में कुछ भी न लेता हुआ देश में सर्वत्र पर्यटन करेगा।

कहीं कहीं पर गाँव की एक साधारण लड़की भी अपने चरखे से सूत कातते समय कहती है—मुझे द्वैतवाद का उपदेश मत सुनाओ मेरा चरखा तक 'सोऽहं' 'सोऽहं' कह रहा है। इन लोगों के पास जाकर उनसे वार्तालाप कीजिए और उनसे पूछिए कि जब तुम इस प्रकार 'सोऽहं' कहते हो तो फिर उस पत्थर को प्रणाम क्यों करते हो? इसके उत्तर में वे कहेंगे आपकी दृष्टि में तो धर्म एक मतवाद मात्र है पर हम तो धर्म का अर्थ प्रत्यक्षानुभूति ही समझते हैं। उनमें से कोई शायद कहेगा 'मैं तो तभी यथार्थ वेदान्तवादी होऊँगा जब सारा संसार मेरे सामने से अन्तर्हित हो जायगा जब मैं सत्य के दर्शन कर लूँगा। जब तक मैं उस स्थिति में नहीं पहुँचता तब तक मुझमें और एक साधारण अज्ञ व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं है। यही कारण है कि मैं प्रस्तर-मूर्ति की उपासना कर रहा हूँ मन्दिर में जाता हूँ जिससे मुझे प्रत्यक्षानुभूति हो जाय। मैंने वेदान्त का श्रवण किया तो है, पर मैं अब उस वेदान्त प्रतिपाद्य आत्म-तत्त्व को देखना चाहता हूँ—उसका प्रत्यक्ष अनुभव कर सकना चाहता हूँ।

> वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
> वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये॥[1]

---

१ विवेकचूडामणि ॥५८॥

—'धाराप्रवाह रूप से मनोरम सद्वाक्यो की योजना, शास्त्रो की व्याख्या करने के नाना प्रकार के कौशल—ये केवल पण्डितो के आमोद के लिए ही हैं, इनके द्वारा मुक्ति-लाभ की कोई सम्भावना नही है।' ब्रह्म के साक्षात्कार से ही हमे उस मुक्ति की प्राप्ति होती है।

प्रश्न—आध्यात्मिक विषय मे जब सर्वसाधारण के लिए इस प्रकार की स्वाधीनता है, तो क्या इस स्वाधीनता के साथ जाति-भेद का मानना मेल खाता है ?

उत्तर—कदापि नही। लोग कहते हैं कि जाति-भेद नही रहना चाहिए, इतना ही नही, बल्कि जो लोग भिन्न भिन्न जातियो के अन्तर्गत हैं, वे भी कहते हैं कि जाति-विभाग कोई बहुत उच्च स्तर की चीज नही है। पर साथ ही वे यह भी कहते हैं कि यदि तुम इससे अच्छी कोई अन्य वस्तु हमे दो, तो हम इसे छोड देंगे। वे पूछते हैं कि तुम इसके बदले हमे क्या दोगे ? जाति-भेद कहाँ नही है, बोलो ? आप भी तो अपने देश मे इसी प्रकार के एक जाति-विभाग की सृष्टि करने का प्रयत्न सर्वदा कर रहे हैं। जब कोई व्यक्ति कुछ अर्थ सग्रह कर लेता है, तो वह कहने लगता है कि 'मैं भी तुम्हारे चार सौ धनिको मे से एक हूँ।' केवल हमी लोग एक स्थायी जाति-विभाग का निर्माण करने मे सफल हुए हैं। अन्य देशवाले इस प्रकार के स्थायी जाति-विभाग की स्थापना के लिए प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु वे सफल नही हो पा रहे है। यह सच है कि हमारे समाज मे काफी कुसस्कार और बुरी बाते है, पर क्या आपके देश के कुसस्कारो तथा बुरी बातो को हमारे देश मे प्रचलित कर देने से ही सब ठीक हो जायगा ? जाति-भेद के कारण ही तो आज भी हमारे देश के तीस करोड लोगो को खाने के लिए रोटी का एक टुकडा मिल रहा है। हाँ, यह सच है कि रीति-नीति की दृष्टि से इसमे अपूर्णता है। पर यदि यह जाति-विभाग न होता, तो आज आपको एक भी सस्कृत ग्रन्थ पढ़ने के लिए न मिलता। इसी जाति-विभाग के द्वारा ऐसी मजबूत दीवालो की सृष्टि हुई थी, जो शत शत बाहरी चढाइयो के बावजूद भी नही गिरी। आज भी वह प्रयोजन मिटा नही है, इसीलिए अभी तक जाति-विभाग बना हुआ है। सात सौ वर्ष पहले जाति-विभाग जैसा था, आज वह वैसा नही है। उस पर जितने ही आघात होते गये, वह उतना ही दृढ होता गया। क्या आप यह नही जानते कि केवल भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है, जो दूसरे राष्ट्रो पर विजय प्राप्त करने अपनी सीमा से बाहर कभी नही गया ? महान् सम्राट् अशोक यह विशेष रूप से कह गये थे कि उनके कोई भी उत्तराधिकारी परराष्ट्र विजय के लिए प्रयत्न न करें। यदि कोई अन्य जाति हमारे यहाँ प्रचारक भेजना चाहती है, तो भेजे, पर वह हमारी वास्तविक सहायता ही करे, जातीय सम्पत्ति-

स्वरूप हमारा जो धर्म-भाव है, उसे क्षति न पहुँचावे। ये सब विभिन्न जातियाँ हिन्दू जाति पर विजय प्राप्त करने के लिए क्यों आयीं? क्या हिन्दुओं ने अन्य जातियों का कुछ अनिष्ट किया था? बल्कि जहाँ तक सम्भव था, उन्होंने संसार का उपकार ही किया था। उन्होंने संसार को विज्ञान, दर्शन और धर्म की शिक्षा दी तथा संसार की अनेक असभ्य जातियों को सभ्य बनाया। परन्तु उसके बदले में उनको क्या मिला?—रक्तपात! अत्याचार!! और दुष्ट 'काफ़िर' यह घृण नाम!!! वर्तमान काल में भी पाश्चात्य व्यक्तियों द्वारा लिखित भारत सम्बन्धी ग्रन्थों को पढ़कर देखिए तथा यहाँ (भारत में) भ्रमण करने के लिए जो लोग गये थे, उनके द्वारा लिखित आख्यायिकाओं को पढ़िए। आप देखेंगे, उन्होंने भी हिन्दुओं को 'हिदन' कहकर गालियाँ दी हैं। मैं पूछता हूँ, भारतवासियों ने ऐसा कौन सा अनिष्ट किया है, जिसके प्रतिशोध में उनके प्रति इस प्रकार की लांछनपूर्ण बातें कही जाती हैं?

प्रश्न—सभ्यता के विषय में वेदान्त की क्या धारणा है?

उत्तर—आप दार्शनिक लोग हैं—आप यह नहीं मानते कि रुपये की थैली पास रहने से ही मनुष्य मनुष्य में कुछ भेद उत्पन्न हो जाता है। इन सब कल-कारखानों और जड़-विज्ञानों का मूल्य क्या है? उनका तो बस एक ही फल देखने में आता है—वे सर्वत्र ज्ञान का विस्तार करते हैं। आप अभाव अथवा दारिद्र्य की समस्या को हल नहीं कर सके, बल्कि आपने तो अभाव की मात्रा और भी बढ़ा दी है। यन्त्रों की सहायता से 'दारिद्र्य-समस्या' का कभी समाधान नहीं हो सकता। उनके द्वारा जीवन-संग्राम और भी तीव्र हो जाता है, प्रतियोगिता और भी बढ़ जाती है। जड़-प्रकृति का क्या कोई स्वतन्त्र मूल्य है? कोई व्यक्ति यदि तार के माध्यम से बिजली का प्रवाह भेज सकता है, तो आप उसी समय उसका स्मारक बनाने के लिए उद्यत हो जाते हैं। क्यों! क्या प्रकृति स्वयं यह कार्य लाखों बार नित्य नहीं करती? प्रकृति में सब कुछ क्या पहले से ही विद्यमान नहीं है? आपको उसकी प्राप्ति हुई भी, तो उससे क्या लाभ? वह तो पहले से ही वहाँ वर्तमान है। उसका एकमात्र मूल्य यही है कि वह हमें भीतर से उन्नत बनाता है। यह जगत् मानो एक व्यायामशाला के सदृश है—इसमें जीवात्माएँ अपने अपने कर्म के द्वारा अपनी अपनी उन्नति कर रही हैं, और इसी उन्नति के फलस्वरूप हम देवस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। अतः किस विषय में ईश्वर की कितनी अभिव्यक्ति है, यह जानकर ही उस विषय का मूल्य या सार निर्धारित करना चाहिए। सभ्यता का अर्थ है, मनुष्य में इसी ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति।

प्रश्न—क्या बौद्धो मे भी किसी प्रकार का जाति-विभाग है ?

उत्तर—बौद्धो मे कभी कोई विशेष जाति-विभाग नही था, और भारत मे बौद्धो की सख्या भी बहुत थोडी है। बुद्ध एक समाज-सुधारक थे। फिर भी मैंने बौद्ध देशो मे देखा है, वहाँ जाति-विभाग की सृष्टि करने के बहुत प्रयत्न होते रहे हैं, पर उसमे सफलता नही मिली। बौद्धो का जाति-विभाग वास्तव मे नही जैसा ही है, परन्तु मन ही मन वे स्वय को उच्च जाति मानकर गर्व करते हैं।

बुद्ध एक वेदान्तवादी सन्यासी थे। उन्होंने एक नये सम्प्रदाय की स्थापना की थी, जैसे कि आजकल नये नये सम्प्रदाय स्थापित होते हैं। जो सब भाव आजकल बौद्ध धर्म के नाम से प्रचलित हैं, वे वास्तव मे बुद्ध के अपने नहीं थे। वे तो उनसे भी बहुत प्राचीन थे। बुद्ध एक महापुरुष थे—उन्होने इन भावो मे शक्ति का सचार कर दिया था। बौद्ध धर्म का सामाजिक भाव ही उसकी नवीनता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय ही सदा से हमारे आचार्य रहे है। उपनिषदो मे से अधिकांश तो क्षत्रियो द्वारा रचे गये हैं, और वेदो का कर्मकाण्ड भाग ब्राह्मणो द्वारा। समग्र भारत मे हमारे जो बडे बडे आचार्य हो गये हैं, उनमे से अधिकाश क्षत्रिय थे, और उनके उपदेश भी बडे उदार और सार्वजनीन हैं, परन्तु केवल दो ब्राह्मण आचार्यों को छोडकर शेष सब ब्राह्मण आचार्य अनुदार भावसम्पन्न थे। भगवान् के अवतार के रूप मे पूजे जानेवाले राम, कृष्ण, बुद्ध—ये सभी क्षत्रिय थे।

प्रश्न—सम्प्रदाय, अनुष्ठान, शास्त्र—ये सब क्या तत्त्व की उपलब्धि में सहायक हैं ?

उत्तर—तत्त्व-साक्षात्कार हो जाने पर मनुष्य सब कुछ छोड देता है। विभिन्न सम्प्रदाय, अनुष्ठान, शास्त्र आदि की वही तक उपयोगिता है, जहाँ तक वे उस पूर्णत्व की अवस्था मे पहुँचने के लिए सहायक हैं। परन्तु जब उनसे कोई सहायता नही मिल पाती, तब अवश्य उनमे परिवर्तन करना चाहिए।

> सक्ता॰ कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
> कुर्याद्विद्वास्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसग्रहम् ॥
> न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञाना कर्मसगिनाम्।
> जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्त समाचरन् ॥[1]

—अर्थात् 'ज्ञानी व्यक्ति को कभी भी अज्ञानी की अवस्था के प्रति घृणा प्रदर्शित नहीं करनी चाहिए और न उनकी अपनी अपनी साधन-प्रणाली मे उनके विश्वास

---

१ गीता ॥३।२५-६॥

को नष्ट ही करना चाहिए बल्कि ज्ञानी व्यक्ति को चाहिए कि वह उनको ठीक ठीक मार्ग प्रदर्शित करे, जिससे वे उस अवस्था में पहुँच जायँ जहाँ वह स्वयं पहुँचा हुआ है।

प्रश्न—वेदान्त व्यक्तित्व[1] (individuality) और नीतिशास्त्र की व्याख्या किस प्रकार करता है?

उत्तर—वह पूर्ण ब्रह्म *यथार्थ अविभाज्य व्यक्तित्व ही है—माया द्वारा उसने* पृथक् पृथक् व्यक्ति के आकार धारण किये हैं। केवल ऊपर से ही इस प्रकार का बोध हो रहा है पर वास्तव में वह सर्वदा वही पूर्ण ब्रह्मस्वरूप है। वास्तव में सत्ता एक है पर माया के कारण वह विभिन्न रूपों में प्रतीत हो रही है। यह समस्त भेद-बोध माया में है। पर इस माया के भीतर भी सर्वदा उसी एक की ओर लौट जाने की प्रवृत्ति चली हुई है। प्रत्येक राष्ट्र के समस्त नीतिशास्त्र और समस्त आचरणशास्त्र में यही प्रवृत्ति अभिव्यक्त हुई है क्योंकि यह जीवात्मा का स्वभावगत प्रयोजन है। यह उसी एकत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर रही है—और एकत्व लाभ के इस संघर्ष को हम नीतिशास्त्र और आचरणशास्त्र कहते हैं। इसीलिए हमें सर्वदा उन्हें अभ्यास करना चाहिए।

प्रश्न—नीतिशास्त्र का अधिकांश भाग क्या विभिन्न व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध को ही लेकर नहीं है?

उत्तर—नीतिशास्त्र एकदम यही है। पूर्ण ब्रह्म कभी माया की सीमा के भीतर नहीं आ सकता।

प्रश्न—आपने कहा कि 'मैं' ही वह पूर्ण ब्रह्म है—मैं आपसे पूछनेवाला था कि इस 'मैं' या 'अहं' का कोई ज्ञान रहता है या नहीं?

उत्तर—यह 'अहं' या 'मैं' उसी पूर्ण ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, और इस अभिव्यक्त दशा में उसमें जो प्रकाश-शक्ति कार्य कर रही है उसीको हम 'ज्ञान' कहते हैं। इसलिए उस पूर्ण ब्रह्म के ज्ञानस्वरूप में 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं है क्योंकि वह पूर्णावस्था तो इस सापेक्ष ज्ञान के परे है।

प्रश्न—वह सापेक्ष ज्ञान क्या पूर्ण ज्ञान के अन्तर्गत है?

---

[1] अंग्रेजी के individual शब्द में 'अ-विभाज्य' और 'व्यष्टि' दोनों भाव निहित हैं। स्वामी जी जब उत्तर में कहते हैं कि 'ब्रह्म ही यथार्थ individual है' तब प्रथमोक्त भाव को अर्थात् उपचय-अपचय-हीन अविभाज्यता को वे लक्ष्य करते हैं। फिर वे कहते हैं कि उस सत्ता ने माया के कारण पृथक् पृथक् व्यक्ति के आकार धारण किये हैं। स

उत्तर—सुकृत द्वारा। सुकृत दो प्रकार के हैं सकारात्मक और नकारात्मक। 'चोरी मत करो'—यह नकारात्मक निर्देश है, 'परोपकार करो'—यह सकारात्मक है।

प्रश्न—परोपकार उच्च अवस्था मे क्यो न किया जाय, क्योकि निम्न अवस्था मे वैसा करने से साधक भवबन्धन मे पड सकता है?

उत्तर—प्रथम अवस्था मे ही इसे करना चाहिए। आरम्भ मे जिसे कोई कामना रहती है, वह भ्रान्त होता है और बन्धन मे पडता है, अन्य लोग नही। धीरे धीरे यह बिल्कुल स्वाभाविक बन जायगा।

प्रश्न—स्वामी जी! कल रात आपने कहा था, 'तुममे सब कुछ है।' तब यदि मैं विष्णु जैसा बनना चाहूँ, तो क्या मुझे केवल इस मनोरथ का ही चिन्तन करना चाहिए अथवा विष्णु रूप का ध्यान करना चाहिए?

उत्तर—सामर्थ्य के अनुसार इनमे से किसी मार्ग का अनुसरण किया जा सकता है।

प्रश्न—आत्मानुभूति का साधन क्या है?

उत्तर—गुरु ही आत्मानुभूति का साधन है। 'गुरु बिनु होइ कि ज्ञान।'

प्रश्न—कुछ लोगो का कहना है कि ध्यान लगाने के लिए किसी पूजा-गृह मे बैठने की आवश्यकता नही है। यह कहाँ तक ठीक है?

उत्तर—जिन्होंने प्रभु की विद्यमानता का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उनके लिए इसकी आवश्यकता नहीं है, लेकिन औरो के लिए है। किन्तु साधक को सगुण ब्रह्म की उपासना से ऊपर उठकर निर्गुण ब्रह्म की उपासना की ओर अग्रसर होना चाहिए, क्योंकि सगुण या साकार उपासना से मोक्ष नही मिल सकता। साकार के दर्शन से आपको सासारिक समृद्धि प्राप्त हो सकती है। जो माता की भक्ति करता है, वह इस दुनिया मे सफल होता है, जो पिता की पूजा करता है, वह स्वर्ग जाता है, किन्तु जो साधु की पूजा करता है, वह ज्ञान तथा भक्ति लाभ करता है।

प्रश्न—इसका क्या अर्थ है **क्षणमिह सज्जन सगतिरेका** आदि—'सत्सग का एक क्षण भी मनुष्य को इस भवलोक के परे ले जाता है'?

उत्तर—सच्चे साधु के सम्पर्क मे आने पर सत्पात्र मुक्तावस्था प्राप्त कर लेता है। सच्चे साधु विरले होते है, किन्तु उनका प्रभाव इतना होता है कि एक महान् लेखक ने लिखा है, 'पाखड वह कर है, जो दुष्टता सज्जनता को देती है।' दुष्ट जन सज्जन होने का ढोग करते है। किन्तु अवतार कपाल-मोचन होते हैं, अर्थात् वे लोगो का दुर्भाग्य पलट सकते हैं। वे सारे विश्व को हिला सकते

प्रश्न—क्या गीता में श्री कृष्ण के विश्व रूप में जिस दिव्य ऐश्वर्य का दर्शन कराया गया है, वह श्री कृष्ण के रूप में निहित अन्य सगुण उपाधियों के बिना गोपियों से उनके सम्बन्ध में व्यक्त प्रेम भाव के प्रकाश से श्रेष्ठतर है?

उत्तर—दिव्य ऐश्वर्य के प्रकाश की अपेक्षा निश्चय ही वह प्रेम हीनतर है जो प्रिय के प्रति भगवद्भावना से रहित हो। यदि ऐसा न होता, तो हाड़-मांस के शरीर से प्रेम करनेवाले सभी लोग मोक्ष प्राप्त कर लेते।

८

(गुरु, अवतार, योग, जप, सेवा)

प्रश्न—वेदान्त के लक्ष्य तक कैसे पहुँचा जा सकता है?

उत्तर—श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा। किसी सद्गुरु से ही श्रवण करना चाहिए। चाहे कोई नियमित रूप से शिष्य न हुआ हो, पर अगर जिज्ञासु सुपात्र है और वह सद्गुरु के शब्दों का श्रवण करता है, तो उसकी मुक्ति हो जाती है।

प्रश्न—सद्गुरु कौन है?

उत्तर—सद्गुरु वह है, जिसे गुरु-परम्परा से आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त हुई है। आध्यात्म गुरु का कार्य बड़ा कठिन है। दूसरों के पापों को स्वयं अपने ऊपर लेना पड़ता है। कम उन्नत व्यक्तियों के पतन की पूरी आशंका रहती है। यदि शारीरिक पीड़ा मात्र हो, तो उसे अपने को भाग्यवान समझना चाहिए।

प्रश्न—क्या आध्यात्म गुरु जिज्ञासु को सुपात्र नहीं बना सकता?

उत्तर—कोई अवतार बना सकता है। साधारण गुरु नहीं।

प्रश्न—क्या मोक्ष का कोई सरल मार्ग नहीं है?

उत्तर—'प्रेम को पथ कृपाण की धारा'—केवल उन लोगों के लिए आसान है, जिन्हें किसी अवतार के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। परमहंस देव कहा करते थे, 'जिसका यह आखिरी जन्म है, वह किसी न किसी प्रकार से मेरा दर्शन कर लेगा।'

प्रश्न—क्या उसके लिए योग सुगम मार्ग नहीं है?

उत्तर—(मजाक में) आपने खूब कहा समझा!—योग सुगम मार्ग! यदि आपका मन निर्मल न होगा और आप योगमार्ग पर आरूढ़ होंगे, तो आपको कुछ अलौकिक सिद्धियाँ मिल जायँगी, परन्तु वे रुकावटें होंगी। इसलिए मन की निर्मलता प्रथम आवश्यकता है।

प्रश्न—इसका उपाय क्या है?

प्रश्न—क्या जीव-सेवा मात्र से मुक्ति मिल सकती है?

उत्तर—जीव-सेवा प्रत्यक्ष रूप से तो नही, परोक्ष रूप से आत्मशुद्धि द्वारा मुक्ति प्रदान कर सकती है। किन्तु यदि आप समुचित रूप से किसी कार्य के करने की इच्छा रखते हैं, तो सम्प्रति उसे ही पूर्ण पर्याप्त समझिए। किसी भी पथ मे खतरा है मुमुक्षा के अभाव का। निष्ठा का होना आवश्यक है, अन्यथा विकास न होगा। इस समय कर्म पर जोर देना आवश्यक हो गया है।

प्रश्न—कर्म मे हमारी भावना क्या होनी चाहिए—परोपकारमूलक करुणा या अन्य कोई भावना?

उत्तर—करुणाजन्य परोपकार उत्तम है, परन्तु शिव ज्ञान से सर्व जीव की सेवा उससे श्रेष्ठ है।

प्रश्न—प्रार्थना की उपादेयता क्या है?

उत्तर—सोयी हुई शक्ति प्रार्थना से आसानी से जाग उठती है और यदि सच्चे दिल से की जाय, तो सभी इच्छाएँ पूरी हो सकती है, किन्तु अगर सच्चे दिल से न की जाय, तो दस मे से एक की पूर्ति होती है। परन्तु इस तरह की प्रार्थना स्वार्थपूर्ण होती है, अत वह त्याज्य है।

प्रश्न—नर-रूपधारी अवतार की पहचान क्या है?

उत्तर—जो मनुष्यो के विनाश के दुर्भाग्य को वदल सके, वह भगवान् है। कोई भी साधु, चाहे वह कितना भी पहुँचा हुआ क्यो न हो, इस अनुपम पद के लिए दावा नही कर सकता। मुझे कोई ऐसा व्यक्ति नही दिखायी पडता, जो रामकृष्ण को भगवान् समझता हो। हमे कभी कभी इसकी धुँधली प्रतीति मात्र हो जाती है, बस। उन्हे भगवान् के रूप मे जान लेने और साथ ही ससार से आसक्ति रखने मे सगति नही है।

९

(भगिनी निवेदिता के कुछ प्रश्नो के उत्तर[1])

प्रश्न—पृथ्वीराज एव चद जिस समय कन्नौज मे स्वयवर के लिए जाने को प्रस्तुत हुए, उस समय उन्होंने किनका छद्मवेश धारण किया था—मुझे याद नही आ रहा है?

उत्तर—दोनो ही भाट का वेष धारण कर गये थे।

---

१ ये उत्तर स्वामी जी ने सैन फ्रांसिस्को से मई २४, १९०० ई० को एक पत्र मे लिखे थे। स०

है। सबसे कम खतरनाक और पूजा का सर्वोत्तम तरीका किसी मनुष्य की पूजा करना है जिसने मानव में ब्रह्म के होने का विचार प्रतिष्ठित कर लिया उसने विश्व व्यापी ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया। विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार संन्यस्त जीवन तथा गृहस्थ जीवन दोनों ही श्रेयस्कर हैं। केवल ज्ञान आवश्यक वस्तु है।

प्रश्न—ध्यान कहाँ लगाना चाहिए—शरीर के भीतर या बाहर? मन को भीतर समेटना चाहिए अथवा बाह्य प्रदेश में स्थापित करना चाहिए?

उत्तर—हमें भीतर ध्यान लगाने का यत्न करना चाहिए। जहाँ तक मन के इधर-उधर भागने का सवाल है मनोमय कोष में पहुँचने में लम्बा समय लगेगा। अभी तो हमारा संघर्ष शरीर से है। जब आसन सिद्ध हो जाता है तभी मन से संघर्ष आरम्भ होता है। आसन सिद्ध हो जाने पर अंग-प्रत्यंग निश्चल हो जाता है—और साधक चाहे जितने समय तक बैठा रह सकता है।

प्रश्न—कभी कभी जप से थकान मालूम होने लगती है। तब क्या उसकी जगह स्वाध्याय करना चाहिए, या उसी पर आरूढ़ रहना चाहिए?

उत्तर—दो कारणों से जप में थकान मालूम होती है। कभी कभी मस्तिष्क थक जाता है और कभी कभी आलस्य के परिणामस्वरूप ऐसा होता है। यदि प्रथम कारण है तो उस समय कुछ क्षण तक जप छोड़ देना चाहिए, क्योंकि हठपूर्वक जप में लगे रहने से विभ्रम या विक्षिप्तावस्था आदि आ जाती है। परन्तु यदि द्वितीय कारण है तो मन को बलात् जप में लगाना चाहिए।

प्रश्न—कभी कभी जप करते समय पहले आनन्द की अनुभूति होती है लेकिन तब आनन्द के कारण जप में मन नहीं लगता। ऐसी स्थिति में क्या जप जारी रखना चाहिए?

उत्तर—हाँ वह आनन्द आध्यात्मिक साधना में बाधक है। उसे रसास्वादन कहते हैं। उससे ऊपर उठना चाहिए।

प्रश्न—यदि मन इधर-उधर भागता रहे तब भी क्या देर तक जप करते रहना ठीक है?

उत्तर—हाँ उसी प्रकार जैसे अगर किसी बदमाश घोड़े की पीठ पर कोई अपना आसन जमाये रखे तो वह उसे वश में कर लेता है।

प्रश्न—आपने अपने 'भक्तियोग' में लिखा है कि यदि कोई कमज़ोर आदमी योगाभ्यास का यत्न करता है तो घोर प्रतिक्रिया होती है। तब क्या किया जाय?

उत्तर—यदि आत्मज्ञान के प्रयास में मर जाना पड़े तो भय किस बात का। ज्ञानार्जन तथा अन्य बहुत सी वस्तुओं के लिए मरने में मनुष्य को भय नहीं होता और धर्म के लिए मरने में आप भयभीत क्यों हों?

प्रश्न—क्या जीव-सेवा मात्र से मुक्ति मिल सकती है ?

उत्तर—जीव-सेवा प्रत्यक्ष रूप से तो नही, परोक्ष रूप से आत्मशुद्धि द्वारा मुक्ति प्रदान कर सकती है। किन्तु यदि आप समुचित रूप से किसी कार्य के करने की इच्छा रखते हैं, तो सम्प्रति उसे ही पूर्ण पर्याप्त समझिए। किसी भी पथ मे खतरा है मुमुक्षा के अभाव का। निष्ठा का होना आवश्यक है, अन्यथा विकास न होगा। इस समय कर्म पर जोर देना आवश्यक हो गया है।

प्रश्न—कर्म मे हमारी भावना क्या होनी चाहिए—परोपकारमूलक करुणा या अन्य कोई भावना ?

उत्तर—करुणाजन्य परोपकार उत्तम है, परन्तु शिव ज्ञान से सर्व जीव की सेवा उससे श्रेष्ठ है।

प्रश्न—प्रार्थना की उपादेयता क्या है ?

उत्तर—सोयी हुई शक्ति प्रार्थना से आसानी से जाग उठती है और यदि सच्चे दिल से की जाय, तो सभी इच्छाएँ पूरी हो सकती हैं, किन्तु अगर सच्चे दिल से न की जाय, तो दस मे से एक की पूर्ति होती है। परन्तु इस तरह की प्रार्थना स्वार्थपूर्ण होती है, अत वह त्याज्य है।

प्रश्न—नर-रूपधारी अवतार की पहचान क्या है ?

उत्तर—जो मनुष्यो के विनाश के दुर्भाग्य को बदल सके, वह भगवान् है। कोई भी साधु, चाहे वह कितना भी पहुँचा हुआ क्यो न हो, इस अनुपम पद के लिए दावा नही कर सकता। मुझे कोई ऐसा व्यक्ति नही दिखायी पडता, जो रामकृष्ण को भगवान् समझता हो। हमे कभी कभी इसकी धुँधली प्रतीति मात्र हो जाती है, बस। उन्हे भगवान् के रूप मे जान लेने और साथ ही ससार से आसक्ति रखने मे सगति नही है।

९

(भगिनी निवेदिता के कुछ प्रश्नो के उत्तर[1])

प्रश्न—पृथ्वीराज एव चद जिस समय कन्नौज मे स्वयवर के लिए जाने को प्रस्तुत हुए, उस समय उन्होंने किनका छद्मवेश धारण किया था—मुझे याद नही आ रहा है ?

उत्तर—दोनो ही भाट का वेष धारण कर गये थे।

---

१ ये उत्तर स्वामी जी ने सैन फ्रांसिस्को से मई २४, १९०० ई० को एक पत्र मे लिखे थे। स०

प्रश्न—क्या पृथ्वीराज ने संयुक्ता के साथ इसलिए विवाह करना चाहा था कि वह अलौकिक रूपवती थी तथा उसके प्रतिद्वन्द्वी की पुत्री थी? संयुक्ता की परिचारिका होने के लिए क्या उन्होंने अपनी एक दासी को सिखा-पढ़ाकर वहाँ भेजा था? और क्या इसी वृद्धा दासी ने राजकुमारी के हृदय में पृथ्वीराज के प्रति प्रेम का बीज अंकुरित किया था?

उत्तर—दोनों ही परस्पर के रूप-गुणों का वर्णन सुनकर तथा चित्र अवलोकन कर एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हुए थे। चित्र-दर्शन के द्वारा नायक-नायिका के हृदय में प्रेम का संचार भारत की एक प्राचीन रीति है।

प्रश्न—गोप बालकों के बीच में कृष्ण का प्रतिपालन कैसे हुआ?

उत्तर—ऐसी भविष्यवाणी हुई थी कि कृष्ण कंस को सिंहासन से च्युत करेंगे। इस भय से कि जन्म लेने के बाद कृष्ण कहीं गुप्त रूप से प्रतिपालित हों दुराचारी कंस ने कृष्ण के माता-पिता को (यद्यपि वे कंस की बहन और बहनोई थे) जेल में डाल रखा था तथा इस प्रकार का आदेश दिया कि उस वर्ष से राज्य में जितने बालक पैदा होंगे उन सबकी हत्या की जायगी। अत्याचारी कंस के हाथ से रक्षा करने के लिए ही कृष्ण के पिता ने उन्हें गुप्त रूप से यमुना पार पहुँचाया था।

प्रश्न—उनके जीवन के इस अध्याय की परिसमाप्ति किस प्रकार हुई थी?

उत्तर—अत्याचारी कंस के द्वारा आमन्त्रित होकर वे अपने भाई बलदेव तथा अपने पालक पिता नन्द के साथ राजसभा में पधारे। (अत्याचारी ने उनकी हत्या करने का षड्यन्त्र रचा था।) उन्होंने अत्याचारी का वध किया। किन्तु स्वयं राजा न बनकर कंस के निकटतम उत्तराधिकारी को उन्होंने राजसिंहासन पर बैठाया। उन्होंने कभी कर्म के फल को स्वयं नहीं भोगा।

प्रश्न—इस समय की किसी नाटकीय घटना का उल्लेख क्या आप कर सकते हैं?

उत्तर—इस समय का जीवन अलौकिक घटनाओं से परिपूर्ण था। बाल्यावस्था में वे अत्यन्त ही चंचल थे। चंचलता के कारण उनकी गोपिका माता ने एक दिन उन्हें दधिमन्थन की रस्सी से बाँधना चाहा था। किन्तु अनेक रस्सियों को जोड़कर भी वे उन्हें बाँधने में समर्थ न हुईं। तब उनकी दृष्टि खुली और उन्होंने देखा कि जिनको वे बाँधने जा रही हैं उनके शरीर में समग्र ब्रह्माण्ड अवस्थित है। डरकर काँपती हुई वे उनकी स्तुति करने लगीं। तब भगवान् ने उन्हें पुनः माया से आवृत किया और एकमात्र वही बालक उन्हें दृष्टिगोचर हुआ।

देवश्रेष्ठ ब्रह्मा को यह विश्वास न हुआ कि परब्रह्म ने ही गोप बालक का रूप धारण किया है। इसलिए परीक्षा के निमित्त एक दिन उन्होंने समस्त गायो को तथा गोप बालको को चुराकर एक गुफा मे निद्रित कर रखा। किन्तु वहाँ से लौटकर उन्होंने देखा कि वे ही गायें तथा गोप बालक कृष्ण के चारो ओर विद्य-मान हैं। वे फिर उनको भी चुरा कर ले गये एव उन्हे भी छिपाकर रखा। किन्तु लौटने पर फिर उन्हे वे ही ज्यो के त्यो दिखायी देने लगे। तब उनके ज्ञान-नेत्र खुले, उन्होने देखा कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड तथा सहस्र सहस्र ब्रह्मा कृष्ण की देह मे विराजमान हैं।

कालिय नाग ने यमुना के जल को विषाक्त कर डाला था, इसलिए उन्होंने उसके फन पर नृत्य किया था। उनके ारा इन्द्र की पूजा बन्द किये जाने के फल-स्वरूप कुपित होकर इन्द्र ने जब इस प्रकार प्रबल वेग से जल बरसाना प्रारम्भ किया कि समस्त ब्रजवासी मानो उसमे डूबकर मर जायेंगे, तब कृष्ण ने गोवर्धन-धारण किया। कृष्ण ने एक अगुली से छत्र की तरह गोवर्धन पर्वत को ऊपर उठा-कर धारण किया, और उसके नीचे सभी ने आश्रय लिया।

बाल्यकाल से ही वे नाग-पूजा तथा इन्द्र-पूजा के विरोधी थे। इन्द्र-पूजा एक वैदिक अनुष्ठान है। गीता मे सर्वत्र यह स्पष्ट है कि वे वैदिक अनुष्ठानो के पक्षपाती नही थे।

अपने जीवन मे इसी समय उन्होने गोपियो के साथ लीला की थी। उस समय उनकी आयु ग्यारह वर्ष की थी।

अनुक्रमणिका

फिर भी मैं आने की भरसक चेष्टा कर रहा हूँ हालाँकि तुम तो जानती हो कि एक महीना आने में और एक महीना वापस आने में ही लग जाते हैं और वह भी केवल चंद दिनों के आवास के लिए। और चिन्ता न करो मैं पूरी कोशिश कर रहा हूँ। मेरे अत्यधिक गिरे हुए स्वास्थ्य और कुछ कानूनी मामलों आदि के कारण थोड़ी देर अवश्य हो सकती है।

चिरस्नेहाबद्ध
विवेकानन्द

(कुमारी जोसेफिन मैक्लिऑड को लिखित)

मठ, बेलूड़ हावड़ा
बंगाल भारत

प्रिय 'जो'

तुम्हारे जिस महान् ऋण से मैं ऋणी हूँ उसे चुकाने की कल्पना तक मैं नहीं कर सकता। तुम कहीं भी क्यों न रहो मेरी मंगलकामना करना तुम कभी भी नहीं भूलती हो। और तुम्हीं एकमात्र ऐसी हो जो इन तमाम शुभेच्छाओं से ऊँची उठकर मेरा समस्त बोझ अपने ऊपर लेती हो तथा मेरे सब प्रकार के अनुचित आचरणों को सहन करती हो।

तुम्हारे जापानी मित्र ने बहुत ही दयालुतापूर्ण व्यवहार किया है किन्तु मेरा स्वास्थ्य इतना खराब है कि मुझे यह डर है कि जापान जाने का समय मैं नहीं निकाल सकूँगा। कम से कम केवल अपने गुणग्राही मित्रों के समाचार जानने के लिए मुझे एक बार बम्बई प्रेसीडेन्सी होकर गुजरना पड़ेगा।

इसके अलावा जापान यातायात में भी दो महीने बीत जायेंगे केवल एक महीना वहाँ पर रह सकूँगा कार्य करने के लिए इतना सीमित समय पर्याप्त नहीं है — तुम्हारा क्या मत है? अतः तुम्हारे जापानी मित्र ने मेरे मार्गव्यय के लिए जो धन भेजा है उसे तुम वापस कर देना नवम्बर में जब तुम भारत लौटोगी उस समय मैं उसे चुका दूँगा।

आसाम में मुझ पर पुनः मेरे रोग का भयानक आक्रमण हुआ था क्रमशः मैं स्वस्थ हो रहा हूँ। बम्बई के लोग मेरी प्रतीक्षा कर हैरान हो चुके हैं अब की बार उनसे मिलने जाना है।

इन सब कारणों के होते हुए भी यदि तुम्हारा यह अभिप्राय हो कि मेरे लिए जाना उचित है, तो तुम्हारा पत्र मिलते ही मैं रवाना हो जाऊँगा।

लन्दन से श्रीमती लेगेट ने एक पत्र लिखकर यह जानना चाहा है कि उनके भेजे हुए ३०० पौण्ड मुझे प्राप्त हुए है अथवा नही। उनका भेजा हुआ धन यथा-समय मुझे प्राप्त हुआ है तथा पूर्व निर्देश के अनुसार एक सप्ताह अथवा उससे भी पहले 'मोनरो एण्ड कम्पनी, पेरिस'— इस पते पर मैंने उनको सूचित कर दिया है।

उनका जो अन्तिम पत्र मुझे प्राप्त हुआ है, उस लिफाफे को न जाने किसने अत्यन्त भद्दे तरीके से फाड दिया है। भारतीय डाक विभाग मेरे पत्रो को थोडी शिष्टता के साथ खोलने का प्रयास भी नही करता।

तुम्हारा चिरस्नेहशील,
विवेकानन्द

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

मठ,
५ जुलाई, १९०१

प्रिय मेरी,

मैं तुम्हारे लम्बे प्यारे पत्र के लिए अत्यत कृतज्ञ हूँ, क्योकि इस समय मुझे किसी ऐसे ही पत्र की ज़रूरत थी, जो मेरे मन को थोडा प्रोत्साहन दे सके। मेरा स्वास्थ्य बहुत खराब रहा है और अभी है भी। मैं केवल कुछ दिनो के लिए सँभल जाता हूँ, इसके बाद फिर ढह पडना जैसे अनिवार्य हो जाता है। खैर, इस रोग की प्रकृति ही ऐसी है।

काफी पहले मैं पूर्वी बगाल और आसाम मे भ्रमण करता रहा हूँ। आसाम काश्मीर के बाद भारत का सबसे सुन्दर प्रदेश है, लेकिन साथ ही बहुत अस्वास्थ्यकर भी है। पर्वतो और गिरि शृखलाओ मे चक्कर काटती हुई विशाल ब्रह्मपुत्र— जिसके बीच बीच मे अनेक द्वीप हैं, बस देखने ही लायक है।

तुम तो जानती ही हो कि मेरा देश नद-नदियो का देश है। किन्तु इसके पूर्व इसका वास्तविक अर्थ मैं नही जानता था। पूर्वी बगाल की नदियाँ नदियाँ नही, मीठे पानी के घुमडते हुए सागर हैं, और वे इतनी लम्बी हैं कि स्टीमर उनमे हफ्तो तक लगातार चलते रहते हैं। कुमारी मैक्लिऑड जापान मे हैं। वे उस देश पर मुग्ध हैं और मुझसे वहाँ आने को कहा है, लेकिन मेरा स्वास्थ्य इतनी लम्बी समुद्र-यात्रा गवारा नही कर सकता, अत मैंने इकार कर दिया है। इसके पहले मैं जापान देख भी चुका हूँ।

तो तुम वेनिस का आनन्द ले रही हो! यह वृद्ध पुरुष (मगर) अवश्य ही मजेदार होगा—क्योंकि साइलॉक केवल वेनिस में ही हो सकता था है न?

मुझे अत्यंत खुशी है कि सैम इस वर्ष तुम्हारे साथ ही है। उत्तर के अपने नीरस अनुभव के बाद यूरोप में उसे आनन्द आ रहा होगा। इधर मैंने कोई रोचक मित्र नहीं बनाया और जिन पुराने मित्रों को तुम जानती हो वे प्रायः सबके सब मर चुके हैं—खेतड़ी के राजा भी। उनकी मृत्यु सिकन्दरा में सम्राट् अकबर की समाधि के एक ऊँचे मीनार से गिर पड़ने से हुई। वे अपने खर्चे से आगरे में इस महान् प्राचीन वास्तु-शिल्प के नमूने की मरम्मत करवा रहे थे कि एक दिन उसका निरीक्षण करते समय उनका पैर फिसला और वे सैकड़ों फुट नीचे गिर गये। इस प्रकार तुम देखती हो न कि प्राचीन के प्रति हमारा उत्साह ही कभी कभी हमारे दुःख का कारण बनता है। इसलिए मेरी ध्यान रहे कहीं तुम अपनी भारतीय प्राचीन वस्तुओं के प्रति अत्यधिक उत्साहशील न हो जाना!

मिशन के प्रतीक-चिह्न में सर्प रहस्यवाद (योग) का प्रतीक है सूर्य ज्ञान का उद्वेलित सागर कर्म का कमल भक्ति का और हंस परमात्मा का जो इन सबके मध्य में स्थित है।

सैम और माँ को प्यार कहना।

सस्नेह,
विवेकानन्द

पुनश्च—हर समय शरीर से अस्वस्थ रहने के कारण ही यह छोटा पत्र लिखना पड़ रहा है।

(भगिनी क्रिस्टिन को लिखित)

प्रिय क्रिस्टिन

बेलुड़ मठ,
६ जुलाई, १९ १

कभी कभी किसी कार्य के आवेश से मैं विवश हो उठता हूँ। आज मैं लिखने के नशे में मस्त हूँ। इसलिए मैं सबसे पहले तुमको कुछ पंक्तियाँ लिख रहा हूँ। मेरे स्नायु दुर्बल हैं—ऐसी मेरी बदनामी है। अत्यन्त सामान्य कारण से ही मैं व्याकुल हो उठता हूँ। किन्तु प्रिय क्रिस्टिन मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय में तुम भी मुझसे कम नहीं हो। हमारे यहाँ के एक कवि ने लिखा है हो सकता है कि पर्वत भी उड़ने लगे अग्नि में भी शीतलता उत्पन्न हो जाय किन्तु महान् व्यक्ति के हृदय में स्थित महान् भाव कभी दूर नहीं होता। मैं सामान्य

व्यक्ति हूँ, अत्यन्त ही सामान्य, किन्तु मैं यह जानता हूँ कि तुम महान् हो, तुम्हारी महत्ता पर सदा मेरा विश्वास है। अन्यान्य विषयों में भले ही मुझे चिन्तित होना पड़े, किन्तु तुम्हारे बारे में मुझे तनिक भी दुश्चिन्ता नहीं है।

जगज्जननी के चरणों में मैं तुम्हें सौंप चुका हूँ। वे ही तुम्हारी सदा रक्षा करेंगी एवं मार्ग दिखाती रहेंगी। मैं यह निश्चित रूप से जानता हूँ कि कोई भी अनिष्ट तुम्हें स्पर्श नहीं कर सकता—किसी प्रकार की विघ्न-बाधाएँ क्षण भर के लिए भी तुम्हें दबा नहीं सकतीं। इति।

भगवदाश्रित,
विवेकानन्द

(कुमारी जोसेफिन मैक्लिऑड को लिखित)

१४ जुलाई, १९०१

प्रिय 'जो',

यह जानकर कि बोया कलकत्ता आ रहे हैं, मैं सतत प्रसन्न हूँ। उन्हें शीघ्र मठ भेज दो। मैं यहाँ रहूँगा। यदि सम्भव हुआ, तो मैं उन्हें यहाँ कुछ दिन रखूँगा और तब उन्हें फिर नैपाल जाने दूँगा।

आपका,
विवेकानन्द

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

बेलूड़ मठ,
हावड़ा, बंगाल,
२७ अगस्त, १९०१

प्रिय मेरी,

मैं मनाता हूँ कि मेरा स्वास्थ्य तुम्हारी आशा के अनुरूप हो जाय, कम से कम इतना अच्छा कि तुम्हें एक लम्बा पत्र ही लिख सकूँ। पर यथार्थ यह है कि वह दिन-प्रतिदिन गिरता ही जा रहा है, इसके अतिरिक्त भी अनेक परेशानियाँ और उलझनें साथ लगी हैं। मैंने तो अब उन पर ध्यान देना ही छोड़ दिया है।

स्विट्ज़रलैण्ड के अपने सुन्दर काष्ठगृह में सुख-स्वास्थ्य से परिपूर्ण रहो, यही मेरी कामना है। यदाकदा स्विट्ज़रलैण्ड अथवा अन्य स्थानों की प्राचीन वस्तुओं का हल्का अध्ययन—निरीक्षण करते रहने से चीज़ों का आनन्द थोड़ा और भी बढ़ जायगा। मैं बहुत प्रसन्न हूँ कि तुम पहाड़ों की मुक्त-वायु में साँस

रा रही हो। लेकिन दुःख है कि सैम पूर्णतः स्वस्थ नहीं है। खैर, इसमें कोई चिन्ता की बात नहीं उसकी काठी वैसे ही बड़ी अच्छी है।

स्त्रियों का चरित्र और पुरुषों का भाग्य इन्हें स्वयं ईश्वर भी नहीं जानता मनुष्य की तो बात ही क्या। चाहे यह मेरा स्त्रियोचित स्वभाव ही मान लिया जाय पर इस क्षण तो मेरे मन में यही आता है कि काश तुम्हारे भीतर पुरुषत्व का थोड़ा अंश होता। आह मेरी! तुम्हारी बुद्धि स्वास्थ्य सुन्दरता सब उस एक आवश्यक तत्त्व के बिना व्यर्थ जा रहे हैं और वह है—व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा! तुम्हारा दर्प तुम्हारी तेजी सब बकवास है केवल मजाक। अधिक से अधिक तुम एक बोर्डिंग-स्कूल की छोकरी हो—रीढ़हीन! बिल्कुल ही रीढ़हीन!

आह! यह जीवनपर्यन्त दूसरों को रास्ता सुझाते रहने का व्यापार! यह अत्यंत कठोर है अत्यंत क्रूर! पर मैं असहाय हूँ इसके आगे। मैं तुम्हें प्यार करता हूँ मेरी ईमानदारी से सच्चाई से मैं तुम्हें प्रिय लगनेवाली बातों से छल नहीं सकता। न ही यह मेरे बस का रोग है।

फिर मैं एक मरणोन्मुख व्यक्ति हूँ मेरे पास छल करने के लिए समय नहीं। अतः ऐ लड़की जाग! अब मैं तुमसे ऐसे पत्रों की आशा करता हूँ जिनमें खरी धार जैसी तेजी हो उसकी तेजी बनाये रखो मुझे पर्याप्त रूप से जागृति की आवश्यकता है।

मुझे मैकलीग परिवार के विषय में अब तक यहाँ से कोई समाचार नहीं मिला। श्रीमती बुल या निवेदिता से कोई सीधा पत्र-व्यवहार न होने पर भी श्रीमती सेविमर से मुझे बराबर उनके विषय में सूचना मिलती रही है और अब सुनता हूँ कि वे सब नार्वे में श्रीमती बुल के अतिथि हैं।

मुझे नहीं मालूम कि निवेदिता भारत कब वापस आयेगी या कभी आयेगी भी या नहीं।

एक तरह से मैं एक अवकाशप्राप्त व्यक्ति हूँ आन्दोलन कैसा चल रहा है इसकी कोई बहुत जानकारी मैं नहीं रखता। दूसरे आन्दोलन का स्वरूप भी बड़ा होता जा रहा है और एक आदमी के लिए उसके विषय में सूक्ष्मतम जानकारी रखना असंभव है।

खाने-पीने सोने और शेष समय में शरीर की शुश्रूषा करने के सिवा मैं और कुछ नहीं करता। विदा मेरी। आशा है इस जीवन में कहीं न कहीं हम तुम अवश्य मिलेंगे। और न भी मिलें तो भी तुम्हारे इस भाई का प्यार तो सदा तुम पर रहेगा ही।

विवेकानन्द

(श्री एम० एन० वनर्जी को लिखित)

मठ, वेलूड, हावडा,
२९ अगस्त, १९०१

स्नेहाशी,

मेरा शरीर क्रमश स्वस्थ होता जा रहा है, यद्यपि अभी तक मैं अत्यन्त ही दुर्वल हूँ। 'शुगर' अथवा 'अलवुमिन' की कोई शिकायत नही है, यह देखकर सब कोई चकित हैं। वर्तमान गडवडी का एकमात्र कारण स्नायु सम्वन्धी दुर्वलता है। अस्तु, धीरे धीरे मैं ठीक होता जा रहा हूँ।

पूजनीया माता जी ने कृपापूर्वक जो प्रस्ताव किया है, उससे मैं विशेष कृतार्थ हूँ। किन्तु मठ के लोगो का कहना है कि नीलाम्वर वावू के मकान, यहाँ तक कि समूचे वेलूड गाँव मे भी अभी तथा आगामी महीने मे 'मलेरिया' छा जाता है। इसके अलावा किराया भी अत्यधिक है। अत पूजनीया माता जी यदि आना चाहे, तो मेरी राय यही है कि कलकत्ते मे एक छोटे से मकान की व्यवस्था की जाय। यदि हो सका, तो मैं भी कलकत्ते मे जाकर ही रहूँगा, क्योकि वर्तमान शारीरिक दुर्वलता मे पुन मलेरिया का आक्रमण होना कतई वाछनीय नही है। मैंने अभी इस वारे मे सारदानन्द या ब्रह्मानन्द की राय नही ली है। वे दोनो ही कलकत्ते मे हैं। ये दो मास कलकत्ता अपेक्षाकृत स्वास्थ्यप्रद है और कम खर्चीला भी है।

मूल बात यह है कि प्रभु उन्हे जैसे चलाये, वैसे ही चलना उचित है। हमलोग केवल सलाह दे सकते हैं और वह सलाह भी एकदम निरर्थक ही है। यदि रहने के लिए उन्हें नीलाम्बर बाबू का मकान ही पसन्द हो, तो किराया आदि पहले से ही ठीक कर रखना। माता जी की इच्छा पूर्ण हो——मैं तो केवल इतना ही जानता हूँ।

मेरा हार्दिक स्नेह तथा शुभकामना जानना।

सदा प्रभुचरणाश्रित,
विवेकानन्द

(श्री एम० एन० वनर्जी को लिखित)

मठ, वेलूड, हावडा,
७ सितम्वर, १९०१

स्नेहाशी,

ब्रह्मानन्द तथा अन्यान्य सभी की राय जानना आवश्यक प्रतीक होने के कारण एव उन लोगो के कलकत्ते मे रहने के कारण तुम्हारे अन्तिम पत्र के जवाव देने मे देरी हुई।

पूरे एक वर्ष के लिए मकान लेने का विषय सोच-समझकर निश्चित करना होगा। इधर जैसे इस महीने बेलूड़ में 'मलेरिया' होने का डर है उसी प्रकार कलकत्ते में भी 'प्लेग' का भय है। फिर भी यदि कोई गाँव के भीतरी भाग में न जाने के प्रति सचेत रहे तो वह 'मलेरिया' से बच सकता है क्योंकि नदी के किनारे पर 'मलेरिया' बिल्कुल नहीं है। अभी तक नदी के किनारे पर 'प्लेग' नहीं फैला है और 'प्लेग' के आक्रमण के समय इस गाँव में उपलब्ध सभी स्थान मारवाड़ियों से भर जाते हैं।

इसके अतिरिक्त अधिक से अधिक तुम कितना किराया दे सकते हो उसका उल्लेख करना आवश्यक है तब कहीं हम तदनुसार मकान की तलाश कर सकते हैं। और दूसरा उपाय यह है कि कलकत्ते का मकान ले लिया जाय।

मैं स्वयं ही मानो कलकत्ते में विदेशी बन चुका हूँ। किन्तु और लोग तुम्हारी पसन्द के अनुसार मकान की तलाश कर देंगे। जितना शीघ्र हो सके निम्नलिखित दोनों विषयों में तुम्हारा विचार ज्ञात होते ही हम लोग तुम्हारे लिए मकान तलाश कर देंगे। (१) पूजनीया माता जी बेलूड़ रहना चाहती हैं अथवा कलकत्ते में? (२) यदि कलकत्ता रहना पसन्द हो तो कहाँ तक किराया देना अभीष्ट है एवं किस मुहल्ले में रहना उनके लिए उपयुक्त होगा? तुम्हारा जवाब मिलते ही शीघ्र यह कार्य सम्पन्न हो जायगा।

मेरा हार्दिक स्नेह तथा शुभकामना जानना।

भवदीय
विवेकानन्द

पुनश्च—हम लोग यहाँ पर कुशलपूर्वक हैं। मोती एक सप्ताह तक कलकत्ते में रहकर वापस आ चुका है। गत तीन दिनों से यहाँ पर दिन रात वर्षा हो रही है। हमारी दो गायों के बछड़े हुए हैं।

वि

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

मठ, बेलूड़
७ सितम्बर, १९ १

प्रिय निवेदिता

हम सभी तात्कालिक आवेग में मग्न रहते हैं—खासकर इस कार्य में हम उसी रूप से संलग्न हैं। मैं कार्य के आवेग को दबाये रखना चाहता हूँ किन्तु कोई ऐसी घटना घट जाती है जिसके फलस्वरूप वह स्वयं ही उत्पन्न उठता है और

इसीलिए तुम यह देख रही हो कि चिन्तन, स्मरण, लेखन—और भी न जाने कितना सब किया जा रहा है।

वर्षा के बारे मे कहना पडेगा कि अब पूरे ज़ोर से आक्रमण शुरू हो गया है, दिन-रात प्रबल वेग से जल बरस रहा है, जहाँ देखो वहाँ वर्षा ही वर्षा है। नदियाँ बढकर अपने दोनो तटो को प्लावित कर रही है, तालाब, सरोवर सभी जल से परिपूर्ण हो उठे है।

वर्षा होने पर मठ के अन्दर जो जल रुक जाता है, उसे निकालने के लिए एक गहरी नाली खोदी जा रही है। इस कार्य मे कुछ हाथ बँटाकर अभी अभी मैं लौट रहा हूँ। किसी किसी स्थल पर कई फुट तक जल भर जाता है। मेरा विशालकाय सारस तथा हस-हसिनी सभी पूर्ण आनन्द मे विभोर हैं। मेरा पाला हुआ 'कृष्ण-सार' मृग मठ से भाग गया था और उसे ढूँढ निकालने मे कई दिन तक हम लोगो को बहुत ही परेशानी उठानी पडी थी। एक हसी दुर्भाग्यवश कल मर गयी। प्राय एक सप्ताह से उसे श्वास लेने मे कष्ट का अनुभव हो रहा था। इन स्थितियो को देखकर हमारे एक वृद्ध रसिक साधु कह रहे थे, महाशय जी, इस कलिकाल मे जब सर्दी तथा वर्षा से हस को जुकाम हो जाता है, और मेढक को भी छीक आने लगती है, तो फिर इस युग मे जीवित रहना निरर्थक ही है।

एक राजहसी के पख झड रहे थे। उसका कोई प्रतिकार मालूम न होने के कारण एक पात्र मे कुछ जल के साथ थोडा सा 'कार्बोलिक एसिड' मिलाकर उसमे कुछ मिनट के लिए उसे इसलिए छोड दिया गया था कि या तो वह पूर्णरूप से स्वस्थ हो उठेगी अथवा समाप्त हो जायगी, परन्तु वह अब ठीक है।

त्वदीय,
विवेकानन्द

बेलूड,
८ अक्तूबर, १९०१

प्रिय—

जीवन-प्रवाह मे उत्थान-पतन के अन्दर होकर मैं अग्रसर हो रहा हूँ। आज मानो मैं कुछ नीचे की ओर हूँ।

भवदीय,
विवेकानन्द

(कुमारी जोसेफिन मैक्लिऑड को लिखित)

मठ, पोस्ट-बेलड़ हावड़ा
८ नवम्बर, १९ १

प्रिय 'जो'

Abatement (कमी) शब्द की व्याख्या के साथ जो पत्र भेजा जा चुका है वह निश्चय ही अब तक तुम्हें मिल गया होगा। मैंने न तो स्वयं वह पत्र ही लिखा है और न 'तार' ही भेजा है। मैं उस समय इतना अधिक अस्वस्थ था कि उन दोनों में से किसी भी कार्य को करना मेरे लिए सम्भव नहीं था। पूर्वी बंगाल का भ्रमण करके लौटने के बाद से ही मैं निरन्तर बीमार जैसा हूँ। इसके अलावा दृष्टि घट जाने के कारण मेरी हालत पहले से भी खराब है। इन बातों को मैं लिखना नहीं चाहता किन्तु मैं यह देख रहा हूँ कि कुछ लोग पूरा विवरण जानना चाहते हैं।

अस्तु, तुम अपने जापानी मित्रों को लेकर आ रही हो—इस समाचार से मुझे खुशी हुई। मैं अपने सामर्थ्यानुसार उन लोगों का आदर-आतिथ्य करूँगा। उस समय मद्रास में रहने की मेरी विशेष सम्भावना है। आगामी सप्ताह मैं कलकत्ता छोड़ देने का मेरा विचार है एवं क्रमशः दक्षिण की ओर अग्रसर होना चाहता हूँ।

तुम्हारे जापानी मित्रों के साथ उड़ीसा के मंदिरों को देखना मेरे लिए सम्भव होगा या नहीं यह मैं नहीं जानता हूँ। मैंने म्लेच्छों का भोजन किया है अतः वे लोग मुझे मन्दिर में जाने देंगे अथवा नहीं—यह मैं नहीं जानता। लॉर्ड कर्जन को मन्दिर में प्रवेश नहीं करने दिया गया था।

अस्तु, फिर भी तुम्हारे मित्रों के लिए जहाँ तक मुझसे सहायता हो सकती है मैं करने को सर्वदा प्रस्तुत हूँ। कुमारी मूलर कलकत्ते में हैं यद्यपि वे हम लोगों से नहीं मिली हैं।

सतत स्नेहशील त्वदीय
विवेकानन्द

(स्वामी स्वरूपानन्द को लिखित)

गोपाल लाल विला,
वाराणसी छावनी,
९ फरवरी, १९०२

प्रिय स्वरूप,

चारु के पत्र के उत्तर मे उससे कहना कि ब्रह्मसूत्र का वह स्वय अध्ययन करे। उसका यह कहने से क्या अभिप्राय है कि ब्रह्मसूत्रो मे बौद्ध मत का सकेत है? निश्चय ही उसका मतलब भाष्य से होगा—होना चाहिए, और शकराचार्य केवल अन्तिम भाष्यकार थे, हाँ, बौद्ध साहित्य मे भी वेदान्त का कही कही उल्लेख है और बौद्धो का महायान मत अद्वैतवादी भी है। अमरसिह नाम के एक बौद्ध ने बुद्ध के नामो मे अद्वयवादी का नाम क्यो दिया था? चारु लिखता है कि ब्रह्म शब्द उपनिषद् मे नही आता है! वाह!!

बौद्ध धर्म के दोनो मतो मे मैं महायान को अधिक प्राचीन मानता हूँ। माया का सिद्धान्त ऋक् सहिता के समान प्राचीन है। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे 'माया' शब्द का प्रयोग है, जो प्रकृति से विकसित हुआ है। इस उपनिषद् को कम से कम मैं बौद्ध धर्म से प्राचीन मानता हूँ।

बौद्ध धर्म के विषय मे मुझे कुछ दिनो से बहुत सा ज्ञान हुआ है। मैं इसका प्रमाण देने को तैयार हूँ कि—

(१) शिव-उपासना अनेक रूपो मे बौद्धमत से पहले स्थापित थी, और बौद्धो ने शैवो के तीर्थस्थानो को लेने का प्रयत्न किया, परन्तु असफल होने पर उन्होने उन्हीके निकट नये स्थान बनाये, जैसे कि बोधगया और सारनाथ मे पाये जाते हैं।

(२) अग्निपुराण मे गयासुर की कथा का बुद्ध से सम्बन्ध नही है—जैसा कि डा० राजेन्द्रलाल मानते है—परन्तु उसका सम्बन्ध केवल पहले से ही वर्तमान एक कथा से है।

(३) बुद्ध देव गयाशीर्ष पर्वत पर रहने गये, इससे यह प्रमाण मिलता है कि वह स्थान पहले से ही था।

(४) गया पहले से ही पूर्वजो की उपासना का स्थान बन चुका था, और बौद्धो ने अपनी चरण-चिह्न उपासना मे हिन्दुओ का अनुकरण किया है।

(५) प्राचीन से प्राचीन पुस्तकें भी यह प्रमाणित करती हैं कि वाराणसी शिव-पूजा का बडा स्थान था, आदि आदि।

बोधगया से और बौद्ध साहित्य मे मैंने बहुत सी नयी बातें जानी है। चारु से कहना कि वह स्वय पढे तथा मूर्खतापूर्ण मतो से प्रभावित न हो।

मैं यहाँ वाराणसी में अच्छा हूँ और यदि मेरा इसी प्रकार स्वास्थ्य सुधरता जायगा तो मुझे बड़ा लाभ होगा।

बौद्ध धर्म और नव-हिन्दू धर्म के सम्बन्ध के विषय में मेरे विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। उन विचारों को निश्चित रूप देने के लिए कदाचित् मैं जीवित न रहूँ परन्तु उसकी कार्यप्रणाली का संकेत मैं छोड़ जाऊँगा और तुम्हें तथा तुम्हारे भ्रातृगणों को उस पर काम करना होगा।

आशीर्वाद और प्रेमपूर्वक तुम्हारा
विवेकानन्द

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

गोपाल लाल विला
वाराणसी छावनी
१ फ़रवरी १९ २

प्रिय श्रीमती बुल

आपका और पुत्री का एक बार पुनः भारतभूमि पर स्वागत है। मद्रास मेल की एक प्रति जो मुझे 'जो' की कृपा से प्राप्त हुई, उससे मैं अत्यंत हर्षित हूँ। जो स्वागत निवेदिता का मद्रास में हुआ वह निवेदिता और मद्रास दोनों ही के लिए हितकर था। उसका भाषण निश्चय ही बड़ा सुन्दर रहा।

मैं आशा करता हूँ कि आप और निवेदिता भी इतनी लम्बी यात्रा के पश्चात् पूरी तरह विश्राम कर रही होंगी। मेरी बड़ी इच्छा है कि आप कुछ घंटों के लिए पश्चिमी कलकत्ता के कुछ गाँवों में जायें और वहाँ लकड़ी बाँस बेंत अभ्रक तथा घास-फूस आदि से निर्मित पुराने क़िस्म के बंगाली मकानों को देखें। वास्तव में वे ही 'बंगला' कहलाये जाने के अधिकारी हैं जो अत्यंत कलापूर्ण होते हैं। किन्तु आह! आजकल तो यह नाम 'बंगला' हर किसी बड़े-सड़े घृणित मकान को देकर उस नाम का मज़ाक़ बना दिया गया है। पुराने ज़माने में जो कोई भी महल बनवाता तो अतिथि-सत्कार के लिए इस प्रकार का एक 'बंगला' अवश्य बनवाता था। इसकी निर्माण-कला अब विनष्ट होती जा रही है। काश मैं निवेदिता की सारी पाठशाला ही इस शैली में बनवा सकता! फिर भी इस तरह के जो दो-एक नमूने शेष बचे हैं उन्हें देखकर सुख होता है।

ब्रह्मानन्द सब प्रबन्ध कर देगा आपको केवल कुछ घंटों की यात्रा भर करनी पड़ेगी।

श्री ओकाकुरा अपने अल्पकालीन दौरे पर निकल पडे हैं। वे आगरा, ग्वालियर, अजन्ता, एलोरा, चित्तौड, उदयपुर, जयपुर और दिल्ली आदि जगहे जाना चाहते हैं।

बनारस का एक अत्यत सुशिक्षित धनाढ्य युवक, जिसके पिता से हमारी पुरानी मित्रता थी, कल इस नगर मे वापस आ गये हैं। उनकी कला मे विशेष रुचि है और नष्टप्राय भारतीय कला के पुनरुत्थान के सदुद्देश्य से बहुत सा धन व्यय कर रहे हैं। वे श्री ओकाकुरा के जाने के पश्चात् ही मुझसे मिलने आये। भारत की कला जो कुछ भी शेष रह गयी है, उसका श्री ओकाकुरा को दर्शन कराने के लिए ये ही उपयुक्त व्यक्ति हैं, और मुझे विश्वास है, इनके सुझावो से श्री ओकाकुरा लाभान्वित होंगे। अभी ही श्री ओकाकुरा ने टेराकोटा की एक सुराही यहाँ से प्राप्त की है, जिसे नौकर इस्तेमाल कर रहे थे। उसकी गठन और उसकी मुद्राकित डिज़ाइन पर वे मुग्ध रह गये। किन्तु चूँकि वह सुराही मिट्टी की थी और यात्रा मे उसके टूट जाने का भय था, अत उन्होने मुझसे उसे पीतल मे ढलवा लेने को कहा। मैं तो किंकर्तव्यविमूढ सा था कि क्या करूँ! कुछ घटे बाद तभी यह युवक आये और न केवल उन्होने इस कार्य के करने का ज़िम्मा ले लिया, वरन् मुझे ऐसे सैकडों मुद्राकित टेराकोटा भी दिखाये, जो श्री ओकाकुरावाले से असख्यगुना श्रेष्ठ हैं।

उन्होने उस अद्भुत प्राचीन शैली के पुराने चित्रो को सिखाने का भी प्रस्ताव रखा। वाराणसी मे केवल एक परिवार ऐसा बचा है, जो अब भी उस प्राचीन शैली मे चित्र बना सकता है। उनमे से एक ने तो मटर के एक दाने पर आखेट का सपूर्ण दृश्य ही चित्रित कर डाला है, जो बारीकी और क्रियाकन मे पूर्णत निर्दोष है। मुझे आशा है कि लौटते समय ओकाकुरा इस नगर मे आयेंगे और इन भद्रपुरुष के अतिथि बनकर भारत के कलावशेषो का दर्शन करेंगे।

निरजन भी श्री ओकाकुरा के साथ गया है और एक जापानी होने से किसी मदिर मे आने-जाने से उसे कोई मना नही करता। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे तिब्बती और दूसरे उत्तर प्रान्तीय बौद्ध शिव की उपासना के लिए यहाँ बराबर आते रहे हैं। यहाँ वालो ने उसे शिवलिंग का स्पर्श करने तथा पूजा आदि करने की अनुमति दे दी थी। श्रीमती एनी बेसेंट ने भी ऐसी ही चेष्टा एक बार की थी, पर बेचारी! उन्हे मदिर के प्रागण तक मे प्रवेश नही करने दिया गया, यद्यपि उन्होंने जूते उतार दिये थे और साडी पहनकर पुरोहितो के चरणो की धूलि भी माथे लगा चुकी थी। बौद्ध हमारे यहाँ के किसी भी बडे मदिर मे अहिन्दू नही समझे जाते।

मेरा कार्यक्रम कोई निश्चित नहीं है, मैं बहुत शीघ्र ही यह स्थान बदल सकता हूँ।

निश्चयानन्द और लड़के आप सबको अपना स्नेह-आदर प्रेषित करते हैं।

चिरस्नेहाबद्ध
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

गोपाल लाल विला
वाराणसी छावनी
१२ फ़रवरी १९०२

कल्याणीय

तुम्हारे पत्र से सविशेष समाचार जानकर सुखी हुई। निवेदिता के स्कूल के बारे में मुझे जो कुछ कहना था मैंने उनको लिख दिया है। इतना ही कहना है कि उनकी दृष्टि में जो अच्छा प्रतीत हो तदनुसार वे कार्य करें।

और किसी विषय में मेरी राय न पूछना। उससे मेरा दिमाग खराब हो जाता है। तुम मेरे लिए केवल यह कार्य कर देना—बस इतना ही। रुपये भेज देना क्योंकि इस समय मेरे समीप दो-चार रुपये ही शेष हैं।

कन्हाई मधुकरी के सहारे जीवित है, घाट पर जप-तप करता रहता है तथा रात में यहाँ आकर सोता है, नेदा गरीब आदमियों का कार्य करता है, रात में आकर सोता है। बाबा (Okakura) तथा निरंजन आ गये हैं, आज उनका पत्र मिलने की सम्भावना है।

प्रभु के निर्देशानुसार कार्य करते रहना। दूसरों के अभिमत जानने के लिए भटकने की क्या आवश्यकता है? सबसे मेरा स्नेह कहना तथा बच्चों से भी। इति।

सस्नेह त्वदीय
विवेकानन्द

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

वाराणसी
१२ फरवरी १९ २

प्रिय निवेदिता

सब प्रकार की शक्तियाँ तुममें उद्बुद्ध हों, महामाया स्वयं तुम्हारे हृदय तथा

---

१ ओकाकुरा (Okakura) को प्रेमपूर्वक ऐसा सम्बोधित किया गया है। 'कुरा' शब्द का उच्चारण बंगला 'खुड़ो' (अर्थात् चाचा) के निकट है इसीलिए स्वामी जी मजाक में उनको चाचा कहते थे। स

भुजाओं मे अविच्छिन्न हो। अप्रतिहत महाशक्ति तुम्हारे अन्दर जाग्रत हो तथा यदि सम्भव हो, तो उसके साथ ही साथ तुम शान्ति भी प्राप्त करो—यही मेरी प्रार्थना है।

यदि श्री रामकृष्ण देव सत्य हो, तो उन्होंने जिस प्रकार मेरे जीवन मे मार्ग प्रदर्शन किया है, ठीक उसी प्रकार अथवा उससे भी हज़ार गुना स्पष्ट रूप से तुम्हे भी वे मार्ग दिखाकर अग्रसर करते रहे।

विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

गोपाल लाल विला,
वाराणसी छावनी,
१८ फरवरी, १९०२

अभिन्नहृदय,

रुपये प्राप्ति के समाचार के साथ कल मैंने जो तुमको पत्र लिखा है, अब तक वह निश्चय ही तुमको मिल गया होगा। आज यह पत्र लिखने का मुख्य कारण है कि इस पत्र के देखते ही तुम उनसे मिल आना। तदनन्तर क्या बीमारी है, कफ आदि किस प्रकार का है, यह देखना है, किसी अत्यन्त सुयोग्य चिकित्सक के द्वारा रोग का अच्छी तरह से निदान करा लेना। राम बाबू की बडी लडकी विष्णु-मोहिनी कहाँ है?—वह हाल ही मे विधवा हुई है।

रोग से चिन्ता कही अधिक है। दस-बीस रुपये जो कुछ आवश्यक हो दे देना। यदि इस ससाररूपी नरककुण्ड मे एक दिन के लिए भी किसी व्यक्ति के चित्त मे थोडा सा आनन्द एव शान्ति प्रदान की जा सके, तो उतना ही सत्य है, आजन्म मैं तो यही देख रहा हूँ—बाकी सब कुछ व्यर्थ की कल्पनाएँ हैं।

अत्यन्त शीघ्र इस पत्र का जवाब देना। चाचा (Okakura या अक्रूर चाचा) तथा निरजन ने ग्वालियर से पत्र लिखा है। अब यहाँ पर दिनो दिन गर्मी बढ रही है। बोधगया से यहाँ पर ठण्ड अधिक थी। निवेदिता के श्री सरस्वती पूजन सम्बन्धी धूम धाम के समाचार से बहुत ही खुशी हुई। शीघ्र ही वह स्कूल खोलने की व्यवस्था करे। जिससे सब कोई पाठ, पूजन तथा अध्ययन कर सकें, इसका प्रयास करना। तुम लोग मेरा स्नेह ग्रहण करना।

सस्नेह,
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

गोपाल लाल विला
वाराणसी छावनी
२१ फरवरी १९०२

प्रिय राखाल

अभी अभी मुझे तुम्हारा एक पत्र मिला। अगर माँ और दादी यहाँ आने को इच्छुक हैं, तो उन्हें भेज दो। अब कलकत्ते में ताऊन फैला हुआ है तो वहाँ से दूर रहना ही अच्छा है। इलाहाबाद में भी व्यापक रूप से ताऊन का प्रकोप है नहीं जानता कि इस बार वाराणसी में भी फैलेगा या नहीं

मेरी ओर से श्रीमती बुल से कहो कि एलोरा तथा अन्य स्थानों का भ्रमण करने के लिए एक कठिन यात्रा करनी होगी है जब कि इस समय मौसम बहुत गर्म हो गया है। उनका शरीर इतना क्लान्त है कि इस समय यात्रा करना उनके लिए उचित नहीं। कई दिन हुए मुझे 'बाबा' का एक पत्र मिला था। उनकी अंतिम सूचना के अनुसार वे अर्जेता गये हुए थे। महन्त ने भी उत्तर नहीं दिया शायद वे राजा प्यारीमोहन को पत्रोत्तर देते समय मुझे लिखेंगे।

नेपाल के मंत्री के मामले के बारे में मुझे विस्तार से लिखो। श्रीमती बुल कुमारी मैक्लिऑड तथा अन्य लोगों से मेरा विशेष प्यार तथा आशीर्वाद कहना। तुम्हें बाबूराम और अन्य लोगों को मेरा प्यार तथा आशीर्वाद। क्या गोपाल दादा को पत्र मिल गया? कृपया उनकी बकरी की थोड़ी देखभाल करते रहना।

सस्नेह,
विवेकानन्द

पुनश्च—यहाँ के सब लड़के तुम्हें अभिवादन करते हैं।

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

गोपाल लाल विला
वाराणसी छावनी
२४ फरवरी १९०२

प्रिय राखाल

आज प्रातःकाल तुम्हारा भेजा अमेरिका से आया हुआ एक छोटा सा पार्सल मिला। पर मुझे न कोई पत्र मिला न तो वह रजिस्ट्री ही जिसकी तुमने चर्चा की है और न ही कोई दूसरी। मैं नेपाली सज्जन आये थे अथवा नहीं या क्या कुछ घटित

हुआ, यह मैं बिल्कुल भी नही जान सका हूँ। एक मामूली सी चिट्ठी लिखने मे इतना कष्ट और विलम्ब! अब मुझे यदि हिसाब-किताब भी मिल जाय, तो मैं चैन की साँस लूंगा। पर कौन जानता है, उसके मिलने मे भी कितने महीने लगते हैं!

सस्नेह,
विवेकानन्द

(कुमारी जोसेफिन मैक्लिऑड को लिखित)

मठ,
२१ अप्रैल, १९०२

प्रिय 'जो',

ऐसा लगता है जैसे मेरे जापान जाने की योजना निष्फल हो गयी है। श्रीमती बुल जा चुकी हैं, और तुम जा रही हो। मैं जापानी सज्जन से पर्याप्त रूप से परिचित नही हूँ।

सारदानद जापानी सज्जन और कन्हाई के साथ नेपाल गया है। क्रिश्चिन शीघ्र नही जा सकी, क्योकि मार्गट इस महीने के अन्त से पूर्व नही जा सकती थी।

मैं भली भाँति हूँ—ऐसा ही लोग कहते हैं, पर अभी बहुत दुर्बल हूँ और पानी पीने की मनाही है। खैर रासायनिक विश्लेषण के अनुसार तो काफी सुधार परिलक्षित हुआ है। पैरों की सूजन और अन्य शिकायतें सब दूर हो गयी हैं।

श्रीमती बेटी तथा श्री लेगेट, अल्बर्टा और हॉली को मेरा अनन्त प्यार कहना—शिशु हॉली को तो जन्म-पूर्व से ही मेरा आशीर्वाद प्राप्त है और वह सदा मिलता भी रहेगा।

तुम्हें मायावती कैसा लगी? उसके बारे मे मुझे लिखना।

चिर स्नेहाबद्ध,
विवेकानन्द

(कुमारी मार्गरिट मैक्लिऑड को लिखित)

मठ
बेलूड़ हावड़ा
१५ मई १९०२

प्रिय जो,

मादाम काल्वे के नाम लिखित पत्र मैं तुम्हें भेज रहा हूँ।

मैं काफी कुछ स्वस्थ हूँ, किन्तु जितनी मुझे आशा थी, उस दृष्टि से यह नहीं के बराबर है। एकान्त में रहने की मेरी प्रबल भावना उत्पन्न हो गयी है—मैं सदा के लिए विश्राम लेना चाहता हूँ, मेरे लिए और कोई कार्य शेष न रहेगा। यदि सम्भव हो सका, तो मैं अपनी पुरानी भिक्षावृत्ति को पुनः प्रारम्भ कर दूँगा।

जो, तुम्हारा सर्वांगीण मंगल हो—तुम देवदूत की तरह मेरी देखभाल कर रही हो।

चिर स्नेहाबद्ध
विवेकानन्द

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

बेलूड़ मठ,
१४ जून १९०२

प्रिय धीरा माता,

मेरे विचार से पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श को प्राप्त करने के लिए किसी भी जाति को मातृत्व के प्रति परम आदर की धारणा दृढ़ करनी चाहिए, और वह विवाह को अच्छेद्य एवं पवित्र धर्म-संस्कार मानने से हो सकती है। रोमन कैथोलिक ईसाई और हिन्दू विवाह को अच्छेद्य और पवित्र धर्मसंस्कार मानते हैं, इसलिए दोनों जातियों ने परमशक्तिमान महान् ब्रह्मचारी पुरुषों और स्त्रियों को उत्पन्न किया है। अरबों के लिए विवाह एक इकरारनामा है या बल से ग्रहण की हुई सम्पत्ति जिसका अपनी इच्छा से अन्त किया जा सकता है, इसलिए उनमें ब्रह्मचर्य भाव का विकास नहीं हुआ है। जिन जातियों में अभी तक विवाह का विकास नहीं हुआ था, उनमें आधुनिक बौद्ध धर्म का प्रचार होने के कारण उन्होंने संन्यास को एक उपहास बना डाला है। इसलिए जापान में जब तक विवाह के पवित्र और महान् आदर्श का निर्माण न होगा (परस्पर प्रेम और आकर्षण को छोड़कर) तब तक

मेरी समझ मे नही आता कि वहाँ बडे बडे सन्यासी और सन्यासिनियाँ कैसे हो सकते हैं। जैसा कि आप अब समझने लगी हैं कि जीवन का गौरव ब्रह्मचर्य है, उसी तरह जनता के लिए इस बडे धर्म-सस्कार की आवश्यकता—जिससे कुछ शक्तिसम्पन्न आजीवन ब्रह्मचारियो की उत्पत्ति हो—मेरी भी समझ मे आने लगी है।

मैं बहुत कुछ लिखना चाहता हूँ, परन्तु शरीर दुर्बल है 'जो मेरी जिस मनोकामना से पूजा करता है, मैं उसको उसी रूप मे मिलता हूँ।'[1]

विवेकानन्द

---

१ ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ गीता॥४।११॥

अनुक्रमणिका

हम लोग इस मर्त्यलोक के साधारण मनुष्य की स्थिति में रहेंगे तब तक हमें मनुष्यों में ही भगवान् को देखना पड़ेगा। इसीलिए हमारी भगवान् विषयक धारणा एवं उपासना स्वभावतः मानुषी है। सचमुच ही 'यह शरीर भगवान् का सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है'। इसीसे हम देखते हैं कि युगों से मनुष्य मनुष्य की ही उपासना करता आ रहा है। लोगों का इस मनुष्योपासना के विषय में जब कभी स्वाभाविक रूप से विकसित अतिचार देखने में आता है, तो उनकी निन्दा या आलोचना भी होती है। फिर भी हमें यह दिखायी देता है कि इसकी रीढ़ काफी मजबूत है। ऊपर की शाखा-प्रशाखाएँ भले ही कड़ी आलोचना के योग्य हों पर उनकी जड़ बहुत ही गहराई तक पहुँची हुई और सुदृढ़ है। ऊपरी आडम्बरों के होने पर भी उसमें एक सार-तत्त्व है। मैं तुमसे यह कहना नहीं चाहता कि तुम बिना समझे-बूझे किन्हीं पुरानी कथाओं अथवा अवैज्ञानिक अनर्गल सिद्धान्तों को जबरदस्ती गले के नीचे उतार जाओ। दुर्भाग्यवश कई पुराणों में वाममार्गी व्याख्याएँ प्रवेश पा गयी हैं। मैं यह नहीं चाहता कि तुम उन सब पर विश्वास करो। मैं ऐसा करने को नहीं कह सकता बल्कि मेरा मतलब यह है कि इन पुराणों के अस्तित्व की रक्षा का कारण एक सार-तत्त्व है जिसे लुप्त नहीं होने देना चाहिए। और वह सार-तत्त्व है उनमें निहित भक्ति सम्बन्धी उपदेश धर्म को मनुष्य के दैनिक जीवन में परिणत करना दर्शनों के उच्चाकाश में विचरण करनेवाले धर्म को साधारण मनुष्यों के लिए दैनिक जीवनोपयोगी एवं व्यावहारिक बनाना।

'ट्रिब्यून' में प्रकाशित रिपोर्ट

इस भाषण की जो रिपोर्ट 'ट्रिब्यून' में प्रकाशित हुई उसका विवरण निम्न लिखित है

वक्ता महोदय ने भक्ति की साधना में प्रतीक-प्रतिमाओं की उपयोगिता का समर्थन किया और उन्होंने कहा कि मनुष्य इस समय जिस अवस्था में है, ईश्वरेच्छा से यदि ऐसी अवस्था न होती तो बड़ा अच्छा होता। परन्तु विद्यमान तथ्य का प्रतिवाद व्यर्थ है। मनुष्य चैतन्य और आध्यात्मिकता आदि विषयों पर चाहे जितनी बातें क्यों न बनाये पर वास्तव में वह अभी जड़भावापन्न ही है। ऐसे जड़ मनुष्य को हाथ पकड़कर धीरे धीरे उठाना होगा—तब तक उठाना होगा जब तक वह चैतन्यमय तथा पूर्ण आध्यात्मिक भावापन्न न हो जाय। आजकल के जमाने में ९९ फी सदी ऐसे आदमी हैं, जिनके लिए आध्यात्मिकता को समझना कठिन है। जो प्रेरक शक्तियाँ हमें ढकेलकर आगे बढ़ा रही हैं, तथा हम जो फल प्राप्त करना चाहते हैं, वे सभी जड़ हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर के शब्दों में मेरा कहना है कि हम

केवल उसी रास्ते से आगे बढ सकते हैं, जो अल्पतम प्रतिरोध का हो। और पुराण-प्रणेताओ को यह बात भली भाँति मालूम थी, तभी वे हमारे लिए ऐसी पद्धति बता गये है। इस प्रकार के कार्य मे पुराणो को विस्मयजनक और बेजोड सफलता मिली है। भक्ति का आदर्श अवश्य ही आध्यात्मिक है, पर उसका रास्ता जड वस्तु के भीतर से होकर है और इस रास्ते के सिवा दूसरा रास्ता भी नही है। अत, जड जगत् मे जो कुछ ऐसा है, जो आध्यात्मिकता प्राप्त करने मे हमारी सहायता कर सकता है, उसे ग्रहण करना होगा, और उसे इस तरह काम मे लाना होगा कि मानव क्रमश आगे बढता हुआ पूर्ण आध्यात्मिक स्थिति मे विकसित हो सके। शास्त्र आरम्भ से ही लिंग, जाति या धर्म का भेदभाव छोडकर सबको वेद-पाठ करने का अधिकार प्रदान करते हैं। हमे भी इसी तरह उदार होना चाहिए। यदि मनुष्य जड मन्दिर बनाकर भगवान् मे प्रीति कर सके तो अच्छा ही है। यदि भगवान् की मूर्ति बनाकर इस प्रेम के आदर्श पर पहुँचने मे मनुष्य को कुछ भी सहायता मिलती है तो उसे एक की जगह बीस मूर्तियाँ पूजने दो। चाहे कोई भी काम क्यो न हो, यदि उसके द्वारा धर्म के उस उच्चतम आदर्श पर पहुँचने मे सहायता मिलती हो तो उसे वह अबाध गति से करने दो, पर हाँ, वह काम नैतिकता के विरुद्ध न हो। 'नैतिकता के विरुद्ध न हो', ऐसा इसलिए कहा गया कि नैतिकता विरोधी काम हमारे धर्म-मार्ग के सहायक नही होते, बल्कि विघ्न ही उपस्थित किया करते हैं।

स्वामी जी ने मूर्ति-पूजा के विरोध की समीक्षा करते हुए कहा कि भारतवर्ष मे सर्वप्रथम कबीर ने ही ईश्वरोपासना के लिए मूर्ति का व्यवहार करने के विरुद्ध आवाज उठायी थी। परन्तु भारत मे ऐसे कितने ही बडे बडे दार्शनिक और धर्म-सस्थापक हुए हैं, जिन्होंने भगवान् का सगुण रूप अस्वीकार कर निर्भीकता के साथ अपने निर्गुण मत का प्रचार करने पर भी मूर्ति-पूजा की निन्दा नही की। हाँ, उन्होंने मूर्ति-पूजा को उच्च कोटि की उपासना नही माना है, और न किसी पुराण मे ही मूर्ति-पूजन को ऊँचे दर्जे की उपासना ठहराया गया है।

यहूदियो के मूर्ति-पूजन के इतिहास का जिक्र करते हुए स्वामी जी ने कहा कि जिहोवा एक सन्दूक के भीतर रहते हैं, ऐसा विश्वास करनेवाले यहूदी लोग भी मूर्तिपूजक ही थे। इस ऐतिहासिक दृष्टान्त के उपस्थित रहते हमे मूर्ति-पूजा की इसलिए निन्दा नही करनी चाहिए कि और लोग उसे दोषपूर्ण बताते हैं। मूर्ति या किसी और भी जड वस्तु के प्रतीक को, जो मनुष्य को धर्म की प्राप्ति मे सहायता करे, बिना सकोच ग्रहण करना चाहिए। पर हमारा कोई भी धर्मग्रन्थ ऐसा नही है, जो स्पष्ट शब्दो मे यह नही कहता कि जड वस्तु की सहायता से अनुष्ठित होने-वाली उपासना निकृष्ट श्रेणी की है। सारे भारतवर्ष के सब लोगो को बलपूर्वक

मूर्तिपूजक बनाने की चेष्टा की गयी थी और इसकी जितनी निन्दा की जाय वह कम है। प्रत्येक व्यक्ति को कैसी उपासना करनी चाहिए, अथवा किस चीज की सहायता से उपासना करनी चाहिए—यह बात जोर से या हुक्म से कराने की क्या आवश्यकता पड़ी थी? यह बात अन्य कोई कैसे जान सकता है कि कौन आदमी किस वस्तु के सहारे उन्नति कर सकता है? कोई प्रतिमा-पूजा द्वारा कोई अग्नि-पूजा द्वारा यहाँ तक कि कोई केवल एक खम्भे के सहारे उपासना की सिद्धि प्राप्त कर सकता है, यह किसी और को कैसे मालूम हो सकता है? इन बातों का निर्णय अपने अपने गुरुओं के द्वारा ही होना चाहिए। भक्ति विषयक ग्रन्थों में इष्टदेव सम्बन्धी जो नियम है उन्हीमें इस बात की व्याख्या देखने में आती है—अर्थात् व्यक्तिविशेष को अपनी विशिष्ट उपासना पद्धति से अपने इष्ट देव के पास पहुँचने के लिए आगे बढ़ना पड़ेगा और वह जिस निर्वाचित रास्ते से आगे बढ़ेगा वही उसका इष्ट है। मनुष्य को चलना तो चाहिए अपनी ही उपासना पद्धति के मार्ग से पर साथ ही अन्य मार्गों की ओर भी सहानुभूति की दृष्टि से देखना चाहिए। और इस मार्ग का अवलम्बन उसको तब तक करना पड़ेगा जब तक वह अपने निर्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुँच जाता—जब तक वह उस केन्द्रस्थल पर नहीं पहुँच जाता जब वस्तु की सहायता की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

इसी प्रसंग में भारतवर्ष के बहुतेरे स्थानों में प्रचलित कुलगुरु-प्रथा के विषय मे जो एक प्रकार से वंशगत गुरुआई की तरह हो गयी है, सावधान कर देना आवश्यक है। हम शास्त्रों में पढ़ते है—'जो वेदों का सार-तत्त्व समझते है जो निष्पाप है जो धन के लोभ से और किसी प्रकार के स्वार्थ से लोगों को शिक्षा नहीं देते जिनकी कृपा हेतुविहीन से नहीं प्राप्त होती वसन्त ऋतु जिस प्रकार पेड़-पौधों और लता-गुल्मो से बदले में कुछ न चाहते हुए सभी पेड़-पौधों में नया जीवन डालकर उन्हें हरा-भरा कर देती है, उनमें नयी नयी कोपलें निकल आती है, उसी प्रकार जिनका स्वभाव ही लोगों का कल्याण करनेवाला है जिनका सारा जीवन ही दूसरों के हित के लिए है जो इसके बदले लोगों से कुछ भी नहीं चाहते ऐसे महान् व्यक्ति ही गुरु कहलाने योग्य है दूसरे नहीं। असद्गुरु के पास तो ज्ञान-लाभ की आशा ही नहीं है, उल्टे उनकी शिक्षा से विपत्ति की ही सम्भावना रहती है क्योंकि गुरु केवल शिक्षक या उपदेशक ही नहीं है, शिक्षा देना तो उनके कर्तव्य का एक बहुत ही मामूली अंश है। हिन्दुओं का विश्वास है कि गुरु ही शिष्य में शक्ति का संचार करते हैं। इस बात को समझने के लिए जड़ जगत् का ही एक दृष्टान्त ले लो। मानो किसी ने रोग-निवारक टीका नहीं लिया ऐसी अवस्था में उसके शरीर के अन्दर रोग के दूषित कीटाणुओं के प्रवेश कर जाने की बहुत आशंका है।

उसी प्रकार असद्गुरु से शिक्षा लेने मे भी बुराइयो के सीख लेने की बहुत कुछ आशका है। इसलिए भारत से इस कुलगुरु-प्रथा को एकदम उठा देना अत्यन्त आवश्यक हो रहा है। गुरु का काम व्यवसाय न हो जाय, इसे रोकने की चेष्टा करनी होगी, क्योकि यह एकदम शास्त्र-विरुद्ध है। किसी भी आदमी को अपने को गुरु नही बतलाना चाहिए और कुलगुरु-प्रथा के कारण जो वर्तमान परिस्थिति है, उसका समर्थन भी नही करना चाहिए।

खाद्याखाद्य-विचार के सम्बन्ध मे स्वामी जी ने कहा कि आजकल खान-पान के विषय मे जिन कठोर नियमो पर जोर दिया जाता है, वे अधिकाश छिछले है। जिस उद्देश्य से इन नियमो को आरम्भ मे चलाया गया था, उस उद्देश्य की सिद्धि नही हो पाती। खाद्य वस्तुओ को स्पर्श करने का अधिकार किसे है ?—यह प्रश्न विशेष ध्यान देने योग्य है, क्योकि इसमे एक बडा भारी मनोवैज्ञानिक रहस्य छिपा हुआ है। पर साधारण मनुष्यो के दैनिक जीवन मे उतनी सावधानी रखना अत्यन्त कठिन ही नही, असम्भव भी है। जिन लोगो ने केवल धर्म के लिए ही अपने जीवन को उत्सर्ग कर दिया है, ये नियम केवल उन्हीके लिए पालनीय हैं, पर इसकी जगह हर एक आदमी के लिए इन नियमो का पालन करना आवश्यक बताकर बडी भारी गलती की गयी है। क्योकि सर्वसाधारण मे अधिकतर ऐसे ही लोग हैं जो जड जगत् के सुखो से तृप्त नही हुए हैं, और ऐसे अतृप्त लोगो पर जबरदस्ती आध्यात्मिकता लादने की चेष्टा व्यर्थ है।

भक्तो के लिए जो उपासना पद्धतियाँ है, उनमे मनुष्य रूप की उपासना ही सबसे उत्तम है। वास्तव मे यदि किसी रूप की पूजा करनी है, तो अपनी हैसियत के अनुसार प्रतिदिन छ या बारह दरिद्रो को अपने घर लाकर, उन्हें नारायण समझकर उनकी सेवा करना अच्छा है। मैंने कितनी जगहो मे प्रचलित दान की प्रथाएँ देखी हैं, पर उनसे वैसा कोई सुफल होते नही देखा है। इसका कारण यही है कि वह दान की क्रिया यथोचित भाव से अनुष्ठित नही है। 'अरे! यह ले जा'—इस प्रकार के दान को दान या दया-धर्म का अनुष्ठान नही कह सकते। यह तो हृदय के अहकार का परिचायक है। इस प्रकार दान देनेवाले का उद्देश्य यही रहता है कि लोग जानें या समझे कि वह दया-धर्म का अनुष्ठान कर रहा है। हिन्दुओ को यह जानना चाहिए कि स्मृतियों के मत मे दान ग्रहण करनेवालो की अपेक्षा दान देनेवाला छोटा समझा जाता है। ग्रहण करनेवाला ग्रहण करते समय साक्षात् नारायण समझा जाता है। अत मेरे मत मे यदि इस प्रकार की नयी पूजा-पद्धति प्रचलित की जाय, तो बडा अच्छा हो—कुछ दरिद्रनारायण, अन्धनारायण या क्षुधार्त्तनारायण को प्रतिदिन प्रतिगृह मे लाना एव प्रतिमा की

जिस प्रकार पूजा की जाती है, उसी प्रकार उनकी भी भोजन-वस्त्रादि के द्वारा पूजा करना। मैं किसी प्रकार की उपासना या पूजा-पद्धति की न तो निन्दा करता हूँ और न किसी को बुरा बताता हूँ बल्कि मेरे कहने का सारांश यही है कि इस प्रकार की नारायण-पूजा सर्वापेक्षा श्रेष्ठ पूजा है, और भारत के लिए इसी पूजा की सबसे अधिक आवश्यकता है।

अन्त में स्वामी जी ने भक्ति की तुलना एक त्रिकोण के साथ की। उन्होंने कहा कि इस त्रिकोण का पहला कोण यह है कि भक्ति या प्रेम कोई प्रतिदान नहीं चाहता। प्रेम में भय नहीं है, यह उसका दूसरा कोण है। पुरस्कार या प्रतिदान पाने के उद्देश्य से प्रेम करना भिखारी का धर्म है व्यवसायी का धर्म है, सच्चे धर्म के साथ उसका बहुत ही कम सम्बन्ध है। कोई भिक्षुक न बने क्योंकि वैसा होना नास्तिकता का चिह्न है। 'जो आदमी रहता तो है गंगा के तीर पर किन्तु पानी पीने के लिए कुआँ खोदता है वह मूर्ख नहीं तो और क्या है?'—वह वस्तु की प्राप्ति के लिए भगवान् से प्रार्थना करना भी ठीक वैसा ही है। भक्त को भगवान् से सदा इस प्रकार कहने के लिए तैयार रहना चाहिए—'प्रभो मैं तुमसे कुछ भी नहीं चाहता मैं तुम्हारे लिए अपना सब कुछ अर्पित करने को तैयार हूँ।' प्रेम में भय नहीं रहता। क्या तुमने नहीं देखा है कि राह चलती हुई कमजोर हृदय वाली स्त्री एक छोटे से कुत्ते के भौंकने से भाग खड़ी होती है घर में घुस जाती है? दूसरे दिन वही उसी रास्ते से जा रही है। आज उसकी गोद में एक छोटा सा बच्चा भी है एकाएक किसी सांड ने निकलकर उस पर चोट करना चाहा। ऐसी अवस्था में भी तुम उसे अपनी जान बचाने के लिए भागते या घर के अन्दर घुसते देखोगे? नहीं कदापि नहीं। आज अपने नन्हे बच्चे की रक्षा के लिए, यदि आवश्यकता पड़े तो वह शेर के मुँह में घुसने से भी बाज न आयेगी। अब इस त्रिकोण का तीसरा कोण यह है कि प्रेम ही प्रेम का लक्ष्य है। अन्त में भक्त इसी भाव पर आ पहुँचता है कि स्वयं प्रेम ही भगवान् है। और बाकी सब कुछ असत् है। भगवान् का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए मनुष्य को अब और कहाँ जाना होगा? इस प्रत्यक्ष संसार में जो कुछ भी पदार्थ है उनके अन्दर सर्वापेक्षा स्पष्ट दिखायी देनेवाला तो भगवान् ही है। वही वह शक्ति है जो सूर्य चन्द्र और तारों को घुमाती एवं चमकाती है तथा स्त्री-पुरुषों में सभी जीवों में सभी वस्तुओं में प्रकाशित हो रही है। जड़ शक्ति के राज्य में मध्याकर्षण शक्ति के रूप में वही विद्यमान है प्रत्येक स्थान में प्रत्येक परमाणु में वही वर्तमान है—सर्वत्र उसकी ज्योति छिटकी हुई है। वही अनन्त प्रेमस्वरूप है संसार की एकमात्र संचालिनी शक्ति है और वही सर्वत्र प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है।

वेदान्त

(१२ नवम्बर, १८९७ को लाहौर में दिया गया व्याख्यान)

जगत् दो हैं जिनमे हम वसते है—एक वहिर्जगत् और दूसरा अन्तर्जगत्। अति प्राचीन काल से ही मनुष्य इन दोनो भूमियो मे समानान्तर रेखाओ की तरह वरावर उन्नति करते आये हैं। खोज पहले वहिर्जगत् मे ही शुरू हुई। मनुष्यो ने पहले पहल दुरूह समस्याओ के उत्तर वाह्य प्रकृति से पाने की चेष्टा की। प्रथमत मनुष्यो ने अपने चारो ओर की वस्तुओ से सुन्दर और उदात्त की तृष्णा निवृत्त करनी चाही। वे अपने को और अपने सभी भीतरी भावो को स्थूल भाषा मे प्रकाशित करने के लिए प्रवृत्त हुए, तथा उन्हे जो सव उत्तर मिले, ईश्वर-तत्त्व और उपासना-तत्त्व के जो सव अति अद्‌भुत सिद्धान्त उन्हें प्राप्त हुए, और उस शिव-सुन्दर का उन्होंने जो उच्छ्‌वासमय वर्णन किया, ये सभी वास्तव मे अति अपूर्व हैं। वहिर्जगत् से निस्सन्देह महान् भावो का आविर्भाव हुआ। परन्तु वाद मे मनुष्य जाति के लिए जो अन्य जगत् उन्मुक्त हुआ, वह और भी महान्, और भी सुन्दर तथा अनन्त गुना विस्तृत था। वेदो के कर्मकाड-भाग मे हम धर्म के बडे ही आश्चर्यमय तत्त्वो का वर्णन पाते हैं। हम ससार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करनेवाले विधाता के सम्वन्ध के वहाँ अत्यन्त अद्‌भुत तत्त्व-समूह देखते हैं, ये सव हमारे सामने मर्मस्पर्शी भाषा मे रखे गये हैं। तुममे से अनेक को ऋग्वेद सहिता का वह श्लोक, जो प्रलय के वर्णन मे आया है, याद होगा। भावो को उद्दीप्त करनेवाला ऐसा उदात्त वर्णन शायद कभी किसीने नही किया। इन सबके होते हुए भी हम देखते हैं कि इनमे केवल बहिर्जगत् की ही महत्ता का चित्रण किया गया है, वह वर्णन स्थूल का है, इसमे कुछ जडत्व फिर भी लगा हुआ है। तथापि हम देखते हैं, जड और ससीम भाषा मे यह असीम का ही वर्णन है। यह जड शरीर के अनन्त विस्तार का वर्णन है, किन्तु मन का नही, यह देश के अनन्तत्व का वर्णन है, किन्तु विचार का नही। इसलिए वेदो के दूसरे भाग मे, अर्थात् ज्ञानकाण्ड मे, हम देखते हैं, एक बिल्कुल ही भिन्न प्रणाली का अनुसरण किया गया है। पहली प्रणाली थी बाह्य प्रकृति मे विश्व-ब्रह्माण्ड के प्रकृत सत्य का अनुसन्धान, यह जड ससार से जीवन

की सभी गम्भीर समस्याओं की मीमांसा करने की चेष्टा की। यस्यैते हिमवन्तो महित्वा—'यह हिमालय पर्वत जिसकी महत्ता बतला रहा है'। यह बड़ा ऊँचा विचार है अवश्य किन्तु फिर भी भारत के लिए यह पर्याप्त नहीं था। भारतीय मन को इस पथ का परित्याग करना पड़ा था। भारतीय गवेषणा पूर्णतया बहिर्जगत् को छोड़कर दूसरी ओर मुड़ी—खोज अन्तर्जगत् में शुरू हुई, क्रमशः वे जड़ से चेतन में आये। चारों ओर से यह प्रश्न उठने लगा 'मृत्यु के पश्चात् मनुष्य का क्या हाल होता है? अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके (कठोपनिषद् १।१।२)—किसी किसी का कथन है कि मनुष्य की मृत्यु के बाद भी आत्मा का अस्तित्व रहता है और कोई कोई कहते हैं कि नहीं रहता है यमराज इनमें कौन सा सत्य है? यहाँ हम देखते हैं एक दूसरी ही प्रणाली का अनुसरण किया गया है। भारतीय मन को बहिर्जगत् से जो कुछ मिलना था मिल चुका था परन्तु उससे इसे तृप्ति नहीं हुई। अनुसंधान के लिए वह और आगे बढ़ा। समस्या के समाधान के लिए उसने अपने में ही डोला लगाया तब यथार्थ उत्तर मिला।

वेदों के इस भाग का नाम है उपनिषद् या वेदान्त या आरण्यक या रहस्य। यहाँ हम देखते हैं, धर्म बाहरी दिखावे से बिल्कुल अलग है यहाँ हम देखते हैं आध्यात्मिक विषयों का वर्णन जड़ की भाषा से नहीं हुआ आत्मा की भाषा से हुआ है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों के लिए तदनुरूप भाषा का व्यवहार किया गया है। यहाँ और कोई स्थूल भाव नहीं है यहाँ जगत् के विषयों से कोई समझौता नहीं है। हमारी आज की धारणा के परे, उपनिषदों के वीर तथा साहसी महामना ऋषि निर्मम भाव से बिना समझौता किये ही मनुष्य जाति के लिए ऊँचे से ऊँचे तत्त्वों की घोषणा कर गये हैं जो कभी भी प्रचारित नहीं हुए। ऐ हमारे देशवासियो मैं उन्हींको तुम्हारे आगे रखना चाहता हूँ। वेदों का ज्ञानकाण्ड एक विशाल महासागर है इसका थोड़ा ही अंश समझने के लिए अनेक जन्मों की आवश्यकता है। रामानुज ने उपनिषदों के सम्बन्ध में यथार्थ ही कहा है कि वेदान्त वेदों का मुकुट है और सचमुच ही यह वर्तमान भारत की बाइबिल है। वेदों के कर्मकाण्ड पर हिन्दुओं की बड़ी श्रद्धा है परन्तु हम जानते हैं युगों तक श्रुति के नाम से केवल उपनिषदों का ही अर्थ लिया जाता था। हम जानते हैं, हमारे बड़े बड़े सब दर्शनकारों ने—व्यास हों, चाहे पतंजलि या गौतम यहाँ तक कि सभी दर्शनशास्त्रों के जनकस्वरूप महापुरुष कपिल ने भी—जब अपने मत के समर्थन में प्रमाणों का संग्रह करना चाहा तब उनमें से हर एक को उपनिषदों ही में प्रमाण मिले हैं और कहीं नहीं क्योंकि शाश्वत सत्य केवल उपनिषदों ही में है।

कुछ सत्य ऐसे है जो किसी विशेष पथ से विशेष विशेष अवस्थाओं और समयों

श्लोको का अर्थ लगाने मे हमे अपने ऐसे भाव रखने की चेष्टा नही करनी चाहिए जो उनमे अभिप्रेत न थे। जब तुम अविकार-भेद का अपूर्व रहस्य समझोगे, तब श्लोको का यथार्थ अर्थ सहज ही तुम्हारी समझ मे आ जायगा।

यह सच है कि सम्पूर्ण उपनिषदो का लक्ष्य एक है, **कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिद विज्ञातं भवति** (मुडकोपनिषद् १।३)—'वह कौन सी वस्तु है जिसे जान लेने पर सम्पूर्ण ज्ञान करतलगत हो जाता है?' आजकल की भाषा मे अगर कहा जाय तो यही कहना चाहिए कि उपनिषदो का उद्देश्य चरम एकत्व के आविष्कार की चेष्टा है, और भिन्नत्व मे एकत्व की खोज ही ज्ञान है। हर एक विज्ञान इसी नीव पर प्रतिष्ठित है। मनुष्यो का सम्पूर्ण ज्ञान भिन्नत्व मे एकत्व की खोज पर ही प्रतिष्ठित है। और, यदि दृश्य जगत् की थोडी सी घटनाओ मे ही एकत्व के अनुसन्धान की चेष्टा क्षुद्र मानवीय विज्ञान का कार्य हो तो इस अपूर्व विचित्रता-सकुल विश्व के भीतर, हम जिसके नाम और रूपो मे सहस्रधा वैभिन्त्र्य देख रहे हैं, जहाँ जड और चेतन मे भेद वर्तमान है, जहाँ सभी चित्तवृत्तियाँ एक दूसरी से भिन्न हैं, जहाँ कोई रूप किसी दूसरे से नही मिलता, जहाँ प्रत्येक वस्तु अपर वस्तु से पृथक् है, एकत्व का आविष्कार करने का हमारा उद्देश्य कितना कठिन है! परन्तु इन विभिन्न स्तरो और अनन्त लोको के भीतर एकत्व का आविष्कार करना ही उपनिषदो का लक्ष्य है। दूसरी ओर हमे अरुन्धती न्याय का भी सहारा लेना चाहिए। यदि किसी को अरुन्धती नक्षत्र दिखलाना है तो पहले पासवाला उससे कोई बडा और उज्ज्वलतर नक्षत्र दिखलाकर उस पर देखनेवाले की दृष्टि स्थिर करनी चाहिए, इसके बाद छोटे नक्षत्र अरुन्धती का दिखलाना आसान होगा। इसी तरह सूक्ष्मतम ब्रह्मतत्त्व समझाने के लिए, दूसरे कितने ही स्थूल भावो के उपदेश देकर ऋषियो ने उच्च तत्त्व को समझाया है। इस कथन को प्रमाणित करने के लिए मुझे ज्यादा कुछ नही करना, केवल उपनिषदो को तुम्हारे सामने रख देना है, फिर तुम स्वय समझ जाओगे। प्राय प्रत्येक अध्याय द्वैतवाद या उपासना के उपदेश से आरम्भ होता है। पहले शिक्षा दी गयी है कि ईश्वर ससार का सृष्टि-कर्ता है, सरक्षक है और अन्त मे प्रत्येक वस्तु उसीमे विलीन हो जाती है, वही हमारा उपास्य है, वही शासक है, वही बहिर्प्रकृति और अन्तर्प्रकृति का प्रेरक है, फिर भी वह मानो प्रकृति के बाहर है। एक कदम और बढकर हम देखते हैं, वे ही आचार्य बतलाते हैं कि ईश्वर प्रकृति के बाहर नही, बल्कि प्रकृति मे अन्तर्व्याप्त है। अन्त मे ये दोनो भाव छोड दिये गये हैं, और जो कुछ है सब वही है—कोई भेद नही। **तत्त्वमसि श्वेतकेतो**—'हे श्वेतकेतु, तुम वही (ब्रह्म) हो।' अन्त मे यही घोषणा की गयी कि जो समग्र जगत् के भीतर विद्यमान है वही मनुष्यो की

सम्प्रदाय की नींव डाली है, उसे इन तीनों प्रस्थानों को ग्रहण करना ही पड़ा और उन पर एक नये भाष्य की रचना करनी पड़ी। अतः वेदान्त को उपनिषदों के किसी एक ही भाव में द्वैतवाद विशिष्टाद्वैतवाद या अद्वैतवाद के रूप में आबद्ध कर देना ठीक नहीं। जब कि वेदान्त से ये सभी मत निकले हैं तो उसे इन मतों की समष्टि ही कहना चाहिए। एक अद्वैतवादी अपने को वेदान्ती कहकर परिचय देने का जितना अधिकारी है उतना ही रामानुज सम्प्रदाय के विशिष्टाद्वैतवादी को भी है। परन्तु मैं कुछ और बढ़कर कहना चाहता हूँ कि हिन्दू शब्द कहने से हम लोगों का वही अभिप्राय है जो वास्तव में वेदान्ती का है। मैं तुमसे कहता हूँ कि ये तीनों भारत में स्मरणातीत काल से प्रचलित हैं। तुम कदापि यह विश्वास न करो कि अद्वैतवाद के आविष्कारक शंकर थे। उनके जन्म के बहुत पहले ही से यह मत यहाँ था। वे केवल इसके अन्तिम प्रतिनिधियों में से एक थे। रामानुज के मत के लिए भी यही बात कहनी चाहिए। उनके भाष्य ही से यह सूचित हो जाता है कि उनके आविर्भाव के बहुत पहले से यह मत विद्यमान था। जो द्वैतवादी सम्प्रदाय अन्य सम्प्रदायों के साथ साथ भारत में वर्तमान हैं उन पर भी यही बात लागू होती है। और अपने थोड़े से ज्ञान के आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि ये सब मत एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं।

जिस तरह हमारे षड्दर्शन महान् तत्त्व के क्रमिक उद्घाटन मात्र हैं जो संगीत की तरह पिछले धीमे स्वरवाले परदों से उठते हैं और अन्त में समाप्त होते हैं अद्वैत की वज्रगम्भीर ध्वनि में उसी तरह हम देखते हैं कि पूर्वोक्त तीनों मतों में भी मनुष्य मन उच्च से उच्चतर आदर्श की ओर अग्रसर हुआ है और अन्त में सभी मत अद्वैतवाद के उच्चतम सोपान पर पहुँचकर एक अद्भुत एकत्व में परिसमाप्त हुए हैं। अतः ये तीनों परस्पर विरोधी नहीं हैं। दूसरी ओर, मुझे यह कहना पड़ता है कि बहुत लोग इस भ्रम में पड़े हैं कि ये तीनों मत परस्पर विरोधी हैं। हम देखते हैं अद्वैतवादी आचार्य जिन श्लोकों में अद्वैतवाद की ही शिक्षा दी गयी है, उन्हें तो ज्यों का त्यों रख देते हैं, परन्तु जिनमें द्वैत या विशिष्टाद्वैतवाद के उपदेश हैं उन्हें जबरदस्ती अद्वैतवाद की ओर घसीट लाते हैं, उनका भी अद्वैत अर्थ कर डालते हैं। उधर द्वैतवादी आचार्य अद्वैतात्मक श्लोकों का द्वैतवाद का अर्थ ग्रहण करने की चेष्टा करते हैं। वे हमारे पूज्य आचार्य हैं यह मैं मानता हूँ परन्तु 'गुरोरप्यवलिप्तस्य' भी एक प्रसिद्ध वाक्य है। मेरा मत है कि केवल इसी एक विषय में उन्हें भ्रम हुआ है। हमें शास्त्रों की विकृत व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। धार्मिक विषयों में हमें किसी प्रकार की बेईमानी का सहारा लेकर धर्म की व्याख्या करने की जरूरत नहीं है। व्याकरण के दाँव-पेंच दिखाने से क्या फायदा!

है—प्रक्षेपण। प्रलय होने पर जगत्-प्रपच सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर अपनी प्राथमिक अवस्था को प्राप्त होता है, कुछ काल उसी शान्त अवस्था मे रहकर फिर विकसित होता है। यही सृष्टि है। अच्छा, तो फिर इन प्राणरूपिणी शक्तियो का क्या होता है ? वे आदि-प्राण से मिल जाती हैं। यह प्राण उस समय बहुत कुछ गतिहीन हो जाता है, परन्तु इसकी गति बिल्कुल ही बन्द नही हो जाती। वैदिक सूक्तो के **आनीदवातम**—'वह गतिहीन भाव से स्पन्दित हुआ था'—इस वाक्य से इसी तत्त्व का वर्णन किया गया है। वेदो के कितने ही पारिभाषिक शब्दो का अर्थ-निर्णय करना अत्यन्त कठिन काम है। उदाहरण के रूप मे हम यहाँ 'वात' शब्द को ही लेते हैं। कभी कभी तो इससे वायु का अर्थ निकलता है और कभी कभी गति सूचित होती है। इन दोनो अर्थों मे बहुधा लोगो को भ्रम हो जाता है। अतएव इस पर ध्यान रखना चाहिए। अच्छा, तो उस समय भूतो की क्या अवस्था होती है ? शक्तियाँ सर्वभूतो मे ओतप्रोत हैं। वे उस समय आकाश मे लीन हो जाती हैं, इस आकाश मे फिर भूतसमूहो की सृष्टि होती है। यह आकाश ही आदि-भूत है। यही आकाश प्राण की शक्ति से स्पन्दित होता रहता है, और प्रत्येक नयी सृष्टि के साथ ज्यो ज्यो प्राण का स्पन्दन द्रुत होता जाता है, त्यो त्यो आकाश की तरगें क्षुब्ध होती हुई चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि के आकार धारण करती जाती हैं। हम पढते हैं, **यदिद किंच जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।** (ऋग्वेद, १०।१२९।२)—'इस ससार मे जो कुछ है, प्राण के कम्पित होने से नि सृत होता है।' यहाँ 'एजति' शब्द पर ध्यान दो, क्योकि 'एज्' धातु का अर्थ है काँपना, 'नि सृतम्' का अर्थ है प्रक्षिप्त और 'यदिदम् किंच' का अर्थ है इस ससार मे जो भी कुछ।

जगत्-प्रपच की सृष्टि का यह थोडा सा आभास दिया गया। इसके विषय मे बहुत सी छोटी छोटी बातें कही जा सकती हैं। उदाहरणस्वरूप किस तरह सृष्टि होती है, किस तरह पहले आकाश की ओर आकाश से दूसरी वस्तुओं की सृष्टि होती है, आकाश मे कम्पन होने पर वायु की उत्पत्ति कैसे होती है, आदि कितनी ही बातें कहनी पडेंगी। परन्तु यहाँ एक बात पर ध्यान रखना चाहिए, वह यह कि सूक्ष्मतर तत्त्व से स्थूलतर तत्त्व की उत्पत्ति होती है, सबसे पीछे स्थूल भूत की सृष्टि होती है। यही बाह्यतम वस्तु है, और इसके पीछे सूक्ष्मतर भूत विद्यमान हैं। यहाँ तक विश्लेषण करने पर भी, हमने देखा कि सम्पूर्ण ससार केवल दो तत्त्वो मे पर्यवसित किया गया है, अभी तक चरम एकत्व पर हम नही पहुँचे। शक्ति-तत्त्व के एकत्व को प्राण, और जड-तत्त्व के एकत्व को आकाश कहा गया है। क्या इन दोनो मे भी कोई एकत्व पाया जा सकता है ? ये भी क्या एक तत्त्व मे पर्यवसित किये जा सकते

आत्मा में भी विराजमान है। यहाँ किसी तरह की रियायत नहीं यहाँ दूसरों के मतामत की परवाह नहीं की गयी। यहाँ सत्य निरावरण सत्य निर्भीक भाषा में प्रचारित किया गया है। आजकल उस महान् सत्य का उसी निर्भीक भाषा से प्रचार करने में हमें हरगिज न डरना चाहिए, और ईश्वर की कृपा से मैं स्वयं तो कम से कम उसी प्रकार का एक निर्भीक प्रचारक होने की आशा रखता हूँ।

अब मैं पूर्व प्रसंग का अनुसरण करते हुए दो बातों को समझाता हूँ। एक है मनस्तात्त्विक पक्ष जो सभी वेदान्तियों का सामान्य विषय है, और दूसरा है जगत् सृष्टि पक्ष। पहले मैं जगत्-सृष्टि पक्ष पर विचार करूँगा। हम देखते हैं आजकल आधुनिक विज्ञान के विविध विचित्र आविष्कार हमें आकस्मिक रूप से चमत्कृत कर रहे हैं, और स्वप्न में भी अकल्पनीय अद्भुत चमत्कारों को हमारे सामने रखकर हमारी आँखों को चकाचौंध कर देते हैं। परन्तु वास्तव में इन आविष्कारों का अधिकांश बहुत पहले के आविष्कृत सत्यों का पुनराविष्कार मात्र है। अभी हाल की बात है, आधुनिक विज्ञान ने विभिन्न शक्तियों में एकत्व का आविष्कार किया है। उसने अभी अभी यह आविष्कृत किया कि ताप विद्युत् चुम्बक आदि भिन्न भिन्न नामों से परिचित जितनी शक्तियाँ हैं, वे एक ही शक्ति में परिवर्तित की जा सकती हैं अतः दूसरे उन्हें चाहे जिन नामों से पुकारते रहें विज्ञान उनके लिए एक ही नाम व्यवहार में लाता है। यही बात संहिता में भी पायी जाती है। यद्यपि वह एक प्राचीन ग्रन्थ है, तथापि उसमें भी शक्ति विषयक ऐसा ही सिद्धान्त मिलता है जिसका मैंने उल्लेख किया है। जितनी शक्तियाँ हैं, चाहे तुम उन्हें गुरुत्वाकर्षण कहो चाहे आकर्षण या विकर्षण कहो अथवा ताप कहो, या विद्युत् ये सब उसी शक्ति-तत्त्व के विभिन्न रूप हैं। चाहे मनुष्यों के बाह्य इन्द्रियों का व्यापार कहो या उनके अन्तःकरण की चिन्तन-शक्ति ही कहो हैं सब एक ही शक्ति से उद्भूत जिसे प्राण-शक्ति कहते हैं। अब यह प्रश्न उठ सकता है कि प्राण क्या है? प्राण स्पन्दन या कम्पन है। जब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का विलय इसके चिरन्तन स्वरूप में हो जाता है, तब वे अनन्त शक्तियाँ कहाँ चली जाती हैं? क्या तुम सोचते हो कि इनका भी लोप हो जाता है? नहीं कदापि नहीं। यदि शक्तिराशि बिल्कुल नष्ट हो जाय तो फिर भविष्य में जगत्-तरंग का उत्थान कैसे और किस आधार पर हो सकता है? क्योंकि सृष्टि तो तरंगाकार संचरण है जो उठती है गिरती है फिर उठती है फिर गिरती है। इसी जगत्-प्रपंच के विकास को हमारे शास्त्रों में 'सृष्टि' कहा गया है। परन्तु, ध्यान रहे 'सृष्टि' अंग्रेजी का (creation) नहीं। अंग्रेजी में संस्कृत शब्दों का यथार्थ अनुवाद नहीं होता। बड़ी मुश्किल से मैं संस्कृत के भाव अंग्रेजी में व्यक्त करता हूँ। 'सृष्टि' शब्द का वास्तविक अर्थ

है—प्रक्षेपण। प्रलय होने पर जगत्-प्रपच सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर अपनी प्राथमिक अवस्था को प्राप्त होता है, कुछ काल उसी शान्त अवस्था मे रहकर फिर विकसित होता है। यही सृष्टि है। अच्छा, तो फिर इन प्राणरूपिणी शक्तियो का क्या होता है? वे आदि-प्राण से मिल जाती हैं। यह प्राण उस समय बहुत कुछ गतिहीन हो जाता है, परन्तु इसकी गति बिल्कुल ही बन्द नही हो जाती। वैदिक सूक्तो के **आनीदवातम**—'वह गतिहीन भाव से स्पन्दित हुआ था'—इस वाक्य से इसी तत्त्व का वर्णन किया गया है। वेदो के कितने ही पारिभाषिक शब्दो का अर्थ-निर्णय करना अत्यन्त कठिन काम है। उदाहरण के रूप मे हम यहाँ 'वात' शब्द को ही लेते हैं। कभी कभी तो इससे वायु का अर्थ निकलता है और कभी कभी गति सूचित होती है। इन दोनो अर्थों मे बहुधा लोगो को भ्रम हो जाता है। अतएव इस पर ध्यान रखना चाहिए। अच्छा, तो उस समय भूतो की क्या अवस्था होती है? शक्तियाँ सर्वभूतो मे ओतप्रोत हैं। वे उस समय आकाश मे लीन हो जाती हैं, इस आकाश से फिर भूतसमूहो की सृष्टि होती है। यह आकाश ही आदि-भूत है। यही आकाश प्राण की शक्ति से स्पन्दित होता रहता है, और प्रत्येक नयी सृष्टि के साथ ज्यो ज्यो प्राण का स्पन्दन द्रुत होता जाता है, त्यो त्यो आकाश की तरगें क्षुब्ध होती हुई चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि के आकार धारण करती जाती हैं। हम पढते हैं, **यदिद किंच जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।** (ऋग्वेद, १०।१२९।२)—'इस ससार मे जो कुछ है, प्राण के कम्पित होने से नि सृत होता है।' यहाँ 'एजति' शब्द पर ध्यान दो, क्योकि 'एज्' धातु का अर्थ है काँपना, 'नि सृतम्' का अर्थ है प्रक्षिप्त और 'यदिदम् किंच' का अर्थ है इस ससार मे जो भी कुछ।

जगत्-प्रपच की सृष्टि का यह थोडा सा आभास दिया गया। इसके विषय मे बहुत सी छोटी छोटी बातें कही जा सकती हैं। उदाहरणस्वरूप किस तरह सृष्टि होती है, किस तरह पहले आकाश की और आकाश से दूसरी वस्तुओ की सृष्टि होती है, आकाश मे कम्पन होने पर वायु की उत्पत्ति कैसे होती है, आदि कितनी ही बातें कहनी पडेंगी। परन्तु यहाँ एक बात पर ध्यान रखना चाहिए, वह यह कि सूक्ष्मतर तत्त्व से स्थूलतर तत्त्व की उत्पत्ति होती है, सबसे पीछे स्थूल भूत की सृष्टि होती है। यही बाह्यतम वस्तु है, और इसके पीछे सूक्ष्मतर भूत विद्यमान हैं। यहाँ तक विश्लेषण करने पर भी, हमने देखा कि सम्पूर्ण ससार केवल दो तत्त्वो मे पर्यवसित किया गया है, अभी तक चरम एकत्व पर हम नही पहुँचे। शक्ति-तत्त्व के एकत्व को प्राण, और जड-तत्त्व के एकत्व को आकाश कहा गया है। क्या इन दोनो मे भी कोई एकत्व पाया जा सकता है? ये भी क्या एक तत्त्व मे पर्यवसित किये जा सकते

है ? हमारा आधुनिक विज्ञान यहाँ मूक है, वह किसी तरह की मीमांसा नहीं कर सका। और यदि उसे इसकी मीमांसा करनी ही पड़े तो जैसे उसने प्राचीन पुरुषों की तरह आकाश और प्राणों का आविष्कार किया है, उसी तरह उनके मार्ग पर उसे आगे भी चलना होगा।

जिस एक तत्त्व से आकाश और प्राण की सृष्टि हुई है वह सर्वव्यापी निर्गुण तत्त्व है जो पुराणों में ब्रह्मा चतुरानन ब्रह्मा के नाम से परिचित है और मनस्तत्त्व के अनुसार जिसको 'महत्' भी कहा जाता है। यहीं उन दोनों तत्त्वों का मेल होता है। जिसे मन कहते हैं वह मस्तिष्क जाल में फँसा हुआ उसी महत् का एक छोटा सा अंश है और मस्तिष्क जाल में फँसे हुए संसार के सामूहिक मनों का नाम समष्टि महत् है। परन्तु विश्लेषण को आगे भी अग्रसर होना है यह अब भी पूर्ण नहीं है। हमम से हर एक मनुष्य मानो एक क्षुद्र ब्रह्माण्ड है और सम्पूर्ण जगत् विराट ब्रह्माण्ड है। जो कुछ व्यष्टि में हो रहा है वही समष्टि में भी होता है—यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे। यह बात सहज ही हमारी समझ में आ सकती है। यदि हम अपने मन का विश्लेषण कर सकते तो समष्टि मन में क्या होता है इसका भी बहुत कुछ निश्चित अनुमान कर सकते। अब प्रश्न यह है कि यह मन है क्या चीज ? इस समय पाश्चात्य देशों में भौतिक विज्ञान की जैसी द्रुत उन्नति हो रही है और शरीरविज्ञान जिस तरह धीरे धीरे प्राचीन धर्मों के एक के बाद दूसरे दुर्ग पर अपना अधिकार जमा रहा है उसे देखते हुए पाश्चात्यवासियों को कोई टिकाऊ आधार नहीं मिल रहा है क्योंकि आधुनिक शरीरविज्ञान में पद पद पर मन की मस्तिष्क के साथ अभिन्नता देखकर वे बड़ी उलझन में पड़ गये हैं परन्तु भारतवर्ष में हम लोग यह तत्त्व पहले ही से जानते हैं। हिन्दू बालक को पहले ही यह तत्त्व सीखना पड़ता है कि मन जड़ पदार्थ है परन्तु सूक्ष्मतर जड़ है। हमारा यह जो स्थूल शरीर है, इसके पश्चात् सूक्ष्म शरीर अथवा मन है। यह भी जड़ है केवल सूक्ष्मतर जड़ है परन्तु यह आत्मा नहीं।

मैं इस 'आत्मा' शब्द का अंग्रेजी में अनुवाद नहीं कर सकता कारण यूरोप में 'आत्मा' शब्द का द्योतक कोई भाव ही नहीं अतएव इस शब्द का अनुवाद नहीं किया जा सकता। जर्मन दार्शनिक इस 'आत्मा' शब्द का सेल्फ (*self*) शब्द से अनुवाद करते हैं, परन्तु जब तक इस शब्द को सार्वभौम मान्यता प्राप्त न हो जाय तब तक इसे व्यवहार में लाना असम्भव है। अतएव उसे सेल्फ (*self*) कहो चाहे कुछ और कहो हमारी आत्मा के सिवा वह और कुछ नहीं है। यही आत्मा मनुष्य के भीतर यथार्थ मनुष्य है। यही आत्मा जड़ को अपने यन्त्र के रूप में अथवा मनोविज्ञान की भाषा में कहो तो अपने अन्तःकरण के रूप में चलाती फिराती है और मन अन्तरिन्द्रियों की सहायता से शरीर की दृश्यमान बाह्य इन्द्रियों पर काम करता

है। अस्तु, यह मन है क्या ? अभी हाल मे ही पाश्चात्य दार्शनिक यह जान सके है कि नेत्र वास्तव मे दर्शनेन्द्रिय नही है, किन्तु यथार्थ इन्द्रिय इनके पीछे वर्तमान है, और यदि यह नष्ट हो जाय तो सहस्रलोचन इन्द्र की तरह चाहे मनुष्य की हज़ार आँखे हो, पर वह कुछ देख नही सकता। तुम्हारा दर्शन यह स्वत सिद्ध सिद्धान्त लेकर आगे वढता है कि दृष्टि का तात्पर्य वास्तव मे वाह्य दृष्टि से नही, यथार्थ दृष्टि अन्तरिन्द्रिय की, भीतर रहनेवाले मस्तिष्क के केन्द्रसमूहो की है। तुम चाहे जिस नाम से पुकारो, परन्तु इन्द्रिय शब्द से हमारी नाक, कान आँखें नही सिद्ध होती। और इन इन्द्रियसमूहो की ही समष्टि, मन, वुद्धि, चित्त, अहकार के साथ मिलकर अग्रेज़ी मे माइण्ड (mind) नाम से पुकारी जाती है। और यदि आधुनिक शरीर-वैज्ञानिक तुमसे आकर कहें कि मस्तिष्क ही माइण्ड (mind) है, और वह मस्तिष्क ही विभिन्न सूक्ष्म अवयवो से गठित है तो तुम्हारे लिए डरने का कोई कारण नही। उनसे तुम तत्काल कह सकते हो कि हमारे दार्शनिक वरावर यह वात जानते हैं, यह हमारे धर्म के प्रथम मुख्य सिद्धान्तो मे से एक है।

खैर, इस समय तुम्हे समझना होगा कि मन, बुद्धि, चित्त, अहकार आदि शब्दो के क्या अर्थ हैं। सबसे पहले हम चित्त की मीमासा करें। चित्त वास्तव मे अन्त करण का मूल उपादान है, यह महत् का ही अश है। विभिन्न अवस्थाओ के साथ मन का ही एक साधारण नाम चित्त है। उदाहरणार्थ ग्रीष्मकाल की उस स्थिर और शान्त झील को लो जिस पर एक भी तरग नही है। सोचो, किसीने उस पर एक पत्थर फेंका। तो उससे क्या होगा ? पहले, पानी पर जो आघात किया गया उससे एक क्रिया हुई, इसके पश्चात् पानी उठकर पत्थर की ओर प्रतिक्रिया करने लगा और उसी प्रतिक्रिया ने तरग का आकार धारण किया। पहले पहल पानी ज़रा काँप उठता है, उसके बाद ही तरग के आकार मे प्रतिक्रिया होती है। इस चित्त को झील की तरह समझो, और बाहरी वस्तुएँ उस पर फेंके गये प्रस्तर खड हैं। जव कभी वह इन्द्रियो की सहायता से किसी वहिर्वस्तु के सस्पर्श मे आता है, वहिर्वस्तुओ को भीतर ले जाने के लिए इन इन्द्रियो की ज़रूरत होती है, तभी एक कम्पन उत्थित होता है। वह मन है—सकल्प-विकल्पात्मक। इसके बाद ही एक प्रतिक्रिया होती है, वह निश्चयात्मिका बुद्धि है, और इस बुद्धि के साथ साथ अहज्ञान और वाहरी वस्तु का बोध पैदा होता है। जैसे हमारे हाथ पर मच्छर ने बैठकर डक मारा, सवेदना हमारे चित्त तक पहुँची, चित्त ज़रा काँप उठा—हमारे मनोविज्ञान के मत से वही मन है। इसके बाद एक प्रतिक्रिया उठी और साथ ही साथ हमारे भीतर यह भाव पैदा हुआ कि हमारे हाथ मे मच्छर काट रहा है, इसे भगाना चाहिए। इसी प्रकार झील मे पत्थर फेंके जाते हैं। परन्तु इतना जरूर समझना होगा कि झील पर जितने

आघात होते हैं सब बाहर से आते हैं परन्तु मन की झील में बाहर से भी आघात आ सकते हैं और भीतर से भी। चित्त और उसकी इन भिन्न भिन्न अवस्थाओं का नाम ही अन्तःकरण है।

पहले जो कुछ कहा गया उसके साथ एक और भी बात समझनी होगी। उससे अद्वैतवाद समझने में हम लोगों को विशेष सुविधा होगी। तुममें से हर एक ने मुक्ता अवश्य ही देखी होगी और तुममें से अनेक को मालूम भी होगा कि मुक्ता किस तरह बनती है। शुक्ति (सीप) के भीतर धूलि अथवा बालुका की कणिका पड़कर उसे उत्तेजित करती रहती है और शुक्ति की देह इस उत्तेजना की प्रतिक्रिया करते हुए उस छोटी सी बालू की रज को अपने शरीर से निकले हुए रस से ढकती रहती है। वही कणिका एक निर्दिष्ट आकार को प्राप्त कर मुक्ता के रूप में परिणत होती है। यह मुक्ता जिस तरह निर्मित होती है, हम सम्पूर्ण संसार को उसी तरह स्थापित करते हैं। बाहरी संसार से हम आघात भर पाते हैं। यहाँ तक कि उस आघात के प्रति चैतन्य होने में भी हमें अपने भीतर से ही प्रतिक्रिया करनी पड़ती है और जब हम प्रतिक्रियाशील होते हैं तब वास्तव में हम अपने मन के अंशविशेष को ही उस आघात के प्रति प्रक्षेपित करते हैं और जब हमें उसकी जानकारी होती है, तब वह और कुछ नहीं उस आघात से आकार प्राप्त हमारा अपना मन ही है। जो लोग बहिर्जगत् की यथार्थता पर विश्वास करना चाहते हैं, उन्हें यह बात माननी पड़ेगी और आजकल इस शरीरविज्ञान की उन्नति के दिनों में इस बात को बिना माने दूसरा उपाय ही नहीं है। यदि बहिर्जगत् को हम 'क' मान लें तो वास्तव में हम 'क +मन' को ही जानते हैं और इस जानकारी के भीतर मन का भाग इतना अधिक है कि उसने 'क' को सर्वोपरि ढक लिया है और उस 'क' का यथार्थ रूप वास्तव में सर्वदा अज्ञात और अज्ञेय है। अतएव यदि बहिर्जगत् के नाम से कोई वस्तु हो भी तो वह सर्वदा अज्ञात और अज्ञेय है। हमारे मन के द्वारा वह जिस साँचे में ढाल दी जाती है, जैसी स्थापित होती है, हम उसको उसी रूप में जानते हैं। अन्तर्जगत् के सम्बन्ध में भी यही बात है। हमारी आत्मा के सम्बन्ध में भी यह बात बिलकुल सच उतरती है। हम आत्मा को जानना चाहें तो उसे भी अपने मन के भीतर से समझेंगे अतः हम आत्मा के सम्बन्ध में जो कुछ जानते हैं वह 'आत्मा+मन' के सिवा और कुछ नहीं। अर्थात् मन ही के द्वारा आवृत मन ही के द्वारा स्थापित आत्मा को हम जानते हैं। इस तत्त्व के सम्बन्ध में हम आगे चलकर कुछ और विवेचना करेंगे यहाँ हमें इतना ही स्मरण रखना होगा।

इसके पश्चात् हमें जो विषय समझना है, वह यह है कि यह देह एक निरवच्छिन्न जड़ प्रवाह का नाम है। प्रतिक्षण हम इसमें नये नये पदार्थ जोड़ रहे हैं, फिर प्रति-

क्षण इससे कितने ही पदार्थ निकलते जा रहे हैं। जैसे एक निरन्तर वहती हुई नदी है, उसकी सलिलराशि सदा ही एक स्यान से दूसरे स्थान को जा रही है, फिर भी हम अपनी कल्पना के वल से उसके समस्त अशो को एक ही वस्तु मानकर उसे एक ही नदी कहते हैं। परन्तु वास्तव मे नदी है क्या ? प्रतिक्षण नया पानी आ रहा है, प्रतिक्षण उसकी तटभूमि परिर्वतित हो रही है, प्रतिक्षण सारा वातावरण परिवर्तित होता जा रहा है। तव नदी है क्या ? वह इसी परिवर्तन-समष्टि का नाम है। मन के सम्वन्व मे भी यही वात है। वौद्धो ने इस सदा ही होनेवाले परिवर्तन को लक्ष्य करके महान् क्षणिक विज्ञानवाद की सृष्टि की थी। उसे ठीक ठीक समझना वडा कठिन काम है। परन्तु वौद्ध दर्शनो मे यह मत सुदृढ युक्तियो द्वारा समर्थित और प्रमाणित हुआ है। भारत मे यह वेदान्त के किसी किसी अश के विरोघ मे उठ खडा हुआ था। इस मत को निरस्त करने की जरूरत आ पडी थी, और हम आगे देखेंगे, इस मत का खडन करने मे केवल अद्वैतवाद ही समर्थ हुआ था और कोई मत नही। आगे चलकर हम यह भी देखेंगे कि अद्वैतवाद के सम्वन्व मे लोगो की अनेक विचित्र वारणाएँ होने पर भी और अद्वैतवाद से लोगो के भयभीत होने पर भी, वास्तव मे ससार का कल्याण इसीसे होता है, कारण इस अद्वैतवाद से ही सव प्रकार की ममस्याओ का उत्तर मिलता है। द्वैतवाद और दूसरे जितने 'वाद' हैं उपासना आदि के लिए वहुत अच्छे हैं, उनसे मन को वडी तृप्ति होती है और हो सकता है कि उनसे मन के उच्च पथ पर वढने मे सहायता मिलती हो, परन्तु यदि कोई तर्कसगत एव घर्मपरायण होना चाहे तो उसके लिए एकमात्र गति द्वैतवाद ही है। अस्तु, मन को भी देह की तरह किसी नदी के सदृश समझना चाहिए। वह भी सदा एक ओर खाली और दूसरी ओर पूर्ण हो रहा है। परन्तु वह एकत्व कहाँ है, जिसे हम आत्मा कहते हैं ? हम देखते हैं कि हमारी देह और मन मे इस तरह सदा ही परिवर्तन होने पर भी हमारे भीतर कोई ऐसी वस्तु है, जो अपरिवर्तनीय है, जिसके कारण हमारी वस्तु विषयक घारणाएँ अपरिवर्तनीय हैं। जब विभिन्न दिशाओ से आलोक-रश्मियाँ किसी यवनिका या दीवार अथवा किसी दूसरी अचल वस्तु पर पडती हैं, केवल तभी उनके लिए एकता-स्थापन सभव होता है, केवल तभी वे एक अखड भाव की सृष्टि कर सकती हैं। मनुष्य के विभिन्न शारीरिक अवयवो मे वह एकत्व कहाँ है, जिस पर पहुँचकर विभिन्न भावराशियाँ एकत्व और पूर्ण अखडत्व को प्राप्त हो सकें ? इसमे कोई सन्देह नही कि वह वस्तु कभी मन नही हो सकती, क्योकि वह परिवर्तनशील है। इसलिए अवश्य वह ऐसी वस्तु है जो न देह है, न मन है, जिसमे कभी परिवर्तन नही होता, जिसमे आकर हमारे समस्त भाव, वाहर के समस्त विषय एक अखड भाव मे परिणत हो जाते हैं—यही वास्तव मे हमारी आत्मा है।

और जब कि हम देख रहे हैं कि सम्पूर्ण जड़ पदार्थ जिसे तुम सूक्ष्म जड़ अथवा मन चाहे जिस नाम से पुकारो परिवर्तनशील है और जब कि सम्पूर्ण स्थूल जड़ या बाह्य जगत् भी परिवर्तनशील है तो यह अपरिवर्तनीय वस्तु (आत्मा) कदापि जड़ पदार्थ नहीं हो सकती अतएव वह चेतन-स्वभाव अविनाशी और अपरिणामी है।

इसके बाद एक दूसरा प्रश्न उठता है। यह प्रश्न बहिर्जगत् सम्बन्धी पुराने सृष्टि रचनावादों (Design Theories) से भिन्न है। इस संसार को देख कर किसने इसकी सृष्टि की किसने जड़ पदार्थ बनाया आदि प्रश्नों से जिस सृष्टि-रचनावाद की उत्पत्ति होती है मैं उसकी बात नहीं कहता। मनुष्य की भीतरी प्रकृति से सत्य को जानना ही मुख्य बात है। आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में जिस तरह प्रश्न उठा था यहाँ भी ठीक उसी तरह प्रश्न उठ रहा है। यदि यह ध्रुव सत्य माना जाय कि हर एक मनुष्य में शरीर और मन से पृथक एक अपरिवर्तनीय आत्मा विद्यमान है तो यह भी मानना पड़ता है कि इन आत्माओं के भीतर धारणा भाव और सहानुभूति की एकता विद्यमान है। अन्यथा हमारी आत्मा तुम्हारी आत्मा पर कैसे प्रभाव डाल सकती है? परन्तु आत्माओं के बीच में रहनेवाली वह कौन सी वस्तु है जिसके भीतर से एक आत्मा दूसरी आत्मा पर कार्य कर सकती है? वह माध्यम कहाँ है जिसके द्वारा वह क्रियाशील होती है। मैं तुम्हारी आत्मा के बारे में किस प्रकार कुछ भी अनुभव कर सकता हूँ? वह कौन सी वस्तु है, जो हमारी और तुम्हारी आत्मा म सलग्न है? अतः यहाँ एक दूसरी आत्मा के मानने की दार्शनिक आवश्यकता प्रतीत होती है क्योंकि वह आत्मा सम्पूर्ण भिन्न भिन्न आत्माओं और जड़ वस्तुओं के भीतर से अपना कार्य करती है, वह संसार की असंख्य आत्माओं में ओतप्रोत भाव से विद्यमान रहती है उसीकी सहायता से दूसरी आत्माओं में जीवनी शक्ति का संचार होता है एक आत्मा दूसरी आत्मा को प्यार करती है एक दूसरे स सहानुभूति रखती है या एक दूसरे के लिए कार्य करती है। इसी सर्वव्यापी आत्मा को परमात्मा कहते हैं। वह सम्पूर्ण संसार का प्रभु है ईश्वर है। और जब कि आत्मा जड़ पदार्थ से नहीं बनी जब कि वह चेतन स्वरूप है तो वह जड़ के नियमों का अनुसरण नहीं कर सकती—उसका विचार जड़ के नियमानुसार नहीं किया जा सकता। अतएव वह अजेय अजन्मा अविनाशी तथा अपरिणामी है।

> *नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।*
> *न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥*
> *नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥*
> (गीता २।२३ २४)

—'इस आत्मा को न आग जला सकती है, न कोई शस्त्र इसे छेद सकता है, न वायु इसे सुखा सकती है, न पानी गीला कर सकता है, यह आत्मा नित्य, सर्वगत, कूटस्थ और सनातन है।' गीता और वेदान्त के अनुसार जीवात्मा विभु है, कपिल के मत मे यह सर्वव्यापी है। यह सच है कि भारत मे ऐसे अनेक सम्प्रदाय हैं जिनके मतानुसार यह जीवात्मा अणु है, किन्तु उनका यह भी मत है कि आत्मा का प्रकृत स्वरूप विभु है, केवल व्यक्त अवस्था मे ही वह अणु है।

इसके बाद एक दूसरे विषय की ओर ध्यान देना चाहिए। बहुत सम्भव है, यह तुम्हे आश्चर्यजनक प्रतीत हो, परन्तु यह तत्त्व भी विशेष रूप से भारतीय है और हमारे सभी सम्प्रदायो मे वह सामान्य रूप मे विद्यमान है। इसीलिए मैं तुमसे इस तत्त्व की ओर ध्यान देने और उसे याद रखने का अनुरोध करता हूँ, कारण, यह सभी भारतीय विषयो की बुनियाद है। पाश्चात्य देशो मे जर्मन और अग्रेज़ पण्डितो द्वारा प्रचारित भौतिक विकासवाद तुम लोगो ने सुना होगा। उस मत के अनुसार वास्तव मे सभी प्राणियो के शरीर अभिन्न हैं, जो भेद हम देखते हैं वे एक ही शृखला की भिन्न भिन्न अभिव्यक्ति मात्र है और क्षुद्रतम कीट से लेकर श्रेष्ठतम साधु तक सभी वास्तव मे एक हैं, एक ही दूसरे मे परिणत हो रहा है तथा इसी तरह चलते हुए क्रमश. उन्नत होकर जीव पूर्णत्व प्राप्त कर रहे हैं। यह सिद्धान्त परिणामवाद के नाम से हमारे शास्त्रो मे भी है। योगी पतजलि कहते हैं, **जात्यन्तरपरिणाम प्रकृत्यापूरात्।** (पातजल योगसूत्र, ४।२)—'एक जाति, एक श्रेणी दूसरी जाति, दूसरी श्रेणी मे परिणत होती है।' 'परिणाम' का अर्थ है एक वस्तु का दूसरी वस्तु मे परिवर्तित होना। परन्तु यहाँ यूरोपवालो से हमारा मतभेद कहाँ पर होता है? पतजलि कहते हैं, **प्रकृत्यापूरात्**—प्रकृति के आपूरण से। यूरोपीय कहते है कि प्रतिद्वन्द्विता, प्राकृतिक और यौन-निर्वाचन आदि ही एक प्राणी को दूसरे प्राणी का शरीर ग्रहण करने के लिए बाध्य करते हैं, परन्तु हमारे शास्त्रो मे इस **जात्यन्तर-परिणाम** का जो कारण बतलाया गया है, उसे देखते हुए यही कहना पडता है कि यहाँवालो ने यूरोपीयो से और भी अच्छा विश्लेषण किया है—इन्होंने वहाँवालो से और भी गहरे पहुँचने की कोशिश की है। ये कहते हैं, **प्रकृत्यापूरात्**—'प्रकृति के आपूरण से।' इसका क्या अर्थ है? हम यह मानते हैं कि जीवाणु क्रमश उन्नत होते हुए बुद्ध बन जाता है, किन्तु साथ ही हमारी यह भी दृढ धारणा है कि किसी यन्त्र मे यदि किसी न किसी तरह की शक्ति यथोचित मात्रा मे न भर दी जाय तो उस यन्त्र से तदनुरूप कार्य सम्भव नही हो सकता। उस शक्ति का विकास चाहे जिस किसी रूप मे हो, पर शक्तिसमष्टि की मात्रा सदा एक ही रहती है। यदि तुम्हे एक प्रान्त मे शक्ति का विकास देखना है तो दूसरे प्रान्त मे उसका प्रयोग करना होगा—वह

शक्ति किसी दूसरे आकार में प्रकाशित भले ही हो परन्तु उसका परिमाण एक होना ही चाहिए। अतएव बुद्ध यदि परिणाम का एक प्रान्त हो तो दूसरे प्रान्त का जीवाणु अवश्य ही बुद्ध के सदृश होगा। यदि बुद्ध क्रमविकसित परिणत जीवाणु हो तो यह जीवाणु भी क्रमसंकुचित (अव्यक्त) बुद्ध ही है। यदि यह ब्रह्माण्ड अनन्त शक्ति का व्यक्त रूप हो तो जब इस ब्रह्माण्ड में प्रलय की अवस्था होती है, तब भी दूसरे किसी आकार में उसी अनन्त शक्ति की विद्यमानता स्वीकार करनी पड़ेगी। इससे अन्यथा कुछ भी नहीं हो सकता। अतएव यह निश्चित है कि प्रत्येक आत्मा अनन्त है। हमारे पैरों तले रेंगते रहनेवाले क्षुद्र कीट से लेकर महत्तम और उच्चतम साधु तक सब में यह अनन्त शक्ति अनन्त पवित्रता और सभी गुण अनन्त परिमाण में मौजूद हैं। भेद केवल अभिव्यक्ति की न्यूनाधिक मात्रा में है। कीट में उस महाशक्ति का थोड़ा ही विकास पाया जाता है तुममें उससे भी अधिक और किसी दूसरे देवोपम पुरुष में तुमसे भी कुछ अधिक शक्ति का विकास हुआ है भेद बस इतना ही है, परन्तु है सभी में वही एक शक्ति। पतंजलि कहते हैं, ततः क्षेत्रिकवत् (पातंजल योगसूत्र ४।३)—'किसान जिस तरह अपने खेत में पानी भरता है। किसी जलाशय से वह अपने खेत का एक कोना काटकर पानी भर रहा है, और जल के वेग से खेत के बह जाने के भय से उसने नाली का मुँह बन्द कर रखा है। जब पानी की जरूरत पड़ती है, तब वह द्वार खोल देता है, पानी अपनी ही शक्ति से उसमें भर जाता है। पानी आने में वेग को बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि वह जलाशय के जल में पहले ही से विद्यमान है। इसी तरह हममें से हर एक के पीछे अनन्त शक्ति अनन्त पवित्रता अनन्त सत्ता अनन्त वीर्य अनन्त आनन्द का भाण्डार परिपूर्ण है, केवल यह द्वार—यह देहरूपी द्वार हमारे वास्तविक रूप के पूर्ण विकास में बाधा पहुँचाता है।

और इस देह का संगठन जितना ही उन्नत होता जाता है जितना ही तमोगुण रजोगुण में और रजोगुण सत्त्वगुण में परिणत होता है, यह शक्ति और शुद्धता उतनी ही प्रकाशित होती रहती है, और इसीलिए भोजन-पान के सम्बन्ध में हम इतना सावधान रहते हैं। यह सम्भव है कि हम लोग मूल तत्त्व भूल गये हों जैसे हम अपनी विवाह-प्रथा के सम्बन्ध में कह सकते हैं। यह विषय यद्यपि यहाँ अप्रासंगिक है, फिर भी हम दृष्टान्त के तौर पर यहाँ इसका जिक्र कर सकते हैं। यदि कोई दूसरा अवसर मिलेगा तो मैं इन विषयों पर विशेष रूप से कहूँगा परन्तु इस समय मैं तुमसे इतना ही कहता हूँ कि जिन मूल भावों से हमारी विवाह-प्रथा का प्रचलन हुआ है, उनके ग्रहण करने से ही यथार्थ सभ्यता का संचार हो सकता है, किसी दूसरे उपाय से कदापि नहीं। यदि हर एक स्त्री-पुरुष को जिस किसी पुरुष या स्त्री

को पति अथवा पत्नी के रूप से ग्रहण करने की स्वाधीनता दी जाय, यदि व्यक्तिगत सुख, पाशव प्रकृति की परितृप्ति, समाज मे बिना किसी बाधा के सचरित होती रहे, तो उसका फल अवश्य ही अशुभ होगा। उससे दुष्ट प्रकृति और आसुर स्वभाव की सन्तान उत्पन्न होगी। प्रत्येक देश मे एक ओर मनुष्य इस तरह की पशु प्रकृति की सन्तान उत्पन्न कर रहे हैं, दूसरी ओर इनके दमन के लिए पुलिस की सख्या बढा रहे हैं। इस तरह की सामाजिक व्याधि के प्रतिकार की चेष्टा मे कोई फल नही होता, बल्कि समाज मे इन दोषो की उत्पत्ति को कैसे रोका जाय, सन्तानो की सृष्टि किस उपाय से रोकी जाय, यह समस्या उठ खडी होती है। और जब तक तुम समाज मे हो, तब तक तुम्हारे विवाह का प्रभाव समाज के प्रत्येक मनुष्य पर अवश्य ही पडेगा, अतएव तुम्हे किस तरह विवाह करना चाहिए, किस तरह का नही, इस पर तुम्हे आदेश देने का अधिकार समाज को है। भारतीय विवाह-प्रथा के पीछे इसी तरह के ऊँचे भाव हैं। जन्मपत्रो मे वर-कन्या की जैसी जाति, गण आदि लिखे रहते हैं, अब भी उन्हींके अनुसार हिन्दू समाज मे विवाह होते हैं और प्रसग के अनुसार मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि मनु के मत से कामोद्भूत पुत्र आर्य नही है। गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त जिस सतान के सस्कार वैदिक विधि के अनुसार हो, वही वास्तव मे आर्य है। आजकल सभी देशो मे ऐसी आर्य सन्तान बहुत कम पैदा होती है, और इसीका फल है कि कलियुग नाम की दोषराशि की उत्पत्ति हो रही है। हम प्राचीन महान् आदर्शों को भूल गये हैं। यह सच है कि हम लोग इस समय इन भावो को पूर्ण रूप से कार्य मे परिणत नही कर सकते, यह भी सम्पूर्ण सत्य है कि हम लोगो ने इन सब महान् भावो मे से कुछ को हास्यास्पद बना दिया है। यह बिल्कुल सच है और शोक का विषय है कि आजकल प्राचीन काल के से पिता-माता नही हैं, समाज भी अब पहले सा शिक्षित नही है, और प्राचीन समाज मे जिस तरह समाज के सभी लोगो पर प्रीति रहती थी, अब वैसी नही रहती, किन्तु व्यावहारिक रूप मे दोषो के आ जाने पर भी वह मूल तत्त्व बडे ही महत्त्व का है, और यदि उसका कार्यान्वित होना सदोष है, यदि इसके लिए कोई खास तरीका नाकामयाब हुआ है, तो उसी मूल तत्त्व को लेकर ऐसी चेष्टा करनी चाहिए, जिससे वह अच्छी तरह काम मे आ सके। मूल तत्त्व के नष्ट करने की चेष्टा क्यो? भोजन सम्बन्धी समस्या के लिए भी यही बात है। वह तत्त्व भी जिस तरह काम मे लाया जा रहा है, वह निस्सन्देह बहुत ही खराब है, किन्तु इसमे उस तत्त्व का कोई दोष नही। वह सनातन है, वह सदा ही रहेगा, ऐसा पुन प्रयत्न करो जिससे वह तत्त्व ठीक ठीक भाव से काम मे लाया जा सके।

भारत मे हमारे सभी सम्प्रदायो को आत्मा सम्बन्धी इस तत्त्व पर विश्वास

करना पड़ता है। केवल द्वैतवादी कहते हैं जैसा हम आगे विचार करेंगे असत् कर्मों से वह संकुचित हो जाती है, उसकी सम्पूर्ण शक्ति और स्वभाव प्रकाश को प्राप्त हो जाते हैं फिर सत्कर्म करने से उस स्वभाव का विकास होता है। और अद्वैतवादी कहते हैं आत्मा का न कभी संकोच होता है, न विकास इस तरह होने की प्रतीति मात्र होती है। द्वैतवादी और अद्वैतवादियों में बस इतना ही भेद है परन्तु यह बात सभी मानते हैं कि हमारी आत्मा में पहले ही से सम्पूर्ण शक्ति विद्यमान है, ऐसा नहीं कि कुछ बाहर से आत्मा में आये या कोई चीज इसमें आसमान से टपक पड़े। ध्यान देने योग्य बात है कि तुम्हारे वेद प्रेरित (Inspired) नहीं हैं ऐसे नहीं कि वे बाहर से भीतर आ रहे हैं किन्तु अन्तःस्फुरित (expired) हैं अर्थात् भीतर से बाहर आ रहे हैं—वे सनातन नियम हैं जिनकी अवस्थिति प्रत्येक आत्मा में है। चींटी से लेकर देवता तक सबकी आत्मा में वेद अवस्थित हैं। चींटी को क्रमशः विकसित होकर ऋषि-शरीर प्राप्त करना है तभी उसके भीतर वेद अर्थात् सनातन सत्य प्रकाशित होगा। इस महान् भाव को समझने की आवश्यकता है कि हमारी शक्ति पहले ही से हमारे भीतर मौजूद है—मुक्ति पहले ही से हम में है। उसके लिए इतना कह सकते हो कि वह संकुचित हो गयी है, अथवा माया के आवरण से आवृत हो गयी है, परन्तु इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता। पहले ही से वह वहाँ मौजूद है, यह तुम्हें समझ लेना होगा। इस पर तुम्हें विश्वास करना होगा—विश्वास करना होगा कि बुद्ध के भीतर जो शक्ति है, वह एक छोटे से छोटे मनुष्य में भी है। यही हिन्दुओं का आत्म-तत्त्व है।

परन्तु यहीं बौद्धों के साथ महा विरोध खड़ा हो जाता है। वे देह का विश्लेषण करके उसे एक जड़ स्रोत मात्र कहते हैं और उसी तरह मन का विश्लेषण करके उसे भी एक दूसरा जड़ प्रवाह बतलाते हैं। आत्मा के सम्बन्ध में वे कहते हैं, यह अनावश्यक है और उसके अस्तित्व की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं। किसी द्रव्य और उसमें संलग्न गुणराशि की कल्पना का क्या काम? हम लोग सिर्फ गुण ही मानते हैं। जहाँ सिर्फ एक कारण मान लेने पर सब विषयों की व्याख्या हो जाती है, वहाँ दो कारण मानना युक्तिसंगत नहीं है। इसी तरह बौद्धों के साथ विवाद छिड़ा और जो मत द्रव्य विशेष का अस्तित्व मानते थे उनका खंडन करके बौद्धों ने उनको धूल में मिला दिया। जो द्रव्य और गुण दोनों का अस्तित्व मानते हैं जो कहते हैं—'तुममें एक अलग आत्मा है, हममें एक अलग हर एक के शरीर और मन से अलग एक एक आत्मा है, हर एक का एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व है'—उनकी तर्क-पद्धति में पहले ही से कुछ त्रुटि थी।

यहाँ तक तो द्वैतवाद का मत ठीक है, हम पहले ही देख चुके हैं कि यह शरीर

है, यह सूक्ष्म मन है, यह आत्मा है और सब आत्माओ मे है वह परमात्मा। यहाँ मुश्किल इतनी ही है कि आत्मा और परमात्मा दोनो ही द्रव्य बतलाये जा रहे हैं और देह-मन आदि तथाकथित द्रव्य उनसे गुणवत सलग्न है, ऐसा स्वीकार किया जा रहा है। अब बात यह है कि किसीने कभी जिस द्रव्य को नही देखा, उसके सम्बन्ध मे वह कभी विचार नही कर सकता। अत वे कहते हैं, ऐसी दशा मे इस तरह के द्रव्य के मानने की जरूरत क्या है? तो फिर क्षणिकविज्ञानवादी क्यो नही हो जाते और क्यो नही कहते कि मानसिक तरगो के सिवा और किसी भी वस्तु का अस्तित्व नही है?—उनमे से कोई एक दूसरी से मिली हुई नही, वे आपस मे मिलकर एक वस्तु नही हुई, समुद्र की तरगो की तरह एक दूसरी के पीछे पीछे चली आ रही हैं, वे कभी भी सम्पूर्ण नही, वे कभी एक अखड इकाई नही बनाती। मनुष्य बस इसी तरह की तरग-परम्परा है—जब एक तरग चली जाती है, तब दूसरी तरग पैदा कर जाती है, ऐसा ही चलता रहता है और इन्ही तरगो की निवृत्ति को निर्वाण कहते हैं। तुम देखते हो, इसके सामने द्वैतवाद मूक है, यह असम्भव है कि वह इसके विरुद्ध कोई युक्ति दे सके, और द्वैतवाद का ईश्वर भी यहाँ नही टिक सकता। जो सर्वव्यापी है तथा व्यक्तिविशेष है, बिना हाथो के ससार की सृष्टि कर रहा है, बिना पैरो के जो चल सकता है—इसी प्रकार और भी, कुम्भकार जिस तरह घट का निर्माण करता है, उसी तरह जो विश्व की सृष्टि करता है—उसके लिए बौद्ध कहते हैं, इस तरह की कल्पना बच्चो की जैसी है और यदि ईश्वर इस तरह का है तो वे उस ईश्वर के साथ विरोध करने को तैयार हैं, उसकी उपासना करने के अभिलाषी नही। यह ससार दु ख से परिपूर्ण है, यदि यह ईश्वर का काम हो तो बौद्ध कहते हैं, हम इस तरह के ईश्वर के साथ लडने को तैयार हैं। और दूसरे, इस तरह के ईश्वर का अस्तित्व अयौक्तिक और असम्भव है। सृष्टि-रचनावाद (Design Theory) की त्रुटियो पर विचार करने की आवश्यकता नही है, क्योकि क्षणिकविज्ञानवादियो ने उनके सम्पूर्ण युक्तिजाल का खडन कर डाला है। अतएव वैयक्तिक ईश्वर नही टिक सकता।

सत्य, एकमात्र सत्य अद्वैतवादियो का लक्ष्य है। **सत्यमेव जयते नानृतम् । सत्येन पन्था विततो देवयान** —'सत्य ही की विजय होती है, मिथ्या को कभी विजय नही मिलती, सत्य से ही देवयान मार्ग की प्राप्ति होती है।' (मुण्डकोपनिषद्, ३।१।६) सत्य की पताका सभी उडाया करते हैं, किन्तु यह केवल दुर्बलो को पद-दलित करने के लिए। तुम अपने ईश्वर विषयक द्वैतवादात्मक विचार लेकर किसी बेचारे प्रतिमापूजक के साथ विवाद करने जा रहे हो, सोच रहे हो, तुम बडे युक्ति-वादी हो, उसे अनायास ही परास्त कर सकते हो, यदि वह उल्टे तुम्हारे ही वैयक्तिक

ईश्वर को उड़ा दे—उसे काल्पनिक कहे तो फिर तुम्हारी क्या दशा हो? तब तुम धर्म की दुहाई देने लगते हो अपने प्रतिद्वन्द्वी को नास्तिक नाम से पुकार कर चिल्ल-पों मचाने लगते हो और यह तो दुर्बल मनुष्यों का सदा ही नारा रहा है—जो मुझे परास्त करेगा वह घोर नास्तिक है! यदि युक्तिवादी होना चाहते हो तो आदि से अन्त तक युक्तिवादी ही बने रहो और अगर न रह सको तो तुम अपने लिए जितनी स्वाधीनता चाहते हो उतनी ही दूसरे को भी क्यों नही देते? तुम इस तरह के ईश्वर का अस्तित्व कैसे प्रमाणित करोगे? दूसरी ओर, यह प्राय अप्रमाणित किया जा सकता है। ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे रंचमात्र प्रमाण नहीं बल्कि नास्तित्व के सम्बन्ध में कुछ अति प्रबल प्रमाण है भी। तुम्हारा ईश्वर, उसके गुण द्रव्यस्वरूप असख्य जीवात्मा प्रत्येक जीवात्मा का एक व्यष्टि भाव इन सबको लेकर तुम उसका अस्तित्व कैसे प्रमाणित कर सकते हो? तुम व्यक्ति हो किस विषय में? देह के सम्बन्ध मे तुम व्यक्ति हो ही नही क्योंकि इस समय प्राचीन बौद्धों की अपेक्षा तुम्हें और अच्छी तरह मालूम है कि जो जड़राशि कभी सूर्य में रही होगी वही तुममें आ गयी है, और वही तुम्हारे भीतर से निकलकर वनस्पतियों में चली जा सकती है। इस तरह तुम्हारा व्यक्तित्व कहाँ रह जाता है? तुम्हारे भीतर आज रात एक तरह का विचार है तो कल सुबह दूसरी तरह का। तुम उसी रीति से अब विचार नहीं करते जिस रीति से बचपन मे करते थे कोई व्यक्ति अपनी युवावस्था में जिस ढंग से विचार करता था वैसे वृद्धावस्था में नही करता। तो फिर तुम्हारा व्यक्तित्व कहाँ रह जाता है? यह मत कहो कि ज्ञान मे ही तुम्हारा व्यक्तित्व है—ज्ञान अहंकार मात्र है और यह तुम्हारे प्रकृत अस्तित्व के एक बहुत छोटे अश मे व्याप्त है। जब मैं तुमसे बातचीत करता हूँ तब मेरी सभी इन्द्रियाँ काम करती रहती है, परन्तु उनके सम्बन्ध में मैं कुछ नही जान सकता। यदि वस्तु की सत्ता का प्रमाण ज्ञान ही हो तो कहना पड़ेगा कि उनका (इन्द्रियों का) अस्तित्व नहीं है, क्योंकि मुझे उनके अस्तित्व का ज्ञान नहीं रहता। तो अब तुम अपने वैयक्तिक ईश्वर सम्बन्धी सिद्धान्तों को लेकर कहाँ रह जाते हो? इस तरह का ईश्वर तुम कैसे प्रमाणित कर सकते हो?

फिर और, बौद्ध खड़े होकर यह घोषणा करेंगे कि यह केवल अयौक्तिक ही नहीं वरन् अनैतिक भी है क्योंकि यह मनुष्य को कापुरुष बन जाना और बाहर से सहायता लेने की प्रार्थना करना सिखलाता है— इस तरह कोई भी तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता। यह जो ब्रह्माण्ड है इसका निर्माण मनुष्य ने ही किया है। तो फिर बाहर क्यों एक काल्पनिक व्यक्ति विशेष पर विश्वास करते हो जिसे न कभी देखा न जिसका कभी अनुभव किया अथवा जिससे न कभी किसीको कोई सहायता

मिली ? क्यो फिर अपने को कापुरुष वना रहे हो और अपनी सन्तानो को सिखलाते हो कि कुत्ते की तरह हो जाना मनुष्य की सर्वोच्च अवस्था है, और चूंकि हम कमज़ोर, अपवित्र और ससार मे अत्यन्त हेय और अधम हैं, इसलिए इस काल्पनिक सत्ता के सामने घुटने टेककर बैठ जाना चाहिए ? दूसरी ओर, बौद्ध, तुमसे कहेगे, तुम अपने को इस तरह कहकर केवल झूठ ही नही कहते, किन्तु तुम अपनी सन्तानो के लिए घोर पाप का सचय कर रहे हो, क्योकि, स्मरण रहे, यह ससार एक प्रकार का सम्मोहन है, मनुष्य जैसा सोचते हैं, वैसे ही हो जाते हैं। अपने सम्बन्ध मे तुम जैसा कहोगे, वही बन जाओगे। भगवान् बुद्ध की पहली बात यह है —'तुमने अपने सम्बन्ध मे जो कुछ सोचा है, तुम वही हुए हो, भविष्य मे जो कुछ सोचोगे वैसे ही होगे।' यदि यह सत्य है तो कभी यह मत सोचना कि तुम कुछ नही हो, या जब तक तुम किसी दूसरे की, जो यहाँ नही रहता, स्वर्ग मे रहता है, सहायता नही पाते, तब तक कुछ नही कर सकते। इस तरह सोचने से उसका फल यह होगा कि तुम प्रतिदिन अधिकाधिक कमज़ोर होते जाओगे। 'हम महा अपवित्र हैं, हे प्रभो, हमे पवित्र करो'—इसका परिणाम होगा कि तुम अपने को हर प्रकार के पापो के लिए विवश कर दोगे। बौद्ध कहते हैं, प्रत्येक समाज मे जिन पापो को देखते हो, उसमे नब्बे फी सदी बुराइयाँ इसी वैयक्तिक ईश्वर की धारणा के कारण उत्पन्न हुई हैं, मनुष्य-जीवन का, अद्भुत मनुष्य-जीवन का, एकमात्र उद्देश्य एव लक्ष्य अपने को कुत्ते की तरह वना डालना—यह मनुष्य की एक भयानक धारणा है। वौद्ध वैष्णवो से कहते है, यदि तुम्हारा आदर्श, तुम्हारे जीवन का लक्ष्य और उद्देश्य भगवान् के वैकुठ नामक स्थान मे जाकर अनन्त काल तक हाथ जोडकर उनके सामने खडा रहना ही है तो इससे आत्महत्या कर डालना अधिक अच्छा है। वौद्ध यहाँ तक कह सकते हैं, इस भाव से वचने के लिए निर्वाण या विनाश की चेष्टा वे कर रहे हैं। मैं तुम लोगो के सामने ठीक बौद्धो की ही तरह ये वातें कह रहा हूँ, क्योकि आजकल लोग कहा करते है कि अद्वैतवाद से लोगो मे अनैतिकता घुस जाती है। इसलिए दूसरे पक्ष के लोगो का जो कुछ कहना है, वही मैं तुमसे कहने की चेष्टा कर रहा हूँ। हमे दोनो पक्षो पर निर्भीक भाव से विचार करना है।

एक वैयक्तिक ईश्वर ने ससार की सृष्टि की—इसे प्रमाणित नही किया जा सकता। यह हमने सर्वप्रथम समझ लिया। क्या एक वालक भी आजकल इस वात पर विश्वास कर सकता है ? चूंकि एक कुम्भकार ने घट का निर्माण किया, अतएव एक ईश्वर ने इस जगत् की सृष्टि की! यदि ऐसा ही हो तो ईश्वर भी तुम्हारा एक कुम्भकार ही हुआ! और यदि कोई तुमसे कहे कि सिर और हाथो के न रहने पर भी वह काम करता है, तो तुम उसे पागलखाने मे रखने की ठानोगे। तुम्हारे

ईश्वर ने—इस संसार के सृष्टिकर्ता वैयक्तिक ईश्वर ने जिसके पास तुम जीवन भर से चिल्ला रहे हो क्या कभी तुम्हें कोई सहायता दी? आधुनिक विज्ञान तुम लोगों के सामने यह एक और प्रश्न पेश करके उसके उत्तर के लिए चुनौती दे रहा है। वे प्रमाणित कर देंगे कि इस तरह की जो सहायता तुम्हें मिली है, उसे तुम अपनी ही चेष्टा से प्राप्त कर सकते थे। इस तरह के रोदन से वृथा शक्तिक्षय करने की तुम्हारे लिए कोई आवश्यकता न थी इस तरह न रोकर तुम अपना उद्देश्य अनायास ही प्राप्त कर सकते थे। और भी हम लोग पहले देख चुके हैं कि इस तरह के वैयक्तिक ईश्वर की धारणा से ही अत्याचार और पुरोहित-प्रपंच का आविर्भाव हुआ। जहाँ यह धारणा विद्यमान थी वहाँ अत्याचार और पुरोहित प्रपंच प्रचलित थे और बौद्धों का कथन है कि जब तक यह मिथ्या भाव जड़ समेत नष्ट नहीं होता तब तक यह अत्याचार बन्द नहीं हो सकता। जब तक मनुष्य सोचता है कि किसी दूसरे अलौकिक पुरुष के सामने उसे विनीत भाव से रहना होगा तब तक पुरोहित का अस्तित्व अवश्य रहेगा। वे विशेष अधिकार या दावे पेश करेंगे ऐसी चेष्टा करेंगे जिससे मनुष्य उनके सामने सिर झुकाये और बेचारे असहाय व्यक्ति मध्यस्थता करने के लिए पुरोहितों के प्रार्थी बने रहेंगे। तुम लोग ब्राह्मणों को निर्मूल कर सकते हो परन्तु इस बात पर ध्यान रखो कि जो लोग ऐसा करेंगे वे ही उनके स्थान पर अपना अधिकार जमायेंगे और वे फिर ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक अत्याचारी बन जायँगे। क्योंकि ब्राह्मणों में फिर भी कुछ उदारता है, परन्तु ये स्वयंसिद्ध ब्राह्मण सदा से ही बड़े दुराचारी हुआ करते हैं। भिक्षुक को यदि कुछ धन मिल जाय तो वह सम्पूर्ण संसार को एक तिनके के बराबर समझता है। अतएव जब तक इस वैयक्तिक ईश्वर की धारणा बनी रहेगी तब तक ये सब पुरोहित भी रहेंगे। और समाज में किसी तरह की उच्च नैतिकता की आशा भी ही नहीं जा सकेगी। पुरोहित-प्रपंच और अत्याचार सदा एक साथ रहेंगे। क्यों लोगों ने इस वैयक्तिक ईश्वर की कल्पना की? कारण इसका यह है कि प्राचीन समय में कुछ बलवान मनुष्यों ने साधारण मनुष्यों को अपने वश में लाकर उनसे कहा था तुम्हें हमारा आदेश मानकर चलना होगा नहीं तो हम तुम्हारा नाश कर डालेंगे। यही इसका अर्थ और इति है। इसका कोई दूसरा कारण नहीं—महद्भयं वज्रमुद्यतम्—एक ऐसा पुरुष है जो हाथ में सदा ही वज्र लिये रहता है, और जो उसकी आज्ञा का उल्लंघन करता है, उसका वह तत्काल विनाश कर डालता है।

इसके बाद बौद्ध कहते हैं तुम्हारा यह कथन पूर्णतया युक्तिसम्मत है कि सब कुछ कर्मवाद का फल है। तुम लोग अनन्त जीवात्माओं के सम्बन्ध में विश्वास करते हो और तुम्हारे मत में इस जीवात्मा का न जन्म है, न मृत्यु। यहाँ तक तो तुम्हारे

के नाम से कुछ भी नही रह जाता, कारण व्यक्तित्व के नाम से ऐसा कुछ सूचित होता है, जो अपरिणामी है। परिवर्तनशील व्यक्तित्व हो ही नही सकता, यह स्वविरोधी वाक्य है। इसलिए हमारे इस क्षुद्र जगत् मे व्यक्तित्व के नाम से कुछ भी नही रह जाता। विचार, भाव, मन, शरीर, जीव-जन्तु और वनस्पति— इनका सदा ही परिवर्तन होता रहता है। अस्तु। अब सम्पूर्ण विश्व को एक समष्टि की इकाई के रूप मे ग्रहण करो। क्या यह परिवर्तित या गतिशील हो सकती है? कदापि नही। किसी अल्प गतिशील या सम्पूर्ण गतिहीन वस्तु से तुलना करने पर ही गति का निश्चय होता है। अत समष्टि के रूप मे विश्व गति और परिणाम से रहित है। यहाँ मालूम हो जाता है कि जब तुम अपने को सम्पूर्ण विश्व से अभिन्न समझोगे, जब 'मैं ही विश्वब्रह्माण्ड हूँ' यह अनुभव होगा, तभी—केवल तभी, तुम्हारे यथार्थ व्यक्तित्व का विकास होगा। यही कारण है कि अद्वैतवादी कहते है, जब तक द्वैत है, तब तक भय से छूटने का कोई उपाय नही है। जब कोई दूसरी वस्तु दिखलायी नही पडती, किसी भिन्न भाव का अनुभव नही होता, जब केवल एक ही सत्ता रह जाती है, तभी भय दूर होता है, तभी मनुष्य मृत्यु के पार जा सकता है। और तभी ससार-बोध लोप हो जाता है। अद्वैतवाद हमे यह शिक्षा देता है कि मनुष्य का यथार्थ व्यक्तित्व है समष्टि-ज्ञान मे, व्यष्टि-ज्ञान मे नही। जब तुम अपने को सम्पूर्ण समझोगे, तभी तुम अमर होगे। तभी तुम निर्भय और अमृतस्वरूप हो सकोगे, जब विश्व, ब्रह्माण्ड और तुम एक हो जाओगे, और तभी जिसे तुम परमात्मा कहते हो, जिसे सत्ता कहते हो और जिसे पूर्ण कहते हो, वह विश्व से एक हो जायगा। और हमारी तरह की मनोवृत्तिवाले लोग एक ही अखड सत्ता को विविधतापूर्ण विश्व के रूप मे देखते हैं। जो लोग कुछ और अच्छे कर्म करते हैं तथा उन्ही सत्कर्मों के वल से जिनकी मनोवृत्ति कुछ और उत्तम हो जाती है, वे मृत्यु के पश्चात् इसी ब्रह्माण्ड मे इन्द्रादि देवो का स्वर्गलोक देखते हैं। उनसे भी ऊँचे लोग इसमे ही ब्रह्म-लोक देखते हैं। और जो लोग पूर्ण सिद्ध हो गये है, वे पृथ्वी, स्वर्ग या कोई दूसरा लोक नही देखते, उनके लिए यह ब्रह्माण्ड अन्तर्हित हो जाता है, उसकी जगह एकमात्र ब्रह्म ही विराजमान रहता है।

क्या हम इस ब्रह्म को जान सकते हैं? मैंने तुमसे पहले ही सहिता मे अनन्त के वर्णन की कथा कही है। यहाँ हमको उसका ठीक विपरीत पक्ष मिलता है—यहाँ आन्तरिक अनन्त है। सहिता मे वहिर्जगत् के अनन्त का वर्णन है। यहाँ चिन्तन-जगत्, भाव-जगत् के अनन्त का वर्णन है। सहिता मे अस्तिभाव का वोध करानेवाली भापा मे अनन्त के वर्णन की चेप्टा हुई थी, यहाँ उस भापा से काम नही निकला, नास्तिभावात्मक या

दार्शनिकों के मस्तिष्क में एक दार्शनिक व्यापार मात्र है, क्योंकि द्रव्य और गुण के नामों से वास्तव में किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं है। यदि तुम एक साधारण मनुष्य हो तो तुम केवल गुणराशि देखोगे और यदि तुम कोई बड़े योगी हो तो तुम द्रव्य का ही अस्तित्व देखोगे, परन्तु दोनों को एक ही समय में तुम कदापि नहीं देख सकते। अतएव है बौद्ध, द्रव्य और गुण को लेकर तुम जो विवाद कर रहे हो, सच तो यह है कि वह बेबुनियाद है। परन्तु, यदि द्रव्य गुणरहित है तो केवल एक ही द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि तुम आत्मा से गुणराशि उठा लो और यह सिद्ध करो कि गुणराशि का अस्तित्व मन में ही है, आत्मा पर उसका आरोप मात्र किया गया है, तो तो आत्मा भी नहीं रह जाती, क्योंकि एक आत्मा से दूसरी आत्मा की विशेषता गुणों ही की बदौलत सिद्ध होती है। तुम्हें कैसे मालूम होता है कि एक आत्मा दूसरी आत्मा से पृथक् है?—कुछ भेदात्मक चिह्नों, कुछ गुणों के कारण। और जहाँ गुणों की सत्ता नहीं है, वहाँ कैसे भेद रह सकता है? अतः आत्मा दो नहीं, आत्मा 'एक' ही है, और तुम्हारा परमात्मा अनावश्यक है, वह आत्मा ही है। इसी एक आत्मा को परमात्मा कहते हैं, इसे जीवात्मा और दूसरे नामों से भी पुकारते हैं। और हे सांख्य तथा अपर द्वैतवादियो, तुम लोग कहते रहते हो—आत्मा सर्वव्यापी विभु है, इस पर तुम लोग किस तरह अनेक आत्माओं का अस्तित्व स्वीकार करते हो? असीम क्या कभी दो हो सकते हैं? एक होना ही सम्भव है। एक ही असीम आत्मा है और सब उसी की अभिव्यक्तियाँ हैं। इसके उत्तर में बौद्ध मौन हैं, परन्तु अद्वैतवादी चुप नहीं रह जाते।

दुर्बल मतों की तरह केवल दूसरे मतों की समालोचना करके ही अद्वैत पक्ष निरस्त नहीं होता। अद्वैतवादी तभी उन सभी मतों की समालोचना करते हैं जब वे उसके बहुत निकट आ जाते हैं और उसके खंडन की चेष्टा करते हैं। वह सिर्फ इतना ही करता है कि दूसरे मतों का निराकरण कर अपने सिद्धान्त को स्थापित करता है। एकमात्र अद्वैतवादी ही ऐसा है, जो दूसरे मतों का खंडन तो करता है, परन्तु दूसरों की तरह उसके खंडन का आधार शास्त्रों की दुहाई देना नहीं है। अद्वैतवादियों की युक्ति इस प्रकार है, वे कहते हैं, तुम संसार को एक अविराम गति प्रवाह मात्र कहते हो, ठीक है, समष्टि में सब गतिशील है भी, तुममें भी गति है और मेज में भी गति है, गति सर्वत्र है। इसलिए इसका नाम संसार है, इसलिए इसका नाम जगत् है—अविराम गति।[1] यदि यही है तो हमारे संसार में व्यक्तित्व

---

१ सृ धातु का अर्थ 'सरकना' या 'गति' होना है और जगत् में गम् धातु क्विप् प्रत्यय के साथ है।

यही वैराग्य का मूल मन्त्र है, यही सब तरह की नैतिकताओ और नि:श्रेयस् का मूल मन्त्र है, क्योकि तुम्हे स्मरण रखना चाहिए कि त्याग-तपस्या से ही ससार की सृष्टि हुई है। और जितना ही पीछे की ओर तुम जाओगे उसी क्रम से तुम्हारे सामने भिन्न भिन्न रूप, भिन्न भिन्न देह अभिव्यक्त होते रहेगे और एक एक करके उनका त्याग होगा, अन्त मे तुम वास्तव मे जो कुछ हो, वही रह जाओगे, यही मोक्ष या मुक्ति है।

यह तत्त्व हमे समझ लेना चाहिए, **विज्ञातारमरे केन विजानीयात**—'विज्ञाता को कैसे जानोगे?' ज्ञाता को कोई जान नही सकता, क्योकि यदि वह समझ मे आने योग्य होता, तो वह कभी ज्ञाता न रह जाता। और यदि तुम आइने मे अपनी आँखो का बिम्ब देखो, तो तुम उन्हे अपनी आँखें नही कह सकते, वे कुछ और ही हैं, वे बिम्बमात्र हैं। अब बात यह है कि यदि यह आत्मा—यह अनन्त सर्वव्यापी पुरुष साक्षी मात्र हो, तो इससे क्या हुआ? यह हमारी तरह न चल फिर सकता है, न जीता है, न ससार का सम्भोग ही कर सकता है। यह बात लोगो की समझ मे नही आती कि जो साक्षी स्वरूप है, वह किस तरह आनन्द का उपभोग कर सकता है। "हे हिन्दुओ, तुम सब साक्षी स्वरूप हो, इस मत से तुम लोग निष्क्रिय और अकर्मण्य हो गये हो"—यह बात लोग कहा करते हैं। उनकी इस बात का उत्तर यह है, 'जो साक्षीस्वरूप है, वही वास्तव मे आनन्दोपभोग कर सकता है।' अगर कही कुश्ती लडी जाती है तो अधिक आनन्द किन्हे मिलता है?—जो लोग कुश्ती लड रहे हैं उन्हे या जो दर्शक हैं उन्हे? इस जीवन मे जितना ही तुम किसी विषय मे साक्षी स्वरूप हो सकोगे उतना ही तुम्हे उससे अधिक आनन्द मिलता रहेगा। यथार्थ आनन्द यही है और इस युक्ति से तुम्हारे लिए अनन्त आनन्द की प्राप्ति तभी सम्भव है, जब तुम इस विश्व ब्रह्माड के साक्षी स्वरूप हो सको। तभी मुक्त पुरुप हो सकोगे। जो साक्षी स्वरूप है, वही निष्काम भाव से स्वर्ग जाने की इच्छा न रख, निन्दा-स्तुति को समदृष्टि से देखता हुआ कार्य कर सकता है। जो साक्षी स्वरूप है, आनन्द वही पा सकता है, दूसरा नही। अद्वैतवाद के नैतिक भाग की विवेचना करते समय उसके दार्शनिक तया नैतिक भाग के अन्तर्गत एक और विषय आ जाता है, वह मायावाद है। अद्वैतवाद के अन्तर्गत एक एक विषय के समझने मे ही वर्पो लग जाते हैं और व्याख्या करने मे महीनो लग जाते है, इसलिए इसका मैं उल्लेख मात्र ही करूँगा। इस मायावाद को समझना सभी युगो मे बडा कठिन रहा है। मैं तुमसे सक्षेप मे कहता हूँ, मायावाद वास्तव मे कोई वाद या मत विशेप नही है, वह देश, काल और निमित्त की समष्टि मात्र है—

'नेति-नेति' की भाषा में अनन्त के वर्णन का प्रयत्न किया गया। यह विश्व ब्रह्मांड है माना कि यह ब्रह्म है। क्या हम इसे जान सकते हैं? नहीं—नहीं जान सकते। तुम्हें इस विषय को स्पष्ट रीति से फिर समझना होगा। तुम्हारे मन में बार बार इस सन्देह का आविर्भाव होगा कि यदि यह ब्रह्म है तो किस तरह हम इसे जान सकते हैं। विज्ञातारमरे केन विजानीयात्। (बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।१४)—'विज्ञाता को किस तरह जाना जाता है? विज्ञाता को कैसे जान सकते हैं? आँखें सब वस्तुओं को देखती हैं पर क्या वे अपने को भी देख सकती हैं? नहीं देख सकतीं। ज्ञान की क्रिया ही एक नीची अवस्था है। ऐ आर्य सन्तानो तुम्हें यह विषय अच्छी तरह याद रखना चाहिए, क्योंकि इस तत्त्व में महान् तथ्य निहित है। तुम्हारे निकट पश्चिम के जो सार प्रलोभन आया करते हैं, उनकी दार्शनिक बुनियाद एक यही है कि इन्द्रिय-ज्ञान से बढ़कर दूसरा ज्ञान नहीं है पूर्व में हमारे वेदों में कहा गया है कि यह वस्तु-ज्ञान वस्तु की अपेक्षा नीचे दर्जे का है, क्योंकि ज्ञान के अर्थ से सदा ससीम भाव ही समझ में आता है। जब कभी तुम किसी वस्तु को जानना चाहते हो तभी वह तुम्हारे मन से सीमाबद्ध हो जाती है। पूर्व कथित दृष्टान्त में जिस तरह शुक्ति से मुक्ता बनती है उस पर विचार करो तभी समझोगे कि ज्ञान का अर्थ सीमाबद्ध करना कैसे हुआ। किसी वस्तु को चुनकर तुम उसे चेतना के घेरे में ले आते हो और उसको सम्पूर्ण भाव से जान नहीं पाते हो। यही बात समस्त ज्ञान के सम्बन्ध में ठीक है। यदि ज्ञान का अर्थ सीमाबद्ध करना ही हो तो क्या उस अनन्त के सम्बन्ध में भी तुम ऐसा कर सकते हो? जो सब ज्ञानों का उपादान (आधार) है जिसे छोड़कर तुम किसी तरह का ज्ञान अर्जित नहीं कर सकते जिसमें कोई गुण नहीं है जो सम्पूर्ण संसार और हम लोगों की आत्मा का साक्षी स्वरूप है उसके सम्बन्ध में तुम वैसा कैसे कर सकते हो—उस तुम कैसे सीमा में ला सकते हो? उसे तुम कैसे जान सकते हो? किस उपाय से उसे बाँधोगे? हर एक वस्तु, यह सम्पूर्ण संसार प्रपंच उस अनन्त के जानने की वृथा चेष्टा मात्र है। मानो यह अनन्त आत्मा अपने मुखावलोकन की चेष्टा कर रही है और सर्वोच्च देवता से लेकर निम्नतम प्राणी तक सभी मानो उसके मुख का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के दर्पण हैं। एक एक करके एक एक दर्पण में अपने मुख का प्रतिबिम्ब देखने की चेष्टा करके उसे उपयुक्त न देख अन्त में मनुष्य देह में आत्मा समझ पाती है कि यह सब ससीम है, और अनन्त कभी सान्त के भीतर अपने को प्रकाशित नहीं कर सकता। उसी समय पीछे की ओर की यात्रा शुरू होती है और इसीको त्याग या वैराग्य कहते हैं। इन्द्रियों से पीछे हट जाओ इन्द्रियों की ओर मत जाओ

गयी है। परन्तु इस पर ध्यान रहे कि यह ईश्वर केवल सम्पूर्ण कल्याणकारी गुणो का ही आधार नही है। ईश्वर और शैतान—दो देवता नही रह सकते, एक ही ईश्वर का अस्तित्व मानना पडेगा और हिम्मत बाँधकर भला और बुरा उसी ईश्वर को मानना पडेगा, और यह युक्तिसम्मत सिद्धान्त मान लेने पर जो कुछ ठहरता है, उसे भी लेना होगा। हम 'चडी' मे पढते है, 'जो देवी सभी प्राणियो मे शान्ति के रूप मे अवस्थित है, उसे हम नमस्कार करते हैं। जो देवी सभी प्राणियो मे शुद्धिरूपा होकर स्थित है, उसे हम नमस्कार करते है।"[1] उन्हे सर्वस्वरूप कहने से उसका फल चाहे जैसा हो, साथ ही उसे भी लेना होगा। 'हे गार्गि, सब कुछ आनन्द है, इस ससार मे जो कुछ आनन्द देख रही हो, सब उसी आध्यात्मिक तत्त्व का अश है।' इसकी सहायता से तुम हर एक काम कर सकते हो। मेरे सामने के इस प्रकाश मे चाहे तुम किसी गरीब को हजार रुपये गिन दो और चाहे कोई दूसरा इसी प्रकाश मे तुम्हारा जाली हस्ताक्षर करे, प्रकाश दोनो ही के लिए बराबर है। यह हुआ ईश्वर-ज्ञान का दूसरा सोपान। तीसरा सोपान यह है कि ईश्वर न तो प्रकृति के बाहर ही है और न भीतर ही, बल्कि ईश्वर प्रकृति, आत्मा, विश्व—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। दो वस्तुएँ वास्तव मे हैं ही नही, कुछ दार्शनिक शब्दो ने ही तुम्हे धोखा दिया है। तुम सोच रहे हो, तुम शरीर भी हो और आत्मा भी हो, और एक साथ ही तुम शरीर और आत्मा बन गये हो। यह कैसे हो सकता है? मन ही मन इसकी जाँच करो। यदि तुम लोगो मे कोई योगी होगा तो वह अपने को चैतन्य स्वरूप जानता होगा, उसके लिए शरीर है ही नही। यदि तुम साधारण मनुष्य होगे तो तुम अपने को देह सोचोगे, उस समय चैतन्य के सम्पूर्ण ज्ञान का लोप हो जायगा। मनुष्य के देह है, आत्मा है, और भी बहुत सी चीजें हैं—इन सब दार्शनिक धाराओ के रहने के कारण तुम लोग सोचते होगे कि ये सब एक ही समय मे मौजूद हैं, परन्तु ऐसा नही है। एक समय मे एक वस्तु का अस्तित्व है। जब तुम जड वस्तु देख रहे हो, तब ईश्वर की चर्चा मत करो, क्योकि तुम केवल कार्य ही देख रहे हो, उसका कारण तुम्हे नहीं दिखायी पडता। और जिस समय तुम कारण

---

१ या देवी सर्वभूतेषु शान्तिरूपेण सस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नम ॥
या देवी सर्वभूतेषु शुद्धिरूपेण सस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नम ॥
—चडी ५।४७-९, ५।७४-६॥

और इस देश काल निमित्त को मायें नाम-रूप में परिणत किया गया है। मान लो समुद्र में एक तरंग है। समुद्र से समुद्र की तरंगों का भेद सिर्फ नाम और रूप में है, और इस नाम और रूप की तरंग से पृथक कोई सत्ता भी नहीं है, नाम और रूप दोनों तरंग के साथ ही हैं, तरंगें विलीन हो जा सकती हैं और तरंग में जो नाम और रूप हैं, वे भी चाहे चिर काल के लिए विलीन हो जायँ पर पानी पहले की तरह सम मात्रा में ही बना रहेगा। इस प्रकार यह माया ही तुममें और हममें पशुओं में और मनुष्यों में देवताओं में और मनुष्यों में भेद भाव पैदा करती है। सच तो यह है कि यह माया ही है जिसने आत्मा को मानो लाखों प्राणियों में बाँध रखा है और उनकी परस्पर भिन्नता का बोध नाम और रूप से ही होता है। यदि उनका त्याग कर दिया जाय नाम और रूप दूर कर दिये जायें तो वह सदा के लिए अन्तर्हित हो जायगी तब तुम वास्तव में जो कुछ हो वही रह जाओगे। यही माया है। और फिर यह कोई सिद्धान्त भी नहीं है केवल तथ्यों का कथन मात्र है।

जब कोई यथार्थवादी कहता है कि इस मेज का अस्तित्व है तब उसके कहने का अभिप्राय होता है कि उस मेज की अपनी एक खास निरपेक्ष सत्ता है, उसका अस्तित्व संसार की किसी भी दूसरी वस्तु पर अवलम्बित नहीं और यदि यह सम्पूर्ण विश्व नष्ट हो जाय तो भी वह ज्यों की त्यों ही बनी रहेगी। कुछ थोड़ा सा विचार करने पर ही तुम्हारी समझ में आ जायगा कि ऐसा कभी हो नहीं सकता। इस इन्द्रियग्राह्य संसार की सभी चीजें एक दूसरी पर अवलम्बित हैं वे एक दूसरी की अपेक्षा रखती हैं; वे सापेक्ष और परस्पर सम्बन्धित हैं—एक का अस्तित्व दूसरे पर निर्भर है। हमारे वस्तु-ज्ञान के तीन सोपान हैं। पहला यह है कि प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है और एक दूसरी से अलग है दूसरा यह कि सभी वस्तुओं में पारस्परिक सम्बन्ध है और अन्तिम सोपान यह है कि वस्तु एक ही है जिसे हम लोग अनेक रूपों में देख रहे हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में अज्ञ मनुष्य की पहली धारणा यह होती है कि वह इस ब्रह्मांड के बाहर कहीं रहता है जिसका मतलब है कि उस समय का ईश्वर विषयक ज्ञान पूर्णतः मानवीय होता है अर्थात् जो कुछ मनुष्य करते हैं ईश्वर भी वही करता है, भेद केवल यही है कि ईश्वर के कार्य अधिक बड़े पैमाने पर तथा अधिक उच्च प्रकार के होते हैं। हम लोग यह समझ चुके हैं कि ईश्वर सम्बन्धी ऐसी धारणा थोड़े ही शब्दों में कैसे अयौक्तिक और अपर्याप्त प्रमाणित की जा सकती है। ईश्वर के सम्बन्ध में दूसरी धारणा यह है कि वह एक शक्ति है और उसीकी सर्वत्र अभिव्यक्ति है। इसे वास्तव में हम सगुण ईश्वर कह सकते हैं 'चंडी' में इसी ईश्वर की बात कही

गयी है। परन्तु इस पर ध्यान रहे कि यह ईश्वर केवल सम्पूर्ण कल्याणकारी गुणो का ही आधार नही है। ईश्वर और शैतान—दो देवता नही रह सकते, एक ही ईश्वर का अस्तित्व मानना पडेगा और हिम्मत बाँधकर भला और बुरा उसी ईश्वर को मानना पडेगा, और यह युक्तिसम्मत सिद्धान्त मान लेने पर जो कुछ ठहरता है, उसे भी लेना होगा। हम 'चडी' मे पढते हैं, 'जो देवी सभी प्राणियो मे शान्ति के रूप मे अवस्थित है, उसे हम नमस्कार करते हैं। जो देवी सभी प्राणियो मे शुद्धिरूपा होकर स्थित है, उसे हम नमस्कार करते हैं।'[1] उन्हे सर्वस्वरूप कहने से उसका फल चाहे जैसा हो, साथ ही उसे भी लेना होगा। 'हे गार्गि, सब कुछ आनन्द है, इस ससार मे जो कुछ आनन्द देख रही हो, सब उसी आध्यात्मिक तत्त्व का अश है।' इसकी सहायता से तुम हर एक काम कर सकते हो। मेरे सामने के इस प्रकाश मे चाहे तुम किसी गरीब को हजार रुपये गिन दो और चाहे कोई दूसरा इसी प्रकाश मे तुम्हारा जाली हस्ताक्षर करे, प्रकाश दोनो ही के लिए बराबर है। यह हुआ ईश्वर-ज्ञान का दूसरा सोपान। तीसरा सोपान यह है कि ईश्वर न तो प्रकृति के बाहर ही है और न भीतर ही, बल्कि ईश्वर प्रकृति, आत्मा, विश्व—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। दो वस्तुएँ वास्तव मे हैं ही नही, कुछ दार्शनिक शब्दो ने ही तुम्हे धोखा दिया है। तुम सोच रहे हो, तुम शरीर भी हो और आत्मा भी हो, और एक साथ ही तुम शरीर और आत्मा बन गये हो। यह कैसे हो सकता है? मन ही मन इसकी जांच करो। यदि तुम लोगो मे कोई योगी होगा तो वह अपने को चैतन्य स्वरूप जानता होगा, उसके लिए शरीर है ही नही। यदि तुम साधारण मनुष्य होगे तो तुम अपने को देह सोचोगे, उस समय चैतन्य के सम्पूर्ण ज्ञान का लोप हो जायगा। मनुष्य के देह है, आत्मा है, और भी बहुत सी चीजें हैं—इन सब दार्शनिक धाराओ के रहने के कारण तुम लोग सोचते होगे कि ये सब एक ही समय मे मौजूद हैं, परन्तु ऐसा नही है। एक समय मे एक वस्तु का अस्तित्व है। जब तुम जड वस्तु देख रहे हो, तब ईश्वर की चर्चा मत करो, क्योकि तुम केवल कार्य ही देख रहे हो, उसका कारण तुम्हे नही दिखायी पडता। और जिस समय तुम कारण

---

१ या देवी सर्वभूतेषु शान्तिरूपेण सस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नम ॥
या देवी सर्वभूतेषु शुद्धिरूपेण सस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नम ॥
—चडी ५।४७-९, ५।७४-६॥

देखोगे उस समय कार्य का लोप हो जायगा। तब यह संसार न जाने कहाँ चला जाता है, न जाने कौन इसका ग्रास कर लेता है!

हे महात्मन् हे तत्त्ववित् समाधि अवस्था में ज्ञानी के हृदय में अनिर्वचनीय केवल आनन्दस्वरूप उपमारहित अपार, नित्यमुक्त निष्क्रिय असीम आकाशतुल्य अंशहीन भेदरहित पूर्णस्वरूप ऐसा ही ब्रह्म प्रकाशमान होता है।

हे महात्मन् हे तत्त्ववित् समाधि अवस्था में ज्ञानी के हृदय में ऐसा पूर्ण ब्रह्म प्रकाशमान होता है जो प्रकृति की विकृति से रहित है अचिन्त्य स्वरूप है, समभाव होने पर भी जिसकी समता करनेवाला कोई नहीं है, जिसमें किसी तरह के परिमाण का सम्बन्ध नहीं है (जो अपरिमेय है) जो वेद-वाक्यों द्वारा सिद्ध है और जिसे हम अपनी सत्ता कहते हैं तथा जो उसका सार है।

हे महात्मन् हे तत्त्ववित् समाधि अवस्था में ज्ञानी के हृदय में ऐसा ब्रह्म प्रकाशमान होता है, जो जरा और मृत्यु से रहित है, जो पूर्ण अक्षय और अनुपमनीय है और जो महाप्रलयकालीन जलप्लावन में निमग्न उस समस्त विश्व के सदृश है जिसके ऊपर, नीचे चारों तरफ जल ही जल है और जल की सतह पर तरंग की कौन कहे एक छोटी सी लहर भी नहीं है—निस्तब्धता और शान्ति है समस्त दर्शन आदि का अन्त हो गया है मूर्खों तथा सन्तों के सभी लड़ाई झगड़ों और युद्धों का सदा के लिए अन्त हो गया है।

मनुष्य की ऐसी अवस्था भी होती है, और जब यह अवस्था आती है तब संसार विलीन हो जाता है।

अब हमने देखा कि सत्यस्वरूप ब्रह्म अज्ञात और अज्ञेय है, परन्तु अज्ञेयवादियों की दृष्टि से नहीं। हम 'उसे' जान गये यह कहना ही पापपूर्ण बात है क्योंकि पहले ही से तुम वही (ब्रह्म) हो। हमने यह भी देखा है कि एक तरीके से ब्रह्म यह मेज नहीं है फिर दूसरे तरीके से वह मेज है भी। नाम और रूप उठा लो फिर जो सत्य वस्तु बची रहती है वह वही है। वह हर एक वस्तु के भीतर सत्यस्वरूप है।

'तुम्ही स्त्री हो पुरुष भी तुम्ही हो तुम कुमार, तुम्हीं कुमारी भी हो और तुम्ही दण्ड का सहारा लिए हुए वृद्ध हो, विश्व में सर्वत्र तुम ही हो।

---

१ द्र विवेकचूडामणि ॥४ ८-४१ ॥

२ त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।३॥

अद्वैतवाद का यही विषय है। इस सम्बन्ध मे कुछ बातें और हैं। इस अद्वैतवाद से सभी वस्तुओ के मूल तत्त्व की व्याख्या मिल जाती है। हमने देखा है, तर्कशास्त्र और विज्ञान के आक्रमणो के विरोध मे हम केवल इसी अद्वैतवाद को लेकर खडे हो सकते हैं। अन्त मे सारे तर्कों को यहीं ठहरने की एक दृढ भूमि मिलती है। भारतीय वेदान्ती अपने सिद्धान्त के पूर्ववर्ती सोपानो पर कभी दोषारोपण नहीं करते, वल्कि वे अपने सिद्धान्त पर ठहर कर, उन पर नज़र डालते हुए, उनका समर्थन करते हैं, वे जानते है, वे सत्य हैं, सिर्फ वे गलत ढग से उपलब्ध हुए हैं—भ्रम के आधार पर उनका वर्णन किया गया है। वे भी वही सत्य हैं, अन्तर इतना ही है कि वे माया के माध्यम से देखे गये हैं, कुछ विकृत होने पर भी वे सत्य—केवल सत्य ही है। एक ही ब्रह्म है, जिसे अज्ञ प्रकृति के वाहर किसी स्थान मे अवस्थित देखता है, जिसे अल्पज्ञ ससार का अन्तर्यामी देखता है, जिसका अनुभव ज्ञानी आत्मस्वरूप या सम्पूर्ण ससार के स्वरूप मे करता है। यह सब एक ही वस्तु है, एक ही वस्तु भिन्न भिन्न भावो से दृष्टिगोचर हो रही है, माया के विभिन्न शीशो के भीतर से दिखायी दे रही है, विभिन्न मन से दिखायी दे रही है, और पृथक् पृथक् मन से दिखायी देने के कारण ही यह सब विभिन्नता है। केवल इतना ही नही, उनमे से एक भाव दूसरे मे ले जाता है। विज्ञान और सामान्य ज्ञान मे क्या भेद है? रास्ते पर जब कभी कोई असाधारण घटना घट जाती है तो पथिको मे से किसी से उसका कारण पूछो। दस आदमियो मे से कम से कम नौ आदमी कहेगे, यह घटना भूतो की करामात है। वे वाहर सदा भूत-प्रेतो के पीछे दौडते हैं, क्योकि अज्ञान का स्वभाव ही है कार्य के वाहर कारण की खोज करना। एक पत्थर गिरने पर अज्ञ कहता है, भूत या शैतान का फेंका हुआ पत्थर है। परन्तु वैज्ञानिक कहता है वह प्रकृति का नियम या गुरुत्वाकर्षण है।

विज्ञान और धर्म मे सर्वत्र कौन सा विरोध है? प्रचलित धर्म जितने हैं, सभी वहिरागत व्याख्या द्वारा आच्छन्न हैं। सूर्य के अधिष्ठाता देवता, चन्द्र के अधिष्ठाता देवता—इस तरह के अनन्त देवता हैं, और जितनी घटनाएँ हो रही हैं, सब कोई न कोई देवता या भूत ही कर रहा है, इसका साराश यही है कि किसी विषय के कारण की खोज उसके वाहर की जाती है, और विज्ञान का अर्थ यह है कि किसी वस्तु के कारण की व्याख्या उसी प्रकृति से की जाती है। धीरे धीरे विज्ञान ज्यो ज्यो प्रगति कर रहा है, त्यो त्यो वह प्राकृतिक घटनाओ की व्याख्या भूत-प्रेतो और देवदूतो के हाथ से छीनता जा रहा है। और चूँकि आध्यात्मिक क्षेत्र मे अद्वैतवाद इसकी साधना कर चुका है, इसलिए यही सवसे अधिक विज्ञान-सम्मत धर्म है। इस जगत् को विश्व के वाहर के किसी ईश्वर ने नही वनाया,

संसार के बाहर की किसी प्रतिमा ने इसकी सृष्टि नहीं की। वह आप ही आप सृष्ट हो रहा है, आप ही आप उसकी अभिव्यक्ति हो रही है आप ही आप उसका प्रलय हो रहा है—एक ही अनन्त सत्ता ब्रह्म है। तत्त्वमसि श्वेतकेतो 'हे श्वेतकेतो तुम वही हो।

इस तरह तुम देख रहे हो यही एकमात्र यही वैज्ञानिक धर्म बन सकता है, कोई दूसरा नहीं। और इस अर्धशिक्षित वर्तमान भारत में आजकल प्रतिदिन विज्ञान की जो बकवास चल रही है प्रतिदिन मैं जिस युक्तिवाद और विचार शीलता की दुहाई सुन रहा हूँ उससे मुझे आशा है तुम्हारे समस्त सम्प्रदाय अद्वैतवादी होंगे और बुद्ध के शब्दों में बहुजनहिताय बहुजनसुखाय संसार मे इस अद्वैतवाद का प्रचार करने का साहस करेंगे। यदि तुम ऐसा न कर सको तो मैं तुम्हें डरपोक समझूँगा। यदि तुमने अपनी कायरता दूर नहीं की यदि अपने भय को तुमने बहाना बना लिया तो दूसरे को भी वैसी ही स्वाधीनता दो। बेचारे मूर्तिपूजक को बिल्कुल उड़ा देने की चेष्टा न करो उसे शैतान मत कहो। जो तुम्हारे साथ पूर्णतया सहमत न हो उसीके पास अपना मत प्रचार करने के लिए न जाओ। पहले यह समझो कि तुम खूब कायर हो और यदि तुम्हें समाज का भय है यदि तुम्हें अपने ही प्राचीन कुसंस्कारों का इतना भय है तो यह भी सोच लो कि जो लोग अज्ञ हैं उन्हें अपने कुसंस्कारों का और कितना अधिक भय और बन्धन होगा। अद्वैतवादियों की यही बात है। दूसरों पर दया करो। परमात्मा करे कल ही सम्पूर्ण संसार केवल मत में ही नहीं अनुभूति के सम्बन्ध में भी अद्वैतवादी हो जाय। परन्तु यदि वैसा नहीं हो सकता तो हमको जो अच्छा करते बने वही करना चाहिए। अज्ञ का हाथ पकड़कर उनकी शक्ति के अनुसार उन्हें धीरे धीरे आगे ले चलो, जितना वे आगे बढ़ सकते हैं। और समझो कि भारत में सभी धर्मों का विकास क्रमोन्नति के नियमानुसार धीरे धीरे हुआ है। बात ऐसी नहीं कि बुरे से भला हो रहा है, बल्कि भले से और भी भला हो रहा है।

अद्वैतवाद के नैतिक सम्बन्धों के विषय में कुछ और कहना आवश्यक है। हमारे लड़के आजकल प्रमुदित भाव से बातचीत करते हैं—किसीसे उन लोगों ने सुना होगा परमात्मा जाने किससे सुना—कि अद्वैतवाद से लोग दुराचारी हो जाते हैं क्योंकि अद्वैतवाद सिखलाता है कि हम सब एक हैं, सभी ईश्वर हैं अतएव हमें अब सदाचार अपनाने की कोई आवश्यकता नहीं। इस बात के उत्तर में पहले तो यही कहना है कि यह युक्ति पशुप्रकृति मनुष्य के मुख में शोभा देती है, कशाघात के बिना जिसके दमन करने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। यदि तुम ऐसे ही हो तो इस तरह कशाघात द्वारा शासित करने योग्य मनुष्य कहलाने की अपेक्षा आत्म

हत्या कर लेना कदाचित् तुम्हारे लिए श्रेयस्कर होगा। कशाघात बन्द होते ही तुम लोग असुर हो जाओगे। यदि ऐसा ही हो तो इसी समय तुम्हारा, अन्त कर देना उचित होगा। तुम्हारे लिए दूसरा उपाय और कोई नही। इस तरह तो सदा ही तुम्हे कोडे और डडे के भय से चलना होगा और तुम्हारे उद्धार तथा निस्तार का रास्ता अव नही रह गया।

दूसरे अद्वैतवाद, केवल अद्वैतवाद से ही नैतिकता की व्याख्या हो सकती है। हर एक धर्म यही प्रचार कर रहा है कि सव नैतिक तत्त्वो का सार दूसरो की हित-साधना ही है। क्यो हम दूसरो का हित करे? नि स्वार्थ होना चाहिए। क्यो हमे नि स्वार्थ होना चाहिए? कोई देवता ऐसा कह गये है? वे देवता मेरे लिए मान्य नही हैं। शास्त्रो ने ऐसा कहा है—शास्त्र कहते रहे, क्यो हम उसे मानें? शास्त्र यदि ऐसा कहते हैं तो मेरे लिए उनका क्या महत्त्व है? ससार के अधिकाश आदमियो की यही नीति है कि वे अपना ही भला ताकते है। हर एक व्यक्ति अपना अपना हित साधन करे, कोई न कोई सबसे पीछे रहेगा। किस कारण मैं नैतिक बनूं? जव तक गीता मे वर्णित इस सत्य को न जानोगे, तब तक तुम इसकी व्याख्या नही कर सकते। 'जो महात्मा अपनी आत्मा को सव भूतो मे स्थित देखता है और आत्मा मे सव भूतो को देखता है, वह इस तरह ईश्वर को सर्वत्र सम भाव से अवस्थित देखता हुआ आत्मा द्वारा आत्मा की हिंसा नही करता।'[1]

अद्वैतवाद की शिक्षा से तुम्हे यह ज्ञान होता है कि दूसरो की हिंसा करते हुए तुम अपनी ही हिंसा करने हो, क्योकि वे सव तुम्हारे ही स्वरूप हैं। तुम्हे मालूम हो या न हो, सब हाथो से तुम्ही कार्य कर रहे हो, सव पैरो से तुम्ही चल रहे हो, राजा के रूप मे तुम्ही प्रासाद मे सुखो का भोग कर रहे हो, फिर तुम्ही रास्ते के भिखारी के रूप मे अपना दु खमय जीवन बिता रहे हो। अज्ञ मे भी तुम हो, विद्वान् मे भी तुम हो, दुर्वल मे भी तुम हो, सवल मे भी तुम हो। इस तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर तुम्हे सवके प्रति सहानुभूति रखनी चाहिए। चूंकि दूसरे को कष्ट पहुँचाना अपने ही को कष्ट पहुँचाना है, इसलिए हमें कदापि दूसरो को कष्ट नही देना चाहिए। इसीलिए यदि मैं बिना भोजन के मर भी जाऊँ तो भी मुझे इसकी चिन्ता नही, क्योकि जिस समय मैं भूखा मर रहा हूँ उस समय मैं लाखो मुँह से भोजन भी कर रहा हूँ। अतएव यह 'मैं', 'मेरा' —इन सव विषयो पर

---

१. सर्वभूतस्थमात्मान सर्वभूतानि चात्मनि ॥गीता ६।२९॥
सम पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मान ततो याति परा गतिम् ॥ गीता १३।२८॥

हमें ध्यान ही नहीं देना चाहिए, यह सम्पूर्ण संसार मेरा ही है, मैं ही एक दूसरी रीति से संसार के सम्पूर्ण आनन्द का भोग कर रहा हूँ। और, मेरा या इस संसार का विनाश भी कौन कर सकता है? इस तरह देखते हो अद्वैतवाद ही नैतिक तत्त्वों की एकमात्र व्याख्या है। अन्यान्य वाद तुम्हें नैतिकता की शिक्षा दे सकते हैं परन्तु हम क्यों नीतिपरायण हों इसका हेतुनिर्देश नहीं कर सकते। यह सब तो हुई व्याख्या की बात।

अद्वैतवाद की साधना में लाभ क्या है? उससे शक्ति प्राप्त होती है। तुमने जगत् पर सम्मोहन का जो पर्दा डाल रखा है उसे हटा दो। मनुष्य को दुर्बल न सोचो उसे दुर्बल न कहो। समझ लो कि एक दुर्बलता शब्द से ही सब पापों और सम्पूर्ण अशुभ कर्मों का निर्देश हो जाता है। सारे दोषपूर्ण कार्यों की मूल प्रेरक दुर्बलता ही है। दुर्बलता के कारण ही मनुष्य सभी स्वार्थों में प्रवृत्त होता है। दुर्बलता के कारण ही मनुष्य दूसरों को कष्ट पहुँचाता है दुर्बलता के कारण ही मनुष्य अपना सच्चा स्वरूप प्रकाशित नहीं कर सकता। सब लोग जानें कि वे क्या हैं? दिन-रात वे अपने स्वरूप—सोऽहम् का जप करें। माता के स्तन-पान के साथ सोऽहम् (मैं वही हूँ)—इस ओजमयी वाणी का पान करें। श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः आदि का पहले श्रवण करें। तत्पश्चात् वे उसका चिन्तन करें, और उसी चिन्तन उसी मनन से ऐसे कार्य होंगे जिन्हें संसार ने कभी देखा ही नहीं था। किस तरह यह काम में लाया जाय? कोई कोई कहते हैं—यह अद्वैतवाद कार्य में परिणत नहीं किया जा सकता अर्थात् भौतिक धरातल पर उसकी शक्ति का प्रकाश नहीं हुआ। इस कथन में आंशिक सत्य अवश्य है। वेद की उस वाणी का स्मरण करो

> ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ओमित्येकाक्षरं परम्।
> ओमित्येकाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

—'ॐ' यही ब्रह्म है। ॐ यह परम सत्ता है! जो इस ओंकार का रहस्य जानते हैं, वे जो कुछ चाहते हैं वही उन्हें मिलता है।

अतएव पहले तुम इस ओंकार का रहस्य समझो। वह ओंकार तुम्हीं हो। इसका ज्ञान प्राप्त करो। इस तत्त्वमसि महावाक्य का रहस्य समझो तभी केवल तभी तुम जो कुछ चाहोगे वह पाओगे। यदि भौतिक दृष्टि से बड़े होना चाहते हो तो विश्वास करो तुम बड़े हो। मैं एक छोटा सा बुलबुला हो सकता हूँ तुम पर्वताकार ऊँची तरंग हो सकते हो परन्तु यह समझ रखो कि हम दोनों के लिए पृष्ठभूमि अनन्त समुद्र ही है। अनन्त ब्रह्म हमारी सब शक्ति

और वीर्य का भडार है, और हम दोनो ही क्षुद्र हो या महान् उससे अपनी इच्छा भर शक्ति-सग्रह कर सकते हैं। अतएव अपने पर विश्वास करो। अद्वैतवाद का यह रहस्य है कि पहले अपने पर विश्वास करो, फिर अन्य सब पर। ससार के इतिहास मे देखोगे कि केवल वे ही राष्ट्र महान् एव प्रबल हो सके हैं, जो आत्म-विश्वास रखते हैं। हर एक राष्ट्र के इतिहास मे तुम देखोगे, जिन व्यक्तियो ने अपने पर विश्वास किया वे ही महान् तथा सबल हो सके। यहाँ, इस भारत मे एक अग्रेज़ आया था, वह एक साधारण क्लर्क था, रुपये-पैसे के अभाव से और दूसरे कारणो से भी उसने अपने सिर मे गोली मारकर दो बार आत्महत्या करने की चेष्टा की, और जब वह उसमे असफल हुआ तब उसे विश्वास हो गया कि बडे बडे काम करने के लिए वह पैदा हुआ है—वही लॉर्ड क्लाइव इस साम्राज्य का प्रतिष्ठाता बन गया! यदि वह पादरियो पर विश्वास करके घुटने टेककर 'हे प्रभु, मैं दुर्बल हूँ, दीन हूँ,' ऐसा किया करता तो जानते हो उसे कहाँ जगह मिलती? निस्सन्देह उसे पागलखाने मे रहना पडता। इस प्रकार की कुशिक्षाओ ने तुम्हें पागल बना डाला है। मैंने सारे ससार मे देखा है, दीनता के उस उपदेश से, जो दौर्बल्य का पोषक है, बडे अशुभ परिणाम हुए हैं—मनुष्य जाति को उसने नष्ट कर डाला है। हमारी सन्तानो को जब ऐसी ही शिक्षा दी जाती है, तब इसमे क्या आश्चर्य यदि वे अन्त मे अर्धविक्षिप्त हो जाते हैं!

यह अद्वैतवाद के व्यावहारिक पक्ष की शिक्षा है। अतएव अपने पर विश्वास रखो, और यदि तुम्हें भौतिक ऐश्वर्य की आकाक्षा हो तो इसको कार्यान्वित करो, धन तुम्हारे पास आयेगा। यदि विद्वान् और बुद्धिमान होने की इच्छा हैं तो उसी ओर अद्वैतवाद का प्रयोग करो, तुम महामनीषी हो जाओगे। और यदि तुम मुक्ति लाभ करना चाहते हो तो तुम्हे आध्यात्मिक भूमि मे इस अद्वैतवाद का प्रयोग करना होगा, तभी तुम परमानन्द स्वरूप निर्वाण लाभ करोगे। इतनी ही भूल हुई थी कि आज तक उसका प्रयोग आध्यात्मिकता की ओर ही हुआ था—बस। अब व्यावहारिक जीवन मे उसके प्रयोग का समय आया है। अब उसे रहस्य मात्र या गोपनीय रखने से काम नही चलेगा, अब वह हिमालय की गुफाओ और जगलो मे साधु-सन्यासियो ही के पास बँधा नही रहेगा—अब लोगो के दैनिक जीवन के कार्यों मे उसका प्रयोग अवश्य होना चाहिए। राजप्रासाद मे, साधु-सन्यासियो की गुहा मे, गरीबो की कुटियो मे सर्वत्र, यहाँ तक कि रास्ते के भिखारी द्वारा भी वह कार्यान्वित होगा, कारण क्या गीता मे नही बतलाया गया?—**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।** (गीता, २।४०)—'इस धर्म का अल्प मात्र उपयोग भी बडे बडे भय से हमारा उद्धार कर सकता है।'

अतएव चाहे तुम स्त्री हो चाहे शूद्र अथवा चाहे और ही कुछ हो तुम्हारे लिए भय का अल्प मात्र भी कारण नहीं कारण भी कृष्ण कहते हैं यह धर्म इतना महान् है कि इसका अल्प मात्र अनुष्ठान करने से भी महाकल्याण की प्राप्ति होती है।

अतएव हे आर्यसन्तान आलसी होकर बैठे मत रहो—जागो उठो और जब तक इस चरम लक्ष्य तक न पहुँच जाओ तब तक मत रुको। अब अद्वैतवाद को व्यावहारिक क्षेत्र में प्रयोग करने का समय आया है। उसे अब स्वर्ग से मर्त्य में ले आना होगा। इस समय विधाता का विधान यही है। हमारे प्राचीन काल के पूर्वज की वाणी से हमें निर्देश मिल रहा है कि इस अद्वैतवाद को स्वर्ग से पृथ्वी पर ले आओ। तुम्हारे उस प्राचीन शास्त्र का उपदेश सम्पूर्ण संसार में इस प्रकार व्याप्त हो जाय कि समाज के प्रत्येक मनुष्य की वह साधारण सम्पत्ति हो जाय हमारी नस नस में रुधिर के प्रत्येक कण मे उसका प्रवाह हो जाय।

तुम्हें सुनकर आश्चर्य होगा कि हम लोगों से कहीं बढ़कर अमेरिकनों ने वेदान्त को अपने व्यावहारिक जीवन में चरितार्थ कर लिया है। मैं न्यूयार्क के समुद्र तट पर खड़ा खड़ा देखा करता था—भिन्न भिन्न देशों से लोग बसने के लिए अमेरिका आ रहे हैं। उन्हें देखकर मुझे यह मालूम होता था मानो उनका हृदय कुचल गया है वे पैरों तले कुचले गये हैं उनकी आशा मुरझा गयी है किसीसे निगाह मिलाने की उनमें हिम्मत नहीं है कपड़ों की एक पोटली मात्र उनका सर्वस्व है और वे कपड़े भी फटे हुए हैं पुलिस का आदमी देखते ही भय से दूसरी ओर के फुटपाथ पर चलने का इरादा करते हैं। और फिर छः ही महीने में उन्हें देखो वे साफ कपड़े पहने हुए सिर उठाकर सीधे चल रहे हैं और डटकर लोगों की नजर से नजर मिलाते हैं। ऐसा विचित्र परिवर्तन किसने किया? सोचो वह आदमी आरमेनिया या किसी दूसरी जगह से आ रहा है, वहाँ कोई उसे कुछ समझते नहीं थे सभी पीस डालने की चेष्टा करते थे। वहाँ सभी उससे कहते थे—"तू गुलाम होकर पैदा हुआ है गुलाम ही रहेगा।" वहाँ उसके जरा भी हिलने डुलने की चेष्टा करने पर वह कुचल डाला जाता था। चारों ओर की सभी वस्तुएँ मानो उससे कहती थीं—"गुलाम तू गुलाम है—जो कुछ है तू वही बना रह निराशा के जिस अँधेरे में पैदा हुआ था उसीमें जीवन भर पड़ा रह। हवा भी मानो गूँजकर उससे कहती थी—"तेरे लिए कोई आशा नहीं—गुलाम होकर चिरकाल तू नैराश्य के अन्धकार में पड़ा रह। वहाँ बलवानों ने पीसकर उसकी जान निकाल ली थी। और ज्यों ही वह जहाज से उतरकर न्यूयार्क के रास्तों पर चलने लगा उसने देखा कि अच्छे कपड़े पहने हुए किसी भले आदमी ने उससे हाथ मिलाया। एक तो फटे कपड़े पहने हुए था और दूसरा अच्छे अच्छे

कपडो से सुसज्ज था। इससे कोई अन्तर नही पडा। और कुछ आगे वढकर भोजनालय मे जाकर उसने देखा—भद्रमडली मेज़ के चारो ओर वैठी भोजन कर रही थी, उसी मेज़ के एक ओर उससे भी वैठने के लिए कहा गया। वह चारो ओर घूमने लगा—देखा, यह एक नया जीवन है। उसने देखा, ऐसी जगह भी है, जहाँ और पाँच आदमियो मे वह भी एक आदमी गिना जा रहा है। कभी मौका मिला तो वार्शिगटन जाकर सयुक्तराज्य के राष्ट्रपति से हाथ मिला आया, वहाँ उसने देखा, दूर के गाँवो से मैले कपडे पहने हुए किसान आकर राष्ट्रपति से हाथ मिला रहे हैं। तव उससे माया का पर्दा दूर हो गया। वह ब्रह्म ही है—मायावश इस तरह दुर्वलता तथा दासता के सम्मोह मे पडा हुआ था। अव उसने फिर से जागकर देखा—मनुष्यो के ससार मे वह भी एक मनुष्य है। हमारे इस देश मे, इस वेदान्त की जन्मभूमि मे हमारा जन साधारण शत शत वर्षों से सम्मोहित वना कर इस तरह की हीन अवस्था मे डाल दिया गया है। उनके स्पर्श मे अपवित्रता समायी है, उनके साथ वैठने से छूत समा जाती है। उनसे कहा जा रहा है, निराशा के अन्धकार मे तुम्हारा जन्म हुआ है, सदा तुम इसी अँधेरे मे पडे रहो। और उसका परिणाम यह हुआ कि वे लगातार डूबते चले जा रहे हैं, गहरे अँधेरे से और गहरे अँधेरे मे डूबते चले जा रहे हैं। अन्त मे मनुष्य जितनी निकृष्ट अवस्था तक पहुँच सकता है, वहाँ तक वे पहुँच चुके हैं। क्योकि, ऐसा देश कहाँ है जहाँ मनुष्य को जानवरो के साथ एक ही जगह पर सोना पडता हो? इसके लिए किसी दूसरे पर दोषारोपण न करो—अज्ञ मनुष्य जो भूल किया करते हैं, वही भूल तुम मत करो। कार्य-कारण दोनो यही विद्यमान है। दोष वास्तव मे हमारा ही है। हिम्मत बाँधकर खडे हो जाओ—अपने ही सिर सब दोष ले लो। दूसरे पर दोष न मढो। तुम जो कष्ट भोग रहे हो उसके एकमात्र कारण तुम्ही हो।

अत लाहौर के युवको, निश्चयपूर्वक समझो इस आनुवशिक तथा राष्ट्रीय महापाप के लिए हमी लोग उत्तरदायी हैं। बिना इसे दूर किये हमारे लिए कोई दूसरा उपाय नही है। तुम चाहे हजारो समितियाँ गढ लो, चाहे वीस हजार राजनीतिक सम्मेलन करो, चाहे पचास हजार सस्थाएँ स्थापित करो, इसका कोई फल न होगा, जब तक तुम्हारे भीतर वह सहानुभूति, वह प्रेम न आयेगा, जव तक तुम्हारे भीतर वह हृदय न आयेगा, जो सवके लिए सोचता है। जव तक फिर से भारत को वुद्ध का हृदय प्राप्त नही होता और भगवान् कृष्ण की वाणी व्यावहारिक जीवन मे परिणत नही की जाती, तब तक हमारे लिए कोई आशा नही। तुम लोग यूरोपियनो और उनकी सभा-समितियो का अनुकरण कर रहे हो, परन्तु उनके हृदय के भावो का तुमने क्या अनुकरण किया है?

मैं तुमसे एक आँखों देखा किस्सा कहूँगा। यहाँ के यूरोपियनों का एक दल कुछ बर्मी लोगों को लेकर लन्दन गया बाद में पता चला कि वे यूरेशियन थे। वहाँ उन्होंने उन लोगों की एक प्रदर्शनी खोलकर खूब धनोपार्जन किया। अन्त में सब धन आपस में बाँटकर उन्होंने उन लोगों को यूरोप के किसी दूसरे देश में ले जाकर छोड़ दिया। ये ग़रीब बेचारे यूरोप की किसी भाषा का एक शब्द भी नहीं जानते थे। लेकिन आस्ट्रिया के अंग्रेज वैदेशिक प्रतिनिधि ने इन्हें लन्दन भेज दिया। वे लोग लन्दन में भी किसीको नहीं जानते थे अतएव वहाँ जाकर भी निराश्रय अवस्था में पड़ गये। परन्तु एक अंग्रेज महिला को इनकी सूचना मिली। वे इन बर्मी विदेशियों को अपने घर ले गयीं और अपने कपड़े अपने बिछौने तथा जो कुछ आवश्यक हुआ सब देकर उनकी सेवा करने लगीं और समाचार पत्रों में उन्होंने इनका हाल प्रकाशित कर दिया। देखो उसका फल कैसा हुआ! उसके दूसरे ही दिन मानो सारा राष्ट्र सचेत हो गया। चारों ओर से उनकी सहायता के लिए रुपये आने लगे। अन्त में वे बर्मी वापस भेज दिये गये। उनकी राजनीतिक और दूसरी जितनी सभा-समितियाँ हैं वे ऐसी ही सहानुभूति पर प्रतिष्ठित हैं, कम से कम अपने लिए उनकी दृढ़ नींव प्रेम पर आधारित है। वे सम्पूर्ण संसार को चाहे प्यार न कर सकें बर्मी चाहे उनके शत्रु भले ही हों परन्तु इतना तो निश्चय ही है कि अपनी जाति के लिए उनका प्रेम अगाध है और अपने द्वार पर आये हुए विदेशियों के साथ भी वे सत्य न्याय और दया का व्यवहार करते हैं। पश्चिमी देशों के सभी स्थानों में उन्होंने किस तरह मेरा आतिथ्य-सत्कार और खातिरदारी की थी इसका यदि मैं तुमसे उल्लेख न करूँ तो यह मेरी अकृतज्ञता होगी। यहाँ वह हृदय कहाँ है जिसकी बुनियाद पर इस जाति की दीवार उठायी जायगी? हम पाँच आदमी मिलकर एक छोटी सी सम्मिलित पूँजी की कम्पनी खोलते हैं। कुछ दिनों के अन्दर ही हम लोग आपस में एक दूसरे को पट्टी पढ़ाना शुरू कर देते हैं अन्त में सब कारोबार नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। तुम लोग अंग्रेजों के अनुकरण की बात कहते हो और उनकी तरह विशाल राष्ट्र का संगठन करना चाहते हो परन्तु तुम्हारी वह नींव कहाँ है? हमारी नींव बालू की है, इसीलिए उस पर जो घर उठाया जाता है वह थोड़े ही दिनों में टूटकर ध्वस्त हो जाता है।

अतः हे लाहौर के युवको फिर अद्वैत की वही प्रबल पताका फहराओ क्योंकि और किसी आधार पर तुम्हारे भीतर वैसा अपूर्व प्रेम नहीं पैदा हो सकता। जब तक तुम लोग उसी एक भगवान् को सर्वत्र एक ही भाव से अवस्थित नहीं देखते तब तक तुम्हारे भीतर वह प्रेम पैदा नहीं हो सकता—उसी प्रेम की पताका फहराओ।

उठो, जागो, जब तक लक्ष्य पर नही पहुँचते तव तक मत रुको। उठो, एक वार और उठो, क्योकि त्याग के विना कुछ हो नही सकता। दूसरे की यदि सहायता करना चाहते हो, तो तुम्हे अपने अहभाव को छोडना होगा। ईसाइयो की भाषा मे कहता हूँ—तुम ईश्वर और शैतान की सेवा एक साथ ही नही कर सकते। चाहिए वैराग्य। तुम्हारे पूर्व पुरुषो ने वडे वडे कार्य करने के लिए ससार का त्याग किया था। वर्तमान समय मे ऐसे अनेक मनुष्य हैं, जिन्होने अपनी ही मुक्ति के लिए ससार का त्याग किया है। तुम सब कुछ दूर फेको—यहाँ तक कि अपनी 'मुक्ति का विचार भी दूर रखो—जाओ, दूसरो की सहायता करो। तुम सदा वडी वडी साहसिक वातें करते हो, परन्तु अव तुम्हारे सामने यह व्यावहारिक वेदान्त रखा गया है। तुम अपने इस तुच्छ जीवन की वलि देने के लिए तैयार हो जाओ। यदि यह जाति वची रहे तो तुम्हारे और हमारे जैसे हजारो आदमियो के भूखो मरने से भी क्या हानि होगी? यह जाति डूब रही है। लाखो प्राणियो का शाप हमारे सिर पर है, सदा ही अजस्र जलधारवाली नदी के समीप रहने पर भी तृष्णा के समय पीने के लिए हमने जिन्हे नावदान का पानी दिया, उन अगणित लाखो मनुष्यो का, जिनके सामने भोजन के भाण्डार रहते हुए भी जिन्हे हमने भूखो मार डाला, जिन्हे हमने अद्वैतवाद का तत्त्व सुनाया और जिनसे हमने तीव्र घृणा की, जिनके विरोध मे हमने लोकाचार का आविष्कार किया, जिनसे ज़वानी तो यह कहा कि सब वरावर हैं, सब वही एक ब्रह्म हैं, परन्तु इस उक्ति को काम मे लाने का तिल मात्र भी प्रयत्न नही किया। 'मन मे रखने ही से काम हो जायगा, परन्तु व्यावहारिक ससार मे अद्वैतवाद को घसीटना?—हरे! हरे!!' अपने चरित्र का यह दाग़ मिटा दो। उठो, जागो। यदि यह क्षुद्र जीवन चला भी जाय तो क्या हानि है? सभी मरेंगे—साधु या असाधु, धनी या दरिद्र—सभी मरेंगे। चिर काल तक किसी का शरीर नही रहेगा। अतएव उठो, जागो और सम्पूर्ण रूप से निष्कपट हो जाओ। भारत मे घोर कपट समा गया है। चाहिए चरित्र, चाहिए इस तरह की दृढता और चरित्र का बल जिससे मनुष्य आजीवन दृढव्रत वन सके। 'नीतिनिपुण मनुष्य चाहे निन्दा करे चाहे स्तुति, लक्ष्मी आये या चली जाय, मृत्यु आज ही हो चाहे शताब्दी के पश्चात्, जो धीर हैं वे न्यायमार्ग से एक पग भी नही हिलते।'[1] उठो, जागो, समय बीता जा रहा है और व्यर्थ के वितडावाद मे हमारी सम्पूर्ण शक्ति का क्षय होता जा रहा है। उठो, जागो, छोटे छोटे विषयो

---

१ निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा न्याय्यात्पथ प्रविचलन्ति पद न धीरा ॥

और मतमतान्तरों को लेकर व्यर्थ का विवाद मत करो। तुम्हारे सामने सबसे महान् कार्य पड़ा हुआ है—लाखों आदमी डूब रहे हैं उनका उद्धार करो। इस बात पर अच्छी तरह ध्यान दो कि मुसलमान जब भारत में पहले पहल आये थे तब भारत में कितने अधिक हिन्दू रहते थे। आज उनकी संख्या कितनी घट गयी है। इसका कोई प्रतिकार हुए बिना यह दिन दिन और घटती ही जायगी अन्ततः वे पूर्णतः विलुप्त हो जायँगे। हिन्दू जाति लुप्त हो जाय तो होने दो लेकिन साथ ही—उनके सैकड़ों दोष रहने पर भी संसार के सम्मुख उनके सैकड़ों विकृत चित्र उपस्थित करने पर भी—जब तक वे जिन जिन महान् भावों के प्रतिनिधि स्वरूप हैं, वे भी लुप्त हो जायँगे। और उनके लोप के साथ साथ सारे अध्यात्म ज्ञान का शिरोभूषण अपूर्व अद्वैत तत्त्व भी लुप्त हो जायगा। अतएव उठो जागो संसार की आध्यात्मिकता की रक्षा के लिए हाथ बढ़ाओ। और पहले अपने देश के कल्याण के लिए इस तत्त्व को काम में लाओ। हमें आध्यात्मिकता की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी इस भौतिक संसार में अद्वैतवाद को थोड़ा कार्य में परिणत करने की। पहले रोटी और तब धर्म चाहिए। गरीब बेचारे भूखों मर रहे हैं और हम उन्हें आवश्यकता से अधिक धर्मोपदेश दे रहे हैं। मतमतान्तरों से पेट नहीं भरता। हमारे दो दोष बड़े ही प्रबल हैं पहला दोष हमारी दुर्बलता है दूसरा है घृणा करना हृदयहीनता। लाखों मत-मतान्तरों की बात कह सकते हो करोड़ों सम्प्रदाय संगठित कर सकते हो परन्तु जब तक उनके दुःख का अपने हृदय में अनुभव नहीं करते वैदिक उपदेशों के अनुसार जब तक स्वयं नहीं समझते कि वे तुम्हारे ही शरीर के अंश हैं जब तक तुम और वे—धनी और दरिद्र साधु और असाधु सभी उसी एक अनन्त पूर्ण के जिसे तुम ब्रह्म कहते हो अंश नहीं हो जाते तब तक कुछ न होगा।

सज्जनो मैंने तुम्हारे सामने अद्वैतवाद के कुछ प्रधान भावों को प्रकाशित करने की चेष्टा की और अब इसे काम में लाने का समय आ गया है। केवल इसी देश में नहीं सब जगह। आधुनिक विज्ञान के लोहे के मुद्गरों की चोट खाकर द्वैतवादात्मक धर्मों की मजबूत दीवार चूर चूर हो रही है। ऐसा नहीं कि द्वैतवादी सम्प्रदाय केवल यहीं शास्त्रों का अर्थ खींच-खींच कर कुछ का कुछ कर रहे हैं। खींचातानी की हद हो गयी है—यहाँ तक खींचातानी हो—श्लोक रबर नहीं हैं। ऐसा नहीं कि केवल यहीं ये द्वैतवादी आत्मरक्षा के लिए अँधेरे के किसी कोने में छिपने की चेष्टा कर रहे हैं यहीं यूरोप और अमेरिका में तो यह प्रयत्न और भी ज्यादा है। और वहाँ भी भारत के इस अद्वैतवाद का कुछ अंश जाना चाहिए। यह वहाँ पहुँच भी गया है। वहाँ दिन दिन उसका प्रसार बढ़ाना चाहिए। पश्चिमी

सभ्यता की भी इससे रक्षा होगी। कारण, पश्चिमी देशो मे पहले का भाव उठ गया है और एक नया ढग—काचन की पूजा के रूप मे शैतान की पूजा प्रवर्तित हुई है। इस आधुनिक धर्म अर्थात् पारस्परिक प्रतियोगिता और काचन की पूजा की अपेक्षा तो पहले के अपरिमार्जित धर्म की राह अच्छी थी। कोई भी राष्ट्र हो, चाहे वह कितना ही प्रबल क्यो न हो, ऐसी बुनियाद पर कभी नही टिक सकता। और ससार का इतिहास हमसे कह रहा है, जिन किन्ही लोगो ने ऐसी बुनियाद पर अपने समाज की प्रतिष्ठा की, वे विनष्ट हो गये। भारत मे काचन-पूजा की यह तरग न आ सके, उसकी ओर पहले ही से नजर रखनी होगी। अतएव सबमे यह अद्वैतवाद प्रचारित करो, जिससे धर्म आधुनिक विज्ञान के प्रबल आघातो से भी अक्षत बना रहे। केवल इतना ही नही, तुम्हे दूसरो की भी सहायता करनी होगी—तुम्हारे विचार यूरोप और अमेरिका के सहायक होगे, परन्तु सबसे पहले तुम्हे याद दिलाता हूँ कि व्यावहारिक कार्य की आवश्यकता है, और उसका प्रथमाश यह है कि घोर से घोरतम दारिद्र्य और अज्ञान-तिमिर मे डूबे हुए साधारण लाखो भारतीयो की उन्नति-साधना के लिए उनके समीप जाओ। और उनको अपन हाथ का सहारा दो और भगवान् कृष्ण की यह वाणी याद रखो

इहैव तैर्जित सर्गो येषा साम्ये स्थित मन।
निर्दोष हि सम ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिता ॥

(गीता ५।१९)

—'जिनका मन इस साम्य भाव मे अवस्थित है, उन्होने इस जीवन मे ही ससार पर विजय प्राप्त कर ली है। चूंकि ब्रह्म निर्दोष और सबके लिए सम है, इसलिए वे ब्रह्म मे अवस्थित है।'

और मतमतान्तरों को लेकर व्यर्थ का विवाद मत करो। तुम्हारे सामने सबसे महान् कार्य पड़ा हुआ है—लाखों आदमी डूब रहे हैं उनका उद्धार करो। इस बात पर अच्छी तरह ध्यान दो कि मुसलमान जब भारत में पहले पहल आये थे तब भारत में कितने अधिक हिन्दू रहते थे। आज उनकी संख्या कितनी घट गयी है। इसका कोई प्रतिकार हुए बिना यह दिन दिन और घटती ही जायगी अन्तत: वे पूर्णत: विलुप्त हो जायेंगे। हिन्दू जाति लुप्त हो जाय तो होने दो लेकिन साथ ही—उनके सैकड़ों दोष रहने पर भी संसार के सम्मुख उनके सैकड़ों विकृत चित्र उपस्थित करने पर भी—अब तक वे जिन जिन महान् भावों के प्रतिनिधि स्वरूप हैं, वे भी लुप्त हो जायेंगे। और उनके लोप के साथ साथ सारे अध्यात्म ज्ञान का शिरोभूषण अपूर्व अद्वैत तत्त्व भी लुप्त हो जायगा। अतएव उठो जागो संसार की आध्यात्मिकता की रक्षा के लिए हाथ बढ़ाओ। और पहले अपने देश के कल्याण के लिए इस तत्त्व को काम में लाओ। हमें आध्यात्मिकता की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी इस भौतिक संसार में अद्वैतवाद को थोड़ा कार्य में परिणत करने की। पहले रोटी और तब धर्म चाहिए। गरीब बेचारे भूखों मर रहे हैं और हम उन्हें आवश्यकता से अधिक धर्मोपदेश दे रहे हैं। मतमतान्तरों से पेट नहीं भरता। हमारे दो दोष बड़े ही प्रबल हैं पहला दोष हमारी दुर्बलता है, दूसरा है घृणा करना हृदयहीनता। लाखों मत-मतान्तरों की बात कह सकते हो करोड़ों सम्प्रदाय संगठित कर सकते हो परन्तु जब तक उनके दुःख का अपने हृदय में अनुभव नहीं करते वैदिक उपदेशों के अनुसार जब तक स्वयं नहीं समझते कि वे तुम्हारे ही शरीर के अंश हैं जब तक तुम और वे—धनी और दरिद्र साधु और असाधु सभी उसी एक अनन्त पूर्ण के जिसे तुम ब्रह्म कहते हो अंश नहीं हो जाते तब तक कुछ न होगा।

सज्जनो मैंने तुम्हारे सामने अद्वैतवाद के कुछ प्रधान भावों को प्रकाशित करने की चेष्टा की और अब इसे काम में लाने का समय आ गया है। केवल इसी देश में नहीं सब जगह। आधुनिक विज्ञान के लोहे के मुद्गरों की चोट खाकर द्वैतवादात्मक धर्मों की मजबूत दीवार चूर चूर हो रही है। ऐसा नहीं कि द्वैतवादी सम्प्रदाय केवल यहीं शास्त्रों का अर्थ खींच-खींच कर कुछ का कुछ कर रहे हैं। खींचातानी की हद हो गयी है—कहाँ तक खींचातानी हो—रबर नहीं है। ऐसा नहीं कि केवल यहीं ये द्वैतवादी आत्मरक्षा के लिए अँधेरे के किसी कोने में छिपने की चेष्टा कर रहे हैं नहीं यूरोप और अमेरिका में तो यह प्रयत्न और भी ज्यादा है। और वहाँ भी भारत के इस अद्वैतवाद का कुछ अंश जाना चाहिए। वह वहाँ पहुँच भी गया है। वहाँ दिन दिन उसका प्रचार बढ़ाना चाहिए। पश्चिमी

इसके पश्चात् स्वामी जी ने यूरोप पर भारतीय विचारो के प्रभाव की विस्तृत समीक्षा करके दिखाया कि विभिन्न युगो मे स्पेन, जर्मनी एव अन्यान्य यूरोपीय देशो के ऊपर इन विचारो की कैसी छाप पडी थी। भारतीय राजकुमार दारा-शिकोह ने उपनिषद् का अनुवाद फारसी मे किया। शॉपेनहॉवर नामक जर्मन दार्शनिक उसका लेटिन अनुवाद देखकर उसकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। उसके दर्शन मे उपनिषदो का यथेष्ट प्रभाव देखा जाता है। इसके बाद ही काण्ट के दर्शन-ग्रन्थो मे भी उपनिषदो के भावो के चिह्न देखे जाते है। यूरोप मे साधारणतया तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की अभिरुचि के कारण ही विद्वान् लोग सस्कृत के अध्ययन की ओर आकृष्ट होते है। परन्तु अध्यापक डॉयसन जैसे व्यक्ति भी है जो केवल दार्शनिक ज्ञान के लिए ही दर्शनो का अध्ययन करते हैं। स्वामी जी ने आशा प्रकट की कि भविष्य मे यूरोप मे सस्कृत के पठन-पाठन मे और अधिक दिलचस्पी ली जायगी। इसके बाद स्वामी जी ने दिखलाया कि पूर्वकाल मे 'हिन्दू' शब्द सार्थक था और वह सिन्धु नदी के इस पार बसनेवालो के लिए प्रयुक्त होता था, किन्तु इस समय वह सर्वथा निरर्थक है, क्योकि इस समय सिन्धु नदी के इस पार नाना धर्मावलम्बी बहुत सी जातियाँ बसती हैं।

इसके बाद स्वामी जी ने वेदो के सम्बन्ध मे विस्तृत रूप से प्रकाश डाला। उन्होंने कहा, "वेद किसी व्यक्ति विशेष के वाक्य नही हैं। पहले कतिपय विचारो का शनै शनै विकास हुआ, अतत उन्हे ग्रथ का रूप दिया गया, और वह ग्रथ प्रमाण बन गया।" स्वामी जी ने कहा, "अनेक धर्म इसी भाँति ग्रन्थबद्ध हुए है। ग्रन्थो का प्रभाव भी असीम प्रतीत होता है। हिन्दुओ के ग्रन्थ वेद है जिन पर अभी हजारो वर्षों तक हिन्दुओ को निर्भर रहना होगा। लेकिन उन्हे वेदो के सम्बन्ध मे अपने विचार बदलने होगे और उन्हे नये सिरे से दृढ़ चट्टान की नीव पर स्थापित करना होगा। वेदो का वाङमय विशाल है, किन्तु वेदो का नब्बे प्रतिशत अश इस समय उपलब्ध नही है। विशेष विशेष परिवार मे एक एक वेदाश थे। उन परिवारो के लोप हो जाने से वे वेदाश भी लुप्त हो गये, किन्तु जो इस समय भी मिलते हैं, वे भी इस जैसे कमरे मे समा नही सकते। ये वेद अत्यन्त प्राचीन तथा अति सरल भाषा मे लिखे गये हैं। वेदो का व्याकरण भी इतना अस्पष्ट है कि बहुतो के विचार मे वेदो के कई अशो का कोई अर्थ ही नही निकलता।"

इसके बाद स्वामी जी ने वेद के दो भागो—कर्मकाड और ज्ञानकाड की विस्तृत समीक्षा की। कर्मकाड कहने से सहिता और ब्राह्मण का बोध होता है। ब्राह्मणो मे यज्ञ आदि का वर्णन है। सहिता अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, जगती प्रभृति छदो में रचित गेय पद हैं। साधारणत उनमे इन्द्र, वरुण अथवा अन्य किसी देवता की

वेदान्त

(खेतड़ी में दिया हुआ भाषण)

२ दिसम्बर, १८९७ को स्वामी जी अपने शिष्यों के साथ महाराज के बँगले में ठहरे हुए थे जहाँ उन्होंने वेदान्त के सम्बन्ध में करीब डेढ़ घंटे तक व्याख्यान दिया। स्थानीय बहुत से सज्जन एवं कई यूरोपीय महिलाएँ उपस्थित थीं। खेतड़ी के राजा साहब सभापति थे उन्होंने ही उपस्थित श्रोताओं से स्वामी का परिचय कराया। स्वामी जी ने बड़ा सुन्दर व्याख्यान दिया परन्तु खेद का विषय है कि उस समय कोई भी प्रतिलिपि का लेखक उपस्थित नहीं था। अतः समस्त व्याख्यान उपलब्ध नहीं है। स्वामी जी के दो शिष्यों ने जो नोट लिये थे उसीका अनुवाद नीचे दिया जाता है

स्वामी जी का भाषण

यूनानी और आर्य प्राचीन काल की ये दो जातियाँ भिन्न भिन्न वातावरणों और परिस्थितियों में पड़ीं। प्रकृति में जो कुछ सुन्दर था जो कुछ मधुर था जो कुछ लोभनीय था उन्हींके मध्य स्थापित होकर स्फूर्तिप्रद जलवायु में विचरण कर यूनानी जाति ने एवं चारों ओर सब प्रकार महिमामय प्राकृतिक दृश्यों के मध्य अवस्थित होकर तथा अधिक शारीरिक परिश्रम के अनुकूल जलवायु न पाकर हिन्दू जाति ने दो प्रकार की विभिन्न तथा विशिष्ट सभ्यताओं के आदर्शों का विकास किया। यूनानी लोग बाह्य प्रकृति की अनन्त एवं आर्य लोग आभ्यन्तरिक प्रकृति की अनन्त सम्बन्धी खोज में दत्तचित्त हुए। यूनानी लोग बृहत् ब्रह्मांड की खोज में व्यस्त हुए और आर्य लोग क्षुद्र ब्रह्मांड या सूक्ष्म जगत् के तत्त्वानुसन्धान में मग्न हुए। संसार की सभ्यता में दोनों को ही अपना अपना विशिष्ट अंश विशेष सम्पन्न करना पड़ा था। आवश्यक नहीं है कि इनमें से एक को दूसरे से कुछ उधार लेना है। लेकिन परस्पर तुलनात्मक अध्ययन से दोनों लाभान्वित होंगे। आर्यों की प्रकृति विश्लेषण-प्रिय थी। गणित और व्याकरण में आर्यों को अद्भुत उपलब्धियाँ प्राप्त हुई और मन के विश्लेषण में वे चरम सीमा को पहुँच गये थे। हमें पाइथागोरस सक्रेटिस प्लेटो एवं मिस्र के नव्य प्लेटोवादियों के विचारों में भारतीय विचार की झलक दीख पड़ती है।

है कि ईश्वर के साक्षात्कार के पश्चात् ही मनुष्य का यथार्थ जीवन आरम्भ होता है।

अव यह प्रश्न उठा, ये देवता कौन थे ? इन्द्र समय समय पर मनुष्यो की सहायता करते हैं। कभी कभी वे अत्यधिक सोम का पान भी करते हैं, स्थान स्थान पर उनके लिए सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी प्रभृति विशेषणो का भी प्रयोग हुआ है। वरुण के सम्वन्ध मे भी इसी प्रकार की नाना धारणाएँ हैं। देवो के चरित्र सम्वन्धी ये सव वर्णनात्मक मत्र कही कही वहुत ही अपूर्व हैं और भाषा भी अत्यन्त उदात्त है। इसके पश्चात् स्वामी जी ने प्रलय वर्णनात्मक विख्यात नासदीय सूक्त—जिसमे अन्धकार का अन्धकार से आवृत होना वर्णित है—सुनाया और कहा, जिन लोगो ने इन सव महान् भावो का इस प्रकार की कविता मे वर्णन किया है, यदि वे ही असभ्य और असस्कृत थे तो फिर हमे अपने को क्या कहना चाहिए ? इन ऋषियो की अथवा उनके देवता इन्द्र, वरुण आदि की किसी प्रकार की समालोचना करने या उनके वारे मे कोई निर्णय देने मे मैं अक्षम हूँ। मानो क्रमागत दृश्य पर दृश्य वदलता चला आ रहा है और सवके पीछे एक **सद्विप्रा वहुधा वदन्ति** की यवनिका है। इन देवताओ का वर्णन वडा ही रहस्यमय, अपूर्व और अति सुन्दर है। वह विल्कुल अगम्य प्रतीत होता है—पर्दा इतना सूक्ष्म है कि मानो स्पर्श मात्र से ही फट जायगा और मृगमरीचिका की भाँति लुप्त हो जायगा।

आगे चलकर स्वामी जी ने कहा, "मुझे एक वात बहुत सम्भव और स्पष्ट मालूम होती है और वह यह है कि यूनानियो की भाँति आर्य लोग भी ससार की समस्या हल करने के लिए पहले बाह्य प्रकृति की ओर उन्मुख हुए—सुन्दर रमणीय वाह्य प्रकृति भी उन्हें प्रलोभित करके धीरे धीरे बाह्य जगत् मे ले गयी। किन्तु भारत की यही विशेषता है कि जिस वस्तु मे कुछ उदात्तता नही होती उसका यहाँ कुछ मूल्य ही नही होता। मृत्यु के पश्चात् क्या होता है, इसकी यथार्थ तात्त्विक विवेचना साधारणत यूनानियो के मन मे उठी ही नही। किन्तु भारत मे आरम्भ से ही यह प्रश्न बार बार पूछा जा रहा है—'मैं कौन हूँ ? मृत्यु के पश्चात् मेरी क्या अवस्था होगी ?' यूनानियो के मत मे मनुष्य मर कर स्वर्ग जाता है। स्वर्ग जाने का क्या अर्थ है ? सब कुछ के बाहर जाना, भीतर कुछ नही है। सब कुछ केवल बाहर है। उनका लक्ष्य केवल बाहर की ओर था, केवल इतना ही नही, मानो वे स्वय भी अपने आप से बाहर थे। और उन्होंने सोचा, जिस समय वे एक ऐसे स्थान मे जा पहुँचेंगे जो बहुत कुछ इसी ससार की भाँति है, किन्तु वहाँ इस ससार के दु ख-क्लेश का सर्वथा अभाव है, तभी उन्हें ईप्सित सभी वस्तुएँ प्राप्त हो जायँगी और वे तृप्त हो जायँगे। उनकी धर्म सम्बन्धी भावना इसके और ऊपर नही उठ सकी।

स्तुति है। इस पर प्रश्न यह उठा ये देवता कौन थे ? इनके सम्बन्ध में अनेक मत निर्धारित हुए, किन्तु अन्यान्य मतों द्वारा वे मत खंडित कर दिये गये। ऐसा बहुत दिनों तक चलता रहा।

इसके बाद स्वामी जी ने उपासना प्रणाली सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं की चर्चा की। बेबिलोन के प्राचीन निवासियों की आत्मा के सम्बन्ध में यह धारणा थी कि वह केवल एक प्रतिरूप देह (double) मात्र है उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता और वह देह मूल देह से अपना सम्बन्ध कदापि विच्छिन्न नहीं कर सकती। इस 'प्रतिरूप' देह को भी मूल शरीर की भाँति क्षुधा तृषा मनोवृत्ति आदि के विकार होते हैं ऐसा उनका विश्वास था साथ ही यह भी विश्वास था कि मृत मूल शरीर पर किसी प्रकार का आघात करने से 'प्रतिरूप' देह भी आहत होगी। मूल शरीर के नष्ट होने पर 'प्रतिरूप' देह भी नष्ट हो जायगी। इसलिए मृत शरीर की रक्षा करने की प्रथा आरम्भ हुई। इसीसे ममी समाधि मन्दिर, क़ब्र आदि की उत्पत्ति हुई। मिस्र और बेबिलोन के निवासी एवं यहूदियों की विचार-धारा इससे अधिक अग्रसर न हो सकी वे आत्म-तत्त्व तक नहीं पहुँच सके।

प्रो० मैक्समूलर का कहना है कि ऋग्वेद में पितर-पूजा का सामान्य चिह्न भी नहीं दिखायी पड़ता। ममी आँख फाड़े हुए हम लोगों की ओर देख रहे हैं। ऐसा बीभत्स और भयावह दृश्य भी वेदों में नहीं मिलता। देवता मनुष्यों के प्रति मित्रभाव रखते हैं। उपास्य और उपासक का सम्बन्ध सहज और सौम्य है। उसमें किसी प्रकार की म्लानता का भाव नहीं है उनमें सहज आनन्द और सरल हास्य का अभाव नहीं है। स्वामी जी ने कहा वेदों की चर्चा करते समय मानो मैं देवताओं की हास्य-ध्वनि स्पष्ट सुनता हूँ। वैदिक ऋषिगण अपने सम्पूर्ण भाव भाषा में भले ही न प्रकट कर सके हों किन्तु वे संस्कृति और सहृदयता के आगार थे। हम लोग उनकी तुलना में जंगली हैं।

इसके बाद स्वामी जी ने अपने कथन की पुष्टि में अनेक वैदिक मंत्रों का उच्चारण किया। 'जिस स्थान पर पितृगण निवास करते हैं उनको उसी स्थान पर ले जाओ—जहाँ कोई दुःख शोक नहीं है। इत्यादि। इसी भाँति इस देश में इस धारणा का आविर्भाव हुआ कि जितनी जल्दी शव जला दिया जायगा उतना ही अच्छा है। उनको क्रमशः ज्ञात हो गया कि स्थूल देह के अतिरिक्त एक सूक्ष्म देह है वह सूक्ष्म देह स्थूल देह के त्याग के पश्चात् एक ऐसे स्थान में पहुँच जाती है जिस स्थान में केवल आनन्द है दुःख का तो नामोनिशान भी नहीं है। सेमेटिक धर्म में भय और कष्ट के भाव प्रचुर हैं। उनकी यह धारणा थी कि यदि मनुष्य ने ईश्वर का दर्शन कर लिया तो वह मर जायगा। किन्तु ऋग्वेद का भाव यह

थे, उन्होने अपने मत की पुष्टि के लिए खीचतान कर उनका विकृत अर्थ किया। रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य ने भी शुद्ध अद्वैतभाव प्रतिपादक वेदाशो की द्वैत व्याख्या करके वैसी ही भूल की है। यह सर्वथा सत्य है कि उपनिषद् एक तत्त्व की शिक्षा देते हैं, किन्तु इस तत्त्व मे सोपानारोहण की भाँति शिक्षा दी गयी है। इसके बाद स्वामी जी ने कहा कि खेद की बात है कि वर्तमान भारत मे धर्म का मूल तत्त्व नही रह गया है, सिर्फ थोडे बाह्य अनुष्ठान मात्र शेष बचे हैं। भारतवासी इस समय न तो हिन्दू ही हैं और न वेदान्ती ही। वे केवल छुआछूत मत के पोषक हैं। रसोई-घर ही उनके मन्दिर हैं और रसोई की हँडिया और बर्तन ही उनके देवता हैं। इस स्थिति का अन्त होना ही चाहिए, और जितना शीघ्र इसका अन्त हो, उतना ही हमारे धर्म के लिए अच्छा है। उपनिषद् अपनी महिमा मे उद्भासित हो और साथ ही विभिन्न सम्प्रदायो मे विवाद की इति भी हो जाय।

शरीर स्वस्थ न होने से इतना ही बोल कर स्वामी जी थक गये। अत उन्होने आध घटे विश्राम किया। उनके व्याख्यान का शेषाश सुनने के लिए श्रोतागण इस बीच धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते रहे। स्वामी जी बाहर आये और उन्होंने फिर आध घटे भाषण किया। उन्होंने समझाया कि बहुत्व मे एकत्व की खोज को ही ज्ञान कहते है और किसी विज्ञान का चरम उत्कर्ष तब माना जाता है, जब सारे अनेकत्व मे एक एकत्व का अनुसधान पूरा हो जाता है। यह नियम भौतिक विज्ञान तथा आध्यात्मिक विज्ञान दोनो पर समान रूप से लागू होता है।

किन्तु हिन्दुओं का मन इतने से तृप्त नहीं हुआ। उनके विचार में स्वर्ग भी स्थूल जगत् के अन्तर्गत है। हिन्दुओं का मत है कि जो कुछ संयोगोत्पन्न है उसका विनाश अवश्यम्भावी है। उन्होंने बाह्य प्रकृति से पूछा 'आत्मा क्या है, इसे क्या तुम जानती हो?' उत्तर मिला 'नहीं'। प्रश्न हुआ 'क्या कोई ईश्वर है?' प्रकृति ने उत्तर दिया "मैं नहीं जानती।" तब वे प्रकृति से विमुख हो गये और वे समझने लगे कि बाह्य प्रकृति कितनी ही महान् और भव्य क्यों न हो वह देश-काल की सीमा से आबद्ध है। तब एक अन्य वाणी सुनायी देती है, नये उदात्त भावों की धारणा उनके मन में उदित होती है। यह वाणी थी नेति नेति'—'यह नहीं, यह नहीं'—उस समय विभिन्न देवगण एक हो गये सूर्य चन्द्र तारा इतना ही क्यों समग्र ब्रह्मांड एक हो गया—उस समय इस नूतन आदर्श पर उनके धर्म का आध्यात्मिक आधार प्रतिष्ठित हुआ।

> न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
> तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
> (कठोपनिषद् २।२)

—'वहाँ सूर्य भी प्रकाशित नहीं होता न चन्द्र न तारा न विद्युत्, फिर इस भौतिक अग्नि का तो कहना ही क्या! उसीके प्रकाशमान होने से ही सब कुछ प्रकाशित होता है, उसीके प्रकाश से ही सब चीजें प्रकाशित हैं। उस सीमाबद्ध अपरिपक्व व्यक्तिविशेष सबके पाप-पुण्यों का विचार करनेवाले क्षुद्र ईश्वर की धारणा शेष नहीं रही *अब बाहर का अन्वेषण समाप्त हुआ अपने भीतर अन्वेषण आरम्भ* हुआ। इस भाँति उपनिषद् भारत के बाइबिल हो गये। इन उपनिषदों का यह विशाल साहित्य है। और भारत में जो विभिन्न मतवाद प्रचलित हैं, सभी उपनिषदों की भित्ति पर प्रतिष्ठित हुए।

इसके बाद स्वामी जी ने द्वैत विशिष्टाद्वैत अद्वैत मतों का वर्णन करके उनके सिद्धान्तों का निम्नलिखित कथन से समन्वय किया। उन्होंने कहा "इनमें प्रत्येक मानो एक एक सोपान है—एक सोपान पर चढ़ने के बाद परवर्ती सोपान पर चढ़ना होता है, सबके अन्त में अद्वैतवाद की स्वाभाविक परिणति है और अन्तिम सोपान है तत्त्वमसि।" उन्होंने बताया कि प्राचीन भाष्यकार शंकराचार्य रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य आदि भी उपनिषद् को ही एकमात्र प्रमाण मानते थे तथापि सभी इस भ्रम में पड़े कि उपनिषद् एक ही मत की शिक्षा देते हैं। सबने गलतियाँ की हैं। *शंकराचार्य इस भ्रम में पड़े थे कि सब उपनिषदों में केवल अद्वैतवाद की शिक्षा है दूसरा कुछ है ही नहीं।* इसलिए जिस स्थान पर स्पष्ट द्वैत भावात्मक श्लोक मिलते

ऐंग्लो-सैक्सन जाति ने मानवता तथा सामाजिक उन्नति की दिशा मे कार्य करने की, सभ्यता और प्रगति की महती क्षमता का विकास किया है। इतना ही नही, कुछ और आगे वढकर मैं यह भी कह सकता हूँ कि यदि उस ऐंग्लो-सैक्सन जाति की शक्ति का प्रभाव इतना विस्तारित नही हुआ होता तो हम शायद इस तरह इकट्ठे भी नही होते और आज यहाँ पर 'भारतीय आध्यात्मिक विचारो का प्रभाव' विषय पर चर्चा भी न कर पाते। फिर पाश्चात्य से प्राच्य को, अपने स्वदेश को, लौटकर देखता हूँ कि वही ऐंग्लो-सैक्सन शक्ति अपने समस्त दोषो के साथ भी अपने गुणो की निश्चित विशिष्टताओ की रक्षा करते हुए अपना कार्य यहाँ कर रही है और मेरा विश्वास है कि अन्तत महान् परिणाम सिद्ध होगा। ब्रिटिश जाति का विस्तार और उन्नति का भाव हमे बलपूर्वक उन्नति की ओर अग्रसर कर रहा है। साथ ही हमे यह भी याद रखना चाहिए कि पाश्चात्य सभ्यता का मूल स्रोत यूनानी सभ्यता है और यूनानी सभ्यता का प्रधान भाव है—अभिव्यक्ति। हम भारतवासी मननशील तो हैं, परन्तु कभी कभी दुर्भाग्यवश हम इतने मननशील हो जाते हैं कि हममे भाव व्यक्त करने की शक्ति बिल्कुल नही रह जाती। मतलव यह कि धीरे धीरे ससार के समक्ष भारतवासियो की भाव प्रकाशित करने की शक्ति अव्यक्त ही रह गयी और उसका फल क्या हुआ? फल यही हुआ कि हमारे पास जो कुछ था, सवको हम गुप्त रखने की चेष्टा करने लगे। भाव गुप्त रखने का यह सिलसिला आरम्भ तो हुआ व्यक्ति विशेष की ओर से, पर क्रमश बढ़ता हुआ यह अन्त मे जातीय स्वभाव बन गया। और आज भाव को अभिव्यक्त करने की शक्ति का हममे इतना अभाव हो गया है कि हमारी जाति एक मरी हुई जाति समझी जाने लगी है। ऐसी अवस्था मे अभिव्यक्त किये बिना हमारी जाति के जीवित रहने की सम्भावना कहाँ है? पाश्चात्य सभ्यता का मेरुदड है विस्तार और अभिव्यक्ति। भारतवर्ष मे ऐंग्लो-सैक्सन जाति के कामो मे से जिस कार्य की ओर मैंने तुम लोगो का ध्यान आकृष्ट करना चाहा है, वही हमारी जाति को जगाकर एक बार फिर हमे अपने को अभिव्यक्त करने के लिए तैयार करेगा। और आज भी यही शक्तिशाली ऐंग्लो-सैक्सन जाति अपने भाव-विनिमय के साधनो की सहायता से हमे ससार के आगे अपने गुप्त रत्नो को प्रकट करने के लिए उत्साहित कर रही है। ऐंग्लो-सैक्सन जाति ने भारतवर्ष की भावी उन्नति का रास्ता खोल दिया है और हमारे पूर्वपुरुषो के भाव जिस तरह धीरे धीरे वहुतेरे स्थानो मे फैलते जा रहे हैं, यह वास्तव मे विलक्षण है। लेकिन जव हमारे पूर्वपुरुषो ने अपना सत्य और मुक्ति का सदेश प्रचारित किया, तव उन्हे कितना सुभीता था! भगवान् वुद्ध ने किस तरह सार्वजनीन भ्रातृभाव के महान् तत्त्व का प्रचार किया था। उस समय भी

इंग्लैंड में भारतीय आध्यात्मिक विचारों का प्रभाव

११वीं मार्च सन् १८९८ ई को स्वामी जी की शिष्या सिस्टर निवेदिता (कुमारी एम ई नोबल) ने कलकत्ते के स्टार थियेटर में 'इंग्लैण्ड में भारतीय आध्यात्मिक विचारों का प्रभाव' नामक विषय पर एक व्याख्यान दिया। सभापति का आसन स्वयं स्वामी विवेकानन्द ने ही ग्रहण किया था। स्वामी जी ने उठकर पहले श्रोताओं को उक्त महिला का परिचय देते हुए नीचे लिखी बातें कहीं

स्वामी जी का भाषण

देवियो और सज्जनो

मैं जिस समय एशिया के पूर्वी हिस्से में भ्रमण कर रहा था उस समय एक विषय की ओर मेरी दृष्टि विशेष रूप से आकृष्ट हुई थी। मैंने देखा कि उन स्थानों में भारतीय आध्यात्मिक विचार व्याप्त हैं। चीन और जापान के कितने ही मन्दिरों की दीवारों के ऊपर कई सुपरिचित संस्कृत मंत्रों को लिखा हुआ देखकर मैं कितना विस्मित हुआ था यह तुम लोग आसानी से समझ सकते हो। और यह सुनकर शायद तुम्हें और भी आश्चर्य होगा और कुछ लोगों को सम्भवतः प्रसन्नता भी होगी कि वे सब मंत्र पुरानी बँगला लिपि में लिखे हुए हैं। हमारे बंगाल के पूर्वपुरुषों का धर्म प्रचार में कितना उत्साह और स्फूर्ति थी मानो यही बताने के लिए आज भी वे मंत्र उन पर स्मारक के रूप में मौजूद हैं।

भारतीय आध्यात्मिक विचारों की पहुँच एशिया महाद्वीप के इन देशों तक ही हुई है ऐसा नहीं बरन् वे बहुत दूर तक फैले हुए हैं और उनके चिह्न सुस्पष्ट हैं। यहाँ तक कि पाश्चात्य देशों में भी कितने ही स्थानों के आचार-व्यवहार के मर्म में पैठकर मैंने उसके प्रभाव-चिह्न देखे। प्राचीन काल में भारत के आध्यात्मिक विचार भारत के पूर्व और पश्चिम दोनों ही ओर फैले। यह बात अब ऐतिहासिक सत्य के रूप में प्रमाणित हो चुकी है। सारा संसार भारत के अध्यात्म-तत्त्व के लिए कहाँ तक ऋणी है तथा यहाँ की आध्यात्मिक शक्ति ने मानव जाति को जीवन संगठन के कार्य में प्राचीन अथवा अर्वाचीन समय में कितनी बड़ी सहायता पहुँचायी है, यह बात अब सब लोग जान गये हैं। ये सब तो पुरानी बातें हैं। मैं संसार में एक और सर्वाधिक उल्लेखनीय बात देखता हूँ। वह यही है कि उस अद्भुतकर्मा

मैं अब केवल दो चार बातें और कहना चाहता हूँ। हमारी धारणा है कि हम भारतवासी भी कुछ काम कर सकते हैं। भारतवासियो मे हम वगाली लोग भले ही इस बात की हँसी उडा सकें, पर मैं वैसा नही करता। तुम लोगो के अन्दर एक अदम्य उत्साह, एक अदम्य चेष्टा जाग्रत कर देना ही मेरा जीवन-व्रत है। चाहे तुम अद्वैतवादी हो, चाहे विशिष्टाद्वैतवादी हो अथवा तुम द्वैतवादी ही क्यो न हो, इससे कुछ अतर नही पडता। परन्तु एक वात की ओर जिसे दुर्भाग्यवश हम लोग हमेशा भूल जाया करते हैं, इस समय मैं तुम्हारा ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। वह यह कि 'ऐ मानव, तू अपने आप पर विश्वास कर।' केवल इसी एक उपाय से हम ईश्वर के विश्वास-परायण बन सकते हैं। तुम चाहे अद्वैतवादी हो या द्वैतवादी, तुम्हारा विश्वास चाहे योगशास्त्र पर हो या शकराचार्य पर, चाहे तुम व्यास के अनुयायी हो या विश्वामित्र के, इससे कोई फर्क नही पडता। वात यह है कि पूर्वोक्त आत्मा सम्वन्धी विश्वास के विषय मे भारतवासियो के विचार ससार की अन्य सभी जातियो के विचारो से निराले हैं। एक पल के लिए इसे ध्यान मे रखो कि जब अन्यान्य सभी धर्मों और देशो मे आत्मा की शक्ति को लोग बिल्कुल स्वीकार नही करते—वे आत्मा को प्राय शक्तिहीन, दुर्बल और जड वस्तु की तरह समझते हैं, हम लोग भारतवर्ष मे आत्मा को अनन्त शक्ति-सम्पन्न समझते हैं और हमारी धारणा है कि आत्मा शाश्वत पूर्ण ही रहेगी। हमे सदा उपनिषदो मे दिये गये उपदेशो को स्मरण रखना चाहिए।

अपने जीवन के महान् व्रत को याद रखो। हम भारतवासी और विशेषत हम वगाली बहुत परिमाण मे विदेशी भावो से आक्रान्त हो गये हैं, जो हमारे जातीय धर्म की सम्पूर्ण जीवनी शक्ति को चूसे डालते हैं। हम आज इतने पिछडे हुए क्यो हैं? क्यो हममे से निन्यानबे फी सदी आदमी सम्पूर्णत पाश्चात्य भावो और उपादानो से विनिर्मित हो रहे हैं? अगर हम लोग राष्ट्रीय गौरव के उच्च शिखर पर आरोहण करना चाहते हैं तो हमे इस विदेशी भाव को दूर फेंक देना होगा, साथ ही यदि हम ऊपर चढना चाहते हैं तो हमे यह भी याद रखना होगा कि हमे पाश्चात्य देशो से वहुत कुछ सीखना वाकी है। पाश्चात्य देशो से हमे उनका शिल्प और विज्ञान सीखना होगा, उनके यहाँ के भौतिक विज्ञानो को सीखना होगा और उधर पाश्चात्य देशवासियो को हमारे पास आकर धर्म और अध्यात्म-विद्या की शिक्षा ग्रहण करनी होगी। हम हिन्दुओ को विश्वास करना होगा कि हम ससार के गुरु हैं। हम यहाँ पर राजनीतिक अधिकार तथा इसी प्रकार की अन्यान्य वातो के लिए चिल्ला रहे हैं। अच्छी वात है, परन्तु अधिकार और सुभीते केवल मित्रता के द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं और मित्रता की आशा वही की जाती है, जहाँ दोनो पक्ष समान होते हैं। यदि एक पक्ष-

यहाँ हमारे प्रिय भारतवर्ष में वास्तविक आनन्द प्राप्त करने के यथेष्ट सुभीते थे और हम बहुत ही सुगमता के साथ पृथ्वी की एक छोर से दूसरे छोर तक अपने भावों और विचारों को प्रचारित कर सकते थे परन्तु अब हम उससे और भी आगे बढ़कर ऐंग्लो-सैक्सन जाति तक अपने भावों का प्रचार करने में कृतकार्य हो रहे हैं।

इसी तरह क्रिया प्रतिक्रिया इस समय चल रही है और हम देख रहे हैं कि हमारे देश का संदेश वहाँवाले सुनते हैं और केवल सुनते ही नहीं हैं, बल्कि उन पर अनुकूल प्रभाव भी पड़ रहा है। इसी बीच इंग्लैंड ने अपने कई महान् मतिमान व्यक्तियों को हमारे काम में सहायता पहुँचाने के लिए भेज दिया है। तुम लोगों ने शायद मेरी मित्र मिस मूलर की बात सुनी है और सम्भव है तुम लोगों में से बहुतों का उनके साथ परिचय भी हो—वे इस समय इसी मंच पर उपस्थित हैं। उच्च कुल में उत्पन्न इस सुशिक्षित महिला ने भारत के प्रति अगाध प्रेम होने के कारण अपना समग्र जीवन भारत के कल्याण के लिए न्यौछावर कर दिया है। उन्होंने भारत को अपना घर तथा भारतवासियों को ही अपना परिवार बना लिया है। तुम सभी उन सुप्रसिद्ध उदारहृदया अंग्रेज महिला के नाम से भी परिचित हो—उन्होंने भी अपना सारा जीवन भारत के कल्याण तथा पुनरुत्थान के लिए अर्पण कर दिया है। मेरा अभिप्राय श्रीमती बेसेन्ट से है। प्यारे भाइयो आज इस मंच पर दो अमेरिकन महिलाएँ उपस्थित हैं—ये भी अपने हृदय में वैसा ही उद्देश्य धारण किये हुए हैं और मैं आप लोगों से निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि ये भी हमारे इस गरीब देश के कल्याण के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग करने को तैयार हैं। इस अवसर पर मैं तुम लोगों को एक स्वदेशवासी का नाम याद दिलाना चाहता हूँ। इन्होंने इंग्लैंड और अमेरिका आदि देशों को देखा है, उनके ऊपर मेरा बड़ा विश्वास और भरोसा है, इन्हें मैं विशेष सम्मान और प्रेम की दृष्टि से देखता हूँ आध्यात्मिक राज्य में ये बहुत आगे बढ़े हुए हैं, ये बड़ी दृढ़ता के साथ और चुपचाप हमारे देश के कल्याण के लिए कार्य कर रहे हैं आज यदि उन्हें किसी और जगह कोई विशेष काम न होता तो वे अवश्य ही इस सभा में उपस्थित होते—यहाँ पर मेरा मतलब श्री मोहिनीमोहन चट्टोपाध्याय से है। इन लोगों के अतिरिक्त अब इंग्लैंड ने कुमारी मारगरेट नोबल को उपहारस्वरूप भेजा है—इनसे हम बहुत कुछ आशा रखते हैं। बस और अधिक बातें न कर मैं तुम लोगों से कुमारी मारगरेट नोबल का परिचय कराता हूँ जो तुम्हारे समक्ष भाषण करेंगी।

जब सिस्टर निवेदिता ने अपना दिलचस्प व्याख्यान समाप्त कर दिया तब स्वामी जी फिर खड़े हुए और उन्होंने कहा

जल्दी या देरी से माया के बन्धन से मुक्त होगे। यही हमारा सबसे पहला कर्तव्य है। अनन्त आशा से ही अनन्त आकाक्षा और चेष्टा की उत्पत्ति होती है। यदि यह विश्वास हमारे अन्दर बैठ जाय तो वह हमारे जातीय जीवन मे व्यास और अर्जुन का समय—वह समय, जब कि हमारे यहाँ से समग्र मानव जाति के लिए कल्याणकर उदात्त मतवाद प्रचारित हुआ था—ले आयेगा। आज हम लोग आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि और आध्यात्मिक विचारो मे बहुत ही पिछड गये हैं—भारत मे यथेष्ठ परिमाण मे आध्यात्मिकता विद्यमान थी, इतने अधिक परिमाण मे थी कि उसकी आध्यात्मिक महानता ने ही भारतीयो को सारे ससार की जातियो का सिरमौर बना दिया था। और यदि परम्परा तथा लोगो की आशा पर विश्वास किया जाय तो हमारा वह दिन फिर लौट आयेगा, और वह तुम लोगो के ऊपर ही निर्भर करता है। ऐ बगाली नवयुवको, तुम लोग धनी-मानियो और बडे आदमियो का मुँह ताकना छोड दो। याद रखो, ससार मे जितने भी बडे बडे और महान् कार्य हुए है, उन्हें गरीबो ने ही किया है। इसलिए ऐ गरीब बगालियो, उठो और काम मे लग जाओ, तुम लोग सब काम कर सकते हो और तुम्हे सब काम करने पडेंगे। यद्यपि तुम ग़रीब हो, फिर भी बहुत लोग तुम्हारा अनुसरण करेंगे। दृढचित्त बनो और इससे भी बढकर पूर्ण पवित्र और धर्म के मूल तत्त्व के प्रति निष्ठावान बनो। विश्वास रखो कि तुम्हारा भविष्य अत्यन्त गौरवपूर्ण है। ऐ बगाली नवयुवको, तुम लोगो के द्वारा ही भारत का उद्धार होनेवाला है। तुम इस पर विश्वास करो या न करो, पर तुम इस बात पर विशेष रूप से ध्यान रखो और ऐसा मत समझो कि यह काम आज या कल ही पूरा हो जायगा। मुझे अपनी देह और अपनी आत्मा के अस्तित्व पर जैसा दृढ विश्वास है, इस पर भी मेरा वैसा ही अटल विश्वास है। इसीलिए ऐ बगीय नवयुवको, तुम्हारे प्रति मेरा हृदय इतना आकृष्ट है। जिनके पास धन-दौलत नही है, जो गरीब है, केवल उन्ही लोगो का भरोसा है, और चूंकि तुम गरीब हो, इसलिए तुम्हारे द्वारा यह कार्य होगा। चूंकि तुम्हारे पास कुछ नही है, इसीलिए तुम सच्चे हो सकते हो, और सच्चे होने के कारण ही तुम सब कुछ त्याग करने के लिए तैयार हो सकते हो। बस, केवल यही बात मैं तुमसे अभी अभी कह रहा था। और पुन तुम्हारे समक्ष मैं इसे दुहराता हूँ—यही तुम लोगो का जीवन-व्रत है और यही मेरा भी जीवन-व्रत है। तुम चाहे किसी भी दार्शनिक मत का अवलम्बन क्यो न करो, मैं यहाँ पर केवल यही प्रमाणित करना चाहता हूँ कि सारे भारत मे मानव जाति की पूर्णता मे अनन्त विश्वासरूप प्रेम-सूत्र ओतप्रोत भाव से विद्यमान है। मैं चाहता हूँ कि इस विश्वास का सारे भारत मे प्रचार हो।

सारा जीवन भर भीख माँगता रहे तो क्या वहीं पर मित्रता स्थापित हो सकती है? ये सब बातें कह देना बहुत आसान है पर मेरा तात्पर्य यह है कि पारस्परिक सहयोग के बिना हम लोग कभी शक्तिसम्पन्न नहीं हो सकते। इसीलिए मैं तुम लोगों को भिखमंगों की तरह नहीं धर्माचार्य के रूप में इंग्लैण्ड और अमेरिका आदि देशों में जाने के लिए कह रहा हूँ। हमें अपने सामर्थ्य के अनुसार विनिमय के नियम का प्रयोग करना होगा। यदि हमें इस लोक में सुखी रहने के उपाय सीखने हैं तो हम भी उसके बदले में क्यों न उन्हें अनन्त काल तक सुखी रहने के उपाय बताये?

सर्वोपरि, समग्र मानव जाति के कल्याण के लिए कार्य करते रहो। तुम एक संकीर्ण घेरे के अन्दर बँधे रहकर अपने को 'शुद्ध' हिन्दू समझने का जो गर्व करते हो उसे छोड़ दो। मृत्यु सबके लिए राह देख रही है और इसे कभी मत भूलो जो सर्वाधिक अद्भुत ऐतिहासिक सत्य है कि संसार की सब जातियों को भारतीय साहित्य में निबद्ध सनातन सत्यसमूह को सीखने के लिए धैर्य धारण कर भारत के चरणों के समीप बैठना पड़ेगा। भारत का विनाश नहीं है चीन का भी नहीं है और जापान का भी नहीं। अतएव हमें अपने धर्मरूपी मेरुदंड की बात को सर्वदा स्मरण रखना होगा और ऐसा करने के लिए,हमें रास्ता बताने के लिए एक पथप्रदर्शक की आवश्यकता है—वह रास्ता जिसके विषय मे मैं अभी तुम लोगों से कह रहा था। यदि तुम लोगों में कोई ऐसा व्यक्ति हो जो यह विश्वास न करता हो यदि हमारे यहाँ कोई ऐसा हिन्दू बालक हो जो यह विश्वास करने के लिए उद्यत न हो कि हमारा धर्म पूर्णतः आध्यात्मिक है तो मैं उसे हिन्दू मानने को तैयार नहीं हूँ। मुझे याद है, एक बार काश्मीर राज्य के किसी गाँव में मैंने एक बूढ़ी औरत से बातचीत करते समय पूछा था 'तुम किस धर्म को मानती हो?' इस पर बूढ़ी ने तपाक से जवाब दिया था "ईश्वर को धन्यवाद उसकी कृपा से मैं मुसलमान हूँ।" इसके बाद किसी हिन्दू से भी यही प्रश्न पूछा तो उसने साधारण ढंग से कह दिया "मैं हिन्दू हूँ।" कठोपनिषद् का वह महावाक्य स्मरण आता है—'श्रद्धा' या अद्भुत विश्वास। नचिकेता के जीवन मे 'श्रद्धा' का एक सुन्दर दृष्टान्त दिखायी देता है। इस श्रद्धा का प्रचार करना ही मेरा जीवनोद्देश्य है। मैं तुम लोगों से फिर एक बार कहना चाहता हूँ कि यह श्रद्धा ही मानव जाति के जीवन का और संसार के सब धर्मों का महत्त्वपूर्ण अंग है। सबसे पहले अपने आप पर विश्वास करने का अभ्यास करो। यह जान लो कि कोई आदमी छोटे से जल-बुद्बुद के बराबर ही सकता है और दूसरा व्यक्ति पर्वताकार तरंग के समान बड़ा। पर उस छोटे जल-बुद्बुद और पर्वताकार तरंग दोनों के ही पीछे अनन्त समुद्र है। अतएव सबका जीवन आशाप्रद है सबके लिए मुक्ति का रास्ता खुला हुआ है और सभी

अत्यन्त अकिंचन अश हो, इसीलिए केवल इस तुच्छ स्वय के अभ्युदयार्थ यत्न करने की अपेक्षा यह श्रेष्ठ है कि तुम अपने करोडो भाइयो की सेवा करते रहो।

सर्वत पाणिपाद तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वत श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
(गीता १३।१३)

—'सर्वत्र उसके हाथ और पैर हैं, सर्वत्र उसके नेत्र, शिर और मुख हैं तथा लोक मे सर्वत्र उसके कान हैं। वह ईश्वर सर्वव्यापी होकर सर्वत्र विद्यमान है।'

इस प्रकार धीरे धीरे मृत्यु को प्राप्त हो जाओ। ऐसी ही मृत्यु मे स्वर्ग है, उसीमे सारी भलाई है। और इसके विपरीत समस्त अमगल तथा नरक है।

अब हमे यह विचार करना चाहिए कि किन उपायो अथवा साधनो द्वारा हम इन आदर्शों को कार्यरूप मे परिणत कर सकते हैं। सबसे पहले हमे यह समझ लेना चाहिए कि हमारा आदर्श ऐसा न हो जो असम्भव हो। अत्यन्त उच्च आदर्श रखने मे एक बुराई यह है कि उससे राष्ट्र कमजोर हो जाता है तथा धीरे धीरे गिरने लगता है। यही हाल बौद्ध तथा जैन सुधारो के बाद हुआ। परन्तु साथ ही हमे यह भी समझ लेना चाहिए कि अत्यधिक व्यावहारिकता भी ठीक नही है, क्योकि यदि तुममे थोडी भी कल्पना-शक्ति नही है, यदि तुम्हारे पथ-प्रदर्शन के लिए तुम्हारे सामने कोई भी आदर्श नही है, तो तुम निरे जगली ही हो। अतएव हमे अपने आदर्श को कभी नीचा नही करना चाहिए और साथ ही यह भी न होना चाहिए कि हम व्यावहारिकता को बिल्कुल भूल बैठें। इन दो 'अतियो' से हमे बचना चाहिए। हमारे देश मे तो प्राचीन पद्धति यह है कि हम एक गुफा मे बैठ जायें, वही ध्यान करें और बस वही मर जायें, परन्तु मुक्ति-लाभ के लिए यह गलत सिद्धान्त है कि हम दूसरो से आगे ही बढते चले जायें। आगे या पीछे साधक को यह समझ लेना चाहिए कि यदि वह अपने अन्य भाइयो की मुक्ति के लिए भी यत्न नही करता है तो उसे मुक्ति नही प्राप्त हो सकती। अतएव तुम्हें इस बात का यत्न करना चाहिए कि तुम्हारे जीवन मे उच्च आदर्श तथा उत्कृष्ट व्यावहारिकता का सुन्दर सामजस्य हो। तुम्हें इस बात के लिए तैयार होना चाहिए कि एक क्षण तो तुम पूर्ण रूप से ध्यान मे मग्न हो सको, पर दूसरे ही क्षण (मठ के चरागाह की भूमि की ओर इशारा करके स्वामी जी ने कहा) इन खेतो को जोतने के लिए उद्यत हो जाओ। अभी तुम इस बात के योग्य बनो कि शास्त्रो की कठिन गुत्थियो को स्पष्ट रूप से समझा सको, पर दूसरे ही क्षण उसी उत्साह से इन खेतो की फसल को ले जाकर बाजार मे भी बेच सको। छोटे से छोटे सेवा-टहल के कार्य

सन्यास : उसका आदर्श तथा साधन

१९ जून सन् १८९९ को जब स्वामी जी दूसरी बार पाश्चात्य देशों को जाने लगे, उस अवसर पर विदाई के उपलक्ष्य में बेलुड़ मठ के युवा संन्यासियों ने उन्हें एक मानपत्र दिया। उसके उत्तर में स्वामी जी ने जो कहा था, उसका सारांश निम्नलिखित है :

स्वामी जी का भाषण

यह समय लम्बा भाषण देने का नहीं है, परन्तु संक्षेप में मैं कुछ उन बातों की चर्चा करूँगा जिनका तुम्हें आचरण करना चाहिए। पहले हमें अपने आदर्श को भली भाँति समझ लेना चाहिए और फिर उन साधनों को भी जानना चाहिए, जिनके द्वारा हम उसको चरितार्थ कर सकते हैं। तुम लोगों में से जो संन्यासी हैं, उन्हें सदैव दूसरों के प्रति भलाई करते रहने का यत्न करना चाहिए, क्योंकि संन्यास का यही अर्थ है। इस समय 'त्याग' पर भी एक लम्बा भाषण देने का अवसर नहीं है, परन्तु संक्षेप में मैं इसकी परिभाषा इस प्रकार करूँगा कि 'त्याग' का अर्थ है 'मृत्यु के प्रति प्रेम'। सांसारिक लोग जीवन से प्रेम करते हैं, परन्तु संन्यासी के लिए प्रेम करने को मृत्यु है। तो प्रश्न यह उठता है कि क्या फिर हम आत्महत्या कर लें? नहीं, नहीं, इससे बहुत दूर। आत्महत्या करनेवालों को मृत्यु तो कभी प्यारी नहीं होती, क्योंकि यह बहुधा देखा गया है कि कोई मनुष्य आत्महत्या करने जाता है और यदि वह अपने यत्न में असफल रहता है तो दुबारा फिर वह उसका कभी नाम भी नहीं लेता। तो फिर प्रश्न यह है कि मृत्यु के लिए प्रेम कैसा होता है?

हम यह निश्चित जानते हैं कि हम एक न एक दिन अवश्य मरेंगे और जब ऐसा है तो फिर किसी सत्कार्य के लिए ही हम क्यों न मरें! हमें चाहिए कि हम अपने सारे कार्यों को जैसे खाना-पीना, सोना, उठना, बैठना आदि सभी—आत्म त्याग की ओर लगा दें। भोजन द्वारा तुम अपने शरीर को पुष्ट करते हो, परन्तु उससे क्या काम हुआ, यदि तुमने उस शरीर को दूसरों की भलाई के लिए अर्पण न किया? इसी प्रकार तुम पुस्तकें पढ़कर अपने मस्तिष्क को पुष्ट करते हो, परन्तु उससे भी कोई काम नहीं, यदि समस्त संसार के हित के लिए तुमने उस मस्तिष्क को लगा कर आत्म-त्याग न किया। चूँकि सारा संसार एक है और तुम इसके एक

मैंने क्या सीखा ?

(ढाका में मार्च, सन् १९०१ मे दिया गया व्याख्यान)

ढाका मे स्वामी जी ने दो भाषण अंग्रेज़ी मे दिये। प्रथम भाषण का विषय था, 'मैंने क्या सीखा ?' और द्वितीय का विषय था, 'वह धर्म जिसमे हम पैदा हुए।' बगला भाषा मे एक शिष्य ने प्रथम भाषण की जो रिपोर्ट ली, उसमे व्याख्यान का साराश आ गया है और उसीका हिन्दी रूपान्तर निम्नलिखित है

स्वामी जी का भाषण

सर्वप्रथम मैं इस बात पर हर्ष प्रकट करता हूँ कि मुझे पूर्वी बगाल मे आने और देश के इस भाग की सविशेष जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिला। यद्यपि मैं पश्चिम के बहुत से सभ्य देशो मे घूम चुका हूँ, पर अपने देश के इस भाग के दर्शन का सौभाग्य मुझे नही मिला था। अपनी ही जन्मभूमि बगाल के इस अचल की विशाल नदियो, विस्तृत उपजाऊ मैदानो और रमणीक ग्रामो का दर्शन पाने पर मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। मैं नही जानता था कि इस देश के जल और स्थल सभी मे इतना सौन्दर्य तथा आकर्षण भरा पडा है। किन्तु नाना देशो के भ्रमण से मुझे यह लाभ हुआ है कि मैं विशेष रूप से अपने देश के सौन्दर्य का मूल्याकन कर सकता हूँ।

इसी भाँति मैं पहले धर्म-जिज्ञासा से नाना सम्प्रदायो मे—अनेक ऐसे सम्प्रदायो मे जिन्होंने दूसरे राष्ट्रो के भावो को अपना लिया है—भ्रमण करता था, दूसरो के द्वार पर भिक्षा माँगता था। तब मैं जानता न था कि मेरे देश का धर्म, मेरी जाति का धर्म इतना सुन्दर और महान् है। कई वर्ष हुए मुझे पता लगा कि हिन्दू धर्म ससार का सर्वाधिक पूर्ण सन्तोषजनक धर्म है। अत मुझे यह देखकर हार्दिक क्लेश होता है कि यद्यपि हमारे देशवासी अप्रतिम धर्मनिष्ठ होने का दावा करते हैं, पर हमारे इस महान् देश मे यूरोपीय ढग के विचार फैलने के कारण उनमे धर्म के प्रति व्यापक उदासीनता आ गयी है। हाँ, यह बात जरूर है और उससे मैं भली भाँति अवगत हूँ कि उन्हें जिन भौतिक परिस्थितियो मे जीवन-यापन करना पडता है, वे प्रतिकूल हैं।

के लिए भी तुम्हें उद्यत रहना चाहिए और वह भी केवल यहीं नहीं वरन् सर्वत्र।

अब दूसरी बात जो ध्यान में रखने योग्य है वह यह है कि इस मठ का उद्देश है 'मनुष्य' का निर्माण करना। तुम्हें केवल यही नहीं सीखना चाहिए, जो इसे ऋषियों ने सिखाया है। वे ऋषि चले गये और उनकी सम्मतियाँ भी उन्हींके साथ चली गयीं। अब तुम्हें स्वयं ऋषि बनना होगा। तुम भी वैसे ही मनुष्य हो जैसे कि बड़े से बड़े व्यक्ति जो कभी पैदा हुए, यहाँ तक कि तुम अवतारों के सदृश हो। केवल ग्रन्थों के पढ़ने से ही क्या होगा? केवल ध्यान-धारणा से भी क्या होगा तथा केवल मंत्र-तन्त्र भी क्या कर सकते हैं? तुम्हें तो अपने ही पैरों पर खड़े होना चाहिए और इस नये ढंग से कार्य करना चाहिए—वह ढंग जिससे मनुष्य 'मनुष्य' बन जाता है। सच्चा 'मर्द' वही है जो इतना शक्तिशाली हो जितनी शक्ति स्वयं है, परन्तु फिर भी जिसका हृदय एक नारी के सदृश कोमल हो। तुम्हारे चारों ओर जो करोड़ों व्यक्ति हैं उनके लिए तुम्हारे हृदय में प्रेम भाव होना चाहिए, परन्तु साथ ही तुम लोहे के समान दृढ़ और कठोर बने रहो पर ध्यान रहे कि साथ ही तुममें आज्ञा-पालन की नम्रता भी हो। मैं जानता हूँ कि ये गुण एक दूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं, परन्तु हाँ ऐसे ही परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले गुण तुममें होने चाहिए। यदि तुम्हारे वरिष्ठ तुम्हें इस बात की आज्ञा दें कि तुम नदी में कूद पड़ो और एक मगर को पकड़ लाओ तो तुम्हारा कर्तव्य यह होना चाहिए कि पहले तुम आज्ञा-पालन करो और फिर कारण पूछो। भले ही तुम्हें दी हुई आज्ञा ठीक न हो परन्तु फिर भी तुम पहले उसका पालन करो और फिर उसका प्रतिवाद करो। हमारे सम्प्रदायों में विशेषकर बंगीय सम्प्रदायों में एक विशेष दोष यह है कि यदि किसीके मत में कुछ अन्तर होता है तो बिना कुछ सोचे-विचारे वह झट से एक नया सम्प्रदाय शुरू कर देता है। थोड़ा सा भी रुकने का उनमें धीरज नहीं होता। अतएव अपने संघ के प्रति तुममें अटूट श्रद्धा तथा विश्वास होना चाहिए। यहाँ अवज्ञा को तनिक भी स्थान नहीं मिल सकता और यदि कहीं वह दिखायी दे तो निर्दयतापूर्वक उसे कुचलकर नष्ट कर डालो। हमारे इस संघ में एक भी अवज्ञाकारी सदस्य नहीं रह सकता और यदि कोई हो तो उसे निकाल बाहर करो। हमारे इस शिविर में दगाबाजी नहीं चल सकती यहाँ एक भी धोखेबाज नहीं रह सकता। इतने स्वतन्त्र रहो जितनी वायु, पर हाँ साथ ही ऐसे आज्ञापालक तथा नम्र जैसा कि यह पौधा या कुत्ता।

और मिथ्या है। लाख यत्न करो, पर इसे विना छोडे कदापि ईश्वर को नही पा सकते। यदि यह न कर सको तो मान लो कि तुम दुर्बल हो, किन्तु स्मरण रहे कि अपने आदर्श को कदापि नीचा न करो। सडते हुए मुर्दे को सोने के पत्ते से ढकने का यत्न न करो!' अस्तु। उनके मतानुसार यदि धर्म की उपलब्धि करनी है, यदि ईश्वर की प्राप्ति करनी है तो तुम्हारा प्रथम कर्तव्य है कि तुम लुकाछिपी का खेल खेलना छोड दो। मैंने क्या सीखा? मैंने इस प्राचीन सम्प्रदाय से क्या सीखा? यही सीखा

दुर्लभ त्रयमेवैतत् देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्व महापुरुषसश्रयः॥
(विवेकचूडामणि ३)

—'मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महापुरुष का ससर्ग इन तीनो का मिलना बहुत दुर्लभ है। ये तीनो बिना ईश्वर की कृपा के नही मिल सकते।' मुक्ति के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है—मनुष्यत्व या मनुष्य के रूप मे जन्म, क्योकि मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य-शरीर ही उपयुक्त है। इसके बाद चाहिए मुमुक्षुत्व। सम्प्रदाय और व्यक्ति-भेद से हमारी साधन प्रणालियाँ भिन्न भिन्न हैं। विभिन्न व्यक्ति यह भी दावा कर सकते हैं कि ज्ञानोपार्जन के उनके विशेष अधिकार एव साधन हैं और जीवन मे श्रेणी-भेद के कारण उनमे भी विभेद है, किन्तु यह नि सकोच कहा जा सकता है कि मुमुक्षुत्व के बिना ईश्वरोपलब्धि असम्भव है। मुमुक्षुत्व क्या है? इस ससार के सुख-दु ख से छुटकारा पाने की तीव्र इच्छा, इस ससार से प्रबल निर्वेद। जिस समय भगवान् के दर्शन के लिए यह तीव्र व्याकुलता होगी उसी समय समझना कि तुम ईश्वर-प्राप्ति के अधिकारी हुए हो।

इसके बाद चाहिए ब्रह्मदर्शी महापुरुष का सग अर्थात् गुरु-लाभ। गुरु-परम्परा से विना क्रमभग के जो शक्ति प्राप्त होती है, उसीके साथ अपना सयोग स्थापित करना होगा, क्योकि वैराग्य और तीव्र मुमुक्षुत्व रहने पर भी उसके विना कुछ न हो सकेगा। शिष्य को चाहिए कि वह अपने गुरु को परामर्शदाता, दार्शनिक, सुहृद् और पथप्रदर्शक के रूप मे अगीकार करे। गुरु करना आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। **श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तम।** (विवेकचूडामणि ३३) —'जिसे वेदो का रहस्य-ज्ञान है, जो निष्पाप है, जिसे कोई इच्छा न हो, जो ब्रह्म-ज्ञानियो मे श्रेष्ठ हो अर्थात् श्रोत्रिय हो, जो केवल शास्त्रो का पडित ही न हो, वरन् उनके सूक्ष्म रहस्यो का भी ज्ञाता हो और जिसे शास्त्रो के वास्तविक तात्पर्य का बोध हो'—वही गुरु होने योग्य है। 'विविध शास्त्रो को पढने मात्र से तो

वर्तमान काल में हम लोगों के बीच ऐसे कुछ सुधारक हैं जो हिन्दू जाति के पुनरुत्थान के लिए हमारे धर्म में सुधार या यों कहिए कि उलट-पलट करना चाहते हैं। निस्सन्देह उन लोगों में कुछ विचारशील व्यक्ति हैं लेकिन साथ ही ऐसे बहुत से लोग भी हैं जो अपने उद्देश्य को बिना जाने दूसरों का अन्धानुकरण करते हैं और अत्यन्त मूर्खतापूर्ण कार्य करते हैं। इस वर्ग के सुधारक हमारे धर्म में विजातीय विचारों का प्रवेश कराने में बड़ा उत्साह दिखाते हैं। यह सुधारक वर्ग मूर्ति-पूजा का विरोधी है। इस दल के सुधारक कहते हैं कि हिन्दू धर्म सच्चा धर्म नहीं है क्योंकि इसमें मूर्ति-पूजा का विधान है। मूर्ति-पूजा क्या है? यह अच्छी है या बुरी—इसका अनुसन्धान कोई नहीं करता, केवल दूसरों के इशारे पर वे हिन्दू धर्म को बदनाम करने का साहस करते हैं। एक दूसरा वर्ग और भी है जो हिन्दुओं के प्रत्येक रीति-रिवाजों में वैज्ञानिकता ढूँढ़ निकालने का व्यर्थ प्रयत्न कर रहा है। वे सदा विद्युत् शक्ति, चुम्बकीय शक्ति, वायु-कम्पन तथा उसी तरह की अन्य बातें किया करते हैं। कौन कह सकता है कि वे लोग एक दिन ईश्वर की परिभाषा करने में उसे विद्युत्-कम्पन का समूह न कह डालें! जो कुछ भी हो माँ इनका भी भला करे! जगदम्बा ही भिन्न भिन्न प्रकृतियों और प्रवृत्तियों के द्वारा अपना कार्य साधन करती हैं।

उक्त विचारवालों के विपरीत एक और वर्ग है, यह प्राचीन वर्ग कहता है कि हम लोग तुम्हारी बाल की खाल निकालनेवाला तर्कवाद नहीं जानते और न हमें जानने की इच्छा ही है, हम लोग तो ईश्वर और आत्मा का साक्षात्कार करना चाहते हैं। हम सुख-दुःखमय इस संसार को छोड़कर इसके अतीत प्रदेश में जहाँ परम आनन्द है, जाना चाहते हैं। यह वर्ग कहता है कि 'सविश्वास गंगा-स्नान करने से मुक्ति होती है, शिव राम विष्णु आदि किसी एक में ईश्वर-बुद्धि रखकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उपासना करने से मुक्ति होती है। मुझे गर्व है कि मैं इस दृढ़ आस्थावालों के प्राचीन वर्ग का हूँ।

इसके अतिरिक्त एक और वर्ग है जो ईश्वर और संसार दोनों की एक साथ ही उपासना करने के लिए कहता है। यह सच्चा नहीं है। वे जो कहते हैं वह उनके हृदय का भाव नहीं रहता। प्रकृत महात्माओं का उपदेश है

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहूँ होत नहिं रवि रजनी इक ठाम।।

महापुरुषों की वाणी हमसे इस बात की घोषणा करती है कि 'यदि ईश्वर को पाना चाहते हो, तो काम-कांचन का त्याग करना होगा। यह संसार असार, मायामय

और मिथ्या है। लाख यत्न करो, पर इसे बिना छोड़े कदापि ईश्वर को नही पा सकते। यदि यह न कर सको तो मान लो कि तुम दुर्बल हो, किन्तु स्मरण रहे कि अपने आदर्श को कदापि नीचा न करो। सड़ते हुए मुर्दे को सोने के पत्ते से ढकने का यत्न न करो!' अस्तु। उनके मतानुसार यदि धर्म की उपलब्धि करनी है, यदि ईश्वर की प्राप्ति करनी है तो तुम्हारा प्रथम कर्तव्य है कि तुम लुकाछिपी का खेल खेलना छोड दो। मैंने क्या सीखा ? मैंने इस प्राचीन सम्प्रदाय से क्या सीखा ? यही सीखा

दुर्लभ त्रयमेवैतत् देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्व मुमुक्षुत्व महापुरुषसश्रय'॥
(विवेकचूडामणि ३)

—'मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महापुरुष का ससर्ग इन तीनो का मिलना बहुत दुर्लभ है। ये तीनो बिना ईश्वर की कृपा के नही मिल सकते।' मुक्ति के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है—मनुष्यत्व या मनुष्य के रूप मे जन्म, क्योकि मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य-शरीर ही उपयुक्त है। इसके बाद चाहिए मुमुक्षुत्व। सम्प्रदाय और व्यक्ति-भेद से हमारी साधन प्रणालियाँ भिन्न भिन्न है। विभिन्न व्यक्ति यह भी दावा कर सकते हैं कि ज्ञानोपार्जन के उनके विशेष अधिकार एव साधन हैं और जीवन मे श्रेणी-भेद के कारण उनमे भी विभेद है, किन्तु यह नि सकोच कहा जा सकता है कि मुमुक्षुत्व के बिना ईश्वरोपलब्धि असम्भव है। मुमुक्षुत्व क्या है ? इस ससार के सुख-दु ख से छुटकारा पाने की तीव्र इच्छा, इस ससार से प्रबल निर्वेद। जिस समय भगवान् के दर्शन के लिए यह तीव्र व्याकुलता होगी उसी समय समझना कि तुम ईश्वर-प्राप्ति के अधिकारी हुए हो।

इसके बाद चाहिए ब्रह्मदर्शी महापुरुष का सग अर्थात् गुरु-लाभ। गुरु-परम्परा से बिना क्रमभग के जो शक्ति प्राप्त होती है, उसीके साथ अपना सयोग स्थापित करना होगा, क्योकि वैराग्य और तीव्र मुमुक्षुत्व रहने पर भी उसके बिना कुछ न हो सकेगा। शिष्य को चाहिए कि वह अपने गुरु को परामर्शदाता, दार्शनिक, सुहृद् और पथप्रदर्शक के रूप मे अगीकार करे। गुरु करना आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। **श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तम।** (विवेकचूडामणि ३३) —'जिसे वेदो का रहस्य-ज्ञान है, जो निष्पाप है, जिसे कोई इच्छा न हो, जो ब्रह्म-ज्ञानियों में श्रेष्ठ हो अर्थात् श्रोत्रिय हो, जो केवल शास्त्रो का पडित ही न हो, वरन् उनके सूक्ष्म रहस्यो का भी ज्ञाता हो और जिसे शास्त्रो के वास्तविक तात्पर्य का बोध हो'—वही गुरु होने योग्य है। 'विविध शास्त्रो को पढ़ने मात्र से तो

वे सब तोते बन गये हैं। उस व्यक्ति को वास्तविक पंडित समझना चाहिए जिसने शास्त्रों का केवल एक अक्षर पढ़कर (विष्य) प्रेम का काम कर लिया।"[1] केवल पोथी ज्ञान से पंडित हुए लोगों से काम न चलेगा। आजकल प्रत्येक व्यक्ति गुरु बनना चाहता है। कंगाल भिक्षुक लाख रुपये का दान करना चाहता है! तो गुरु अवश्य ही ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जिसे पाप छू तक न गया हो जो अकामहत हो अर्थात् जो कामनाओं से सन्तप्त न हो विशुद्ध परोपकार के सिवा जिसका दूसरा कोई इरादा न हो जो अहेतुक दयासिन्धु हो और जो नाम-यश के लिए अथवा किसी स्वार्थ-सिद्धि के लिए धर्मोपदेश न करता हो। जो ब्रह्म को भली भाँति जान चुका है अर्थात् जिसने ब्रह्म-साक्षात्कार कर लिया है, जिसके लिए ईश्वर 'करतला-मलकवत्' है—श्रुति का कहना है कि वही गुरु होने योग्य है। जब यह आध्यात्मिक संयोग स्थापित हो जाता है तब ईश्वर का साक्षात्कार होता है—तब ईश्वर-दृष्टि सुलभ होती है।

गुरु से दीक्षा लेने के पश्चात् सत्यान्वेषी साधक के लिए आवश्यकता पड़ती है अभ्यास की। गुरूपदिष्ट साधनों के सहारे इष्ट के निरन्तर ध्यान द्वारा सत्य को कार्यरूप में परिणत करने के सच्चे और बारंबार प्रयास को अभ्यास कहते हैं। मनुष्य ईश्वर प्राप्ति के लिए चाहे कितना ही व्याकुल क्यों न हो चाहे कितना ही अच्छा गुरु क्यों न मिले साधना—अभ्यास बिना किए उसे कभी ईश्वरोपलब्धि न होगी। जिस समय अभ्यास दृढ़ हो जायगा उसी समय ईश्वर प्रत्यक्ष होगा।

इसीलिए कहता हूँ कि हे हिन्दुओ हे आर्य सन्तानो तुम लोग हमारे धर्म के हिन्दुओं के इस महान् आदर्श को कभी न भूलो। हिन्दुओं का प्रधान लक्ष्य इस भवसागर के पार जाना है—केवल इसी संसार को छोड़ना होगा ऐसा नहीं है अपितु स्वर्ग को भी छोड़ना पड़ेगा—अशुभ के ही छोड़ने से काम नहीं चलेगा शुभ का भी त्याग आवश्यक है और इसी प्रकार सृष्टि-संसार बुरा-भला इन सबके अतीत होना होगा और अन्ततोगत्वा सच्चिदानन्द ब्रह्म का साक्षात्कार करना होगा।

---

१ पोथी पढ़ दुनी भयो, पंडित भया न कोय।
अक्षर एक जो प्रेम के पढ़े तो पंडित होय॥

वह धर्म जिसमें हम पैदा हुए

३१ मार्च, १९०१ को ढाका मे एक सभा का आयोजन खुले मैदान मे किया गया था। स्वामी जी ने इस सभा मे उपर्युक्त विषय पर अग्रेज़ी मे दो घण्टे व्याख्यान दिया। श्रोताओ की वहुत वडी भीड एकत्र थी। एक शिष्य ने उक्त भाषण की रिपोर्ट वँगला मे तैयार की, जिसका हिन्दी रूपान्तर निम्नलिखित है

प्राचीन काल मे हमारे देश मे आध्यात्मिक भाव की अतिशय उन्नति हुई थी। हमे आज वही प्राचीन गाथा स्मरण करनी होगी। किन्तु प्राचीन गौरव के अनुचिन्तन मे सबसे वडी आपत्ति यह है कि हम कोई नवीन काम करना पसन्द नही करते और केवल अपने प्राचीन गौरव के स्मरण और कीर्तन से ही सन्तुष्ट होकर अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने लग जाते है। हमे इस सम्वन्ध मे सावधान रहना चाहिए। यह सही है कि प्राचीन काल मे ऐसे अनेक ऋपि-महर्षि थे जिन्हे सत्य का साक्षात्कार हुआ था। किन्तु प्राचीन गौरव के स्मरण से वास्तविक उपकार तभी होगा, जब हम भी उनके सदृश ऋपि हो सकें। केवल इतना ही नही, मेरा तो दृढ विश्वास है कि हम और भी श्रेष्ठ ऋषि हो सकेंगे। भूतकाल मे हमारी खूब उन्नति हुई थी—मुझे उसे स्मरण करते हुए बडे गौरव का अनुभव होता है। वर्तमान अवनत अवस्था को देखकर भी मैं दु खी नही होता और भविष्य मे जो होगा, उसकी कल्पना कर मैं आशान्वित होता हूँ। ऐसा क्यो ? क्योकि मैं जानता हूँ कि बीज का सम्पूर्ण रूपान्तरण होना होता है , हाँ, जब बीज का बीजत्व भाव नष्ट होगा, तभी वह वृक्ष हो सकेगा। इसी प्रकार हमारी वर्तमान अवनत अवस्था के भीतर ही, चाहे थोडे समय के लिए ही, भविष्य की हमारी धार्मिक महानता की सम्भावनाएँ प्रसुप्त हैं जो अधिक शक्तिशाली एव गौरवशाली रूपो मे उठ खडी होने के लिए तत्पर हैं। अब हमे विचार करना चाहिए कि जिस धर्म मे हमने जन्म लिया है, उसमे सहमत होने के लिए समान भूमियाँ क्या हैं ? ऊपर से विचार करने पर हमे पता चलता है कि हमारे धर्म मे नाना प्रकार के विरोध हैं। कुछ लोग अद्वैतवादी, कुछ विशिष्टा-द्वैतवादी और कुछ द्वैतवादी हैं। कोई अवतार मानते हैं, कोई मूर्ति-पूजा मे विश्वास रखते हैं तो कोई निराकारवादी हैं। आचार के सम्बन्ध मे भी नाना प्रकार की विभिन्नता दिखायी पडती है। जाट लोग मुसलमान या ईसाई की कन्या से विवाह करने पर भी जातिच्युत नही होते। वे बिना किसी विरोध के सब हिन्दू मन्दिरो

में प्रवेश कर सकते हैं। पंजाब के अनेक गाँवों में जो व्यक्ति सूअर का मांस नहीं खाता उसे लोग हिन्दू समझते ही नहीं। नेपाल में ब्राह्मण चारों वर्णों में विवाह कर सकता है, जब कि बंगाल में ब्राह्मण अपनी जाति की अन्य शाखाओं में भी विवाह नहीं कर सकता। इसी प्रकार की और भी विभिन्नताएँ देखने में आती हैं। किन्तु इन सभी विभिन्नताओं के बावजूद एकता का एक समान बिन्दु है कि हमारे धर्म के अन्तर्विभागों में भी एकता की एक समान भूमि है जैसे कोई भी हिन्दू गोमांस भक्षण नहीं करता। इसी प्रकार हमारे धर्म के सभी अन्तर्मार्गों में एक महान् सामंजस्य है।

पहले तो शास्त्रों की आलोचना करते समय एक महत्त्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने आता है कि केवल उन्हीं धर्मों ने उत्तरोत्तर उन्नति की जिनके पास अपने एक या अनेक शास्त्र थे फिर चाहे उन पर कितने ही अत्याचार किये गये हों। यूनानी धर्म अपनी विशिष्ट सुन्दरताओं के होते हुए भी शास्त्र के अभाव में लुप्त हो गया जब कि यहूदी धर्म आदि धर्म-ग्रन्थ (Old Testament) के बल पर आज भी अक्षुण्ण रूप से प्रतापशाली है। संसार के सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद पर आधारित होने के कारण यही हाल हिन्दू धर्म का भी है। वेद के दो भाग हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। भारतवर्ष के सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से कर्मकाण्ड का आजकल लोप हो गया है, हालाँकि दक्षिण में अब भी कुछ ब्राह्मण कभी कभी अजा-बलि देकर यज्ञ करते हैं, और हमारे विवाह-श्राद्धादि के मन्त्रों में भी वैदिक क्रियाकाण्ड का आभास दिखायी पड़ जाता है। इस समय उसे पूर्व की भाँति पुनः प्रतिष्ठित करने का उपाय नहीं है। कुमारिल भट्ट ने एक बार चेष्टा की थी किन्तु वे अपने प्रयत्न में असफल ही रहे। इसके बाद ज्ञानकाण्ड है, जिसे उपनिषद्, वेदान्त या श्रुति भी कहते हैं। आचार्य लोग जब कभी श्रुति का कोई वाक्य उद्धृत करते हैं तो वह उपनिषद् का ही होता है। यही वेदान्त धर्म इस समय हिन्दुओं का धर्म है। यदि कोई सम्प्रदाय सिद्धान्तों की दृढ़ प्रतिष्ठा करना चाहता है तो उसे वेदान्त का ही आधार लेना होगा। द्वैतवादी अथवा अद्वैतवादी सभी को उसी आधार की शरण लेनी होगी। यहाँ तक कि वैष्णवों को भी अपने सिद्धान्तों की सत्यता सिद्ध करने के लिए गोपालतापनी उपनिषद् की शरण लेनी पड़ती है। यदि किसी नये सम्प्रदाय को अपने सिद्धान्तों के पुष्टिकारक वचन उपनिषद् में नहीं मिलते तो वे एक नये उपनिषद् की रचना करके उसे व्यवहृत करने का यत्न करते हैं। अतीत में इसके कतिपय उदाहरण मिलते हैं।

वेदों के सम्बन्ध में हिन्दुओं की यह धारणा है कि वे प्राचीन काल में किसी व्यक्ति विशेष की रचना अथवा ग्रन्थ मात्र नहीं हैं। वे उन्हें ईश्वर की अनन्त

ज्ञानराशि मानते हैं जो किसी समय व्यक्त और किसी समय अव्यक्त रहती है। टीकाकार सायणाचार्य ने एक स्थान पर लिखा है, **यो वेदेभ्योऽखिल जगत् निर्ममे**—जिसने वेदज्ञान के प्रभाव से सारे जगत् की सृष्टि की है। वेद के रचयिता को कभी किसीने नही देखा। इसलिए इसकी कल्पना करना भी असम्भव है। ऋषि लोग उन मन्त्रो अथवा शाश्वत नियमो के मात्र अन्वेषक थे। उन्होंने आदि काल से स्थित ज्ञानराशि वेदो का साक्षात्कार किया था।

ये ऋषिगण कौन थे ? वात्स्यायन कहते हैं, जिसने यथाविहित धर्म की प्रत्यक्ष अनुभूति की है, केवल वही ऋषि हो सकता है, चाहे वह जन्म से म्लेच्छ ही क्यो न हो। इसी लिए प्राचीन काल मे जारज-पुत्र वशिष्ठ, धीवर-तनय व्यास, दासी-पुत्र नारद प्रभृति ऋषि कहलाते थे। सच्ची बात यह है कि सत्य का साक्षात्कार हो जाने पर किसी प्रकार का भेद-भाव नही रह जाता। उपर्युक्त व्यक्ति यदि ऋषि हो सकते हैं तो हे आधुनिक कुलीन ब्राह्मण, तुम सभी और भी उच्च ऋषि हो सकते हो। इसी ऋषित्व के लाभ करने की चेष्टा करो, अपना लक्ष्य प्राप्त करने तक रुको नही, समस्त ससार तुम्हारे चरणो के सामने स्वय ही नत हो जायगा।

ये वेद ही हमारे एकमात्र प्रमाण हैं और इन पर सबका अधिकार है।

यथेमा वाच कल्याणीमावादानि जनेभ्य।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥[1]

क्या तुम हमे वेद मे ऐसा कोई प्रमाण दिखला सकते हो, जिससे यह सिद्ध हो जाय कि वेद मे सबका अधिकार नही है ? पुराणो मे अवश्य लिखा है कि वेद की अमुक शाखा मे अमुक जाति का अधिकार है या अमुक अश सत्ययुग के लिए और अमुक अश कलियुग के लिए है। किन्तु, ध्यान रखो, वेद मे इस प्रकार का कोई जिक्र नही है, ऐसा केवल पुराणो मे ही है। क्या नौकर कभी अपने मालिक को आज्ञा दे सकता है ? स्मृति, पुराण, तन्त्र—ये सब वही तक ग्राह्य हैं, जहाँ तक वे वेद का अनुमोदन करते हैं। ऐसा न होने पर उन्हे अविश्वसनीय मान कर त्याग देना चाहिए। किन्तु आजकल हम लोगो ने पुराणो को वेद की अपेक्षा श्रेष्ठ समझ रखा है। वेदो की चर्चा तो बगाल प्रान्त मे लोप ही हो गयी है। मैं वह दिन शीघ्र देखना चाहता हूँ, जिस दिन प्रत्येक घर मे गृहदेवता शालग्राम की मूर्ति के साथ साथ वेद की पूजा भी होने लगेगी, जब बच्चे, बूढे और स्त्रियाँ वेद-अर्चना का शुभारम्भ करेंगे।

---

१ शुक्ल यजुर्वेद, माध्यन्दिनीया शाखा, २६ अध्याय, २ मन्त्र

वेदों के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के सिद्धान्तों में मेरा विश्वास नहीं है। आज वेदों का समय वे कुछ निश्चित करते हैं और कल उसे बदलकर फिर एक हजार वर्ष पीछे घसीट ले जाते हैं। पुराणों के विषय में हम ऊपर कह आये हैं कि वे वहीं तक ग्राह्य हैं, जहाँ तक वेदों का समर्थन करते हैं। पुराणों में ऐसी अनेक बातें हैं जिनका वेदों के साथ मेल नहीं खाता। उदाहरण के लिए पुराण में लिखा है कि कोई व्यक्ति दस हजार वर्ष तक और कोई दूसरे बीस हजार वर्ष तक जीवित रहे किन्तु वेदों में लिखा है—शतायुर्वै पुरुषः। इनमें से हमारे लिए कौन सा मत स्वीकार्य है? निश्चय ही वेद। इस प्रकार के कथनों के बावजूद मैं पुराणों की निन्दा नहीं करता। उनमें योग भक्ति ज्ञान और कर्म की अनेक सुन्दर सुन्दर बातें देखने में आती है और हमें उन सभी को ग्रहण करना ही चाहिए। इसके बाद हैं तन्त्र। तन्त्र का वास्तविक अर्थ है शास्त्र जैसे कापिल तन्त्र। किन्तु तन्त्र शब्द प्रायः सीमित अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। बौद्ध धर्मावलम्बी एवं अहिंसा के प्रचारक-प्रसारक नृपतियों के शासन-काल में वैदिक याग-यज्ञों का लोप हो गया। तब राजदण्ड के भय से कोई जीव हिंसा नहीं कर सकता था। किन्तु कालान्तर में बौद्ध धर्म में ही इन याग-यज्ञों के श्रेष्ठ अंश गुप्त रूप से सम्मिलित हो गये। इसीसे तन्त्रों की उत्पत्ति हुई। तन्त्रों में वामाचार प्रभृति बहुत से अंश खराब होने पर भी तन्त्रों को लोग जितना खराब समझते हैं, वे उतने खराब नहीं है। उनमें वेदान्त सम्बन्धी कुछ उच्च एवं सूक्ष्म विचार निहित है। वास्तविक बात तो यह है कि वेदों के ब्राह्मण भाग को ही कुछ परिवर्तित कर तन्त्रों में समाहित कर लिया गया था। वर्तमान काल की पूजा विधियाँ और उपासना पद्धति तन्त्रों के अनुसार होती हैं।

अब हमें अपने धर्म के सिद्धान्तों पर भी थोड़ा विचार करना चाहिए। हमारे धर्म के सम्प्रदायों में अनेक विभिन्नताएँ एवं अन्तर्विरोध होते हुए भी एकता के अनेक क्षेत्र हैं। प्रथम सभी सम्प्रदाय तीन चीजों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं—ईश्वर, आत्मा और जगत्। ईश्वर वह है, जो अनन्त काल से सम्पूर्ण जगत् का सर्जन पालन और संहार करता आ रहा है। सांख्य दर्शन के अतिरिक्त सभी इस सिद्धान्त पर विश्वास करते हैं। इसके बाद आत्मा का सिद्धान्त और पुनर्जन्म की बात आती है। इसके अनुसार असंख्य जीवात्माएँ बार बार अपने कर्मों के अनुसार शरीर धारण कर जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमती रहती हैं। इसीको संसारवाद या प्रचलित रूप से पुनर्जन्मवाद कहते हैं। इसके बाद यह अनादि अनन्त जगत् है। यद्यपि कुछ लोग इन तीनों को भिन्न भिन्न मानते हैं तथा कुछ इन्हें एक ही के भिन्न भिन्न तीन रूप और कुछ अन्य प्रकारों से इनका अस्तित्व स्वीकार करते हैं। पर इन तीनों का अस्तित्व वे सभी मानते हैं।

यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि चिर काल से हिन्दू आत्मा को मन से पृथक् मानते आ रहे है। पाश्चात्य विद्वान् मन के परे किसी चीज़ की कल्पना नही कर सके। वे लोग जगत् को आनन्दपूर्ण मानते हैं और इसीलिए उसे मौज मारने की जगह समझते हैं। जब कि प्राच्य लोगो की जन्म से ही यह धारणा होती है कि यह ससार नित्य परिवर्तनशील तथा दु खपूर्ण है। और इसीलिए यह मिथ्या के सिवा कुछ नही है और न ही इसके क्षणिक सुखो के लिए आत्मा का धन गँवाया जा सकता है। इसी कारण पाश्चात्य लोग सघबद्ध कर्म मे विशेष पटु है और प्राच्य लोग अन्तर्जगत् के अन्वेषण मे ही विशेष साहस दिखाते हैं।

जो कुछ भी हो, यहाँ अब हमे हिन्दू धर्म की दो एक और बातो पर विचार करना आवश्यक है। हिन्दुओ मे अवतारवाद प्रचलित है। वेदो मे हमे केवल मत्स्यावतार का ही उल्लेख मिलता है। सभी लोग इस पर विश्वास करते हैं या नही, यह कोई विचारणीय विषय नही है। पर इस अवतारवाद का वास्तविक अर्थ है मनुष्य-पूजा—मनुष्य के भीतर ईश्वर को साक्षात् करना ही ईश्वर का वास्तविक साक्षात्कार करना है। हिन्दू प्रकृति के द्वारा प्रकृति के ईश्वर तक नही पहुँचते—मनुष्य के द्वारा मनुष्य के ईश्वर के निकट जाते हैं।

इसके बाद है मूर्ति-पूजा। शास्त्रो मे विहित हर एक शुभ कर्म मे उपास्य पच देवताओ के अतिरिक्त अन्य देवता केवल उनके द्वारा अधिष्ठित पदो के भिन्न भिन्न नाम मात्र हैं। किन्तु ये पाँचो उपास्य देवता भी उसी एक भगवान् के भिन्न भिन्न नाम मात्र हैं। यह बाह्य मूर्ति-पूजा हमारे सब शास्त्रो मे अधमतम कोटि की पूजा मानी गयी है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नही है कि मूर्ति-पूजा करना गलत है। वर्तमान समय मे प्रचलित इस मूर्ति-पूजा के भीतर नाना प्रकार के कुत्सित भावो के प्रवेश कर लेने पर भी, मैं उसकी निन्दा नही कर सकता। यदि उसी कट्टर मूर्ति-पूजक ब्राह्मण (श्री रामकृष्ण) की पद-धूलि से मैं पुनीत न बनता तो आज मैं कहाँ होता ?

वे सुधारक जो मूर्ति-पूजा के विरुद्ध प्रचार करते हैं अथवा उसकी निन्दा करते हैं, उनसे मैं कहूँगा कि भाइयो, यदि तुम बिना किसी सहायता के निराकार ईश्वर की उपासना कर सकते हो तो तुम भले ही वैसा करो, किन्तु जो लोग ऐसा नही कर सकते हैं, उनकी निन्दा क्यो करते हो ? प्राचीनतम समय का गौरवान्वित स्मृति-चिह्नरूप एक सुन्दर एव भव्य मकान उपेक्षा या अव्यवहार के कारण जर्जर हो गया है। यह हो सकता है कि उसमे हर कही धूल जमी हुई है, यह भी हो सकता है कि उसके कुछ हिस्से ज़मीन पर भहरा पडे हो। पर तुम उसे क्या करोगे ? क्या तुम उसकी सफाई-मरम्मत करके उसकी पुरानी धज लौटा दोगे या उसे, उस इमारत को गिरा कर उसके स्थान पर एक सदिग्ध स्थायित्व वाले घृणित आधुनिक योजना के

अनुसार कोई दूसरी इमारत नहीं बनाते ? हमें उसका सुधार करना होगा इसके अर्थ हैं उसकी उचित गठन-संगठन करना न कि उसे ध्वस्त कर देना। यहीं पर सुधार का काम समाप्त हो जाता है। यदि ऐसा कर सकते हो तो करो अन्यथा दूर रहो। जीर्णोद्धार हो जाने पर उसकी और क्या आवश्यकता ? किन्तु हमारे देश के सुधारक एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय का संगठन करना चाहते हैं। तो भी उन्होंने बड़ा कार्य किया है। ईश्वर के आशीर्वादों की उनके सिर पर वर्षा हो। किन्तु तुम लोग अपने को क्यों महान् समुदाय से पृथक् करना चाहते हो ? हिन्दू नाम लेते ही तुम क्यों लज्जित होते हो ?—जो कि तुम लोगों की महान् और गौरवपूर्ण सम्पत्ति है। ओ अमर पुत्रो मेरे देशवासियो यह हमारा जातीय जहाज युगों तक मुसाफिरों को ले आता ले जाता रहा है और इसने अपनी अतुलनीय सम्पदा से संसार को समृद्ध बनाया है। अनेक गौरवपूर्ण शताब्दियों तक हमारा यह जहाज जीवन-सागर में चलता रहा है और करोड़ों आत्माओं को उसने दुःख से दूर संसार के उस पार पहुँचाया है। आज शायद उसमें एक छेद हो गया हो और इससे वह क्षत हो गया हो यह चाहे तुम्हारी अपनी गलती से या चाहे किसी और कारण से। तुम जो इस जहाज पर चढ़े हुए हो अब क्या करोगे ? क्या तुम दुर्वचन कहते हुए आपस में झगड़ोगे ? क्या तुम सब मिलकर उस छेद को बन्द करने की पूर्ण चेष्टा करोगे ? हम सब लोगों को अपनी पूरी जान लड़ाकर खुशी खुशी उसे बन्द कर देना चाहिए। अगर न कर सकें तो हम लोगों को एक साथ डूब मरना होगा।

और ब्राह्मणों से भी मैं कहना चाहता हूँ कि तुम्हारा जन्मगत तथा वंशगत अभिमान मिथ्या है, उसे छोड़ दो। शास्त्रों के अनुसार तुम में भी अब ब्राह्मणत्व शेष नहीं रह गया क्योंकि तुम भी इतने दिनों से म्लेच्छ राज्य में रह रहे हो। यदि तुम लोगों को अपने पूर्वजों की कथाओं में विश्वास है तो जिस प्रकार प्राचीन कुमारिल भट्ट ने बौद्धों के संहार करने के अभिप्राय से पहले बौद्धों का शिष्यत्व ग्रहण किया पर अन्त में उनकी हत्या के प्रायश्चित्त के लिए उन्होंने तुषाग्नि में प्रवेश किया उसी प्रकार तुम भी तुषाग्नि में प्रवेश करो। यदि ऐसा न कर सको तो अपनी दुर्बलता स्वीकार कर लो। और सभी के लिए ज्ञान का द्वार खोल दो और पददलित जनता को उसका उचित एवं न्याय्य अधिकार दे दो।

पत्रावली—८

पत्रावली

(स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखित)

हाई व्यू, कैवरशम्, रीडिंग,
३ जुलाई, १८९६

प्रिय शशि,

इस पत्र को देखते ही काली (स्वामी अभेदानन्द) को इग्लैण्ड रवाना कर देना। पहले पत्र मे ही तुम्हे सब कुछ लिख चुका हूँ। कलकत्ते के मेसर्स ग्रिण्डले कम्पनी के पास उसका द्वितीय श्रेणी का मार्ग-व्यय तथा वस्त्रादि खरीदने के लिए आवश्यक धन भी भेजा जा चुका है। अधिक वस्त्रादि की आवश्यकता नही है।

काली को अपने साथ कुछ पुस्तकें लानी होगी। मेरे पास केवल ऋग्वेद-सहिता है। यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्वन् सहिताएँ एव शतपथादि जितने भी 'ब्राह्मण' प्राप्त हो सके तथा कुछ सूत्र एव यास्क के निरुक्त यदि उपलब्ध हो तो इन ग्रन्थो को वह अपने ही साथ लेता आये। अर्थात् इन पुस्तको की मुझे आवश्यकता है। उनको काठ के बक्स मे भरकर लाने की व्यवस्था करे।

शरत् के आने मे जैसा विलम्ब हुआ था, वैसा नही होना चाहिए, काली फौरन आये। शरत् अमेरिका रवाना हो चुका है, क्योकि यहाँ पर उसकी कोई आवश्यकता नही रह गयी। कहने का मतलब यह कि वह छ महीने की देर करके आया और फिर जब वह आया, उस समय मैं खुद ही यहाँ पहुँच चुका था। काली के बारे मे यह बात नही होनी चाहिए। शरत् के आने के समय जैसे चिट्ठी खो जाने से गडबडी हुई थी, अब की बार वैसे ही कही चिट्ठी न खो जाय। शीघ्रता से उसे भेज देना।

सस्नेह,
विवेकानन्द

धीरे उस अवस्था की ओर बढ रहा हूँ, जहाँ खुद 'शैतान' को भी, अगर वह हो तो मैं प्यार कर सकूँगा।

बीस वर्ष की अवस्था मे मैं अत्यन्त असहिष्णु और कट्टर था। कलकत्ते मे सडको के जिस किनारे पर थियेटर हैं, मैं उस ओर के पैदल-मार्ग से ही नही चलता था। अब तैंतीस वर्ष की उम्र मे मैं वेश्याओ के साथ एक ही मकान मे ठहर सकता हूँ और उनसे तिरस्कार का एक शब्द कहने का विचार भी मेरे मन मे नही आयेगा। क्या यह अधोगति है? अथवा मेरा हृदय विस्तृत होता हुआ मुझे उस विश्वव्यापी प्रेम की ओर ले जा रहा है, जो साक्षात् भगवान् है? लोग कहते है कि वह मनुष्य, जो अपने चारो ओर होनेवाली बुराइयो को नही देख पाता, अच्छा काम नही कर सकता, उसकी परिणति एक तरह के भाग्यवाद मे होती है। मैं तो ऐसा नही देखता। वरन् मेरी कार्य करने की शक्ति अत्यधिक बढ रही है और अत्यधिक प्रभावशील भी होती जा रही है। कभी कभी मुझे एक प्रकार का दिव्य भावावेश होता है। ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं प्रत्येक प्राणी और वस्तु को आशीर्वाद दूँ—प्रत्येक से प्रेम करूँ और गले लगा लूँ और मैं यह भी देखता हूँ कि बुराई एक भ्रान्ति मात्र है। प्रिय फ्रैन्सिस, इस समय मैं ऐसी ही अवस्था मे हूँ और अपने प्रति तुम्हारे तथा श्रीमती लेगेट के प्रेम और सहानुभूति का स्मरण कर मैं सचमुच आनन्द के आँसू बहा रहा हूँ। मैं जिस दिन पैदा हुआ था, उस दिन को धन्यवाद देता हूँ। यहाँ पर मुझे कितनी सहानुभूति, कितना प्रेम मिला है! और जिस अनन्त प्रेमस्वरूप भगवान् ने मुझे जन्म दिया है, उसने मेरे हर एक भले और बुरे (बुरे शब्द से डरो मत) काम पर दृष्टि रखी है—क्योकि मैं उसीके हाथ के एक औजार के सिवा और हूँ ही क्या, और रहा ही क्या? उसीकी सेवा के लिए मैंने अपना सब कुछ—अपने प्रियजनो को, अपना सुख, अपना जीवन—त्याग दिया है। वह मेरा लीलामय प्रियतम है और मैं उसकी लीला का साथी हूँ। इस विश्व मे कोई युक्ति-परिपाटी नही है। ईश्वर पर भला किस युक्ति का वश चलेगा? वह लीलामय इस नाटक की समस्त भूमिकाओं पर हास्य और रुदन का अभिनय कर रहा है। जैसा 'जो' कहती हैं—अजब तमाशा है! अजब तमाशा है!

यह दुनिया बडे मजे की जगह है, और सबसे मजेदार है—वह असीम प्रियतम! क्या यह तमाशा नही है? सब एक दूसरे के भाई हो या खेल के साथी, पर वास्तव मे हैं ये मानो पाठशाला के हल्ला मचानेवाले बच्चे, जो कि इस ससाररूपी मैदान मे खेल-कूद करने के लिए छोड दिये गये हैं। यही है न? किसकी तारीफ करूँ और किसे बुरा कहूँ—सब तो उसीका खेल है। लोग इसकी व्याख्या चाहते है। पर ईश्वर की व्याख्या तुम कैसे करोगे? वह मस्तिष्कहीन है, उसके पास युक्ति भी

(फ्रैंसिस लेगेट को लिखित)

६३ सेण्ट जार्ज्स रोड, लन्दन
६ जुलाई, १८९६

प्रिय फ्रैंसिस

अटलाण्टिक महासागर के इस पार मेरा कार्य बहुत अच्छी रीति से चल रहा है।

मेरी रविवार की वक्तृताएँ बहुत सफल हुईं और उसी तरह कक्षाएँ भी। काम का मौसम खत्म हो चुका है और मैं भी बेहद थक चुका हूँ। अब मैं कुमारी मूलर के साथ स्विटजरलैण्ड के भ्रमण के लिए जा रहा हूँ। गाल्सवर्दी परिवार ने मेरे साथ बड़ा सदय व्यवहार किया है। 'जो'[1] ने बड़ी चतुरता से उन्हें मेरी तरफ आकृष्ट किया। उनकी चतुरता और शान्तिपूर्ण कार्य-शैली की मैं मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करता हूँ। वे एक राजनीतिज्ञ कुशल महिला कही जा सकती हैं। वे एक राज्य चला सकती हैं। मनुष्य में ऐसी प्रखर, साथ ही अच्छी सहज-बुद्धि मैंने विरले ही देखी है। अगली शरद् ऋतु में मैं अमेरिका लौटूँगा और वहाँ का कार्य फिर आरम्भ करूँगा।

परसों रात को मैं श्रीमती मार्टिन के यहाँ एक पार्टी में गया था जिसके सम्बन्ध में तुमने अवश्य ही 'जो' से बहुत कुछ सुना होगा।

इंग्लैण्ड में यह कार्य चुपचाप पर निश्चित रूप से बढ़ रहा है। यहाँ प्रायः हर दूसरे पुरुष अथवा स्त्री ने मेरे पास आकर मेरे कार्य के सम्बन्ध में बातचीत की। ब्रिटिश साम्राज्य के कितने ही दोष क्यों न हों पर भाव-प्रचार का ऐसा उत्कृष्ट यन्त्र अब तक कहीं नहीं रहा है। मैं इस यन्त्र के केन्द्रस्थल में अपने विचार रख देना चाहता हूँ और वे सारी दुनिया में फैल जायँगे। यह सच है कि सभी बड़े काम बहुत धीरे धीरे होते हैं, और उनकी राह में असंख्य विघ्न उपस्थित होते हैं, विशेषकर इसलिए कि हम हिन्दू पराधीन जाति हैं। परन्तु इसी कारण हमें सफलता अवश्य मिलेगी क्योंकि आध्यात्मिक आदर्श सदा पददलित जातियों में से ही पैदा हुए हैं। यहूदी अपने आध्यात्मिक आदर्शों से रोम साम्राज्य पर छा गये थे। तुम्हें यह सुनकर प्रसन्नता होगी कि मैं भी दिनोंदिन धैर्य और विशेषकर सहानुभूति के सबक सीख रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि शक्तिशाली ऐंग्लोइण्डियनों तक के भीतर मैं परमात्मा को प्रत्यक्ष कर रहा हूँ। मेरा विचार है कि मैं धीरे

---

१ कुमारी जोसेफिन मैक्लिऑड

(श्रीमती ओलि वुल को लिखित)

६३, सेण्ट जार्जेस रोड, लन्दन,
८ जुलाई, १८९६

प्रिय श्रीमती वुल,

अंग्रेज जाति अत्यन्त उदार है। उस दिन करीव तीन मिनट के अन्दर ही आगामी शरद् मे कार्य सचालनार्थ नवीन मकान के लिए मेरी कक्षा से १५० पौण्ड का चन्दा मिला। यदि माँगा जाता तो तत्काल ही वे ५०० पौण्ड प्रदान करने मे किचिन्मात्र भी नही हिचकते। किन्तु हम लोग धीरे धीरे कार्य करना चाहते हैं, एक साथ जल्दी अधिक खर्च करने का कोई अभिप्राय हमारा नही है। यहाँ पर इस कार्य का सचालन करने के लिए हमे अनेक व्यक्ति प्राप्त होगे एव वे लोग त्याग की भावना से भी कुछ कुछ परिचित हैं—अंग्रेजो के चरित्र की गहराई का पता यही मिलता है।

शुभाकाक्षी,
विवेकानन्द

(डॉ० नजुन्दा राव को लिखित)

इग्लैण्ड,
१४ जुलाई, १८९६

प्रिय नजुन्दा राव,

'प्रवुद्ध भारत' की प्रतियाँ मिली तथा उनका कक्षा मे वितरण भी कर दिया गया है। यह अत्यन्त सन्तोषजनक है, इसमे कोई सन्देह नही कि भारत मे इसकी वहुत विक्री होगी। कुछ ग्राहक तो अमेरिका मे ही बन जाने की आशा है। अमेरिका मे इसका विज्ञापन देने की व्यवस्था मैंने पहले ही कर दी है एव 'गुड इयर' ने उसे कार्य मे भी परिणत कर दिया है। किन्तु यहाँ इग्लैण्ड मे कार्य अपेक्षाकृत कुछ धीरे धीरे अग्रसर होगा। यहाँ पर वडी मुश्किल यह है कि सव कोई अपना अपना पत्र निकालना चाहते हैं। ऐसा ठीक भी है, क्योकि कोई भी विदेशी व्यक्ति असली अंग्रेजो की तरह अच्छी अंग्रेजी कभी नही लिख सकता तथा अच्छी अंग्रेजी मे लिखने से विचारो का सुदूर तक जितना विस्तार हो सकेगा उतना हिन्दू-अंग्रेजी के द्वारा नहीं। साथ ही विदेशी भाषा मे लेख लिखने की अपेक्षा कहानी लिखना और भी कठिन है।

मैं आपके लिए यहाँ ग्राहक वनाने की पूरी चेष्टा कर रहा हूँ, किन्तु आप विदेशी सहायता पर क़तई निर्भर न रहे। व्यक्ति की तरह जाति को भी अपनी सहायता

नहीं है। यह छोटे मस्तिष्क तथा सीमित तर्क-शक्तिवाले हम लोगों को मूर्ख बना रहा है, पर इस बार यह मुझे झेंपता नहीं पा सकेगा।

मैंने दो-एक बातें सीखी हैं प्रेम और प्रियतम—तर्क पाण्डित्य और वाग्आडम्बर के बहुत परे। ऐ साक़ी प्याला भर दे और हम पीकर मस्त हो जायँ।

तुम्हारा ही प्रेमोन्मत्त
विवेकानन्द

(हेल बहनों को लिखित)

लन्दन
७ जुलाई, १८९६

प्रिय बच्चियो,

यहाँ कार्य में आश्चर्यजनक प्रगति हुई। भारत का एक संन्यासी यहाँ मेरे साथ था जिसे मैंने अमेरिका भेज दिया है। भारत से एक और संन्यासी बुला भेजा है। कार्य का समय समाप्त हो गया है, इसलिए कक्षाओं के लगने तथा रविवासरीय व्याख्यानों का कार्य भी आगामी १६ तारीख से बन्द हो जायगा। १९ तारीख को मैं क़रीब एक महीने के लिए शान्तिपूर्ण आवास तथा विश्राम के निमित्त स्विट्ज़रलैण्ड के पहाड़ों पर चला जाऊँगा और आगामी शरद् ऋतु में लन्दन वापस आकर फिर कार्य आरम्भ करूँगा। यहाँ का कार्य बड़ा सन्तोषजनक रहा है। यहाँ लोगों में दिलचस्पी पैदा कर मैं भारत के लिए उसकी अपेक्षा सचमुच कहीं अधिक कार्य कर रहा हूँ जो भारत में रहकर करता। माँ ने मुझको लिखा है कि यदि तुम लोग अपना मकान किराये पर उठा दो तो तुम लोगों को साथ लेकर भ्रमण करने में उन्हें प्रसन्नता होगी। मैं तीन अंग्रेज मित्रों के साथ स्विट्ज़रलैण्ड के पहाड़ों पर जा रहा हूँ। बाद में शीत ऋतु के अन्त के क़रीब कुछ अंग्रेज मित्रों के साथ भारत जाने की मुझे आशा है। वे लोग वहाँ मेरे मठ में रहनेवाले हैं, जिसके निर्माण की अभी तो केवल कल्पना भर है। हिमालय पर्वत के अंचल में किसी जगह उसके निर्माण का उद्योग किया जा रहा है।

तुम लोग कहाँ पर हो? ग्रीष्म ऋतु का पूरा ज़ोर है, यहाँ तक कि लन्दन में भी बड़ी गरमी पड़ रही है। कृपया श्रीमती ऐडम्स, श्रीमती कॉंगोर और शिकागो के अन्य सभी मित्रों के प्रति मेरा हार्दिक प्रेम ज्ञापित करना।

तुम्हारा सस्नेह भाई,
विवेकानन्द

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

ग्रैण्ड होटल, वेलै,
स्विट्ज़रलैण्ड

प्रिय स्टर्डी,

मैं थोडा बहुत अध्ययन कर रहा हूँ—उपवास बहुत कर रहा हूँ तथा साधना उससे भी अधिक कर रहा हूँ। वनो मे भ्रमण करना अत्यन्त आनन्ददायक है। हमारे रहने का स्थान तीन विशाल हिमनदो के नीचे है तथा प्राकृतिक दृश्य भी अत्यन्त मनोरम है।

एक बात है कि स्विट्ज़रलैण्ड की झील मे आर्यों के आदि निवास-स्थान सम्बन्धी मेरे मन मे जो कुछ भी थोडा सा सन्देह था, वह एकदम निर्मूल हो चुका है, 'तातार' जाति के माथे से लम्बी चोटी हटा देने पर जो दशा होती है, स्विट्ज़रलैण्ड के निवासी ठीक उसी प्रकार के हैं।

शुभाकाक्षी,
विवेकानन्द

(श्री लाला बद्री शाह को लिखित)

द्वारा ई० टी० स्टर्डी
हाई व्यू, कैवरशम्, रीडिंग, लदन
५ अगस्त, १८९६

प्रिय शाह जी,

आपके सहृदय अभिनन्दन के लिए धन्यवाद। आपसे एक बात मैं जानना चाहता हूँ। यदि लिखने का कष्ट करें तो इस कृपा के लिए मैं विशेष अनुग्रहीत होऊँगा। मैं एक मठ स्थापित करना चाहता हूँ—मेरी इच्छा है कि वह अलमोडा मे या अच्छा हो उसके समीप किसी स्थान मे हो। मैंने सुना है कि श्री रैमसे नामक कोई सज्जन अलमोडा के समीप एक बँगले मे रहते थे, उस बँगले के चारो ओर एक बगीचा था। क्या वह बँगला खरीदा जा सकता है? उसका मूल्य क्या होगा? यदि खरीदना सम्भव न हो तो किराये पर मिल सकता है या नहीं?

क्या आप अलमोडा के समीप किसी ऐसे उपयुक्त स्थान को जानते हैं, जहाँ बगीचे आदि के साथ मैं अपना मठ बना सकूँ? बगीचे का होना नितान्त आवश्यक है। मैं चाहता हूँ कि अलग एक छोटी सी पहाडी मिल जाय तो अच्छा हो।

आशा है कि पत्र का उत्तर शीघ्र प्राप्त होगा। आप एव अलमोडा के अन्य मित्रो को मेरा आशीर्वाद तथा प्रेम।

भवदीय,
विवेकानन्द

आप ही करनी चाहिए। यही यथार्थ स्वदेश-प्रेम है। यदि कोई जाति ऐसा करने में असमर्थ हो तो यह कहना पड़ेगा कि उसका अभी समय नहीं आया उसे प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। मद्रास से ही यह नवीन आलोक भारत के चारों ओर फैलना चाहिए— इसी उद्देश्य को लेकर आपको कार्य-क्षेत्र में अग्रसर होना पड़ेगा। एक बात पर मुझे अपना मत व्यक्त करना है वह यह कि पत्र का मुखपृष्ठ एकदम गँवारू देखने में नितान्त रद्दी तथा भद्दा है। यदि सम्भव हो तो इसे बदल दें। इसे भावव्यंजक तथा साथ ही सरल बनायें—इसमें मानव-चित्र बिलकुल नहीं होने चाहिए। 'बटवृक्ष' कदापि प्रबुद्ध होने का चिह्न नहीं है और न पहाड़ न सन्त ही यूरोपीय दम्पति भी नहीं। 'कमल' ही पुनरभ्युत्थान का प्रतीक है। 'ललित कला' में हम लोग बहुत ही पिछड़े हुए हैं खासकर 'चित्रकला' में। उदाहरणस्वरूप वन में बसन्त के पुनरागमन का एक छोटा सा दृश्य बनाइए—नवपल्लव तथा कलिकाएँ प्रस्फुटित हो रही हों। धीरे धीरे आगे बढ़िए, सैकड़ों भाव हैं जिन्हें प्रकाश में लाया जा सकता है।

मैंने 'राजयोग' के लिए जो प्रतीक बनाया था उसे देखिए। 'लांगमैन ग्रीन एण्ड कम्पनी' ने यह पुस्तक प्रकाशित की है। आपको यह बम्बई में मिल सकती है। राजयोग पर न्यूयार्क में जो व्याख्यान दिये थे वही इसमें हैं।

आगामी रविवार को मैं स्विट्ज़रलैण्ड जा रहा हूँ और शरत्काल में इंग्लैण्ड वापस आकर पुनः कार्य प्रारम्भ करूँगा। यदि सम्भव हो सका तो स्विट्ज़रलैण्ड से मैं धारावाहिक रूप से आपको कुछ लेख भेजूँगा। आपको मालूम ही होगा कि मेरे लिए विश्राम अत्यन्त आवश्यक हो उठा है।

शुभाकांक्षी
विवेकानन्द

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

सैन्स ग्रैण्ड स्विट्ज़रलैण्ड
२५ जुलाई, १८९६

प्रिय श्रीमती बुल

कम से कम दो मास के लिए मैं जगत् को एकदम भूल जाना चाहता हूँ और कठोर साधना करना चाहता हूँ। यही मेरा विश्राम है। पहाड़ों तथा बर्फ के दृश्य से मेरे हृदय में एक अपूर्व शान्ति सी छा जाती है। यहाँ पर मुझे जैसी अच्छी नींद आ रही है, दीर्घ काल तक मुझे वैसी नींद नहीं आयी।

सभी मित्रों को मेरा प्यार।

शुभाकांक्षी
विवेकानन्द

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

स्विट्ज़रलैण्ड,
६ अगस्त, १८९६

प्रिय आलासिंगा,

तुम्हारे पत्र से 'ब्रह्मवादिन्' की आर्थिक दुर्दशा का समाचार विदित हुआ। लन्दन लौटने पर तुम्हें सहायता भेजने की चेष्टा करूँगा। तुम पत्रिका का स्तर नीचा न करना, उसको उन्नत रखना, अत्यन्त शीघ्र ही मैं तुम्हारी ऐसी सहायता कर सकूँगा कि इस बेहूदे अध्यापन-कार्य से तुम्हें मुक्ति मिल सके। डरने की कोई बात नही है वत्स, सभी महान् कार्य सम्पन्न होंगे। साहस से काम लो। 'ब्रह्मवादिन्' एक रत्न है, इसे नष्ट नही होना चाहिए। यह ठीक है कि ऐसी पत्रिकाओ को सदा निजी दान से ही जीवित रखना पडता है, हम भी वैसा ही करेंगे। कुछ महीने और जमे रहो।

मैक्समूलर महोदय का श्री रामकृष्ण सम्बन्धी लेख 'दि नाइन्टीन्थ सेन्चुरी' मे प्रकाशित हुआ है। मुझे मिलते ही मैं उसकी एक प्रतिलिपि तुम्हारे पास भेज दूँगा। वे मुझे अत्यन्त सुन्दर पत्र लिखते हैं। श्री रामकृष्ण देव की एक बडी जीवनी लिखने के लिए वे सामग्री चाहते हैं। तुम कलकत्ते एक पत्र लिखकर सूचित कर दो कि जहाँ तक हो सके सामग्री एकत्र करके उन्हें भेज दी जाय।

अमेरिकी पत्र के लिए भेजा हुआ समाचार मुझे पहले ही मिल चुका है। भारत मे उसे प्रकाशित करने की आवश्यकता नही है, समाचार-पत्र द्वारा इस प्रकार का प्रचार बहुत हो चुका है। इस विषय मे खासकर मेरी अब कुछ भी रुचि नही है। मूर्खों को बकने दो, हमे तो अपना कार्य करना है। सत्य को कोई नही रोक सकता।

यह तो तुम्हें पता ही है कि मैं इस समय स्विट्ज़रलैण्ड मे हूँ और बराबर घूम रहा हूँ। पढने अथवा लिखने का कार्य कुछ भी नही कर पा रहा हूँ, और करना भी उचित प्रतीत नही होता। लन्दन मे मुझे एक महान् कार्य करना है, आगामी माह मे उसे प्रारम्भ करना है। अगले जाडो मे भारत लौटकर मैं वहाँ के कार्य को भी ठीक करने की कोशिश करूँगा।

सब लोगो को मेरा प्रेम! बहादुरो, कार्य करते रहो, पीछे न हटो—'नही' मत कहो। कार्य करते रहो—तुम्हारी सहायता के लिए प्रभु तुम्हारे पीछे खडे हैं। महाशक्ति तुम्हारे साथ विद्यमान है।

शुभाकांक्षी,
विवेकानन्द

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

स्विट्ज़रलैण्ड
५ अगस्त १८९६

प्रिय स्टर्डी

आज सुबह प्रोफ़ेसर मैक्समूलर का एक पत्र मिला। उससे पता चला कि श्री रामकृष्ण परमहंस सम्बन्धी उनका लेख 'दि नाइन्टीन्थ सेन्चुरी' पत्रिका के अगस्त अंक में प्रकाशित हुआ है। क्या तुमने उसे पढ़ा है? उन्होंने इस लेख के बारे में मेरा अभिमत माँगा है। अभी तक मैंने उसे नहीं देखा है, अतः उन्हें कुछ भी नहीं लिख पाया हूँ। यदि तुम्हें वह प्रति प्राप्त हुई हो तो कृपया मुझे भेज देना। 'ब्रह्मवादिन्' की भी यदि कोई प्रति आयी हो तो उसे भी भेजना। मैक्समूलर महोदय हमारी योजनाओं से परिचित होना चाहते हैं तथा पत्रिकाओं से भी उन्होंने अधिकाधिक सहायता प्रदान करने का वचन दिया है तथा श्री रामकृष्ण परमहंस पर एक पुस्तक लिखने को वे प्रस्तुत हैं।

मैं समझता हूँ कि पत्रिकादि के विषय में उनके साथ तुम्हारा सीधा पत्र-व्यवहार होना ही उचित है। 'दि नाइन्टीन्थ सेन्चुरी' पढ़ने के बाद उनके पत्र का जवाब लिख कर जब मैं तुमको उनका पत्र भेज दूँगा तब तुम देखोगे कि वे हमारे प्रयास पर कितने प्रसन्न हैं तथा यथासाध्य सहायता प्रदान करने के लिए तैयार हैं।

पुनश्च—आशा है कि तुम पत्रिका को बड़े आकार की करने के प्रश्न पर भली भाँति विचार करोगे। अमेरिका से कुछ धनराशि एकत्र करने की व्यवस्था हो सकती है एवं साथ ही पत्रिका अपने लोगों के हाथों ही रखी जा सकती है। इस बारे में तुम्हारी तथा मैक्समूलर महोदय की निश्चित योजना से अवगत होने के बाद मैं अमेरिका पत्र लिखना चाहता हूँ।

सेवितव्यो महावृक्षः फलच्छायासमन्वितः।
यदि दैवात् फलं नास्ति छाया केन निवार्यते॥

—'जिस वृक्ष में फल एवं छाया हो उसी का आश्रय लेना चाहिए। कदाचित् फल न भी मिले फिर भी उसकी छाया से तो कोई भी वंचित नहीं कर सकता।' अतः मूल बात यह है कि महान् कार्य को इसी भावना से प्रारम्भ करना चाहिए।

शुभाकांक्षी
विवेकानन्द

बहरहाल, श्रीमती एनी बेसेन्ट ने अपने निवास स्थान पर मुझे—भक्ति पर बोलने के लिए—निमन्त्रित किया था। मैंने वहाँ एक रात व्याख्यान दिया। कर्नल अल्कॉट भी वहाँ थे। मैंने सभी सम्प्रदाय के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए ही भाषण देना स्वीकार किया। हमारे देशवासियो को यह याद रखना चाहिए कि अध्यात्म के बारे मे हम ही जगद्गुरु हैं—विदेशी नही—किन्तु, सासारिकता अभी हमे उनसे सीखना है।

मैंने मैक्समूलर का लेख पढा है। हालाँकि छ माह पूर्व जब कि उन्होंने इसे लिखा था—उनके पास मजूमदार के पर्चे के सिवा और कोई सामग्री नही थी। इस दृष्टि से यह लेख सुन्दर है। इधर उन्होने मुझे एक लम्बी और प्यारी चिट्ठी लिखी है, जिसमे उन्होने श्री रामकृष्ण पर एक किताब लिखने की इच्छा प्रकट की है। मैंने उन्हें बहुत सारी सामग्री दी है, किन्तु भारत से और भी अधिक मँगाने की आवश्यकता है।

काम करते चलो। डटे रहो बहादुरी से। सभी कठिनाइयो को झेलने की चुनौती दो।

देखते नही वत्स, यह ससार—दु खपूर्ण है।

प्यार के साथ,
विवेकानन्द

(श्री जे० जे० गुडविन को लिखित)

स्विट्ज़रलैण्ड
८ अगस्त, १८९६

प्रिय गुडविन,

मैं अब विश्राम कर रहा हूँ। भिन्न भिन्न पत्रो से मुझे कृपानन्द के विषय मे बहुत कुछ मालूम होता रहता है। मुझे उसके लिए दु ख है। उसके मस्तिष्क मे अवश्य कुछ दोष होगा। उसे अकेला छोड दो। तुममे से किसीको भी उसके लिए परेशान होने की आवश्यकता नही।

मुझे आघात पहुँचाने की देव या दानव किसीमे भी शक्ति नही है। इसलिए निश्चिन्त रहो। अचल प्रेम और पूर्ण नि स्वार्थ भाव की ही सर्वत्र विजय होती है। प्रत्येक कठिनाई के आने पर हम वेदान्तियो को स्वत यह प्रश्न करना चाहिए, 'मैं इसे क्यो देखता हूँ ?' 'प्रेम से मैं क्यो नही इस पर विजय पा सकता हूँ ?'

स्वामी का जो स्वागत किया गया, उससे मैं अति प्रसन्न हूँ और वे जो अच्छा कार्य कर रहे हैं, उसमे भी। बडे काम मे बहुत समय तक लगातार और महान्

पुनश्च—डरने की कोई बात नहीं है धन तथा अन्य वस्तुएँ शीघ्र ही प्राप्त होंगी।

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

स्विट्ज़रलैंड
८ अगस्त १८९६

प्रिय आलासिंगा

कई दिन पहले मैंने अपने पत्र में तुम्हें इस बात का आभास दिया था कि मैं 'ब्रह्मवादिन्' के लिए कुछ करने की स्थिति में हूँ। मैं तुम्हें एक या दो वर्षों तक १ रुपया माहवार दूँगा—अर्थात् साल में ६ अथवा ७ पौंड—यानी जितने से सौ रुपये माहवार हो सके। तब तुम मुक्त होकर 'ब्रह्मवादिन्' का कार्य कर सकोगे तथा इसे और भी सफल बना सकोगे। श्रीयुत मणि अय्यर और कुछ मित्र लोग इकट्ठा करने में तुम्हारी सहायता कर सकते हैं—जिससे छपाई आदि की क़ीमत पूरी हो जायगी। चन्दे से कितनी आमदनी होती है? क्या इस रक़म से लेखकों को पारिश्रमिक देकर उनसे अच्छी सामग्री नहीं लिखवायी जा सकती? यह आवश्यक नहीं कि 'ब्रह्मवादिन्' में प्रकाशित होनेवाली सभी रचनाएँ सभी की समझ में आयें—परन्तु यह ज़रूरी है कि देशभक्ति और सुकर्म की भावना—प्रेरणा से ही लोग इसे ख़रीदें। लोग से मेरा मतलब हिन्दुओं से है।

यों बहुत सी बातें आवश्यक हैं। पहली बात है—पूरी ईमानदारी। मेरे मन में इस बात की रत्ती भर शंका नहीं कि तुम लोगों में से कोई भी इससे उदासीन रहोगे। बल्कि व्यावसायिक मामलों में हिन्दुओं में एक अजीब बिलाई देखी जाती है—बेतरतीब हिसाब-किताब और बेसिलसिले का कारबार। दूसरी बात उद्देश्य के प्रति पूर्ण निष्ठा—यह जानते हुए कि 'ब्रह्मवादिन्' की सफलता पर ही तुम्हारी मुक्ति निर्भर करती है।

इस पत्र (ब्रह्मवादिन्) को अपना इष्टदेवता बनाओ और तब देखना सफलता किस तरह आती है। मैंने अभेदानन्द को भारत से बुला भेजा है। आशा है, अन्य संन्यासी की भाँति उसे देरी नहीं लगेगी। पत्र पाते ही तुम 'ब्रह्मवादिन्' के आय-व्यय का पूरा लेखा-जोखा भेजो जिसे देखकर मैं यह सोच सकूँ कि इसके लिए क्या किया जा सकता है? यह याद रखो कि पवित्रता निःस्वार्थ भावना और गुरु की आज्ञाकारिता ही सभी सफलताओं के रहस्य हैं।

किसी धार्मिक पत्र की खपत—विदेश में असंभव है। इसे हिन्दुओं की ही सहायता मिलनी चाहिए—यदि उनमें भले-बुरे का ज्ञान हो।

अथवा 'अन्धकारमय प्रकाश' के समान ही हैं। यदि ससार साधु होता तो यह ससार ही न होता। जीव मूर्खतावश असीम अनन्त को सीमित भौतिक पदार्थ द्वारा, चैतन्य को जड द्वारा अभिव्यक्त करना चाहता है, परन्तु अन्त मे अपने भ्रम को समझकर वह उससे छुटकारा पाने की चेष्टा करता है। यह निवृत्ति ही धर्म का प्रारम्भ है और उसका उपाय है, ममत्व का नाश अर्थात् प्रेम। स्त्री, सन्तान या किसी अन्य व्यक्ति के लिए प्रेम नही, परन्तु छोटे से अपने ममत्व को छोडकर, सबके लिए प्रेम। वह 'मानवी उन्नति' और इसके समान जो लम्बी चौडी बातें तुम अमेरिका मे बहुत सुनोगे, उसके भुलावे मे मत आना। सभी क्षेत्रो मे 'उन्नति' नही हो सकती, उसके साथ साथ कही न कही अवनति हो रही होगी। एक समाज मे एक प्रकार के दोष हैं तो दूसरे मे दूसरे प्रकार के। यही बात इतिहास के विशिष्ट कालो की भी है। मध्य युग मे चोर डाकू अधिक थे, अब छल-कपट करनेवाले अधिक हैं। एक विशिष्ट काल मे वैवाहिक जीवन का सिद्धान्त कम है तो दूसरे मे वेश्यावृत्ति अधिक। एक मे शारीरिक कष्ट अधिक है, तो दूसरे मे उससे सहस्र गुनी अधिक मानसिक यातनाएँ। इसी प्रकार ज्ञान की भी स्थिति है। क्या प्रकृति मे गुरुत्वाकर्षण का निरीक्षण और नाम रखने से पहले उसका अस्तित्व ही न था? फिर उसके जानने से क्या अन्तर पडा? क्या तुम रेड इन्डियनो (उत्तर अमेरिका के आदिवासियो) से अधिक सुखी हो?

यह सब व्यर्थ है, निरर्थक है—इसे यथार्थ रूप मे जानना ही ज्ञान है। परन्तु थोडे, बहुत थोडे ही कभी इसे जान पायेंगे। **तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुंचथ**—उस एक आत्मा को ही जानो और सब बातो को छोड दो। इस ससार मे ठोकरें खाने से इस एक ज्ञान की ही हमे प्राप्ति होती है। मनुष्य जाति को इस प्रकार पुकारना कि **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत**—'जागो, उठो, और ध्येय की उपलब्धि के बिना रुको नही।' यही एकमात्र कर्म है। त्याग ही धर्म का सार है, और कुछ नही।

ईश्वर व्यक्तियो की एक समष्टि है। फिर भी वह स्वय एक व्यक्ति है, उसी प्रकार जिस प्रकार मानवी शरीर एक ईकाई है और उसका प्रत्येक 'कोश' एक व्यक्ति है। समष्टि ही ईश्वर है, व्यष्टि या अश आत्मा या जीव है। इसलिए ईश्वर का अस्तित्व जीव पर निर्भर है, जैसे कि शरीर का उसके कोश पर, इसी प्रकार इसका विलोम समझिए। इस प्रकार, जीव और ईश्वर परस्परावलम्वी हैं। जब तक एक का अस्तित्व है, तब तक दूसरे का भी रहेगा। और हमारी इस पृथ्वी को छोडकर अन्य सब ऊँचे लोको मे शुभ की मात्रा अशुभ से अत्यधिक होती है, इसलिए वह समष्टिस्वरूप ईश्वर, शिवस्वरूप, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ

प्रयत्न की आवश्यकता होती है। यदि थोड़े से व्यक्ति असफल भी हों तो भी उसकी चिन्ता हमें नहीं करनी चाहिए। संसार का यह नियम ही है कि अनेक नीचे गिरते हैं, कितने ही दुःख आते हैं, कितनी ही भयंकर कठिनाइयाँ सामने उपस्थित होती हैं, स्वार्थपरता तथा अन्य बुराइयों का मानव हृदय में घोर संघर्ष होता है। और तभी आध्यात्मिकता की अग्नि में इन सभी का विनाश होनेवाला होता है। इस जगत में श्रेय का मार्ग सबसे दुर्गम और पथरीला है। आश्चर्य की बात है कि इतने लोग सफलता प्राप्त करते हैं, कितने लोग असफल होते हैं यह आश्चर्य नहीं। सहस्रों ठोकर खाकर चरित्र का गठन होता है।

मुझे अब बहुत ताजगी मालूम होती है। मैं खिड़की से बाहर दृष्टि डालता हूँ मुझे बड़ी बड़ी हिम-नदियाँ दिखती हैं और मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैं हिमालय में हूँ। मैं बिलकुल शान्त हूँ। मेरे स्नायुओं ने अपनी पुरानी शक्ति पुनः प्राप्त कर ली है और छोटी छोटी परेशानियाँ जिस तरह की परेशानियों का तुमने जिक्र किया है, मुझे स्पर्श भी नहीं करतीं। मैं बच्चों के इस खेल से कैसे विचलित हो सकता हूँ। सारा संसार बच्चों का खेल मात्र है—प्रचार करना शिक्षा देना तथा सभी कुछ। ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति—'उसे सन्यासी समझो जो न द्वेष करता है, न इच्छा करता है। और इस संसार की छोटी सी कीचड़ भरी तलैया में जहाँ दुःख रोग तथा मृत्यु का चक्र निरन्तर चलता रहता है, क्या है जिसकी इच्छा की जा सके? त्यागात् शान्तिरनन्तरम्—'जिसने सब इच्छाओं को त्याग दिया है वही सुखी है।

यह विश्राम—नित्य और शान्तिमय विश्राम—इस रमणीक स्थान में अब उसकी झलक मुझे मिल रही है। आत्मानं चेद् विजानीयात् अयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।—'एक बार यह जानकर कि इस आत्मा का ही केवल अस्तित्व है और किसीका नहीं किस चीज की या किसके लिए इच्छा करके तुम इस शरीर के लिए दुःख उठाओगे?

मुझे ऐसा विदित होता है कि जिसको वे लोग 'कर्म' कहते हैं, उसका मैं अपने हिस्से का अनुभव कर चुका हूँ। मैं भर पाया अब निकलने की मुझे उत्कट अभिलाषा है। मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।—'सहस्रों मनुष्यों में कोई एक लक्ष्य को प्राप्त करने का यत्न करता है। और यत्न करनेवाले उद्योगी पुरुषों में थोड़े ही ध्येय तक पहुँचते हैं। इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः—'क्योंकि इन्द्रियाँ बलवती हैं और वे मनुष्य को नीचे की ओर खींचती हैं।

'साधु संसार' सुखी जगत्' और 'सामाजिक उन्नति' ये सब 'उष्ण बर्फ'

अथवा 'अन्धकारमय प्रकाश' के समान ही हैं। यदि ससार साधु होता तो यह ससार ही न होता। जीव मूर्खतावश असीम अनन्त को सीमित भौतिक पदार्थ द्वारा, चैतन्य को जड द्वारा अभिव्यक्त करना चाहता है, परन्तु अन्त मे अपने भ्रम को समझकर वह उससे छुटकारा पाने की चेष्टा करता है। यह निवृत्ति ही धर्म का प्रारम्भ है और उसका उपाय है, ममत्व का नाश अर्थात् प्रेम। स्त्री, सन्तान या किसी अन्य व्यक्ति के लिए प्रेम नही, परन्तु छोटे से अपने ममत्व को छोडकर, सबके लिए प्रेम। वह 'मानवी उन्नति' और इसके समान जो लम्बी चौडी बाते तुम अमेरिका मे बहुत सुनोगे, उसके भुलावे मे मत आना। सभी क्षेत्रो मे 'उन्नति' नही हो सकती, उसके साथ साथ कही न कही अवनति हो रही होगी। एक समाज मे एक प्रकार के दोष है तो दूसरे मे दूसरे प्रकार के। यही बात इतिहास के विशिष्ट कालो की भी है। मध्य युग मे चोर डाकू अधिक थे, अब छल-कपट करनेवाले अधिक हैं। एक विशिष्ट काल मे वैवाहिक जीवन का सिद्धान्त कम है तो दूसरे मे वेश्यावृत्ति अधिक। एक मे शारीरिक कष्ट अधिक है, तो दूसरे मे उससे सहस्र गुनी अधिक मानसिक यातनाएँ। इसी प्रकार ज्ञान की भी स्थिति है। क्या प्रकृति मे गुरुत्वाकर्षण का निरीक्षण और नाम रखने से पहले उसका अस्तित्व ही न था? फिर उसके जानने से क्या अन्तर पडा? क्या तुम रेड इन्डियनो (उत्तर अमेरिका के आदिवासियो) से अधिक सुखी हो?

यह सब व्यर्थ है, निरर्थक है—इसे यथार्थ रूप मे जानना ही ज्ञान है। परन्तु थोडे, बहुत थोडे ही कभी इसे जान पायेंगे। **तमेवैक जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुचथ**—उस एक आत्मा को ही जानो और सब बातो को छोड दो। इस ससार मे ठोकरें खाने से इस एक ज्ञान की ही हमे प्राप्ति होती है। मनुष्य जाति को इस प्रकार पुकारना कि **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत**—'जागो, उठो, और ध्येय की उपलब्धि के बिना रुको नही।' यही एकमात्र कर्म है। त्याग ही धर्म का सार है, और कुछ नही।

ईश्वर व्यक्तियो की एक समष्टि है। फिर भी वह स्वय एक व्यक्ति है, उसी प्रकार जिस प्रकार मानवी शरीर एक ईकाई है और उसका प्रत्येक 'कोश' एक व्यक्ति है। समष्टि ही ईश्वर है, व्यष्टि या अश आत्मा या जीव है। इसलिए ईश्वर का अस्तित्व जीव पर निर्भर है, जैसे कि शरीर का उसके कोश पर, इसी प्रकार इसका विलोम समझिए। इस प्रकार, जीव और ईश्वर परस्परावलम्बी हैं। जब तक एक का अस्तित्व है, तब तक दूसरे का भी रहेगा। और हमारी इस पृथ्वी को छोडकर अन्य सब ऊँचे लोको मे शुभ की मात्रा अशुभ से अत्यधिक होती है, इसलिए वह समष्टिस्वरूप ईश्वर, शिवस्वरूप, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ

कहा जा सकता है। वे प्रत्यक्ष भूत हैं और ईश्वर से सम्बद्ध होने के कारण उन्हें प्रमाणित करने के लिए तर्क की आवश्यकता नहीं।

ब्रह्म इन दोनों से परे है और वह कोई विशिष्ट अवस्था नहीं है। वह एक ऐसी इकाई है जो अनेक की समष्टि से नहीं बनी। वह एक ऐसी सत्ता है जो कोश से लेकर ईश्वर तक सब में व्याप्त है और उसके बिना किसीका अस्तित्व नहीं हो सकता। वही सत्ता अथवा ब्रह्म वास्तविक है। जब मैं सोचता हूँ 'मैं ब्रह्म हूँ' तब मेरा ही यथार्थ अस्तित्व होता है। ऐसा ही सब के बारे में है। विश्व की प्रत्येक वस्तु स्वरूपतः वही सत्ता है।

कुछ दिन हुए कृपानन्द को लिखने की मुझे अकस्मात् प्रबल इच्छा हुई। शायद वह दुखी था और मुझे याद करता होगा। इसलिए मैंने उसे सहानुभूतिपूर्ण पत्र लिखा। आज अमेरिका से खबर मिलने पर मेरी समझ में आया कि ऐसा क्यों हुआ। हिम-नदियों के पास से तोड़े हुए पुष्प मैंने उसे भेजे। कुमारी वाल्डो से कहना कि अपना आन्तरिक स्नेह प्रदर्शित करते हुए उसे कुछ धन भेज दें। *प्रेम का कभी नाश नहीं होता। पिता का प्रेम अमर है सन्तान चाहे जो करे या जैसे भी हो।* वह मेरा पुत्र जैसा है। अब वह दुःख में है इसलिए वह समान या अपने आप से अधिक मेरे प्रेम तथा सहायता का अधिकारी है।

शुभाकांक्षी
विवेकानन्द

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

ग्रैंड होटल सास फी
वैले स्विट्ज़रलैंड
८ अगस्त १८९६

महाभाग एवं परम प्रिय

तुम्हारे पत्र के साथ ही पत्रों का एक बड़ा पुलिन्दा मिला। मैक्समूलर ने मुझको जो पत्र लिखा है उसे तुम्हारे पास भेज रहा हूँ। मेरे प्रति उनकी बड़ी कृपा और सौजन्य है।

कुमारी मूलर का विचार है कि वे अगले मास इंग्लैण्ड चली जायेंगी। तब मैं 'ओरियण्टल कांग्रेस' में शरीक होने के लिए शायद जा सकूँगा जिसके लिए मैंने वादा किया था। यदि सेवियर दम्पति मुझे आल्प्स पहाड़ से वापस ले चलने को राजी हो गये तभी मैं लौट आऊँगा और यथासम्भव तुम्हें पहले ही पत्र लिख दूँगा। सेवियर दम्पति बड़े सज्जन और दयालु हैं किन्तु उनकी उदारता के साथ उनपर का मुझे

अधिकार नही। क्योकि वहाँ का खर्च भयानक है। ऐसी दशा मे बर्न कांग्रेस मे शरीक होने का विचार त्याग देना ही मेरे विचार से सर्वोत्तम है, क्योकि बैठक सितम्बर के मध्य मे होगी जिसमे अभी बहुत देर है।

अत जर्मनी मे जाने का मेरा विचार हो रहा है। वहाँ की यात्रा का अन्तिम स्थान कील होगा, जहाँ से इग्लैंड वापस आऊँगा।

बाल गगाधर तिलक (श्री तिलक) नाम है और 'ओरायन' उनकी पुस्तक का नाम है।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च—जेकबी की भी एक (पुस्तक) है—शायद उन्ही पद्धतियो पर वह अनूदित है तथा उसके वे ही निष्कर्ष है।

पुनश्च—मुझे आशा है कि तुम ठहरने के स्थान और हाल के विषय मे कुमारी मूलर की राय ले लोगे, क्योकि यदि उनकी तथा अन्य लोगो की सलाह न ली गयी तो वे बहुत अप्रसन्न होगी।

वि०

कल रात कुमारी मूलर ने प्रोफेसर डॉयसन को तार भेजा और आज सबेरे ९ अगस्त को तार का जवाब आ गया, जिसमे उन्होने मेरा स्वागत किया है। १० सितम्बर को मैं कील मे डॉयसन के यहाँ पहुँचनेवाला हूँ। तो तुम मुझसे कहाँ मिलोगे? कील मे? कुमारी मूलर स्विट्ज़रलैंड से इग्लैंड जा रही है, मैं सेवियर दम्पति के साथ कील जा रहा हूँ। १० सितम्बर को मैं वहाँ रहूँगा।

वि०

पुनश्च—व्याख्यान के विषय मे अभी तक मैंने कुछ निर्धारित नही किया है। पढने का मुझे अवकाश नही। बहुत सम्भव है कि 'सालेम सोसायटी' किसी हिन्दू सम्प्रदाय का सगठन है, झक्कियो का नही।

वि०

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

स्विट्ज़रलैंड,
१२ अगस्त, १८९६

प्रिय श्री स्टर्डी,

आज मुझे एक पत्र अमेरिका से मिला जिसे मैं तुम्हारे पास भेज रहा हूँ। मैंने उनको लिख दिया है कि मैं चाहता हूँ कि कम से कम वर्तमान प्रारम्भिक

कार्य में ध्यान केन्द्रित किया जाय। मैंने उनको यह भी सलाह दी है कि वर्ह पत्रिकाएँ शुरू करने के बजाय 'ब्रह्मवादिन्' में अमेरिका में लिखित कुछ लेख रख कर काम शुरू करें और चन्दा कुछ बढ़ा दें, जिससे अमेरिका में होनेवाला खर्च निकल आये। पता नहीं वे क्या करेंगे।

हम लोग अगले सप्ताह जर्मनी की तरफ रवाना होंगे। जैसे हम जर्मनी पहुँचे, कुमारी मूलर इंग्लैण्ड रवाना हो जायेंगी।

कैप्टेन तथा श्रीमती सेवियर और मैं कील में तुम्हारी प्रतीक्षा करेंगे।

मैंने अब तक कुछ नहीं लिखा और न कुछ पढ़ा ही है। वस्तुतः मैं पूर्ण विश्राम ले रहा हूँ। चिन्ता न करना, तुमको लेख तैयार मिलेगा। मुझे मठ से इस आशय का पत्र मिला है कि दूसरा स्वामी रवाना होने के लिए तैयार है। मुझे आशा है कि वह तुम्हारी इच्छा के उपयुक्त व्यक्ति होगा। वह हमारे संस्कृत के अच्छे विद्वानों में से है और जैसा कि मैंने सुना है उसने अपनी अंग्रेजी काफ़ी सुधार ली है। सारदानन्द के बारे में मुझे अमेरिका से अखबारों की बहुत सी कतरनें मिली हैं। उनसे पता चलता है कि उसने वहाँ बहुत अच्छा काम किया है। मनुष्य के अन्दर जो कुछ है, उसे विकसित करने के लिए अमेरिका एक अत्यन्त सुन्दर प्रशिक्षण केन्द्र है। वहाँ का वातावरण कितना सहानुभूतिपूर्ण है। मुझे गुडविन तथा सारदानन्द के पत्र मिले हैं। सारदानन्द ने तुमको, श्रीमती स्टर्डी तथा बच्चे को स्नेह भेजा है।

शुभाकांक्षी
विवेकानन्द

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

स्यूकर्नि स्विट्ज़रलैण्ड
२१ अगस्त १८९६

प्रिय श्रीमती बुल

आपका अन्तिम पत्र मुझे आज मिला। आपके भेजे हुए ५ पौंड की रसीद अब तक आपको मिल चुकी होगी। आपने जो सदस्य होने की बात लिखी है, उसे मैं ठीक ठीक नहीं समझ सका, फिर भी किसी संस्था की सदस्य-सूची में मेरे नामोल्लेख के सम्बन्ध में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु इस विषय में स्टर्डी का क्या अभिमत है, मैं नहीं जानता। मैं इस समय स्विट्ज़रलैण्ड में भ्रमण कर रहा हूँ। यहाँ से मैं जर्मनी जाऊँगा, बाद में इंग्लैण्ड जाना है तथा अगले जाड़े में भारत। यह जानकर कि सारदानन्द तथा गुडविन अमेरिका में अच्छी तरह से प्रचार-कार्य

चला रहे हैं, मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। मेरी अपनी वात तो यह है कि किसी कार्य के प्रतिदान स्वरूप मैं उस ५०० पौंड पर अपना कोई हक कायम करना नही चाहता। मैं तो यह समझता हूँ कि मैं काफी परिश्रम कर चुका । अव मैं अवकाश लेने जा रहा हूँ। मैंने भारत से एक और व्यक्ति माँगा है, आगामी माह मे वह मेरे पास आ जायगा। मैंने कार्य प्रारम्भ कर दिया है, अव दूसरे लोग उसको पूरा करे। आप तो देखती ही है कि कार्य को चालू करने के लिए कुछ समय के लिए मुझे रुपया-पैसा छूना पडा। अव मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि मेरा कर्तव्य समाप्त हो चुका है। वेदान्त अथवा जगत् के अन्य किसी दर्शन अथवा स्वय कार्य के प्रति अव मुझे कोई आकर्षण नही है। मैं प्रस्थान करने के लिए तैयारी कर रहा हूँ—इस जगत् मे, इस नरक मे, मैं फिर लौटना नही चाहता। यहाँ तक कि इस कार्य की आध्यात्मिक उपादेयता के प्रति भी मेरी अरुचि होती जा रही है। मैं चाहता हूँ कि माँ मुझे शीघ्र ही अपने पास बुला लें! फिर कभी मुझे लौटना न पडे!

ये सव कार्य तथा उपकार आदि कार्य चित्तशुद्धि के साधन मात्र हैं, इसे मैं बहुत देख चुका। जगत् अनन्त काल तक सदैव जगत् ही रहेगा। हम लोग जैसे हैं, वैसे ही उसे देखते हैं। कौन कार्य करता है और किसका कार्य है? जगत् नामक कोई भी वस्तु नही है, यह सब कुछ स्वय भगवान् हैं। भ्रम से हम इसे जगत् कहते हैं। यहाँ पर न तो मैं हूँ और न तुम और न आप—एकमात्र वही है, प्रभु—**एकमेवाद्वितीयम्**। अत अब रुपये-पैसे के मामलो से मैं अपना कोई भी सम्बन्ध नही रखना चाहता । यह सब आप लोगो का ही पैसा है, आप लोगो को जो रुपया मिले, आप अपनी इच्छा के अनुसार खर्च करें। आप लोगो का कल्याण हो।

प्रभुपदाश्रित, आपका
विवेकानन्द

पुनश्च—डॉक्टर जेन्स के कार्य के प्रति मेरी पूर्ण सहानुभूति है एव मैंने उनको यह बात लिख दी है। यदि गुडविन तथा सारदानन्द अमेरिका मे कार्य को बढा सकते हैं तो भगवान् उन्हे सफलता दे। स्टर्डी के, मेरे अथवा अन्य किसी के पास तो उन्होंने अपने को गिरवी नही रखा। 'ग्रीनएकर' के कार्यक्रम मे यह एक भारी भूल हुई है कि उसमे यह छापा गया है कि स्टर्डी ने कृपा कर सारदानन्द को वहाँ रहने की (इग्लैण्ड से अवकाश लेकर वहाँ रहने की) अनुमति प्रदान की है। स्टर्डी अथवा और कोई एक सन्यासी को अनुमति देनेवाला कौन होता है? स्टर्डी को स्वय इस पर हँसी आयी और खेद भी हुआ। यह निरी मूर्खता है, और

कुछ भी नहीं ! यह स्त्रियों का अपमान है, और यह समाचार यदि भारत में पहुँच जाता तो मेरे कार्य में अत्यन्त हानि होती। सौभाग्यवश मैंने उन विज्ञापनों को टुकड़े टुकड़े कर फाड़कर नाली में फेंक दिया है। मुझे आश्चर्य है कि क्या यह वही प्रसिद्ध 'यांकी' आचरण है जिसके बारे में बातें करके अंग्रेज लोग मजा लेते हैं? यहाँ तक कि मैं खुद भी जगत् के एक भी संन्यासी का स्वामी नहीं हूँ। संन्यासियों को जो कार्य करना उचित प्रतीत होता है उसे वे करते हैं और मैं चाहता हूँ कि मैं उनकी कुछ सहायता कर सकूँ—बस इतना ही उनसे मेरा सम्बन्ध है। पारिवारिक बन्धन रूपी लोहे की साँकल मैं तोड़ चुका हूँ—अब मैं धर्मसंघ की सोने की साँकल पहिनना नहीं चाहता। मैं मुक्त हूँ सदा मुक्त रहूँगा। मेरी अभिलाषा है कि सभी कोई मुक्त हो जायँ—वायु के समान मुक्त। यदि न्यूयार्क बोस्टन अथवा अमेरिका के अन्य किसी स्थान के निवासी वेदान्त चर्चा के लिए आग्रहशील हों तो उन्हें वेदान्त के आचार्यों को आदरपूर्वक ग्रहण करना उनकी देखभाल तथा उनके प्रतिपालन की व्यवस्था करनी चाहिए। जहाँ तक मेरी बात है मैं तो एक प्रकार से अवकाश ले चुका हूँ। जगत् की नाटयशाला में मेरा अभिनय समाप्त हो चुका है।

भवदीय
विवेकानन्द

(स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखित)

लेक ल्यूकर्न स्विट्जरलैण्ड
२३ अगस्त १८९६

प्रिय शशि

आज रामदयाल बाबू का पत्र मुझे मिला जिसमें वे लिखते हैं कि दक्षिणेश्वर में श्री रामकृष्ण के वार्षिकोत्सव के दिन बहुत सी वेश्याएँ वहाँ आयी थीं इसलिए बहुत से लोगों को वहाँ जाने की इच्छा कम होती है। इसके अतिरिक्त उनके विचार से पुरुषों के जाने के लिए एक दिन नियुक्त होना चाहिए और स्त्रियों के लिए दूसरा। इस विषय पर मेरा निर्णय यह है

१ यदि वेश्याओं को दक्षिणेश्वर जैसे महान् तीर्थ में जाने की अनुमति नहीं है, तब वे और कहाँ जायँ। ईश्वर विशेषकर पापियों के लिए प्रकट होते हैं, पुण्यवानों के लिए कम।

२ लिंग जाति धन विद्या और इनके समान और बहुत सी बातों के भेद-भावों को जो साक्षात् नरक के द्वार हैं संसार में ही सीमाबद्ध रहने दो। यदि

तीर्थों के पवित्र स्थानों मे ये भेदभाव बने रहेगे तो उनमे और नरक मे क्या अन्तर रह जायगा ?

३ अपनी विशाल जगन्नाथपुरी है, जहाँ पापी और पुण्यात्मा, महात्मा और दुरात्मा, पुरुष, स्त्री और बालक—बिना किसी उम्र अथवा अवस्था के भेदभाव के—सबको समान अधिकार है। वर्ष मे कम से कम एक दिन के लिए सहस्रो स्त्री-पुरुष पाप और भेदभाव से छुटकारा पाते है और परमात्मा का नाम सुनते और गाते है। यह स्वय परम श्रेय है।

४ यदि तीर्थ स्थान मे भी एक दिन के लिए लोगो की पापप्रवृत्ति पर नियत्रण नही किया जा सकता, तब समझो कि दोष तुम्हारा है, उनका नही। आध्यात्मिकता की एक ऐसी शक्तिशाली लहर उठा दो कि उसके समीप जो भी आ जायँ, वे उसमे बह जायँ।

५ जो लोग मन्दिर मे भी यह सोचते है कि यह वेश्या है, यह मनुष्य नीच जाति का है, दरिद्र है तथा यह मामूली आदमी है—ऐसे लोगो की सख्या (जिन्हे तुम सज्जन कहते हो) जितनी कम हो उतना ही अच्छा। क्या वे लोग, जो भक्तो की जाति, लिंग या व्यवसाय देखते हैं, हमारे प्रभु को समझ सकते हैं ? मैं प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि सैकडो वेश्याएँ आयें और 'उनके' चरणो मे अपना सिर नवायें, और यदि एक भी सज्जन न आये तो भी कोई हानि नही। आओ वेश्याओ, आओ शराबियो, आओ चोरो, सब आओ—श्री प्रभु का द्वार सबके लिए खुला है। 'It is easier for a camel to pass through the eye of a needle than for a rich man to enter the Kingdom of God' (धनवान का ईश्वर के राज्य मे प्रवेश करने की अपेक्षा ऊँट का सुई के छेद मे घुसना सहज है।) कभी कोई ऐसे क्रूर और राक्षसी भावो को अपने मन मे न आने दो।

६ परन्तु कुछ सामाजिक सावधानी की आवश्यकता है—हम यह कैसे रख सकते हैं ? कुछ पुरुष (यदि वृद्ध हो तो अच्छा हो) पहरेदारी का भार दिन भर के लिए ले लें। वे उत्सव के स्थान मे परिभ्रमण करें, और यदि वे किसी पुरुष अथवा स्त्री की बातचीत या आचरण मे अशिष्ट व्यवहार पाये तो वे उन्हे तुरन्त ही उद्यान से निकाल दें। परन्तु जब तक शिष्ट स्त्री-पुरुषो के समान उनका आचरण रहे, तब तक वे भक्त हैं और आदरणीय हैं—चाहे वे पुरुष हो या स्त्री, सच्चरित्र या दुश्चरित्र।

मैं इस समय स्विट्ज़रलैण्ड मे भ्रमण कर रहा हूँ और प्रोफेसर डॉयसन से भेंट करने शीघ्र ही जर्मनी जानेवाला हूँ। वहाँ से मैं २३ या २४ सितम्बर तक

मेरे बच्चो को सघर्ष मे कूदना होगा, ससार त्यागना होगा—तब दृढ नीव पडेगी।

वीरता से आगे बढो—डिजाइन और दूसरी छोटी छोटी बातो की चिन्ता न करो—'घोडे के साथ लगाम भी मिल जायगी।' मृत्युपर्यन्त काम करो—मैं तुम्हारे साथ हूँ, और जब मैं न रहूँगा, तब मेरी आत्मा तुम्हारे साथ काम करेगी। यह जीवन आता और जाता है—नाम, यश, भोग, यह सब थोडे दिन के हैं। ससारी कीडे की तरह मरने से अच्छा है—कही अधिक अच्छा है कर्तव्य क्षेत्र मे सत्य का उपदेश देते हुए मरना। आगे बढो।

शुभाकाक्षी,
विवेकानन्द

(स्वामी कृपानन्द को लिखित)

स्विट्‌जरलैण्ड,
अगस्त, १८९६

प्रिय कृपानन्द,

तुम पवित्र तथा सर्वोपरि निष्ठावान बनो, एक मुहूर्त के लिए भी भगवान् के प्रति अपनी आस्था न खोओ, इसीसे तुम्हे प्रकाश दिखायी देगा। जो कुछ सत्य है, वही चिरस्थायी बनेगा, किन्तु जो सत्य नही है, उसकी कोई भी रक्षा नही कर सकता। आधुनिक समय मे तीव्र गति से प्रत्येक वस्तु की खोज की जाती है, इस समय हमारा जन्म होने के कारण हमे बहुत कुछ सुविधा प्राप्त हुई है। और लोग चाहे कुछ भी क्यो न सोचें, तुम कभी अपनी पवित्रता, नैतिकता तथा भगवत्प्रीति के आदर्श को छोटा न बनाना। सभी प्रकार की गुप्त सस्थाओ से सावधान रहना, इस बात का सबसे अधिक ख्याल रखना। भगवत्प्रेमियो को किसी इन्द्रजाल से नही डरना चाहिए। स्वर्ग तथा मर्त्य लोक मे सर्वत्र केवल पवित्रता ही सर्वश्रेष्ठ तथा दिव्यतम शक्ति है। **सत्यमेव जयते नानृतम्, सत्येन पन्था विततो देवयान** ।—'सत्य की ही जय होती है, मिथ्या की नही, सत्य के ही मध्य होकर देवयान मार्ग अग्रसर हुआ है' कोई तुम्हारा सहगामी बना या न बना, इस विषय को लेकर माथापच्ची करने की आवश्यकता नही है, केवल प्रभु का हाथ पकडने मे भूल न होनी चाहिए, बस इतना ही पर्याप्त है।

कल मैं 'मौन्टि रोसा' हिमनद के किनारे गया था तथा चिरकालिक हिम के प्राय मध्य मे उत्पन्न कुछ एक सदाबहार फूल तोड लाया था। उनमे से एक इस पत्र के अन्दर रखकर तुम्हारे लिए भेज रहा हूँ—आशा है कि इस पार्थिव जीवन के समस्त

हिम तथा बर्फ़ के बीच में तुम भी उसी प्रकार की आध्यात्मिक दृढ़ता प्राप्त करोगे।

तुम्हारा स्वप्न अति सुन्दर है। स्वप्न में हमें अपने एक ऐसे मानसिक 'स्तर' का परिचय मिलता है, जिसकी अनुभूति जाग्रत दशा में नहीं होती और कल्पना चाहे कितनी ही ख्याली क्यों न हो—अज्ञात आध्यात्मिक सत्य सदा कल्पना के पीछे रहते हैं। साहस से काम लो। मानव जाति के कल्याण के लिए हम यथासाध्य प्रयास करेंगे शेष सब प्रभु पर निर्भर है।

अधीर न बनो उतावली न करो। धैर्यपूर्ण एकनिष्ठ तथा शान्तिपूर्ण कर्म के द्वारा ही सफलता मिलती है। प्रभु सर्वोपरि है। बस हम अवश्य सफल होंगे—सफलता अवश्य मिलेगी। 'उसका' नाम धन्य है!

अमेरिका में कोई आश्रम नहीं है। यदि एक आश्रम होता तो क्या ही सुन्दर होता! उससे मुझे न जाने कितना आनन्द मिलता और उसके द्वारा इस देश का न जाने कितना कल्याण होता!

शुभाकांक्षी
विवेकानन्द

(श्री ई० टी० स्टर्डी को लिखित)

कील
१ सितम्बर, १८९६

प्रिय मित्र

आखिर प्रोफेसर डॉयसन के साथ मेरी भेंट हुई। उनके साथ दर्शनीय स्थानों को देखने तथा वेदान्त पर विचार विमर्श करने में कल का सारा दिन बहुत ही अच्छी तरह बीता।

मैं समझता हूँ कि वे एक 'लड़ाकू अद्वैतवादी' (A warring Advaitist) हैं। अद्वैतवाद को छोड़कर और किसी से वे मेल करना नहीं चाहते। 'ईश्वर' शब्द से वे आतंकित हो उठते हैं। यदि उनसे सम्भव होता तो वे इसको एकदम निर्मूल कर देते। मासिक पत्रिका सम्बन्धी तुम्हारी योजना से वे अत्यन्त आनन्दित हैं तथा इस बारे में तुम्हारे साथ लन्दन में विचार-विमर्श करना चाहते हैं शीघ्र ही वे वहाँ जा रहे हैं।

शुभाकांक्षी
विवेकानन्द

(कुमारी हैरियेट हेल को लिखित)

एयरली लॉज, रिजवे गार्डन्स,
विम्वलडन, इग्लैण्ड,
१७ सितम्वर, १८९६

प्रिय वहन,

स्विट्ज़रलैण्ड से यहाँ वापस आने पर अभी अभी तुम्हारा अत्यन्त शुभ समाचार मिला। 'चिरकुमारी आश्रम' (Old Maids Home) मे प्राप्य सुख के वारे मे आखिर तुमने अपना मतपरिवर्तन किया है, उससे मुझे वहुत ही खुशी हुई। अव तुम्हारा यह सिद्धान्त विल्कुल ठीक है कि नब्वे प्रतिशत व्यक्तियो के लिए विवाह जीवन का सर्वोत्तम ध्येय है, और जव वे इस चिरन्तन सत्य का अनुभव कर उसका अनुसरण करने को प्रस्तुत हो जायँगे, उन्हे सहनशीलता और क्षमाशीलता अपनानी पडेगी तथा जीवन-यात्रा मे मिल-जुल कर चलना पडेगा, तभी उनका जीवन अत्यन्त सुखपूर्ण होगा।

प्रिय हैरियेट, तुम यह निश्चित जानना कि 'सम्पन्न जीवन' मे अन्तर्विरोध है। अत हमे सर्वदा इस वात की सम्भावना स्वीकार करनी चाहिए कि हमारे उच्चतम आदर्श से निम्न श्रेणी की ही वस्तुएँ हमे मिलेगी, यह समझ लेने पर प्रत्येक वस्तु का हम अधिक से अधिक सदुपयोग करेंगे। मैं जहाँ तक तुमको जानता हूँ, उससे मेरी धारणा वनी है कि तुम्हारे अन्दर ऐसी प्रशात शक्ति विद्यमान है, जो क्षमा तथा सहनशीलता से पर्याप्त पूर्ण है। अत मैं निश्चित रूप से यह भविष्यवाणी कर सकता हूँ कि तुम्हारा दाम्पत्य-जीवन अत्यन्त सुखमय होगा।

तुम तथा तुम्हारे वाग्दत्त पति को मेरा आशीर्वाद। प्रभु तुम्हारे पति के हृदय मे सर्वदा यह बात जाग्रत रखें कि तुम जैसी पवित्र, सच्चरित्र, बुद्धिशालिनी, स्नेहमयी तथा सुन्दरी सहधर्मिणी को पाना उनका सौभाग्य था। इतने शीघ्र 'अटलाटिक' महासागर पार करने की मेरी कोई सम्भावना नही है, यद्यपि मेरी यह हार्दिक अभिलाषा है कि तुम्हारे विवाह मे उपस्थित रहूँ।

ऐसी दशा मे हम लोगो की एक पुस्तक मे से कुछ अश उद्धृत करना ही मेरे लिए उत्तम है 'अपने पति को इहलोक की समस्त काम्य वस्तुओ की प्राप्ति करने मे सहायता प्रदान कर, तुम सर्वदा उनके ऐकान्तिक प्रेम की अधिकारिणी वनो, अनन्तर पौत्र-पौत्रियो की प्राप्ति के वाद जब आयु समाप्त होने लगे, तब जिस सच्चिदानन्द सागर के जलस्पर्श से सब प्रकार के विभेद दूर हो जाते हैं एव हम सब एक मे परिणत होते हैं, उन्हे प्राप्त करने के लिए तुम दोनो परस्पर सहायक बनो।'

उमा की तरह तुम जीवन भर पवित्र तथा निष्काम रहो तथा तुम्हारे पति का जीवन शिव जैसा उमागतप्राण हो!

तुम्हारा स्नेहाधीन भाई,
विवेकानन्द

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

एयरली लॉज रिजवे गार्डन्स
विम्बल्डन इंग्लैण्ड
१७ सितम्बर, १८९६

प्रिय बहन

स्विट्जरलैण्ड में दो महीने तक पर्वतारोहण पद-यात्रा और हिमनदों का दृश्य देखने के बाद आज लन्दन पहुँचा। इससे मुझे एक लाभ हुआ—शरीर का व्यर्थ का मुटापा छँट गया और वजन कुछ पौंड घट गया। ठीक किन्तु उसमें भी खैरियत नहीं क्योंकि इस जन्म में जो ठोस शरीर प्राप्त हुआ है, उसने अनन्त विस्तार की होड़ में मन को मात देने की ठान रखी है। अगर यह रवैया जारी रहा तो मुझे शीघ्र ही अपने शारीरिक रूप म अपनी व्यक्तिगत पहिचान खोनी पड़ेगी—कम से कम शेष सारी दुनिया की निगाह में।

हैरियट के पत्र के शुभ संवाद से मुझे जो प्रसन्नता हुई, उसे शब्दों में व्यक्त करना मेरे लिए असम्भव है। मैंने उसे आज पत्र लिखा है। खेद है कि उसके विवाह के अवसर पर मैं न आ सकूँगा किन्तु समस्त शुभकामनाओं और आशीर्वादों के साथ मैं अपने 'सूक्ष्म शरीर' से उपस्थित रहूँगा। और, अपनी प्रसन्नता की पूर्णता के निमित्त मैं तुमसे तथा अन्य बहनों से भी इसी प्रकार के समाचार की अपेक्षा करता हूँ।

इस जीवन में मुझे एक बड़ी नसीहत मिली है, और प्रिय मेरी मैं अब उसे तुम्हें बताना चाहता हूँ। वह है—'जितना ही ऊँचा तुम्हारा ध्येय होगा उतना ही अधिक तुम्हें सन्तप्त होना पड़ेगा। कारण यह है कि 'संसार में' अथवा इस जीवन में भी आदर्श नाम की वस्तु की उपलब्धि नहीं हो सकती। जो संसार में पूर्णता चाहता है वह पागल है क्योंकि वह हो नहीं सकती।

ससीम में असीम तुम्हें कैसे मिलेगा? इसलिए मैं तुम्हें बता देना चाहता हूँ कि हैरियट का जीवन अत्यन्त आनन्दमय और सुखमय होगा क्योंकि वह इतनी कल्पनाशील और भावुक नहीं है कि अपने को मूर्ख बना ले। जीवन को सुमधुर बनाने के लिए उसमें पर्याप्त भावुकता है और जीवन की कठोर गुत्थियों

को, जो प्रत्येक के सामने आती ही है, सुलझाने के लिए उसमे काफी समझदारी तथा कोमलता भी है। उसमे भी अधिक मात्रा मे वे ही गुण मैककिंडले मे भी है। वह ऐसी लडकी है जो सर्वोत्तम पत्नी होने लायक है, पर यह दुनिया ऐसे मूढो की खान है कि इने-गिने लोग ही आन्तरिक सौन्दर्य पसन्द पाते हैं। जहाँ तक तुम्हारा और आइसाबेल का सवाल है, मैं तुम्हे सच बताऊँगा और मेरी भाषा स्पष्ट है।

मेरी, तुम तो एक बहादुर अरब जैसी हो—शानदार और भव्य। तुम भव्य राजमहिषी बनने योग्य हो—शारीरिक दृष्टि से और मानसिक दृष्टि से भी। तुम किसी तेज़-तर्रार, बहादुर और जोखिम उठानेवाले वीर पति की पार्श्ववर्ती बन कर चमक उठोगी, किन्तु प्रिय बहन, पत्नी के रूप मे तुम खराब से खराब सिद्ध होगी। सामान्य दुनिया मे जो आराम से जीवन व्यतीत करनेवाले, व्यावहारिक तथा कार्य के बोझ से पिसनेवाले पति हुआ करते हैं, उनकी तो तुम जान ही निकाल लोगी। सावधान, बहन, यद्यपि किसी उपन्यास की अपेक्षा वास्तविक जीवन मे अधिक रूमानिअत है, लेकिन वह है बहुत कम। अतएव तुम्हे मेरी सलाह है कि जब तक तुम अपने आदर्शों को व्यावहारिक स्तर पर न ले आ सको, तब तक हरगिज़ विवाह मत करना। यदि कर लिया तो दोनो का जीवन दु खमय होगा। कुछ ही महीनो मे सामान्य कोटि के उत्तम, भले युवक के प्रति तुम अपना सारा आदर खो बैठोगी और तब जीवन नीरस हो जायगा। बहन आइसाबेल का स्वभाव भी तुम्हारे ही जैसा है। अन्तर इतना ही है कि किंडरगार्टन की अध्यापिका होने के नाते उसने धैर्य और सहिष्णुता का अच्छा पाठ सीख लिया है। सम्भवत वह अच्छी पत्नी बनेगी।

दुनिया मे दो तरह के लोग है। एक कोटि तो उन लोगो की है जो दृढ स्नायुओवाले, शान्त तथा प्रकृति के अनुरूप आचरण करनेवाले होते हैं, वे अधिक कल्पनाशील नही होते, फिर भी अच्छे, दयालु, सौम्य आदि होते है। दुनिया ऐसे लोगो के लिए ही है—वे ही सुखी रहने के लिए पैदा हुए हैं। दूसरी कोटि उन लोगो की है जिनके स्नायु अधिक तनाव के हैं, जिनमे प्रगाढ भावना है, जो अत्यधिक कल्पनाशील हैं, सदा एक क्षण मे बहुत ऊँचे चले जाते हैं और दूसरे क्षण नीचे उतर आते हैं—उनके लिए सुख नही। प्रथम कोटि के लोगो का सुख-काल प्राय सम होता है और द्वितीय कोटि के लोगो को हर्ष विषाद के द्वन्द्व मे जीवन व्यतीत करना पडता है। किन्तु इसी द्वितीय कोटि मे ही उन लोगो का आविर्भाव होता है, जिन्हें हम प्रतिभासम्पन्न कहते हैं। इस हाल के सिद्धान्त मे कुछ सत्य है कि 'प्रतिभा एक प्रकार का पागलपन है।'

तुमने सुना होगा कि वे जीवित जर्मन दार्शनिकों में सर्वश्रेष्ठ हैं। हम दोनों साथ ही इग्लैंड आये और आज साथ ही यहाँ अपने मित्र से मिलने आये, जहाँ इग्लैण्ड के प्रवास-काल मे मैं ठहरनेवाला हूँ। सस्कृत मे वार्तालाप उन्हे अत्यन्त प्रिय है और पाश्चात्य देशो मे सस्कृत के विद्वानो मे वे ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जो उसमे बातचीत कर सकते है। वह अभ्यस्त बनना चाहते हैं, इसलिए सस्कृत के सिवा अन्य किसी भाषा मे वे मुझसे बाते नही करते।

यहाँ मैं अपने मित्रो के बीच आया हूँ, कुछ सप्ताह कार्य करूँगा और तब जाडो मे भारत वापस लौट जाऊँगा।

तुम्हारा सदैव सस्नेह भाई,
विवेकानन्द

(श्री आलासिगा पेरुमल को लिखित)

द्वारा कुमारी मूलर,
एयरली लॉज, रिजवे गार्डन्स,
विम्बलडन, इग्लैण्ड,
२२ सितम्बर, १८९६

प्रिय आलासिगा,

मैक्समूलर द्वारा लिखित रामकृष्ण पर जो लेख मैंने तुम्हे भेजा था, आशा है मिला होगा। उन्होने कही भी मेरे नाम की चर्चा नही की है—इसके लिए दु खित मत होना। क्योकि मुझसे परिचय होने के छ माह पूर्व उन्होने यह लेख लिखा था। और, यदि उनका मूल वक्तव्य सही है तो फिर इससे क्या लेना देना कि किसका नाम उन्होंने लिया और नही लिया। जर्मनी मे प्रोफेसर डॉयसन के साथ मेरा समय आनन्दपूर्वक कटा। इसके बाद हम दोनो साथ ही लन्दन आये और हमारी मित्रता घनिष्ठ हो गयी है।

मैं शीघ्र ही उनके सम्बन्ध मे एक लेख भेज रहा हूँ। सिर्फ एक प्रार्थना है, मेरे लेख के पहले पुराने ढग का—'प्रिय महाशय' मत जोडा करो। तुमने 'राजयोग' पुस्तक अभी तक देखी है या नही, इस वर्ष के लिए मैं एक प्रारूप भेजने की चेष्टा करूँगा। मैं तुम्हे 'डेली न्यूज' मे प्रकाशित रूस के जार द्वारा लिखित यात्रा-पुस्तक की समीक्षा भेज रहा हूँ। जिस परिच्छेद मे उन्होंने भारत को अध्यात्म और ज्ञान का देश कहा है—उसको तुम अपने पत्र मे उद्धृत करके एक निबन्ध 'इडियन मिरर' को भेज दो।

तुम ज्ञानयोग के व्याख्यान को खुशी से प्रकाशित कर सकते हो। और

इस कोटि के लोग यदि महान् बनना चाहें तो उन्हें मारे-मारे की लड़ाई लड़नी होगी—युद्ध के लिए मैदान साफ़ करना पड़ेगा। कोई बोझ नहीं—न बोझ न थोथा न बच्चे और न किसी वस्तु के प्रति आवश्यकता से अधिक आसक्ति। अनुरक्ति केवल एक 'भाव' के प्रति और उसीके निमित्त जीना-मरना। मैं इसी प्रकार का व्यक्ति हूँ। मैंने केवल वेदान्त का भाव ग्रहण किया है और 'युद्ध के लिए मैदान साफ़ कर लिया है। तुम और आइसाबेल भी इसी कोटि में हो परन्तु मैं तुम्हें बता देना चाहता हूँ यद्यपि है यह कटु सत्य कि 'तुम लोग अपना जीवन व्यर्थ चौपट कर रही हो। या तो तुम लोग एक भाव ग्रहण कर लो तन्निमित्त मैदान साफ़ कर लो और जीवन अर्पित कर दो या सन्तुष्ट एवं व्यावहारिक बनो आदर्श नीचा करो विवाह कर लो एवं 'सुखमय जीवन' व्यतीत करो। या तो 'भोग' या 'योग'—सांसारिक सुख भोगो या सब त्याग कर योगी बनो। 'एक साथ दोनों की उपलब्धि किसीको नहीं हो सकती।' अभी या फिर कभी नहीं—शीघ्र चुन लो। कहावत है कि 'जो बहुत छिद्रान्वेषी होता है, उसके हाथ कुछ नहीं लगता।' अब सच्चे दिल से वास्तव में और सदा के लिए धर्म-संग्राम के लिए 'मैदान साफ़ करने' का संकल्प करो कुछ भी ले लो दर्शन या विज्ञान या धर्म अथवा साहित्य कुछ भी ले लो और अपने शेष जीवन के लिए उसीको अपना ईश्वर बना लो। या तो सुख ही लाभ करो या महानता। तुम्हारे और आइसाबेल के प्रति मेरी सहानुभूति नहीं तुमने इसे चुना है न उसे। मैं तुम्हें सुखी—जैसा कि हैरियट ने ठीक ही चुना है—अथवा 'महान्' देखना चाहता हूँ। भोजन मद्यपान शृंगार तथा सामाजिक अल्हड़पन ऐसी वस्तुएँ नहीं कि जीवन को उनके हवाले कर दी—विशेषत तुम मेरी। तुम एक उत्कृष्ट मस्तिष्क और योग्यताओं में घुन लगने दे रही हो जिसके लिए जरा भी कारण नहीं है। तुममें महान् बनने की महत्त्वाकांक्षा होनी चाहिए। मैं जानता हूँ कि तुम मेरी इन कटूक्तियों को समुचित भाव से ग्रहण करोगी क्योंकि तुम्हें मालूम है कि मैं तुम्हें बहन कह कर जो सम्बोधित करता हूँ वैसा ही या उससे भी अधिक तुम्हें प्यार करता हूँ। इसे बताने का मेरा बहुत पहले से विचार था और ज्यों ज्यों अनुभव बढ़ता जा रहा है, त्यों त्यों इसे बता देने का विचार हो रहा है। हैरियट से जो हर्षमय समाचार मिला उससे एकाएक तुम्हें यह सब कहने को प्रेरित हुआ। तुम्हारे भी विवाहित हो जाने और सुखी होने पर, यहाँ तक इस संसार में सुख सुलभ हो सकता है, मुझे बेहद खुशी होगी अन्यथा मैं तुम्हारे बारे में यह सुनना पसन्द करूँगा कि तुम महान् कार्य कर रही हो।

जर्मनी में प्रोफ़ेसर डॉयसन से मेरी भेंट मज़ेदार थी। मुझे विश्वास है कि

सदा सहायता मिलती थी तथा जो मुझमे शक्ति एव उत्साह का सचार करता था। और कई हजार मील की दूरी के बावजूद वही मुखमडल मेरे मनश्चक्षु के सम्मुख उदित हुआ, क्योकि उस अतीन्द्रिय भूमि मे दूरत्व का स्थान ही कहाँ है? अस्तु, तुम तो अपने शान्तिमय तथा पूर्ण विश्रामदायक घर लौट चुकी हो—परन्तु मेरे समक्ष प्रतिक्षण कर्मों का ताडव बढता ही जा रहा है! फिर भी तुम्हारी शुभ-कामनाएँ सदा ही मेरे साथ हैं—ठीक है न?

किसी गुफा मे जाकर चुपचाप निवास करना ही मेरा स्वाभाविक सस्कार है, किन्तु पीछे से मेरा अदृष्ट मुझे आगे की ओर ढकेल रहा है और मैं आगे बढता जा रहा हूँ। अदृष्ट की गति को कौन रोक सकता है?

ईसा मसीह ने अपने 'पर्वत पर उपदेश' (Sermon on the Mount) मे यह क्यो नही कहा—'जो सदा आनन्दमय तथा आशावादी है, वे ही धन्य हैं, क्योकि उनको स्वर्ग का राज्य तो पहले ही प्राप्त हो चुका है।' मेरा विश्वास है कि उन्होंने निश्चय ही ऐसा कहा होगा, यद्यपि वह लिपिबद्ध नही हुआ, कारण यह है कि उन्होंने अपने हृदय में विश्व के अनन्त दु ख को धारण किया था एव यह कहा था कि साधु का हृदय शिशु के अन्त करण के सदृश है। मैं समझता हूँ, उनके हजारो उपदेशो मे से शायद एकाध उपदेश, जो याद रहा, लिपिबद्ध किया गया है।

हमारे अधिकाश मित्र आज आये थे। गाल्सवर्दी परिवार की एक सदस्या—विवाहित पुत्री भी आयी थी। श्रीमती गाल्सवर्दी आज नही आ सकी, सूचना बहुत देर से दी गयी थी। अब हमारे पास एक हॉल भी है, खासा बडा जिसमे लगभग दो सौ व्यक्ति अथवा इससे अधिक भी आ सकते हैं। इसमे एक बडा सा कोना है जिसमे पुस्तकालय की व्यवस्था की जायगी। अब मेरी सहायता के लिए भारत से एक और व्यक्ति आ गया है।

मुझे स्विट्जरलैण्ड मे बडा आनन्द आया, जर्मनी मे भी। प्रोफ़ेसर डॉयसन बहुत ही कृपालु रहे—हम दोनो साथ लन्दन आये और दोनो ने यहाँ काफ़ी आनन्द लिया। प्रोफेसर मैक्समूलर भी बहुत अच्छे मित्र हैं। कुल मिलाकर इग्लैण्ड का काम मज़बूत हो रहा है—और सम्माननीय भी, यह देखकर कि बडे बडे विद्वान् सहानुभूति प्रदर्शित कर रहे हैं। शायद मैं अगली सर्दियो मे कुछ अग्रेज मित्रो के साथ भारत जाऊँगा। यह तो बात हुई अपने बारे मे।

उस धार्मिक परिवार का क्या हाल है? मुझे विश्वास है कि सब कुछ बिल्कुल ठीक चल रहा है। अब तो तुम्हे फोक्स का समाचार सुनने को मिला होगा। मुझे डर है कि उसके जहाज़ी यात्रा शुरू करने के एक दिन पहले, मेरे यह कहने से कि तुम तब तक मेबेल से विवाह नही कर सकते, जब तक तुम काफ़ी कमाने न लगो,

डॉक्टर मन्नुन्था राव भी उसे अपने 'प्रबुद्ध भारत' के लिए ले सकते हैं किन्तु सिर्फ सरल और सहज भाषणों को। उन व्याख्यानों को एक बार सावधानी से देखकर उसमें पुनरावृत्ति और परस्पर विरोधी विचारों को निकाल देना है। मुझे पूरी आशा है कि लिखने के लिए अब अधिक समय मिलेगा। पूरी शक्ति के साथ कार्य में जुट रहो।

सभी को प्यार—
तुम्हारा
विवेकानन्द

पुनश्च—मैंने उद्धृत होनेवाले परिच्छेद को रेखांकित कर दिया है। बाकी अंश किसी पत्रिका के लिए निरर्थक हैं।

मैं नहीं समझता कि अभी पत्रिका को मासिक बनाने से कोई काम होगा—जब तक कि तुमको यह विश्वास न हो जाय कि उसका कलेवर मोटा होगा। जैसा कि अभी है—कलेवर और सामग्री सभी मामूली है। अभी भी एक बहुत बड़ा क्षेत्र पड़ा हुआ है, जो अभी तक छूआ नहीं गया है। यथा—तुलसीदास कबीर और नानक तथा दक्षिण भारत के सन्तों के जीवन और कृति के सम्बन्ध में लिखना। इसे विद्वत्तापूर्ण शैली तथा पूरी जानकारी के साथ लिखना होगा—ढीले ढाले और अधकचरे ढंग से नहीं। असल में पत्र को आदर्श—वेदान्त के प्रचार के अलावा भारतीय अनुसंधान और ज्ञानपिपासाओं का—मुखपत्र बनाना होगा। हाँ धर्म ही इसका आधार होगा। तुम्हें अच्छे लेखकों से मिलकर अच्छी सामग्री के लिए आग्रह करना होगा तथा उनकी लेखनी से अच्छी रचना वसूल करनी होगी।

लगन के साथ कार्य में लगे रहो—

तुम्हारा
विवेकानन्द

(कुमारी जोसेफिन मैकलिऑड को लिखित)

द्वारा कुमारी मूलर,
एयरली लॉज रिजवे गार्डेन्स
विम्बलडन इंग्लैण्ड
७ अक्तूबर, १८९६

प्रिय जो

पुनः उसी लन्दन में ! और कक्षाएँ भी यथावत शुरू हो गयी हैं। मेरा मन आप ही उस परिचित मुख को चारों ओर ढूँढ रहा था जिसमें कभी निरुत्साह की एक रेखा तक नहीं दिखती थी जो कभी परिवर्तित नहीं होता था और जिससे मुझे

इसके लिए उसने महाकाक्षा से समस्त सुन्दर वस्तुओ का एक साथ आवाहन कर अपने शाश्वत मन मे एकत्र किया और उनको एक चित्र की भाँति उत्कृष्ट तथा आदर्श रूप दिया। ऐसे दिव्य, ऐसे आश्चर्यजनक आदि रूप से उस सौन्दर्य राशि की रचना हुई।' (कालिदास कृत अभिज्ञानशाकुन्तलम्)

'जो', 'जो' तुम वह हो, मैं केवल इतना और जोड देना चाहता हूँ कि उसी रचयिता ने समस्त पवित्रता, समस्त उदाराशयता तथा अन्य समस्त गुणो को भी एकत्र किया और तब 'जो' की रचना हुई।

शुभाकाक्षी,
विवेकानन्द

पुनश्च—सेवियर दम्पति तुम्हे अपनी शुभकामनाएँ भेज रहे हैं। उनके निवासस्थान से ही मैं यह पत्र लिख रहा हूँ।

विवेकानन्द

(कुमारी एलेन वाल्डो या हरिदासी नामक एक शिष्या को लिखित)

एयरली लॉज, रिजवे गार्डन्स,
विम्बलडन, इग्लैण्ड
८ अक्तूबर, १८९६

प्रिय वाल्डो,

स्विट्ज़रलैण्ड मे मुझे पूर्ण विश्राम मिला एव प्रोफेसर पॉल डॉयसन के साथ मेरी विशेष मित्रता हो गयी है। वस्तुत अन्य स्थानो की अपेक्षा यूरोप मे मेरा कार्य अधिक सन्तोषजनक रूप से बढ़ रहा है तथा भारतवर्ष मे इसका बहुत ज्यादा प्रभाव पडेगा। लन्दन मे पुन कक्षाएँ चालू हो गयी हैं—आज तत्सम्बन्धी प्रथम व्याख्यान होगा। अब मुझे एक ऐसा सभागृह मिल गया है, जिस पर मेरा ही नियत्रण है, उसमे दो सौ या उससे भी अधिक व्यक्ति बैठ सकते हैं

यह तो तुम जानती ही हो कि अग्रेज़ लोग कितने दृढचित्त होते हैं, अन्य जातियो की अपेक्षा उन लोगो मे पारस्परिक ईर्ष्या की भावना भी बहुत ही कम होती है और यही कारण है कि उनका प्रभुत्व सारे ससार पर है। दासता की प्रतीक खुशामद से सर्वथा दूर रहकर उन्होंने आज्ञा-पालन, पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ नियमो के पालन के रहस्य का पता लगा लिया है।

प्रोफेसर मैक्समूलर अब मेरे मित्र हैं। मुझ पर लन्दन की छाप लग चुकी है। 'र' नामक युवक के बारे मे मुझे विशेष कुछ ज्ञात नही। वह बगाली है तथा कुछ कुछ सस्कृत भी पढा सकता है। तुम तो मेरी इस दृढ़ धारणा से परिचित ही हो कि

वह कुछ निराश हो गया था। क्या मिसेस अभी तुम्हारे यहाँ है? उससे मेरा प्यार कहना। तुम अपना वर्तमान पता भी मुझको लिखना।

माँ कैसी है? मुझे विश्वास है कि फ्रान्सिस पूर्ववत् पक्के खरे सोने की तरह है। अल्बर्टा तो संगीत और भाषाएँ सीख रही होगी पूर्ववत खूब हँसती होगी और खूब सेब खाती होगी? हाँ आजकल फल-बादाम ही मेरा मुख्य आहार है, एवं वे मुझे काफ़ी अनुकूल जान पड़ते हैं। यदि कभी उस अज्ञात 'उच्च देशीय' बूढ़े डॉक्टर के साथ तुम्हारी भेंट हो तो यह रहस्य उन्हें बतलाना। मेरी चर्बी बहुत कुछ घट चुकी है जिस दिन भाषण देना होता है, उस दिन अवश्य पौष्टिक भोजन करना पड़ता है। हालिस का क्या समाचार है? उसकी तरह के मधुर स्वभाव का कोई दूसरा बालक मुझे दिखायी नहीं दिया। उसका समग्र जीवन सर्वविध आशीर्वाद से पूर्ण हो।

मैंने सुना है कि जरथुस्ट्र के मतवाद के समर्थन में तुम्हारे मित्र कोला भाषण दे रहे हैं? इसमें सन्देह नहीं कि उनका भाग्य विशेष अनुकूल नहीं है। कुमारी एण्ड्रीज तथा हमारे योगानन्द का क्या समाचार है? 'च ज वं' गोष्ठी की क्या खबर है? और हमारी श्रीमती (नाम याद नहीं है) कैसी हैं? ऐसा सुना जा रहा है कि हाल ही में आधा जहाज भरकर हिन्दू, बौद्ध मुसलमान तथा अन्य और न जाने कितने ही सम्प्रदाय के लोग अमेरिका आ पहुँचे हैं तथा महात्माओं की खोज करनेवालों ईसाई धर्म-प्रचारकों आदि का दूसरा दल भारत में घुसा है। बहुत खूब! भारतवर्ष तथा अमेरिका—ये दोनों देश धर्म-उद्योग के लिए बने जान पड़ते हैं। किन्तु 'जो' सावधान! विधर्मियों की छूत खतरनाक है। श्रीमती स्टर्लिंग से आज रास्ते में भेंट हुई। आजकल वे मेरे भाषण सुनने नहीं आतीं। यह उनके लिए उचित ही है क्योंकि अत्यधिक दार्शनिकता भी ठीक नहीं है। क्या तुम्हें उस महिला की याद है जो मेरी हर सभा में इतनी देर से आती थी कि उसको कुछ भी सुनने को न मिलता था किन्तु तुरन्त बाद में वह मुझे पकड़कर इतनी देर तक बातचीत में लगाये रखती कि भूख से मेरे उदर में 'वाटरलू' का महासंग्राम छिड़ जाता था। वह आयी थी। लोग आ रहे हैं तथा और भी आयेंगे। यह आनन्द का विषय है।

रात बढ़ती जा रही है अतः 'जो' विदा—(न्यूयार्क में भी क्या ठीक ठीक अदब-क़ायदे का पालन करना आवश्यक है?) प्रभु निरन्तर तुम्हारा कल्याण करें।

'मनुष्य के प्रवीण रचयिता ब्रह्मा को एक ऐसे निर्दोष रूप की रचना करने की इच्छा हुई जिसका अनुपम सौष्ठव सृष्टि की सुन्दरतम कृतियों में सर्वोत्तम हो।

इसके लिए उसने महाकाक्षा से समस्त सुन्दर वस्तुओ का एक साथ आवाहन कर अपने शाश्वत मन मे एकत्र किया और उनको एक चित्र की भाँति उत्कृष्ट तथा आदर्श रूप दिया। ऐसे दिव्य, ऐसे आश्चर्यजनक आदि रूप से उस सौन्दर्य राशि की रचना हुई।' (कालिदास कृत अभिज्ञानशाकुन्तलम्)

'जो', 'जो' तुम वह हो, मैं केवल इतना और जोड देना चाहता हूँ कि उसी रचयिता ने समस्त पवित्रता, समस्त उदाराशयता तथा अन्य समस्त गुणो को भी एकत्र किया और तव 'जो' की रचना हुई।

शुभाकाक्षी,
विवेकानन्द

पुनश्च—सेवियर दम्पति तुम्हे अपनी शुभकामनाएँ भेज रहे हैं। उनके निवासस्थान से ही मैं यह पत्र लिख रहा हूँ।

विवेकानन्द

(कुमारी एलेन वाल्डो या हरिदासी नामक एक शिष्या को लिखित)

एयरली लॉज, रिजवे गार्डन्स,
विम्बलडन, इग्लैण्ड
८ अक्तूबर, १८९६

प्रिय वाल्डो,

स्विट्ज़रलैण्ड मे मुझे पूर्ण विश्राम मिला एव प्रोफेसर पॉल डॉयसन के साथ मेरी विशेष मित्रता हो गयी है। वस्तुत अन्य स्थानो की अपेक्षा यूरोप मे मेरा कार्य अधिक सन्तोषजनक रूप से बढ रहा है तथा भारतवर्ष मे इसका बहुत ज्यादा प्रभाव पडेगा। लन्दन मे पुन कक्षाएँ चालू हो गयी हैं—आज तत्सम्बन्धी प्रथम व्याख्यान होगा। अब मुझे एक ऐसा सभागृह मिल गया है, जिस पर मेरा ही नियत्रण है, उसमे दो सौ या उससे भी अधिक व्यक्ति बैठ सकते हैं

यह तो तुम जानती ही हो कि अग्रेज़ लोग कितने दृढचित्त होते हैं, अन्य जातियो की अपेक्षा उन लोगो मे पारस्परिक ईर्ष्या की भावना भी बहुत ही कम होती है और यही कारण है कि उनका प्रभुत्व सारे ससार पर है। दासता की प्रतीक खुशामद से सर्वथा दूर रहकर उन्होने आज्ञा-पालन, पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ नियमो के पालन के रहस्य का पता लगा लिया है।

प्रोफेसर मैक्समूलर अब मेरे मित्र हैं। मुझ पर लन्दन की छाप लग चुकी है। 'र' नामक युवक के बारे मे मुझे विशेष कुछ ज्ञात नही। वह बगाली है तथा कुछ कुछ सस्कृत भी पढा सकता है। तुम तो मेरी इस दृढ धारणा से परिचित ही हो कि

जिसने काम-कांचन पर विजय नहीं पायी उस पर मुझे कतई भरोसा नहीं। तुम उसे सैद्धान्तिक विषयों की शिक्षा देने का अवसर प्रदान कर देख सकती हो किन्तु वह 'राजयोग' कभी भी न सिखा पाये। जो नियमित रूप से उसमें प्रशिक्षित नहीं उसके लिए इससे खिलवाड़ करना नितान्त खतरनाक है। सारदानन्द के सम्बन्ध में कोई डर नहीं है, वर्तमान भारत के सर्वश्रेष्ठ योगी का आशीर्वाद उसे प्राप्त है। तुम क्यों नहीं शिक्षा देना प्रारम्भ करती हो? इस 'र' बालक की अपेक्षा तुम्हारा दार्शनिक ज्ञान कहीं अधिक है। 'कक्षा' की नोटिस निकालो तथा नियमित रूप से धर्मचर्चा करो और व्याख्यान दो।

अनेक हिन्दुओं यहाँ तक कि मेरे किसी गुरुभाई को अमेरिका में सफलता मिली है—इस संवाद से मुझे जो आनन्दानुभव होता है, उससे सहस्र गुना अधिक आनन्द मुझे तब प्राप्त होगा जब मैं यह देखूँगा कि तुम लोगों में से किसीने इसमें हाथ बँटाया है। मनुष्य दुनिया को जीतना चाहता है किन्तु अपनी सन्तान के निकट पराजित होना चाहता है। ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करो। ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करो।

शुभाकांक्षी
विवेकानन्द

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

विम्बलडन इंग्लैण्ड
८ अक्तूबर, १८९६

प्रिय श्रीमती बुल,

जर्मनी में प्रोफेसर डॉयसन के साथ मेरी भेंट हुई थी। कील में मैं उनका अतिथि था। हम दोनों एक साथ लन्दन आये थे तथा यहाँ पर भी कई बार उनसे मिल कर मुझे विशेष आनन्द मिला। धर्म तथा समाज सम्बन्धी कार्य के विभिन्न अंगों के प्रति यद्यपि मेरी पूर्ण सहानुभूति है फिर भी मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि प्रत्येक के कार्यों का विशेष विभाग होना नितान्त आवश्यक है। वेदान्त प्रचार ही हमारा मुख्य कार्य है। अन्य कार्यों में सहायता पहुँचाना भी इसी आदर्श का सहायक होना चाहिए। आशा है कि आप इस विषय को सारदानन्द के हृदय में अच्छी तरह दृढ़ता के साथ जमा देंगे।

क्या आपने प्रोफेसर मैक्समूलर रचित श्री रामकृष्ण सम्बन्धी लेख पढ़ा?

यहाँ पर इंग्लैण्ड में प्रायः सभी लोग हमारे सहायक बनते जा रहे हैं। न केवल हमारे कार्यों का यहाँ पर विस्तार हो रहा है, अपितु उनको सम्मान भी मिल रहा है।

शुभाकांक्षी
विवेकानन्द

(१८९६ ई० के अन्त मे डॉ० बरोज़ की भारतव्यापी व्याख्यान-यात्रा के पूर्व 'इण्डियन मिरर' नामक पत्र मे स्वामी जी का एक पत्र प्रकाशित हुआ था, जिसमे उन्होंने अपने देशवासियो को डॉ० बरोज़ का परिचय प्रदान करते हुए उनका उपयुक्त अभिनन्दन करने के लिए अनुरोध किया था। नीचे उसी का कुछ अश दिया जा रहा है।)

लन्दन,

२८ अक्टूबर, १८९६

शिकागो विश्व मेला मे सम्मेलनो की विराट् कल्पना को सफल बनाने के लिए श्री सी० बॉनी ने डॉ० बरोज़ को अपना सहकारी निर्वाचित कर सबसे उपयुक्त व्यक्ति पर ही कार्यभार सौंपा था, डॉ० बरोज़ के नेतृत्व मे उन सम्मेलनो मे धर्म-महासभा को जो महत्त्व प्राप्त हुआ था, वह आज इतिहास-प्रसिद्ध है।

डॉ० बरोज़ का अद्भुत साहस, अथक परिश्रम, अविचलित धैर्य तथा स्वभाव-सिद्ध भद्रता के फलस्वरूप ही इस सम्मेलन को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई थी।

उस आश्चर्यजनक शिकागो-सम्मेलन के द्वारा ही भारत, भारतवासी तथा भारतीय भावनाएँ ससार के समक्ष पहले से भी अधिक उज्ज्वल रूप से प्रकट हुई हैं एव इस स्वजातीय कल्याण के लिए उस सभा से सम्बन्धित अन्य व्यक्तियो की अपेक्षा हम डॉ० बरोज़ के ही अधिक ऋणी हैं।

इसके सिवाय वे हमारे समीप धर्म के पवित्र नाम तथा मानव जाति के एक श्रेष्ठ आचार्य का नाम लेकर आ रहे हैं एव मेरा यह विश्वास है कि 'नेज़रथ के पैगम्बर' द्वारा प्रचारित धर्म की उनकी व्याख्या अत्यन्त उदार होगी तथा मन को उन्नत बनायेगी। ईसा की शक्ति का जो परिचय वे देना चाहते हैं, वह दूसरो के मत के प्रति असहिष्णु, प्रभुत्वपूर्ण और दूसरो के प्रति घृणापूर्ण मनोवृत्तिप्रसूत नही है। परन्तु एक भाई की तरह उन्नति-अभिलाषी भारत के विभिन्न वर्गों के सहयोगी भाइयो मे सम्मिलित होने की आकाक्षा से प्रेरित होकर—वे जा रहे हैं। सबसे पहले हमे यह स्मरण रखना है कि कृतज्ञता तथा अतिथि-सेवा ही भारतीय जीवन का वैशिष्ट्य है, अत अपने देशवासियो के समीप मेरा यह विनम्र अनुरोध है कि पृथिवी के दूसरे छोर से भारत जानेवाले इस विदेशी सज्जन के प्रति वे ऐसा आचरण करें जिससे उन्हे यह पता चल सके कि दु ख, दारिद्र्य तथा अवनति की स्थिति मे भी हमारा हृदय, अतीत की तरह ही अर्थात् जब भारतवर्ष आर्यभूमि के नाम से प्रख्यात था एव उसके ऐश्वर्य की बात जगत् की सब जातियो की जिह्वा पर रहती थी, आज भी मित्रतापूर्ण है।

जिसने काम-कांचन पर विजय नहीं पायी उस पर मुझे कतई भरोसा नहीं। तुम उसे सैद्धान्तिक विषयों की शिक्षा देने का अवसर प्रदान कर दे सकती हो किन्तु वह 'राजयोग' कभी भी न सिखा पाये। जो नियमित रूप से उसमें प्रशिक्षित नहीं उसके लिए इससे खिलवाड़ करना नितान्त खतरनाक है। सारदानन्द के सम्बन्ध में कोई डर नहीं है, वर्तमान भारत के सर्वश्रेष्ठ योगी का आशीर्वाद उसे प्राप्त है। तुम क्यों नहीं शिक्षा देना प्रारम्भ करती हो? इस 'र' बालक की अपेक्षा तुम्हारा दार्शनिक ज्ञान कहीं अधिक है। 'कक्षा' की नोटिस निकालो तथा नियमित रूप से धर्मचर्चा करो और व्याख्यान दो।

अनेक हिन्दुओं यहाँ तक कि मेरे किसी गुरुभाई को अमेरिका में सफलता मिली है—इस संवाद से मुझे जो आनन्दानुभव होता है, उससे सहस्र गुना अधिक आनन्द मुझे तब प्राप्त होगा जब मैं यह देखूँगा कि तुम लोगों में से किसीने इसमें हाथ बँटाया है। मनुष्य दुनिया को जीतना चाहता है किन्तु अपनी सन्तान के निकट पराजित होना चाहता है। ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करो! ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करो!

शुभाकांक्षी
विवेकानन्द

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

विम्बलडन इंग्लैण्ड
८ अक्तूबर, १८९६

प्रिय श्रीमती बुल

जर्मनी में प्रोफ़ेसर डॉयसन के साथ मेरी भेंट हुई थी। कील में मैं उनका अतिथि था। हम दोनों एक साथ लन्दन आये थे तथा यहाँ पर भी कई बार उनसे मिल कर मुझे विशेष आनन्द मिला । धर्म तथा समाज सम्बन्धी कार्य के विभिन्न अंगों के प्रति यद्यपि मेरी पूर्ण सहानुभूति है फिर भी मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि प्रत्येक के कार्यों का विशेष विभाग होना नितान्त आवश्यक है। वेदान्त-प्रचार ही हमारा मुख्य कार्य है। अन्य कार्यों में सहायता पहुँचाना भी इसी आदर्श का सहायक होना चाहिए। आशा है कि आप इस विषय को सारदानन्द के हृदय में अच्छी तरह दृढ़ता के साथ जमा देंगी।

क्या आपने प्रोफ़ेसर मैक्समूलर रचित श्री रामकृष्ण सम्बन्धी लेख पढ़ा?

यहाँ पर इंग्लैण्ड में प्रायः सभी लोग हमारे सहायक बनते जा रहे हैं। न केवल हमारे कार्यों का यहाँ पर विस्तार हो रहा है, अपितु उनको सम्मान भी मिल रहा है।

शुभाकांक्षी
विवेकानन्द

वाह्य स्वर्ग या राम-राज्य का अस्तित्व केवल कल्पना मे ही है, परन्तु मनुष्य के भीतर इनका अस्तित्व पहले से ही है। कस्तूरी की सुगन्ध के कारण की व्यर्थ खोज करने के वाद, कस्तूरी-मृग अन्त मे उसे अपने मे ही पाता है।

वाह्य समाज सर्वदा शुभ और अशुभ का सम्मिश्रण होगा—वाह्य जीवन की अनुगामी उसकी छाया अर्थात् मृत्यु, सर्वदा उसके साथ रहेगी, और जीवन जितना लम्वा होगा, उसकी छाया भी उतनी ही लम्वी होगी। केवल जव सूर्य हमारे सिर पर होता है, तव कोई छाया नही होती। जव ईश्वर, शुभ और अन्य सव कुछ हममे ही है तो अशुभ कहाँ? परन्तु वाह्य जीवन मे प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है और हर शुभ के साथ अशुभ उसकी छाया की तरह जाता है। उन्नति मे अधोगति का समान अश रहता है, कारण यह है कि अशुभ और शुभ एक ही पदार्थ हैं, दो नही, भेद अभिव्यक्ति मे है—मात्रा मे है, न कि जाति मे।

हमारा जीवन स्वय दूसरो की मृत्यु पर अवलम्बित है, चाहे वनस्पतियाँ हो, चाहे पशु, चाहे कीटाणु। एक वडी भारी भूल जो हम लोग वहुधा करते हैं, वह यह कि शुभ को हम सदा वढनेवाली वस्तु समझते हैं और अशुभ को एक निश्चित राशि मानते हैं। इससे हम तर्क द्वारा सिद्ध करते हैं कि यदि अशुभ दिन दिन घट रहा है तो एक समय ऐसा आयेगा, जब शुभ ही अकेला शेष रह जायगा। मिथ्या पूर्व पक्ष को स्वीकार कर लेने से हमारा तर्क अशुद्ध हो जाता है। यदि शुभ की मात्रा वढ रही है तो अशुभ की भी वढती है। मेरी जाति की जनता की अपेक्षा मेरी आकाक्षाएँ बहुत वढ गयी हैं। मेरा सुख उनसे अत्यधिक है, परन्तु मेरा दु ख भी उनसे लाखो गुना तीव्र है। जिस स्वभाव के कारण तुम्हे शुभ के स्पर्श मात्र का आभास होता है, उसीसे तुम्हे अशुभ के स्पर्श मात्र का भी आभास होगा। जिन स्नायुओ द्वारा सुख का अनुभव होता है, उन्हीके द्वारा दु ख का भी, और एक ही मन दोनो का अनुभव करता है। ससार की उन्नति का अर्थ है सुख और दु ख—दोनो की अधिक मात्रा। जीवन और मृत्यु, शुभ और अशुभ, ज्ञान और अज्ञान का सम्मिश्रण—यही 'माया' कहलाती है—यही है विश्व का नियम। तुम अनन्त काल तक इस जाल मे सुख और दु ख की खोज करो—तुम्हे बहुत सुख और बहुत दु ख दोनो मिलेंगे। यह कहना कि ससार मे केवल शुभ ही हो, अशुभ नही, वालको का प्रलाप मात्र है। दो मार्ग हमारे सामने हैं—एक तो सव प्रकार की आशा को छोडकर ससार जैसा है वैसा स्वीकार करके, दु ख की वेदना को सहन करें, इस आशा मे कि कभी कभी सुख का अल्पाश मिल जाया करेगा। दूसरा मार्ग यह है कि हम सुख को दु ख का ही एक दूसरा रूप समझकर सुख की खोज को त्याग दें तथा सत्य की खोज करें—और जो सत्य की खोज करने का साहस रखते हैं, वे उसे नित्य अपने

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

१८ ग्रेकोट गार्डन्स,
वेस्टमिनिस्टर, लन्दन,
१ नवम्बर, १८९६

प्रिय मेरी

'सोना और चाँदी मेरे पास किंचित् मात्र नहीं है, किन्तु जो मेरे पास है वह मैं तुम्हें मुक्तहस्त दे रहा हूँ।'—और वह यह ज्ञान है कि स्वर्ण का स्वर्णत्व रजत का रजतत्व पुरुष का पुरुषत्व स्त्री का स्त्रीत्व और सब वस्तुओं का सत्यस्वरूप परमात्मा ही है और इस परमात्मा को प्राप्त करने के लिए बाह्य जगत् में हम अनादि काल से प्रयत्न करते आ रहे हैं, और इस प्रयत्न में हम अपनी कल्पना की 'विविध' वस्तुओं—पुरुष स्त्री बालक शरीर, मन पृथ्वी सूर्य चन्द्र तारे, संसार, प्रेम द्वेष धन सम्पत्ति इत्यादि को और भूत राक्षस देवदूत देवता ईश्वर इत्यादि को भी—त्यागते रहे हैं।

सच तो यह है कि प्रभु हममें ही है, हम स्वयं प्रभु हैं—जो नित्य द्रष्टा सच्चा 'अहम्' तथा अतीन्द्रिय है। उसे द्वैत भाव से देखने की प्रवृत्ति तो केवल समय और बुद्धि को नष्ट करना ही है। जब जीव को यह ज्ञान हो जाता है, तब वह विषयों का आश्रय लेना छोड़ देता है और आत्मा की ओर अधिकाधिक प्रवृत्त होता है। यही क्रम-विकास है अर्थात् अन्तर्दृष्टि का अधिकाधिक विकास एवं बहिर्दृष्टि का अधिकाधिक लोप। सर्वाधिक विकसित रूप मानव है क्योंकि वह मननशील है—वह ऐसा प्राणी है जो विचार करता है ऐसा प्राणी नहीं जो केवल इन्द्रियों से सम्बद्ध है। धर्मशास्त्र में इसे 'त्याग' कहते हैं। समाज का निर्माण विवाह की व्यवस्था सन्तान-प्रेम हमारे शुभ कर्म सदाचरण और नैतिकता ये सब त्याग के विभिन्न रूप हैं। सब समाजों में हम लोगों का जीवन इच्छा पिपासा या कामना के दमन में ही निहित है। इच्छा अथवा मिथ्या आत्मा के इस परित्याग—स्वार्थ से निकलने की अभिलाषा नित्य द्रष्टा को द्वैत भाव से देखने के प्रयत्न के विरुद्ध संघर्ष के भिन्न भिन्न रूप तथा उनकी अवस्थाएँ ही संसार के भिन्न भिन्न समाज एवं सामाजिक नियम हैं। मिथ्या आत्मा के समर्पण तथा स्वार्थनिग्रह का सबसे सरल उपाय है प्रेम तथा इसका विपरीत उपाय है द्वेष।

स्वर्ग-नरक तथा आकाश के परे राज करनेवाले शासकों से सम्बद्ध अनेक कथाओं अथवा अन्धविश्वासों के द्वारा मनुष्य को जुआने में डालकर उसे आत्मसमर्पण के लक्ष्य की ओर अग्रसर किया जाता है। इन सब अन्धविश्वासों से दूर रहकर तत्त्वज्ञानी वासना के त्याग द्वारा जानबूझकर इस लक्ष्य की ओर आगे बढ़ता है।

वाह्य स्वर्ग या राम-राज्य का अस्तित्व केवल कल्पना मे [illegible]
के भीतर इनका अस्तित्व पहले से ही है। कस्तूरी की सुगन्ध [illegible]
खोज करने के वाद, कस्तूरी-मृग अन्त मे उसे अपने मे ही पाता है।

वाह्य समाज सर्वदा शुभ और अशुभ का सम्मिश्रण होगा—वाह्य जीवन [illegible] अनुगामी उसकी छाया अर्थात् मृत्यु, सर्वदा उसके साथ रहेगी, और जीवन जितना लम्बा होगा, उसकी छाया भी उतनी ही लम्बी होगी। केवल जब सूर्य हमारे सिर पर होता है, तव कोई छाया नही होती। जब ईश्वर, शुभ और अन्य सब कुछ हममे ही है तो अशुभ कहाँ? परन्तु वाह्य जीवन मे प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है और हर शुभ के साथ अशुभ उसकी छाया की तरह जाता है। उन्नति मे अधोगति का समान अश रहता है, कारण यह है कि अशुभ और शुभ एक ही पदार्थ है, दो नही, भेद अभिव्यक्ति मे है—मात्रा मे है, न कि जाति मे।

हमारा जीवन स्वय दूसरो की मृत्यु पर अवलम्वित है, चाहे वनस्पतियाँ हो, चाहे पशु, चाहे कीटाणु। एक वडी भारी भूल जो हम लोग वहुधा करते है, वह यह कि शुभ को हम सदा वढ़नेवाली वस्तु समझते है और अशुभ को एक निश्चित राशि मानते हैं। इससे हम तर्क द्वारा सिद्ध करते हैं कि यदि अशुभ दिन दिन घट रहा है तो एक समय ऐसा आयेगा, जब शुभ ही अकेला शेष रह जायगा। मिथ्या पूर्व पक्ष को स्वीकार कर लेने से हमारा तर्क अशुद्ध हो जाता है। यदि शुभ की मात्रा वढ रही है तो अशुभ की भी बढती है। मेरी जाति की जनता की अपेक्षा मेरी आकाक्षाएँ बहुत बढ गयी हैं। मेरा सुख उनसे अत्यधिक है, परन्तु मेरा दुःख भी उनसे लाखो गुना तीव्र है। जिस स्वभाव के कारण तुम्हें शुभ के स्पर्श मात्र का आभास होता है, उसीसे तुम्हें अशुभ के स्पर्श मात्र का भी आभास होगा। जिन स्नायुओं द्वारा सुख का अनुभव होता है, उन्हीके द्वारा दुःख का भी, और एक ही मन दोनो का अनुभव करता है। ससार की उन्नति का अर्थ है सुख और दुःख— की अधिक मात्रा। जीवन और मृत्यु, शुभ और अशुभ, ज्ञान और [illegible] —यही 'माया' कहलाती है—यही है विश्व का नियम। [illegible] काल इस जाल मे सुख और दुःख की खोज करो—तुम्हें [illegible] दुःख दो मिलेंगे। यह कहना कि ससार में केवल शुभ ही हो, [illegible] का प्रल[illegible] मात्र है। दो मार्ग हमारे सामने हैं—एक तो [illegible] को छोड़[illegible] ससार जैसा है वैसा स्वीकार करके, दुःख की [illegible] इस आशा [illegible] कभी कभी सुख का अल्पाश मिल जाया [illegible] है कि [illegible] को दुःख का ही एक दूसरा रूप समझकर [illegible] दे तथा [illegible] दन खोज करें—और जो सत्य की खोज [illegible] वे उसे [illegible]

में ही विद्यमान पाते हैं। फिर हमें यह भी पता लग जाता है कि वही सत्य किस प्रकार हमारे व्यावहारिक जीवन के भ्रम और ज्ञान दोनों रूपों में प्रकट हो रहा है—हमें यह भी पता लग जाता है कि वही सत्य 'आनन्द' है, जो शुभ और अशुभ दोनों रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। साथ ही हमें यह भी पता लग जाता है कि वही 'सत्' जीवन और मृत्यु दोनों रूपों में प्रकट हो रहा है।

इस प्रकार हम यह अनुभव करते हैं कि ये सब बातें उसी एक अस्तित्व—सत्-चित्-आनन्द सब जीवों के अस्तित्व स्वरूप मेरे यथार्थ स्वरूप की भिन्न भिन्न प्रतिच्छायाएँ मात्र हैं। तब और केवल तभी बिना बुराई के भलाई करना सम्भव होता है क्योंकि ऐसी आत्मा ने उस पदार्थ को जिससे कि शुभ और अशुभ दोनों का निर्माण होता है, जान लिया है और अपने वश में कर लिया है और वह अपनी इच्छानुसार एक या दूसरे का विकास कर सकता है। हम यह भी जानते हैं कि वह केवल शुभ का ही विकास करता है। यही 'जीवन्मुक्ति' है जो वेदान्त का और सब तत्त्व-ज्ञानों का अन्तिम लक्ष्य है।

मानवी समाज पर चारों वर्ण—पुरोहित सैनिक व्यापारी और मजदूर बारी बारी से शासन करते हैं। हर शासन का अपना गौरव और अपना दोष होता है। जब ब्राह्मण का राज्य होता है, तब आनुवंशिक आधार पर भयंकर पृथकता रहती है—पुरोहित स्वयं और उनके वंशज नाना प्रकार के अधिकारों से सुरक्षित रहते हैं, उनके अतिरिक्त किसीको कोई ज्ञान नहीं होता, और उनके अतिरिक्त किसीको शिक्षा देने का अधिकार नहीं है। इस विशिष्ट युग में सब विद्याओं की नींव पड़ती है, यह इसका गौरव है। ब्राह्मण मन को उन्नत करते हैं, क्योंकि मन द्वारा ही वे राज्य करते हैं।

क्षत्रिय शासन क्रूर और अन्यायी होता है, परन्तु उनमें पृथकता नहीं रहती और उनके युग में कला और सामाजिक संस्कृति उन्नति के शिखर पर पहुँच जाती है।

उसके बाद वैश्य शासन आता है। इसमें कुचलने की और खून चूसने की मौन शक्ति अत्यन्त भीषण होती है। इसका लाभ यह है कि व्यापारी सब जगह जाता है, इसलिए वह पहले दोनों युगों में एकत्र किये हुए विचारों को फैलाने में सफल होता है। उनमें क्षत्रियों से भी कम पृथकता होती है, परन्तु सभ्यता की अवनति आरम्भ हो जाती है।

अन्त में आयेगा मजदूरों का शासन। उसका लाभ होगा भौतिक सुखों का समान वितरण—और उससे हानि होगी कदाचित् संस्कृति का निम्न स्तर पर गिर जाना। साधारण शिक्षा का बहुत प्रचार होगा परन्तु असामान्य प्रतिभाशाली व्यक्ति कम होते जायँगे।

यदि ऐसा राज्य स्थापित करना सम्भव हो जिसमे ब्राह्मण युग का ज्ञान, क्षत्रिय युग की सभ्यता, वैश्य युग का प्रचार-भाव और शूद्र युग की समानता रखी जा सके—उनके दोषो को त्याग कर—तो वह आदर्श राज्य होगा। परन्तु क्या यह सम्भव है?

परन्तु पहले तीनो का राज्य हो चुका है। अब शूद्र शासन का युग आ गया है—वे अवश्य राज्य करेंगे, और उन्हे कोई रोक नही सकता। सिक्के का स्वर्ण अथवा रजतमान रखने मे क्या क्या कठिनाइयाँ हैं, मैं यह सब नही जानता (और मैंने देखा है कि कोई भी इस विषय में अधिक नही जानता), परन्तु मैं यह देखता हूँ कि स्वर्णमान ने धनवानो को अधिक धनी तथा दरिद्रो को और भी अधिक दरिद्र बना दिया है। ब्रायन ने यह ठीक ही कहा था कि 'सोने के भी क्रॉस पर हम लटकाये जाना पसद न करेंगे।' रजतमान हो जाने पर इस असमान युद्ध मे गरीबो के पक्ष में कुछ बल आ जायगा। मैं समाजवादी हूँ, इसलिए नही कि मैं इसे पूर्ण रूप से निर्दोष व्यवस्था समझता हूँ, परन्तु इसलिए कि रोटी न मिलने से आधी रोटी ही अच्छी है।

और सब मतवाद काम मे लाये जा चुके हैं और दोषयुक्त सिद्ध हुए हैं। इसकी भी अब परीक्षा होने दो—यदि और किसी कारण से नही तो उसकी नवीनता के लिए ही। सर्वदा एक ही वर्ग के व्यक्तियो को सुख और दु ख मिलने की अपेक्षा सुख और दु:ख का बटवारा करना अच्छा है। शुभ और अशुभ की समष्टि ससार मे समान ही रहती है। नये मतवादो से वह भार कधे से कधा बदल लेगा, और कुछ नही।

इस दु खी ससार मे सब को सुख-भोग का अवसर दो, जिससे इस तथाकथित सुख के अनुभव के पश्चात् वे ससार, शासन-विधि और अन्य झझटो को छोडकर प्रभु के पास आ सकें।

तुम सबको मेरा प्यार।

शुभाकाक्षी,
विवेकानन्द

(श्री आलासिगा पेरुमल को लिखित)

१४, ग्रेकोट गार्डेन्स,
वेस्टमिनिस्टर, एस० डब्ल्यू०,
११ नवम्बर, १८९६

प्रिय आलासिगा,

बहुत सभव है कि मैं १६ दिसम्बर या उसके दो एक दिन बाद यहाँ से प्रस्थान

करूँ। वहाँ से इटली जाऊँगा और वहाँ के कुछ स्थानों को देखने के बाद नेपुल्स में स्टीमर पर सवार हो जाऊँगा। कुमारी मूलर, श्री और श्रीमती सेवियर तथा गुडविन नामक एक युवक मेरे साथ चल रहे हैं। सेवियर दम्पति अल्मोड़े में बसने जा रहे हैं और कुमारी मूलर भी। सेवियर भारतीय सेना में पाँच साल तक अफ़सर के पद पर थे। अतः भारत के बारे में उन्हें काफ़ी जानकारी है। कुमारी मूलर थियोसॉफ़िस्ट थीं जिन्होंने अक्षय को गोद लिया। गुडविन अंग्रेज है जिसके द्वारा शीघ्रलिपि में तैयार की गयी टिप्पणियों से पुस्तिकाओं का प्रकाशन सम्भव हुआ।

मैं कोलम्बो से सर्वप्रथम मद्रास पहुँचूँगा। अन्य लोग अल्मोड़े जायँगे। वहाँ से मैं कलकत्ता जाऊँगा। जब मैं यहाँ से प्रस्थान करूँगा तब ठीक ठीक सूचना देते हुए पत्र लिखूँगा।

तुम्हारा शुभाकांक्षी
विवेकानन्द

पुनश्च— 'राजयोग' पुस्तक के प्रथम संस्करण की सभी प्रतियाँ बिक गयी और द्वितीय संस्करण छपने के लिए प्रेस में है। भारत और अमेरिका सबसे बड़े खरीदार हैं।

वि

(श्रीमती बुल को लिखित)

ग्रेकोट गार्डेन्स
वेस्ट मिनिस्टर,
१३ नवम्बर, १८९६

प्रिय श्रीमती बुल

मैं शीघ्र ही भारत के लिए प्रस्थान करनेवाला हूँ कदाचित् १६ दिसम्बर को। अमेरिका आने से पहले मुझे एक बार भारत जाने की तीव्र अभिलाषा है और मैंने अपने साथ इंग्लैण्ड से कई मित्रों को भारत ले जाने का प्रबन्ध किया है इसलिए चाहे मेरी कितनी ही इच्छा हो परन्तु अमेरिका होते हुए जाना मेरे लिए असम्भव है।

निश्चय ही डॉ० जेन्स अति उत्तम काम कर रहे हैं। उन्होंने मेरी और मेरे कार्य की जो सहायता की है, उसके लिए और उनके कृपाभाव के लिए कृतज्ञता प्रकट करने में मैं असमर्थ सा हूँ वहाँ का कार्य अत्यन्त सुन्दर रूप से आगे बढ़ रहा है।

तुम्हारा
विवेकानन्द

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

३९, विक्टोरिया स्ट्रीट, लन्दन,
२० नवम्बर, १८९६

प्रिय आलासिंगा,

मैं इग्लैण्ड से इटली के लिए १६ दिसम्बर को रवाना होऊँगा और नेपल्स से 'नार्थ जर्मन लॉयड एस० एस० प्रिन्स रीजेन्ट लिओपोल्ड' नामक जहाज़ से प्रस्थान करूँगा। जहाज़ आगामी १४ जनवरी को कोलम्बो पहुँचनेवाला है।

श्रीलका मे कुछ चीज़ें देखने की मेरी इच्छा है, वहाँ से फिर मद्रास पहुँचूंगा। मेरे साथ तीन अग्रेज़ दोस्त है—कैप्टन तथा श्रीमती सेवियर तथा श्री गुडविन। श्री सेवियर और उसकी पत्नी अलमोडा के पास हिमालय मे एक मठ वनाने की सोच रहे हैं, जिसे मैं अपना 'हिमालय केन्द्र' वनाना चाहता हूँ। और वही पाश्चात्य शिष्यो को ब्रह्मचारी और सन्यासी के रूप मे रखूंगा। गुडविन एक अविवाहित नवयुवक है। वह मेरे साथ भ्रमण करेगा और मेरे ही साथ रहेगा। वह सन्यासी जैसा ही है।

मेरी तीव्र अभिलाषा है कि श्री रामकृष्ण देव के जन्मोत्सव से पहले मैं कलकत्ता पहुँच जाऊँ। मेरी वर्तमान कार्य-योजना यह है कि युवक प्रचारको के प्रशिक्षण के लिए कलकत्ता और मद्रास मे दो केन्द्र स्थापित करना है। कलकत्ते के केन्द्र के लिए मेरे पास पर्याप्त घन है। कलकत्ता श्री रामकृष्ण के कर्म-जीवन का क्षेत्र रह चुका है, इसलिए वह मेरा घ्यान पहले आकर्षित करता है। मद्रास के केन्द्र के लिए मैं आशा करता हूँ कि भारत से मुझे घन मिल जायगा।

इन तीन केन्द्रो से हम काम आरम्भ करेंगे। फिर इसके वाद वम्वई और इलाहावाद मे भी केन्द्र वनायेंगे। इन तीन स्थानो से, यदि भगवान् की कृपा हुई तो, हम भारत भर मे ही नही, परन्तु ससार के प्रत्येक देश मे प्रचारको का दल भेजेंगे। यह हमारा पहला कर्तव्य होना चाहिए। दिल लगाकर काम करते रहो। कुछ समय के लिए लन्दन का मुख्य कार्यालय ३९, विक्टोरिया स्ट्रीट मे रहेगा, क्योकि कार्य यही से होगा। स्टर्डी के पास सन्दूक भर 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका है, जिसका मुझे पहले पता नही था। वह अव इसके लिए ग्राहक वनाने के लिए प्रचार-कार्य कर रहा है।

चूंकि अव अग्रेज़ी भाषा मे भारत से एक पत्रिका आरम्भ हो गयी है, अत अव भारतीय भाषाओ मे भी हम कोई पत्रिका आरम्भ कर सकते हैं। विम्वलडन की कुमारी एम० नोवल वडी काम करनेवाली है। वह मद्रास की दोनो पत्रिकाओ

के लिए प्रचार-कार्य भी करेगी। यह तुम्हें सिखेगी। ऐसे कार्य धीरे धीरे, किन्तु निश्चित रूप से आगे बढ़ेंगे। ऐसी पत्रिकाओं को अनुयायियों के छोटे से समुदाय द्वारा ही सहायता मिलती है। एक ही समय में उनसे अनेक कार्य करने की आशा नहीं करनी चाहिए। उनको पुस्तकें खरीदनी पड़ती हैं इंग्लैण्ड का कार्य चलाने के लिए पैसा एकत्र करना पड़ता है; यहाँ की पत्रिका के लिए ग्राहक ढूँढने पड़ते हैं और फिर भारतीय पत्रिकाओं को खरीदना पड़ता है। यह बहुत ज्यादती है। यह शिक्षा प्रचार की अपेक्षा व्यापार-कार्य अधिक जान पड़ता है। ऐसी स्थिति में तुम धीरज रखो। फिर भी मुझे आशा है कि कुछ ग्राहक बन ही जायँगे। इसके अलावा मेरे जाने के बाद यहाँ लोगों के पास करने के लिए काम होना चाहिए, नहीं तो सब किया-कराया मिट्टी में मिल जायगा। इसलिए धीरे धीरे यहाँ और अमेरिका में भी पत्रिका होनी चाहिए। भारतीय पत्रिकाओं की सहायता भारतवासियों को ही करनी चाहिए। किसी पत्रिका के सब राष्ट्रों में समान भाव से अपनाये जाने के लिए, सब राष्ट्रों के लेखकों का एक बड़ा भारी विभाग रखना पड़ेगा जिसके माने हैं प्रतिवर्ष एक लाख रुपये का खर्च।

तुम्हें यह न भूलना चाहिए कि मेरे कार्य अन्तर्राष्ट्रीय हैं केवल भारतीय नहीं। मेरा तथा अभेदानन्द दोनों का स्वास्थ्य अच्छा है।

शुभाकांक्षी

विवेकानन्द

(श्री लाला बद्री साह को लिखित)

३९ विक्टोरिया स्ट्रीट, लन्दन
२१ नवम्बर, १८९६

प्रिय लाला जी

७ जनवरी तक मैं मद्रास पहुँचूँगा कुछ दिन समतल क्षेत्र में रहकर मेरी अल्मोड़ा जाने की इच्छा है।

मेरे साथ मेरे तीन अंग्रेज मित्र हैं, उनमे दो सेवियर दम्पति अल्मोड़ा में निवास करेंगे। आपको शायद यह पता होगा कि वे मेरे शिष्य हैं एवं मेरे लिए हिमालय में वे एक मठ बनवायेंगे। इसीलिए मैंने आपको एक उपयुक्त स्थान ढूँढने के लिए लिखा था। हमारे लिए एक ऐसी पूरी पहाड़ी चाहिए, जहाँ से हिम-दृश्य दिखायी देता हो। इसमें सन्देह नहीं कि उपयुक्त स्थान निर्वाचित कर आश्रम निर्माण के लिए समय चाहिए। इस बीच क्या आप मेरे मित्रों के रहने के लिए किराये पर एक छोटे से बँगले की व्यवस्था करने की कृपा करेंगे? उसमें तीन

व्यक्तियो के रहने लायक स्थान होना आवश्यक है। बहुत बडा मकान नहीं चाहिए, इस समय छोटे से ही कार्य चल सकेगा। मेरे मित्र वहाँ पर रहकर आश्रम के लिए उपयुक्त स्थान तथा मकान की तलाश करेंगे।

इस पत्र के उत्तर देने की कोई आवश्यकता नही है, क्योकि उत्तर मिलने से पहले ही मैं भारत की ओर रवाना हो जाऊँगा। मद्रास पहुँच कर मैं आपको तार से सूचित करूँगा।

आप सब लोगो को स्नेह तथा आशीर्वाद।

भवदीय,
विवेकानन्द

(कुमारी मेरी तथा हैरियट हेल को लिखित)

३९, विक्टोरिया स्ट्रीट,
लन्दन,
२८ नवम्बर, १८९६

प्रिय वहनो,

चाहे जिस कारण से भी हो, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुम चारो से ही मैं सवसे अधिक स्नेह करता हूँ एव मुझे अत्यन्त गर्व के साथ यह विश्वास है कि तुम चारो भी मुझसे वैसा ही स्नेह करती हो। इसलिए भारत रवाना होने से पूर्व तुम लोगो को यह पत्र स्वय ही आत्मप्रेरित होकर लिख रहा हूँ। लन्दन मे हमारे कार्य को जवरदस्त सफलता मिली है। अग्रेज़ लोग अमेरिकनो की तरह उतने अधिक सजीव नहीं हैं, किन्तु यदि कोई एक वार उनके हृदय को छू ले तो फिर सदा के लिए वे उनके गुलाम वन जाते हैं। धीरे धीरे मैं उन पर अपना अधिकार जमा रहा हूँ। आश्चर्य है कि छ माह के अन्दर ही, सार्वजनिक भाषणो के अलावा भी मेरी कक्षा मे १२० व्यक्ति नियमित रूप से उपस्थित हो रहे हैं। अग्रेज़ लोग अत्यन्त कार्यशील है, अत यहाँ के सभी लोग क्रियात्मक रूप से कुछ करना चाहते है। कैप्टन तथा श्रीमती सेवियर एव श्री गुडविन कार्य करने के लिए मेरे साथ भारत रवाना हो रहे हैं और उसका व्यय-भार भी वे स्वय उठायेंगे। यहाँ पर और भी बहुत से लोग इस प्रकार कार्य करने को प्रस्तुत हैं। प्रतिष्ठित स्त्री-पुरुषो के मस्तिष्क मे एक वार किसी भावना को प्रवेश करा देने पर, उसे कार्य मे परिणत करने के लिए वे अपना सव कुछ त्याग करने के लिए कटिवद्ध हो जाते हैं। और सवसे अधिक आनन्दप्रद समाचार (यह कोई साधारण वात नहीं) यह है कि भारत मे कार्य प्रारम्भ करने के लिए हमे आर्थिक सहायता प्राप्त हो गयी है एव आगे चलकर और भी प्राप्त होगी। अग्रेज जाति के सम्वन्ध मे मेरी धारणा पूर्णतया

बहुत खुशी है। अब मुझे यह पता चल रहा है कि अन्यान्य जातियों की अपेक्षा प्रभु ने उन पर अधिक कृपा वर्षा की है। वे दृढ़संकल्प तथा अत्यन्त मिष्ठाभाषी हैं साथ ही उनमें हार्दिक सहानुभूति है—बाहर उदासीनता का केवल एक आवरण रहता है। उसको तोड़ देना है, बस फिर तुम्हें अपनी पसन्द का व्यक्ति मिल जायगा।

इस समय कलकत्ता तथा हिमालय में मैं एक एक केन्द्र स्थापित करने जा रहा हूँ। प्रायः ७ फुट ऊँची एक समूची पहाड़ी पर हिमालय-केन्द्र स्थापित होगा। वह पहाड़ी गर्मी की ऋतु में शीतल तथा जाड़े में ठंडी रहेगी। कैप्टन तथा श्रीमती सेवियर वहीं रहेंगे एवं यूरोपीय कार्यकर्ताओं का वह केन्द्र होगा क्योंकि मैं उनको भारतीय रहन सहन अपनाने तथा निदाघतप्त भारतीय समतल भूमि में बसने के लिए बाध्य कर मार डालना नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ कि सैकड़ों की संख्या में हिन्दू युवक प्रत्येक सभ्य देश में जाकर वेदान्त का प्रचार करें और वहाँ से नर-नारियों को एकत्र कर कार्य करने के लिए भारत भेजें। यह आदान प्रदान बहुत ही उत्तम होगा। केन्द्रों को स्थापित कर मैं 'जॉब का ग्रन्थ'[१] में वर्णित उस व्यक्ति की तरह ऊपर नीचे चारों ओर घूमूँगा।

आज यहीं पर पत्र को समाप्त करना चाहता हूँ—नहीं तो आज की डाक से रवाना न हो सकेगा। सभी ओर से मेरे कार्यों के लिए सुविधा मिलती जा रही है—तदर्थ मैं अत्यन्त सुखी हूँ एवं मैं समझता हूँ कि तुम लोगों को भी मेरी तरह सुख का अनुभव होगा। तुम्हें अनन्त कल्याण तथा सुख-शान्ति प्राप्त हो। अनन्त प्यार के साथ —

शुभाकांक्षी
विवेकानन्द

पुनश्च—धर्मपाल का क्या समाचार है? वह क्या कर रहा है? उससे भेंट होने पर मेरा स्नेह कहना।

वि

---

१ Book of Job (जॉब का ग्रन्थ) बाइबिल के प्राचीन व्यवस्थान का अंशविशेष है। इसमें एक कथा इस प्रकार है, एक बार शैतान ईश्वर से मिलने गया। ईश्वर ने उससे पूछा कि वह कहाँ से आ रहा है। उत्तर में उसने कहा "इस पृथिवी के इधर उधर चक्कर लगाकर तथा उसके ऊपर नीचे घूमता हुआ मैं आ रहा हूँ। यहाँ पर स्वामी जी ने इधर उधर घूमने के प्रसंग में परिहासपूर्वक बाइबिल की उस घटना को लक्ष्य कर उक्त वाक्य का प्रयोग किया है।

(कुमारी जोसेफिन मैक्लिऑड को लिखित)

ग्रेकोट गार्डन्स,

वेस्टमिनिस्टर एस० डब्ल्यू०, लन्दन,

३ दिसम्बर, १८९६

प्रिय 'जो',

तुम्हारे कृपापूर्ण निमत्रण के लिए अनेक धन्यवाद। किन्तु, प्रिय जो-जो, प्यारे भगवान् ने यह विधान किया है कि मुझे १६ तारीख को कप्तान तथा श्रीमती सेवियर एव श्री गुडविन के साथ भारत के लिए प्रस्थान करना है। सेवियर दम्पति मेरे साथ नेपुल्स मे स्टीमर पर सवार होगे। चूँकि चार दिन रोम मे रुकना है, इसलिए मैं अल्वर्टा से विदा लेने जाऊँगा।

यहाँ अब कुछ चहल-पहल शुरू हो गयी है, ३९, विक्टोरिया के बडे हाल मे कक्षा लगती है, जो भर गया है, फिर भी और लोग कक्षा मे शामिल होना चाहते हैं।

साथ ही, उस प्राचीन भले देश की पुकार है, मुझे जाना ही है। इसलिए इस अप्रैल मे रूस जाने की सभी परियोजनाओ को नमस्कार।

मैं भारत मे कर्म-चक्र का प्रवर्तन मात्र कर पुन सदा रमणीय अमेरिका तथा इग्लैण्ड इत्यादि के लिए प्रस्थान कर दूंगा।

मेवुल का पत्र भेज कर तुमने वडी कृपा की—सचमुच शुभ समाचार है। केवल थोडा अफसोस है तो बेचारे फॉक्स के लिए। चाहे जो हो मेवुल उससे वच गयी, यह वेहतर हुआ।

न्यूयार्क मे क्या हो रहा है, इसके वारे मे तुमने कुछ नही लिखा। आशा है वहाँ सव अच्छा ही होगा। बेचारा कोला! क्या वह अव जीविकोपार्जन मे समर्थ हो पाया?

गुडविन का आगमन वडे मौक़े से हुआ, क्योकि इससे व्याख्यानो का विवरण ठीक तौर से तैयार होने लगा जिसका प्रकाशन पत्रिका के रूप मे हो रहा है। खर्च भर के लिए काफी ग्राहक वन गये हैं।

अगले मप्ताह तीन व्याख्यान होगे और इस मौमम का मेरा लन्दन का कार्य ममाप्त हो जायगा। यहाँ इस वक्त धूम मची है, इमलिए मेरे छोडकर चले जाने को सभी लोग नादानी समझते हैं, परन्तु प्यारे प्रभु का आदेश है, 'प्राचीन भारत को प्रस्थान करो।' मैं आदेश का पालन कर रहा हूँ।

फ्रैंकिनसेंस माँ हौसिस्टर तथा अन्य सबको मेरा चिर प्रेम तथा आशीर्वाद और वही तुम्हारे लिए भी।

तुम्हारा शुभाकांक्षी
विवेकानन्द

(कुमारी अल्बर्टा स्टारगीज को लिखित)

१४ ग्रेकोट गार्डन्स
वेस्टमिनिस्टर, एस डब्ल्यू लन्दन
१ दिसम्बर, १८९६

प्रिय अल्बर्टा

इस पत्र के साथ 'जो-जो' को लिखित मैबेल का पत्र भेज रहा हूँ। इसमें उल्लिखित समाचार से मुझे बड़ी खुशी हुई और मुझे विश्वास है, तुम्हें भी होगी।

यहाँ से १६ तारीख को भारत रवाना हो रहा हूँ और नेपुल्स में स्टीमर पर सवार हो जाऊँगा। *अतः कुछ दिन इटली में और तीन चार दिन रोम में रहूँगा।* विदाई के समय तुमसे मिल कर बड़ी प्रसन्नता होगी।

कप्तान सेवियर और श्रीमती सेवियर दोनों मेरे साथ इंग्लैण्ड से भारत जा रहे हैं और वे भी मेरे साथ इटली में रहेंगे। पिछली ग्रीष्म ऋतु में तुम उनसे मिल चुकी हो। लगभग एक वर्ष में अमेरिका लौटने का मेरा इरादा है और वहाँ से यूरोप जाऊँगा।

सप्रेम एवं साशीष
विवेकानन्द

(श्रीमती ओलि बुल को लिखित)

१८, विक्टोरिया स्ट्रीट,
लन्दन
९ दिसम्बर, १८९६

प्रिय श्रीमती बुल

आपके इस अत्यन्त उदारतापूर्ण दान के लिए कृतज्ञता प्रकट करना अनावश्यक है। कार्य के प्रारम्भ में ही अधिक धन संग्रह कर मैं अपने को संकट में डालना नहीं चाहता हूँ किन्तु कार्य-विस्तार के साथ साथ उस धन का प्रयोग करने पर मुझे बड़ी खुशी होगी। अत्यन्त छोटे पैमाने पर मैं कार्य प्रारम्भ करना चाहता हूँ। अभी तक मेरी कोई स्पष्ट योजना नहीं है। भारत के कार्यक्षेत्र में पहुँचने पर वास्तविक स्थिति का पता चलेगा। भारत पहुँच कर मैं अपनी योजना

तथा उसे कार्य मे परिणत करने के व्यावहारिक उपाय आपको विशद रूप से सूचित करूँगा। मैं १६ तारीख को रवाना हो रहा हूँ एव इटली मे दो चार दिन रहकर नेपल्स से जहाज पकडूंगा।

कृपया श्रीमती वागान, सारदानन्द तथा वहाँ के अन्य मित्रो को मेरा स्नेह दीजियेगा। आपके बारे मे मैं इतना ही कह सकता हूँ कि सदा ही से मैं आपको अपना सर्वोत्तम मित्र मानता आया हूँ एव जीवन भर वैसे ही मानता रहूँगा। मेरा आन्तरिक स्नेह तथा आशीर्वाद ग्रहण करें।

शुभाकाक्षी,
विवेकानन्द

(एक अमेरिकन महिला को लिखित)

लन्दन,
१३ दिसम्बर, १८९६

प्रिय श्रीमती जी,

नैतिकता का क्रमविन्यास समझ लेने के बाद सब चीज़ें समझ मे आने लगती हैं।

त्याग, अप्रतिरोध, अहिंसा के आदर्शों को सासारिकता, प्रतिरोध और हिंसा की प्रवृत्तियो को निरतर कम करते रहने से प्राप्त किया जा सकता है। आदर्श सामने रखो और उसकी ओर बढने का प्रयत्न करो। इस ससार मे बिना प्रतिरोध, बिना हिंसा और बिना इच्छा के कोई रह ही नही सकता। अभी ससार उस अवस्था मे नही पहुँचा कि ये आदर्श समाज मे प्राप्त किये जा सकें।

सब प्रकार की बुराइयो मे से गुजरते हुए ससार की जो उन्नति हो रही है, वह उसे धीरे धीरे तथा निश्चित रूप से इन आदर्शों के उपयुक्त बना रही है। अधिकाश जनता को तो इस मद विकास के साथ चलना पडेगा, पर असाधारण लोगो को वर्तमान परिस्थितियो मे इन आदर्शों की प्राप्ति के लिए अपना मार्ग अलग बनाना पडेगा।

जो जिस समय का कर्तव्य है, उसका पालन करना सबसे श्रेष्ठ मार्ग है, और यदि वह केवल कर्तव्य समझ कर किया जाय तो वह मनुष्य को आसक्त नहीं बनाता।

सगीत सर्वोत्तम कला है और जो उसे समझते हैं उनके लिए वह सर्वोत्तम उपासना भी है।

हमें अज्ञान और अशुभ का नाश करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए, केवल यह समझ लेना है कि शुभ की वृद्धि से ही अशुभ का नाश होता है।

शुभाकांक्षी
विवेकानन्द

(श्री फ्रैन्सिस लेगेट को लिखित)

१३ दिसम्बर, १८९९

प्रिय फ्रैंकिनसेंस

तो गोपाल[1] देवी शरीर धारण कर पैदा हुए! ऐसा होना ठीक ही था—समय और स्थान के विचार से। आजीवन उस पर प्रभु की कृपा बनी रहे! उसकी प्राप्ति के लिए तीव्र इच्छा थी और प्रार्थनाएँ भी की गयी थीं और वह तुम तथा तुम्हारी पत्नी के लिए जीवन में वरदान स्वरूप आयी है। मुझे इसमें रंच भी सन्देह नहीं है।

मेरी इच्छा थी कि चाहे यह रहस्य ही पूरा करने के ख्याल से कि 'पाश्चात्य शिशु के लिए प्राच्य मुनि उपहार ला रहे हैं', मैं इस समय अमेरिका आ जाता। किन्तु सब प्रार्थनाओं और आशीर्वादों से भरपूर मेरा हृदय वहीं पर है और शरीर की अपेक्षा मन अधिक शक्तिशाली होता है।

मैं इस महीने की १६वीं तारीख को रवाना हो रहा हूँ और नेपुल्स में स्टीमर पर सवार हो जाऊँगा। अल्बर्टा से रोम में अवश्य ही मिलूँगा।

पावन परिवार को बहुत बहुत प्यार।

सदा प्रभुपदाश्रित
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

होटल मिनर्वा फ्लोरेन्स
२ दिसम्बर, १८९९

प्रिय राखाल

इस पत्र से ही तुम्हें यह ज्ञात हो रहा होगा कि मैं अभी तक मार्ग में हूँ। लन्दन छोड़ने से पहले ही तुम्हारा पत्र तथा पुस्तिका मुझे मिली थी। मजूमदार के पागलपन पर कोई ध्यान न देना। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ईर्ष्या ने उनका दिमाग

[1] गोपाल का प्रयोग श्री कृष्ण के शिशु रूप के लिए किया जाता है; यहाँ पुत्र जन्म की प्रतीक्षा में पुत्री के जन्म का संकेत किया गया है।

खराब कर दिया है। उन्होने जिस अभद्रोचित भापा का प्रयोग किया है, उसे सुनकर सभ्य देश के लोग उनका उपहास ही करेंगे। इस प्रकार की अशिष्ट भाषा का प्रयोग कर उन्होंने स्वय ही अपने उद्देश्य को विफल कर डाला है।

फिर भी हम कभी अपनी ओर मे हरमोहन अथवा अन्य किसी व्यक्ति को ब्राह्मसमाजियो या और किसीके साथ झगडने की अनुमति नही दे सकते। जनता इस बात को अच्छी तरह से जान ले कि किसी सम्प्रदाय के साथ हमारा कोई विवाद नही है और यदि कोई झगडा करता है तो उसके लिए वह स्वय उत्तरदायी है। परस्पर विवाद करना तथा आपस मे निन्दा करना हमारा जातीय स्वभाव है। आलसी, कर्महीन, कटुभापी, ईर्ष्यापिरायण, डरपोक तथा विवादप्रिय—यही तो हम वगालियो की प्रकृति है। मेरा मित्र कहकर अपना परिचय देनेवाले को पहले इन्हे त्यागना होगा। न ही हरमोहन को कोई पुस्तक छापने की अनुमति देनी होगी, क्योकि इस प्रकार के प्रकाशन केवल जनता को छलने के लिए होते है।

कलकत्ते मे यदि सतरे मिलते हो तो मद्रास मे आलासिगा के पते पर सौ सतरे भेज देना, जिसमे मद्राम पहुँचने पर मुझे प्राप्त हो सके।

मुझे पता चला है कि मजूमदार ने यह लिखा है कि 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका मे प्रकाशित श्री रामकृष्ण के उपदेश यथार्थ नही है, मिथ्या हैं। यदि ऐसा ही है तो सुरेश दत्त तथा रामवावू को 'इण्डियन मिरर' मे इसका प्रतिवाद करने को कहना। मुझे यह पता नही है कि उन उपदेशो का सग्रह किस प्रकार किया गया है, अत इस बारे मे मैं कुछ नही कह सकता हूँ।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च—इन मूर्खों की ओर कोई ध्यान न देना, कहावत है कि 'वृद्ध मूर्ख जैसा और कोई दूसरा मूर्ख नहीं है।' उन्हें चिल्लाने दो। अहा, उन बेचारो का पेशा ही मारा गया है। कुछ चिल्लाकर ही उन्हें सन्तुष्ट होने दो।

वि०

(श्री आलासिगा पेरुमल को लिखित)

१४, ग्रेकोट गार्डन्स,
वेस्टमिनिस्टर, लन्दन,
१८९६

प्रिय आलासिगा,

लगभग तीन सप्ताह हुए मैं स्विट्जरलैण्ड से लौटा हूँ, पर इसके पूर्व तुम्हें पत्र न लिख सका। पिछली डाक से मैंने तुम्हें कील के पॉल डॉयसन पर लिखा एक लेख भेजा था। स्टर्डी की पत्रिका की योजना में अभी भी विलम्ब है।

जैसा कि तुम जानते हो मैंने सेंट जार्ज रोड स्थित मकान छोड़ दिया है। ३९, विक्टोरिया स्ट्रीट पर एक लेक्चर हॉल हमें मिल गया है। ई० टी० स्टर्डी के मार्फत मेरा पत्र चिट्ठी-पत्री मुझे एक साल तक मिल जाया करेगी। ग्रेकोट गार्डन्स के कमरे मेरे तथा मात्र तीन महीने के लिए आये हुए स्वामियों के आवास के लिए हैं। लन्दन में काम शीघ्रता से बढ़ रहा है और हमारी कक्षाएँ बड़ी होती जा रही हैं। इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं कि यह इसी रफ्तार से बढ़ता ही जायगा क्योंकि अंग्रेज लोग दृढ़ एवं निष्ठावान हैं। यह सही है कि मेरे छोड़ते ही इसका अधिकांश तानाबाना टूट जायगा। कुछ घटित अवश्य होगा। कोई शक्तिशाली व्यक्ति इसे वहन करने के लिए उठ खड़ा होगा। ईश्वर जानता है कि क्या अच्छा है। अमेरिका में वेदान्त और योग पर बीस उपदेशकों की आवश्यकता है। पर ये उपदेशक और इन्हें यहाँ लाने के लिए धन कहाँ मिलेगा? यदि कुछ सच्चे और शक्तिशाली मनुष्य मिल जायें तो आधा संयुक्त राज्य दस वर्ष में जीता जा सकता है। वे कहाँ हैं? यहाँ के लिए हम सब अहमक हैं। स्वार्थी कायर, देश भक्ति की केवल मुख से बकवास करनेवाले और अपनी कट्टरता तथा धार्मिकता के अभिमान से चूर!! मद्रासियों[1] में अधिक स्फूर्ति और दृढ़ता होती है, परन्तु वहाँ हर मूर्ख विवाहित है। ओफ विवाह! विवाह! विवाह! और फिर आजकल के विवाह का तरीका जिसमें लड़कों को जोत दिया जाता है! अनासक्त गृहस्थ होने की इच्छा करना बहुत अच्छा है परन्तु मद्रास में अभी उसकी आवश्यकता नहीं है—बल्कि अविवाह की है।

मेरे बच्चे मैं जो चाहता हूँ वह है लोहे की नसें और फ़ौलाद के स्नायु जिनके भीतर ऐसा मन वास करता हो जो कि वज्र के समान पदार्थ का बना हो। बल पुरुषार्थ क्षात्रवीर्य और ब्रह्मतेज। हमारे सुन्दर होनहार लड़के—उनके पास सब कुछ है यदि वे विवाह नाम की क्रूर वेदी पर लाखों की गिनती में बलिदान न किये जायें! हे भगवान्, मेरे हृदय का क्रन्दन सुनो। मद्रास तभी जाग्रत होगा जब उसके प्रत्यक्ष हृदय स्वरूप सौ शिक्षित नवयुवक संसार को त्याग कर और कमर कस कर, देश देश में भ्रमण करते हुए सत्य का संग्राम लड़ने के लिए तैयार होंगे। भारत के बाहर का एक आघात भारत के अन्दर के एक लाख आघातों के बराबर है। ख़ैर, यदि प्रभु की इच्छा होगी तो सभी कुछ हो जायगा।

मिस मूलर ही वह व्यक्ति हैं जिन्हें मैंने तुम्हें रुपये दिलाने का वचन दिया था।

---

१ मद्रासी शब्द का प्रयोग स्वामी जी ने सदैव एक व्यापक संदर्भ में किया है जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण दक्षिणवासी आ जाते हैं।

मैंने उन्हे तुम्हारे नये प्रस्ताव के विषय मे वतला दिया है। वे उसके बारे मे सोच रही हैं। इस बीच मैं सोचता हूँ उन्हे कुछ काम दे देना उचित रहेगा। उन्होंने 'ब्रह्मवादिन्' और 'प्रबुद्ध भारत' का प्रतिनिधि बनना स्वीकार कर लिया है। इसके विषय मे क्या तुम उन्हे लिखोगे ? उनका पता है एयरली लॉज, रिजवे गार्डन्स, विम्बलडन, इग्लैण्ड। वही उनके साथ पिछले कई हफ्तो से मैं रह रहा था। लेकिन लन्दन का काम मेरे वहाँ रहे बिना सभव नही है। इसीलिए मैंने अपना आवास बदल दिया है। मुझे दु ख है कि इससे मिस मूलर की भावनाओ को थोडी ठेस पहुँची है। लेकिन किया ही क्या जा सकता है! उनका पूरा नाम है मिस हेनरियेटा मूलर। मैक्समूलर के साथ गाढी मित्रता हो रही है। मैं शीघ्र ही ऑक्सफोर्ड मे दो व्याख्यान देनेवाला हूँ।

मैं वेदान्त दर्शन पर कुछ वडी चीज लिख रहा हूँ और भिन्न भिन्न वेदो से वाक्य सग्रह करने मे लगा हूँ, जो कि वेदान्त की तीनो अवस्थाओ से सम्बन्ध रखते है। पहले अद्वैतवाद सम्बन्धी विचार, फिर विशिष्टाद्वैत और द्वैत से जो वाक्य सम्बन्ध रखते हो, वे सहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् और पुराण मे से किसीसे सग्रह करा कर तुम मेरी सहायता कर सकते हो। वे श्रेणीबद्ध होने चाहिए, शुद्ध अक्षरो मे लिखे जाने चाहिए और प्रत्येक के साथ ग्रन्थ और अध्याय के नाम उद्धृत होने चाहिए। पुस्तक रूप मे दर्शन शास्त्र को पश्चिम मे छोडे बिना पश्चिम से चल देना दयनीय होगा।

मैसूर से तमिल अक्षरो मे एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी, जिसमे सभी १०८ उपनिषद् सम्मिलित थे। मैंने प्रोफेसर डॉयसन के पुस्तकालय मे वह पुस्तक देखी थी। क्या वह देवनागरी अक्षरो मे भी मुद्रित हुई है ? यदि हो तो मुझे एक प्रति भेजना। यदि न हो तो मुझे तमिल सस्करण तथा एक कागज पर तमिल अक्षर और सयुक्ताक्षर लिखकर भेज देना। उसके साथ देवनागरी समानार्थक अक्षर भी लिख देना जिससे मैं तमिल अक्षर पहचानना सीख जाऊँ।

श्री सत्यनाथन्, जिनसे कुछ दिन हुए मैं लन्दन मे मिला था, कहते थे कि 'मद्रास मेल' ने जो मद्रास का मुख्य ऐंग्लो इण्डियन समाचार पत्र है, मेरी पुस्तक 'राजयोग' की अनुकूल समीक्षा की है। मैंने सुना है कि अमेरिका के प्रधान शरीर-शास्त्रज्ञ मेरे विचारो पर मुग्ध हो गये हैं। उसके साथ ही इग्लैण्ड मे कुछ लोगो ने मेरे विचारो का मजाक उडाया है। यह ठीक ही है, क्योकि इसमे सन्देह नही कि मेरे विचार नितान्त साहसिक हैं और वहुत कुछ उनमे से हमेशा के लिए अर्थहीन रहेंगे, परन्तु उनमे कुछ ऐसे सकेत भी हैं जिन्हे शरीर-शास्त्रज्ञ यदि शीघ्र ही ग्रहण कर लें तो अच्छा हो। फिर भी उसके परिणाम से मैं बिल्कुल सन्तुष्ट हूँ। वे चाहे मेरी निन्दा

ही करें, पर चर्चा तो करें। यह मेरा आदर्श-वाक्य है। इंग्लैण्ड में बेशक भद्र लोग हैं और बेहूदी बातें नहीं करते जैसा कि मैंने अमेरिका में पाया। और फिर इंग्लैण्ड के लगभग सभी मिशनरी भिन्नमतावलम्बी वर्ग के हैं। वे इंग्लैण्ड के भद्र जन वर्ग से नहीं आते। यहाँ के सभी धार्मिक भद्रजन इंग्लिश चर्च को मानते हैं। इन भिन्नमतावलम्बियों की इंग्लैण्ड में कोई पूछ नहीं है और वे शिक्षित भी नहीं हैं। उनके बारे में मैं यहाँ कुछ भी नहीं सुनता जिनके विषय में तुम मुझे बार बार आगाह करते हो। उनको यहाँ कोई नहीं जानता और यहाँ बकवास करने की उनकी हिम्मत भी नहीं है। आशा है आर० के० नायडू मद्रास में ही होंगे और तुम कुशलपूर्वक हो।

डटे रहो मेरे बहादुर बच्चो! हमने अभी कार्य आरम्भ ही किया है। निराश न हो! कभी न कहो कि बस इतना काफ़ी है! जैसे ही मनुष्य पश्चिम में आकर दूसरे राष्ट्रों को देखता है उसकी आँखें खुल जाती हैं। इसी तरह मुझे शक्तिशाली कार्यकर्ता मिल जाते हैं—केवल बातों से नहीं प्रत्यक्ष दिखाने से कि हमारे पास भारत में क्या है और क्या नहीं। मेरी कितनी इच्छा है कि कम से कम दस लाख हिन्दू पूरे संसार का भ्रमण किये हुए होते!

प्रेमपूर्वक सदैव तुम्हारा
विवेकानन्द

(कुमारी अल्बर्टा स्टारगीज़ को लिखित)

होटल मिनर्वा फ्लोरेंस
२० दिसम्बर, १८९६

प्रिय अल्बर्टा

कल हम लोग रोम पहुँच रहे हैं। चूँकि हम लोग रोम रात में देर से पहुँचेंगे इसलिए सम्भवतः मैं परसों ही तुमसे मिलने के लिए आ सकूँगा। हम लोग 'होटल कान्टिनेन्टल' में ठहरेंगे।

सस्नेह और आशीष
विवेकानन्द

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

अमेरिका
१८९६

प्रिय आलासिंगा

इस सप्ताह मैंने तुमको 'ब्रह्मवादिन्' के सम्बन्ध में लिखा था। इसमें अन्तिम

विषयक व्याख्यानो के बारे मे लिखना मैं भूल गया था। उनको एक साथ पुस्तकाकार प्रकाशित करना चाहिए। 'गुड ईयर' के नाम से न्यूयार्क, अमेरिका के पते पर उसकी एक सौ प्रतियाँ भेज सकते हो। मैं बीस दिन के अन्दर जहाज़ से इग्लैण्ड रवाना हो रहा हूँ। कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा राजयोग सम्बन्धी मेरी और भी बडी बडी पुस्तकें हैं। 'कर्मयोग' प्रकाशित हो चुका है। 'राजयोग' का आकार अत्यन्त वृहत् होगा—वह भी प्रेस मे पहुँच चुका है। 'ज्ञानयोग' सम्भवत इग्लैण्ड मे छपवाना होगा।

तुमने 'ब्रह्मवादिन्' मे 'क' का एक पत्र प्रकाशित किया है, उसका प्रकाशन न होना ही अच्छा था। थियोसॉफिस्टो ने 'क' की जो खबर ली है, उससे वह जल भुन रहा है। साथ ही उस प्रकार का पत्र सभ्यजनोचित भी नही है, उससे सभी लोगो पर छीटाकशी होती है। 'ब्रह्मवादिन्' की नीति से वह मेल भी नही खाता। अत भविष्य मे यदि कभी 'क' किसी सम्प्रदाय के विरुद्ध, चाहे वह कितना ही खब्ती और उद्धत हो, कुछ लिखे तो उसे नरम करके ही छापना। कोई भी सम्प्रदाय, चाहे वह बुरा हो या भला, उसके विरुद्ध 'ब्रह्मवादिन्' मे कोई लेख प्रकाशित नही होना चाहिए। इसका अर्थ यह भी नही है कि प्रवचको के साथ जानबूझ कर सहानुभूति दिखानी चाहिए। पुन तुम लोगो को मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि उक्त पत्र (ब्रह्मवादिन्) इतना अधिक शास्त्रीय (technical) बन चुका है कि यहाँ पर उसकी ग्राहक सख्या बढ़ने की आशा नही है। साधारणतया पश्चिम के लोगो का इतनी अधिक क्लिष्ट सस्कृत भाषा तथा उसकी बारीकियो का ज्ञान नही है और न उनमे जानने की इच्छा ही है। हाँ, इतना अवश्य है कि भारत के लिए वह पत्र बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। किसी मतविशेष का समर्थन किया जा रहा हो, ऐसी एक भी बात उसके सम्पादकीय लेख मे नही रहनी चाहिए। और तुम्हे यह सदा ध्यान रखना है कि तुम केवल भारत को नही, वरन् सारे ससार को सम्बोधित कर बातें कह रहे हो और तुम जो कुछ कहना चाहते हो, ससार उसके बारे मे बिल्कुल अनजान है। प्रत्येक सस्कृत श्लोक का अनुवाद अत्यन्त सावधानी के साथ करना और जहाँ तक हो सके उसे सरल भाषा मे व्यक्त करने की चेष्टा करना।

तुम्हारे पत्र के जवाव मिलने से पहले ही मैं इग्लैण्ड पहुँच जाऊँगा। अत मुझे पत्र का जवाव द्वारा ई० टी० स्टर्डी, हाई व्यू, कैवरशम्, इग्लैण्ड के पते पर देना।

तुम्हारा,
विवेकानन्द

(स्वामी अभेदानन्द को लिखित)

द्वारा ई० टी० स्टर्डी
हाई व्यू कैवरसम् रीडिंग इंग्लैण्ड
१८९६

प्रेमास्पद

मेरा पहला पत्र मिला होगा। अब इंग्लैण्ड में मुझे पत्रादि उपयुक्त पते पर भेजना। *श्री स्टर्डी को तारक दादा (स्वामी शिवानन्द) जानते हैं। उन्होंने ही* मुझे इंग्लैंड बुलाया है तथा हम दोनों मिलकर इंग्लैण्ड में आन्दोलन चलाना चाहते हैं। नवम्बर महीने में पुनः अमेरिका जाने का मेरा विचार है। अतः यहाँ पर एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है, जो संस्कृत तथा अंग्रेजी खासकर अंग्रेजी अच्छी तरह से जानता हो। मैं समझता हूँ कि इसके लिए शशि सारदा अथवा तुम उपयुक्त हो। इन तीनों में से यदि तुम्हारा शरीर पूर्णतया स्वस्थ हो गया हो तो तुम्हीं चले आना। मेरी राय में यही अधिक अच्छा होगा अन्यथा शरत् को भेजना। *कार्य केवल इतना ही है कि मैं जिन शिष्य-सेवकों को यहाँ छोड़ जाऊँगा उन्हें शिक्षा* देना तथा वेदान्त पढ़ाना होगा और थोड़ा-बहुत अंग्रेजी में अनुवाद करना तथा बीच बीच में भाषण आदि भी देना पड़ेगा। कर्मणा बाध्यते बुद्धिः।—तो आने की अत्यन्त अभिलाषा है, किन्तु यह मजबूत किये बिना सब कुछ व्यर्थ हो जायगा। इस पत्र के साथ एक चेक भेज रहा हूँ उससे कपड़े-लत्ते खरीद लेना। महेन्द्र बाबू (मास्टर महाशय) के नाम चेक भेजा जा रहा है। गंगाधर का तिब्बती चोगा मठ में है उसी तरह का एक चोगा गेरू से रँग लेना। कॉलर कुछ ऊँचा होना चाहिए, जिससे गला ढका जा सके। सबसे पहले एक अत्यन्त गरम ओवरकोट की आवश्यकता है यहाँ पर अत्यधिक ठण्ड है। ओवरकोट के बिना जहाज में विशेष कष्ट होगा। द्वितीय श्रेणी का टिकट भेज रहा हूँ प्रथम श्रेणी तथा द्वितीय श्रेणी में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

बम्बई पहुँचकर—मेसर्स किंग किंग एण्ड कम्पनी फ्रोर्ट बम्बई ऑफिस में जाकर यह कहना कि 'मैं स्टर्डी साहब का आदमी हूँ' इससे वे तुम्हारे लिए इंग्लैण्ड तक का एक टिकट देंगे। यहाँ से एक पत्र उक्त कम्पनी को भेजा जा रहा है। खेतड़ी के राजा साहब को भी मैं एक पत्र इस आशय का लिख रहा हूँ कि उनके बम्बई के एजेन्ट तुम्हारी अच्छी तरह से देखभाल कर टिकट आदि की व्यवस्था कर दें। यदि इन १५ रुपयों में उपयुक्त कपड़े-लत्ते की व्यवस्था न हो तो राखाल बाकी रुपयों का इन्तजाम कर दे बाद में मैं उसे भेज दूँगा। इसके अलावा ९ रुपये जेब खर्च के लिए रखना—ये भी राखाल से देने को कहना। मैं बाद में भेज दूँगा। चुनी

बाबू के लिए मैंने जो रुपया भेजा है, आज तक उसका कोई समाचार मुझे नही मिला। पत्र के देखते ही रवाना हो जाना। महेन्द्र बाबू से कहना कि वे मेरे कलकत्ते के एजेण्ट हैं। इस पत्र को देखते ही वे श्री स्टर्डी को यह उल्लेख करते हुए एक पत्र भेजें कि कलकत्ता सम्बन्धी हमे जो काम काज इत्यादि करने होंगे, वे उन कार्यों को करने के लिए प्रस्तुत हैं। अर्थात् श्री स्टर्डी मेरे इग्लैण्ड के सेक्रेटरी हैं, महेन्द्र बाबू कलकत्ते के, आलासिंगा मद्रास के। मद्रास मे यह समाचार भेज देना। सभी के आन्तरिक प्रयास के बिना क्या कोई कार्य हो सकता है? **उद्योगिन पुरुषसिंह-मुपैति लक्ष्मी**—'उद्योगी पुरुषसिंह ही लक्ष्मी को प्राप्त करता है।' पीछे की ओर देखने की आवश्यकता नही है—आगे बढो। हमे अनन्त शक्ति, अनन्त उत्साह, अनन्त साहस तथा अनन्त धैर्य चाहिए, तभी महान् कार्य सम्पन्न होगा। दुनिया मे आग फूंकनी है।

जिस दिन जहाज़ का प्रबन्ध हो, तत्काल ही श्री स्टर्डी को पत्र लिखना कि 'अमुक जहाज़ मे मैं आ रहा हूँ।' अन्यथा लन्दन पहुँचने पर गडबडी होने की सम्भावना है। जो जहाज़ सीधे लन्दन आता हो, उसीसे आना, क्योकि यद्यपि उससे आने मे दो चार दिन की देरी हो सकती है, किन्तु किराया कम लगता है। इस समय हमारे पास तो धन अधिक नही है। समय आने पर लोगो को हम चारो ओर भेज सकेंगे। किमधिकमिति।

विवेकानन्द

पुनश्च—इस पत्र को देखने ही खेतडी के राजा साहब को लिखना कि तुम बम्बई जा रहे हो, अत उनके एजेण्ट तुम्हे जहाज़ मे बिठाने के लिए सहायता करें।

वि०

यह पता किसी डायरी मे लिखकर अपने साथ रखना—किसी प्रकार गडबडी न हो।

(स्वामी रामकृष्णानन्द को लिखित)

ई० टी० स्टर्डी का मकान,
हाई व्यू, कैवरशम्, रीडिंग,
१८९६

प्रिय शशि,

मुझे स्मरण नही है कि मैंने अपने पूर्व पत्र मे इसका उल्लेख किया है या नही, अत इस पत्र द्वारा तुम्हे यह सूचित करता हूँ कि काली अपने रवाना होने के दिन अथवा उससे पूर्व श्री ई० टी० स्टर्डी को पत्र डाल दे, ताकि वे जाकर जहाज से उसे

किया जाये। यह लन्दन शहर मनुष्यों का सागर है—दस पन्द्रह कलकत्ता इसमें इकट्ठे समा सकते हैं। अतः उस प्रकार की व्यवस्था किये बिना गड़बड़ी होने की सम्भावना है। आने में देरी न हो पत्र देखते ही उसे निकलने को कहना। शरद् की तरह आने में विलम्ब नहीं होना चाहिए। और बाकी बातें स्वयं सोच-विचार कर ठीक कर लेना। काली को जैसे भी हो शीघ्र भेजना। यदि शरद् की तरह आने में विलम्ब हो तो फिर किसीके आने की आवश्यकता नहीं है—घुसमुस नीति-वाले आलसी से यह कार्य नहीं हो सकता यह तो महान् रजोगुण का कार्य है। तमोगुण से हमारा देश छाया हुआ है—जहाँ देखो वहीं तम रजोगुण चाहिए, उसके बाद सत्व यह तो अत्यन्त दूर की बात है।

सस्नेह,
नरेन्द्र

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

हैम्पशर,
'प्रिंस रीजेण्ट लियोपोल्ड'
३ जनवरी १८९७

प्रिय मेरी

तुम्हारा पत्र मिला जो लन्दन पहुँचने के बाद रोम के लिए प्रेषित किया गया था। तुम्हारी कृपा थी जो इतना सुन्दर पत्र लिखा और उसका शब्द शब्द मुझे अच्छा लगा। यूरोप में वाद्य-वृन्द के विकास के विषय में मुझे कुछ मालूम नहीं। नेपुल्स से चार दिनों की भयावह समुद्र-यात्रा के पश्चात् हम लोग पोर्ट सईद के निकट पहुँच रहे हैं। जहाज अत्यधिक डोलायित हो रहा है, अतएव ऐसी परिस्थितियों में अपनी खराब लिखावट के लिए तुमसे क्षमा चाहता हूँ।

स्वेज से एशिया महाद्वीप आरम्भ हो जाता है। एक बार फिर एशिया आया। मैं क्या हूँ? एशियाई, यूरोपीय या अमेरीकी? मैं तो अपने में व्यक्तित्वों की एक अजीब खिचड़ी पाता हूँ। तुमने धर्मपाल के बारे में उनके आने जाने तथा कार्यों के विषय में कुछ नहीं लिखा। गाँधी की अपेक्षा उनके प्रति मेरी दिलचस्पी बहुत ज्यादा है।

कुछ ही दिनों में मैं कोलम्बो में जहाज से उतरूँगा और फिर लंका को थोड़ा देखने का विचार है। एक समय था जब लंका की आबादी दो करोड़ से भी अधिक थी और उसकी राजधानी विशाल थी। राजधानी के ध्वंसावशेष का विस्तार लगभग एक सौ वर्ग मील है।

लकावासी द्राविड नही हैं, बल्कि विशुद्ध आर्य हैं। ईसा के जन्म से ८ सौ वर्ष पूर्व बगाल के लोग वहाँ जाकर बसे और तब से लेकर आज तक लकावासियो ने अपना इतिहास बडा स्पष्ट रखा है। प्राचीन दुनिया का वह सबसे बडा व्यापार-केन्द्र था और अनुराधापुर प्राचीनो का लन्दन था।

पश्चिमी देशो के सभी स्थानो की अपेक्षा रोम मुझे ज्यादा अच्छा लगा और पाम्पियाई देखने के बाद तो तथाकथित आधुनिक सभ्यता के प्रति समादर की मेरी सारी भावना लुप्त हो गयी। वाष्प तथा विद्युत् शक्ति के अतिरिक्त उनके पास और सब कुछ था और कला सम्बन्धी उनके विचार तथा कृतियाँ तो आधुनिको की अपेक्षा लाख गुनी अधिक थी।

कृपया कुमारी लॉक (Miss Locke) से कहना कि मैंने उन्हे जो यह बताया था कि मानव-मूर्ति-कला का जितना विकास यूनान मे हुआ था, उतना भारत मे नही, वह मेरी गलती थी। फर्ग्युसन तथा अन्य प्रामाणिक लेखको की पुस्तको मे मुझे यह पढने को मिल रहा है कि उडीसा या जगन्नाथ मे, जहाँ मैं नही गया हूँ, ध्वसावशेषो मे जो मानवीय मूर्तियाँ मिली हैं, वे सौन्दर्य तथा शारीरिक रचना-नैपुण्य मे यूनानियो की किसी भी कृति की बराबरी कर सकती हैं। मृत्यु की एक महाकाय प्रतिमा है। उसमे मृत्यु को नारी के वृहदाकार अस्थि-पजर के रूप मे दिखाया गया है, जिसके चमडे पर तमाम झुर्रियाँ पडी हुई हैं—शरीर-रचना की बारीकियो का इतना सच्चा प्रदर्शन परम भयावह और बीभत्स है। मेरे लेखक का मत है कि गवाक्ष मे निर्मित एक नारी-मूर्ति बिल्कुल 'वीनस डी मेडिसी' से मिलती जुलती है, इत्यादि। पर तुम्हे याद रखना चाहिए कि प्राय सब कुछ मूर्ति-भजक मुसलमानो ने नष्ट कर डाला, फिर भी जो कुछ बचा है, वह यूरोप के तमाम भग्नावशेषो की तुलना मे श्रेष्ठ है! मैंने आठ वर्ष परिभ्रमण किया, किन्तु बहुत सी श्रेष्ठतम कलाकृतियो को नही देखा है।

बहन लॉक से यह भी कहना कि भारत के वन-प्रान्त मे एक मन्दिर के खण्डहर हैं और उसके साथ यदि यूनान के 'पार्थेनान' की समीक्षा की जाय तो फर्ग्युसन का मत है कि दोनो ही स्थापत्य कला के चरम बिन्दु तक पहुँच गये हैं—दोनो अपने अपने ढग के निराले हैं—एक कल्पना मे और दूसरा कल्पना एव अलकरण में। बाद की मुगलकालीन इमारतो आदि मे भारतीय तथा मुस्लिम कलाओ का सकर है और वे प्राचीन काल की सर्वोत्कृष्ट स्थापत्य कला की आशिक समता भी नही कर सकती।

तुम्हारा सस्नेह,
विवेकानन्द

पुनश्च—संयोग से फ्लोरेंस में 'मदर चर्च' और 'फ़ादर पोप' के दर्शन हुए। इसे तुम जानती ही हो।

वि

(कुमारी मेरी हेल को लिखित)

रामनाड़
शनिवार, १ जनवरी १८९७

प्रिय मेरी

परिस्थितियाँ अत्यन्त आश्चर्यजनक रूप से मेरे लिए अनुकूल होती जा रही हैं। कोलम्बो में मैंने जहाज छोड़ा तथा भारत के दक्षिण स्थित प्रायः अन्तिम भूखण्ड रामनाड़ में मैं इस समय वहाँ के राजा का अतिथि हूँ। मेरी यात्रा एक विराट् जुलूस के समान रही—बेशुमार जनता की भीड़, रोशनी, मानपत्र वगैरह वगैरह। भारत की भूमि पर, जहाँ मैंने प्रथम पदार्पण किया, वहाँ पर ४० फुट ऊँचा एक स्मृति स्तम्भ बनवाया जा रहा है। रामनाड़ के राजा साहब ने अपना मानपत्र एक अत्यन्त सुन्दर नक्काशी किए हुए असली सोने के बड़े बॉक्स में रखकर मुझे प्रदान किया है। उसमें मुझे 'परम पवित्र' (His Most Holiness) कहकर सम्बोधित किया गया है। मद्रास तथा कलकत्ते में लोग बड़ी उत्कण्ठा के साथ मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं, मानो सारा देश मुझे सम्मानित करने के लिए उठ खड़ा हुआ है। अतः मेरी, तुम यह देख रही हो कि मैं अपने भाग्य के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ हूँ। फिर भी मेरा मन शिकागो के उन निस्तब्ध, विश्रान्तिपूर्ण दिनों की ओर दौड़ रहा है—कितने सुन्दर विश्रामदायक, शान्ति तथा प्रेमपूर्ण थे वे दिन! इसीलिए मैं अभी तुमको पत्र लिखने बैठा हूँ। आशा है कि तुम सभी सकुशल तथा आनन्दपूर्वक होंगे। डाक्टर बरोज की अभ्यर्थना करने के लिए मैंने लन्दन से अपने देशवासियों को पत्र लिखा था। उन लोगों ने अत्यन्त आवभगत के साथ उनकी अभ्यर्थना की थी। किन्तु वे यहाँ के लोगों में प्रेरणा-संचार नहीं कर सके, इसके लिए मैं दोषी नहीं हूँ। कलकत्ते के लोगों में कोई नवीन भावना पैदा करना बहुत कठिन है। अब मैं सुन रहा हूँ कि डॉक्टर बरोज के मन में मेरे प्रति अनेक धारणाएँ उठ रही हैं। इसीका नाम तो संसार है!

माता जी, पिता जी तथा तुम सभी को मेरा प्यार।

तुम्हारा स्नेहबद्ध
विवेकानन्द

(स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखित)

मद्रास,
१२ फरवरी, १८९७

प्रिय राखाल,

आगामी रविवार को 'यस० यस० मोम्बासा' जहाज़ से मेरे रवाना होने की बात है। स्वास्थ्य अनुकूल न होने के कारण पूना तथा और भी अनेक स्थानो के निमत्रण मुझे अस्वीकार करने पडे। अत्यधिक परिश्रम तथा गर्मी के कारण स्वास्थ्य बहुत खराब हो चुका है।

थियोसॉफिस्ट तथा अन्य लोगो की इच्छा मुझे अत्यन्त भयभीत करने की थी, अत उन्हें दो चार बातें स्पष्ट रूप से कहने के लिए मुझे बाध्य होना पडा था। तुम तो यह जानते हो कि उनके साथ सम्मिलित न होने के कारण उन लोगो ने अमेरिका मे मुझे बराबर कष्ट दिया है। यहाँ पर भी उसी प्रकार के आचरण करने की उन लोगो की इच्छा थी। इसीलिए मुझे अपना अभिमत स्पष्ट रूप से व्यक्त करना पडा था। इससे यदि मेरे कलकत्ते के मित्रो मे से कोई असन्तुष्ट हुए हो, तो भगवान् उन पर कृपा करे। तुम्हारे लिए डरने की कोई बात नही है, मैं अकेला नही हूँ, प्रभु सदा मेरे साथ है। इसके सिवाय और मैं कर ही क्या सकता था ?

तुम्हारा,
विवेकानन्द

पुनश्च—मकान तैयार हो गया हो तो उसे ले लेना।

वि०

अनुक्रमणिका